सामान्य शिक्षण-सिद्धांत तथा विधियाँ

(बी० एड०, बी० टी०, एल० टी०, एम० एड० के पाठ्यक्रमानुसार)

लेखक

निरंजन कुमार सिंह

रीजनल कालेज आफ एजुकेशन, अजमेर

भूतपूर्व प्रवक्ता, राजकीय सेण्ट्रल पेडागाजिकल इंस्टीट्यूट, इलाहाबाद

प्रकाशक

रामनारायणलाल बेनीमाधव

प्रकाशक एवं पुस्तक-विक्रेता

२ कटरा रोड, इलाहाबाद-२

[मूल्य रु० ६·५० पैसे

प्रकाशक
रामनारायणलाल बेनीमाधव
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
इलाहाबाद

मुद्रक
विजय कुमार अग्रवाल
नव साहित्य प्रेस
इलाहाबाद

आमुख

शिक्षा-विज्ञान के क्षेत्र में अब यह मत सर्वमान्य सा है कि शिक्षक के लिए विषय का ज्ञाता होना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु शिक्षण-कला के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक दोनों पक्षों का मर्मज्ञ होना भी आवश्यक है। इसी कारण शिक्षकों के प्रशिक्षण पर इतना बल दिया जा रहा है। सामान्य शिक्षण सिद्धांतों एवं विधियों के सम्यक् ज्ञान के आधार पर ही शिक्षक अपना शिक्षण कार्य अधिकाधिक सोद्देश्य, सफल, रोचक और प्रभावपूर्ण बना सकता है। अतः इस विषय पर ऐसी पाठ्यपुस्तकों की आवश्यकता सदा बनी रहेगी जो शिक्षण की दृष्टि से शिक्षकों को एक आधार प्रदान कर सकें और उन्हें शिक्षण कार्य सम्पन्न करने के लिए ही नहीं, बल्कि इस दिशा में नवीन प्रयोग करते रहने के लिए भी अनुप्रेरित एवं अनुप्राणित करती रहें। प्रस्तुत पुस्तक इसी दिशा में एक प्रयास है।

प्रशिक्षण महाविद्यालय में अध्यापन कार्य करते समय मुझे इस विषय पर हिन्दी और अंग्रेजी की अनेक पुस्तकों के अनुशीलन का अवसर मिला। यह पुस्तक उसी का प्रतिफल है। अतः मौलिकता का अधिकार मैं नहीं जता सकता। अंग्रेजी में उपलब्ध इस विषय की पुस्तकें प्रशिक्षण महाविद्यालयों के पाठ्यक्रमानुसार न रहने से प्रशिक्षार्थियों को अनेक कठिनाइयों का अनुभव होता रहता है। हिन्दी में उपलब्ध पुस्तकों में भी सभी प्रकरणों का समावेश नहीं है। अतः आशा है कि इस अभाव की पूर्ति प्रस्तुत रचना द्वारा संभव हो सकेगी।

पुस्तक में सभी प्रकरणों पर अपेक्षित विस्तृत सामग्री और उनका विवेचन प्रस्तुत किया गया है जिससे सभी शिक्षक सामान्य रूप से एवं प्रशिक्षण महाविद्यालयों के प्रशिक्षार्थी विशेष रूप से लाभ उठा सकें तथा शिक्षण कार्य के प्रति उनमें एक सुनिश्चित तथा सुयोजित दृष्टिकोण और धारणा बन सके। इसी दृष्टि से शैक्षिक प्रक्रिया, शिक्षण की प्रकृति एवं आधारभूत सिद्धांतों का विस्तृत उल्लेख किया गया है। आज के शिक्षक का कार्य पूर्व युग के शिक्षक की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल, व्यापक और बहुमुखी हो गया है, अतः उसे अपने कार्यों के प्रति कितना सचेत, जागरूक, एकनिष्ठ और तत्पर होना है और उसका वह कैसे उचित निर्वाह कर सकता है, इसकी अन्तर्दृष्टि तृतीय अध्याय—'शिक्षक' के अध्ययन से प्राप्त हो सकेगी। इसी प्रकार शिक्षण-सूत्रों, सामान्य सिद्धांतों, विधियों एवं युक्तियों पर भी विस्तृत

प्रकाश डाला गया है और तत्संबंधी विविध मत-मतांतरों का विवेचन भी प्रस्तुत किया गया है। पाठों के प्रकार पर यथेष्ट विषय-सामग्री और शिक्षण की दृष्टि से उनकी विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। इस विवेचना में इस बात का पूर्ण ध्यान रखा गया है कि शिक्षण का व्यावहारिक पक्ष किसी भी प्रकार उपेक्षित न रह जाय। अतः विश्वास है कि इससे शिक्षकों एवं प्रशिक्षार्थियों का सैद्धांतिक ज्ञानवर्द्धन ही नहीं होगा, बल्कि वास्तविक शिक्षण की आधारशिला के रूप में यह पुस्तक उपादेय सिद्ध होगी।

विविध प्रणालियों—किंडरगार्टन, माण्टेसरी, प्रोजेक्ट, डाल्टन, खेल द्वारा शिक्षा, बेसिक शिक्षा आदि का उल्लेख मूल सामग्री के आधार पर किया गया है। इस कारण इन प्रणालियों के प्रवर्त्तकों की दार्शनिक विचारधाराओं, तत्संबंधी शैक्षिक विचारों, एवं शैक्षिक प्रयोगों के आधार पर इन प्रणालियों का विकास दिखाया गया है और उनके गुण-दोष विवेचन द्वारा उनकी उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है। ये अधिकांश प्रणालियाँ यूरोप एवं अमेरिका की देन हैं, अतः भारतीय परिस्थितियों में उनके मूल्यांकन का प्रयत्न किया गया है। भारतीय शिक्षा प्रणालियों की दृष्टि से बेसिक शिक्षा योजना, गुरुकुल एवं शांतिनिकेतन का भी विस्तृत उल्लेख किया गया है। ये शिक्षा-योजनाएँ भारतीय सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण के अनुकूल सिद्ध होती हैं। अतः हमारे लिए स्वामी दयानन्द, गाँधी और टैगोर के शिक्षादर्शन और शैक्षिक प्रयोगों पर विशेष विचार करने की आवश्यकता है; ऐसा न हो कि पाश्चात्य प्रयोगों की चकाचौंध में हम अपनी दृष्टि ही खो दें और अंधकार में भटकते रहें।

पुस्तक के सत्-असत् पक्ष के निर्णायक तो सुविज्ञ पाठक ही हैं। हम उनकी सम्मतियों का सदा स्वागत करने और तदनुसार उचित सुधार करने के लिए प्रस्तुत हैं। पुस्तक मेरी अनुपस्थिति में इलाहाबाद से छपी है, इस कारण प्रूफ की त्रुटियाँ बहुत रह गई हैं। अति आवश्यक कुछ संशोधन तो अलग से दे दिए गए हैं, पर सभी संभव न थे। अतः पाठकों से क्षमा प्रार्थी हूँ।

लेखक

अध्याय १

शैक्षिक प्रक्रिया

अध्याय २

शिक्षण : प्रकृति एवं आधारभूत सिद्धांत

अध्याय ३

शिक्षक

अध्याय ४

पाठ्यक्रम

अध्याय १०

सामूहिक तथा वैयक्तिक शिक्षण

अध्याय ११

किण्डरगार्टेन प्रणाली

अध्याय १२

माण्टेसरी शिक्षा-प्रणाली

अध्याय १३

प्रोजेक्ट प्रणाली

अध्याय १४

डाल्टन योजना

अध्याय १५

खेल द्वारा शिक्षा

अध्याय १६

बेसिक शिक्षा-प्रणाली

अध्याय १७

कतिपय नवीन शिक्षण योजनाएँ

अध्याय १८

कतिपय नवीन शिक्षण विद्यालय

अध्याय १९

विद्यालयों में पथ-प्रदर्शन एवं परामर्श

अशुद्धि-संशोधन

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०५	५	अपे	प्रयोग एवं गृहकार्य
२१०	पंक्ति १२ के नीचे शीर्षक दें—कक्षा व्यवस्था		
२२४	२८	साहचार्य	साहचर्य
२५२	१२	अनुमूलात्मक	अनुभवात्मक
३२३	१	रहस्यावद	रहस्यवाद
३२४	२०	स्फटित	स्फटिक
३२९,३३०	अनेक पंक्तियों में	धन	घन
३३३	२६	पालक	बालक
३३३	२७	स्वयं की क्रिया	स्वयं क्रिया
४३६	१९	विधाया	विद्याया
४८६—८९	११ तथा आगे की अनेक पंक्तियों में	परिचर्या	परिचर्चा
४८९	३१	सांस्कृतिक	संस्कृति
४९३	१९	सफलता	सरलता
४९४	१६	प्राप्य	प्राच्य
४९४	२३	सामादिक	सामाजिक
४९५	१, २		उनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य……निजी व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास है।
५००	२	एववं	एवं

अध्याय १

शैक्षिक प्रक्रिया

[शैक्षिक प्रक्रिया तथा उसके प्रमुख अंग—शिक्षक, शिक्षार्थी, पाठ्यक्रम, शिक्षण तथा उसका महत्त्व]

"It (Education) is a bipolar process in which one personality acts upon another in order to modify the development of the other."

—*Adams.*

"बालकों को शिक्षित करने की क्रिया को शैक्षिक प्रक्रिया कहते हैं। बालक की दृष्टि से यह सीखने की क्रिया है और अध्यापक की दृष्टि से विद्यालय में प्राप्त विभिन्न साधनों एवं युक्तियों द्वारा बालक के आचरण का परिष्कार करने की प्रक्रिया है।"[1] इस प्रकार शिक्षक एवं शिक्षार्थी दोनों के सक्रिय सहयोग से शैक्षिक प्रक्रिया सम्पन्न होती है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर जॉन एडम्स ने शिक्षा को द्विमुखी प्रक्रिया कहा है जिसमें शिक्षक शिक्षार्थी के समुचित विकास के लिए क्रियाशील रहता है।[2] वह अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से और विविध रूपों में ज्ञान के प्रयोग द्वारा शिक्षार्थी के विकास का पथ प्रशस्त करता है।[3] किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि शिक्षक सक्रिय रहता है और शिक्षार्थी निष्क्रिय। प्राचीन काल में ऐसी धारणा अवश्य थी। किंतु अब शिक्षार्थी की सक्रियता को विशेष महत्त्व प्रदान किया जाता है। शिक्षार्थी कोई निर्जीव वस्तु नहीं है बल्कि एक ऐसा जीवित प्राणी है जिसमें विकास की अदम्य नैसर्गिक शक्ति और प्रेरणा विद्यमान रहती है। अतः स्वयं उसके सक्रिय सहयोग के बिना शिक्षा का कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता।

जॉन ड्यूवी ने शिक्षा को द्विमुखी प्रक्रिया की जगह त्रिमुखी प्रक्रिया माना है अर्थात् शिक्षक, शिक्षार्थी और समाज। उनका कहना है कि शैक्षिक प्रक्रिया में हमें

---

1. *B. T. Bhatia*—Philosophy and Education, P. 153.
2. The Evolution of Educational Theory, P. 39.
3. "The means by which the development of the educand is to be modified are two fold (a) the direct application of the educator's personality to the personality of the educand, and (b) the use of knowledge in its various forms." *Ibid*, P. 39.

मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक दोनो पक्षों को दृष्टि में रखना है। मनोवैज्ञानिक पक्ष में शिक्षक और शिक्षार्थी का परस्पर सम्बन्ध तथा शिक्षार्थी की प्राकृतिक शक्तियों, प्रवृत्तियों, रुचियों एवं व्यवहारों का अध्ययन शामिल है। सामाजिक पक्ष का अर्थ है कि बालक की वास्तविक शिक्षा समाज एवं सामाजिक क्रियाओं में भाग लेने से सम्पन्न होती है। बालक को योग्य सामाजिक सदस्य बनाने के लिए उसे सामाजिक जीवन, अनुभव तथा आचार-विचार से परिचित होना आवश्यक है और यह अध्ययन सामाजिक क्रियाओं के माध्यम से ही सम्भव हो सकता है। इस प्रकार शिक्षक, शिक्षार्थी एवं समाज ये तीनों शैक्षिक प्रक्रिया के अभिन्न अंग हैं। इनके परस्पर आदान-प्रदान से यह प्रक्रिया चलती रहती है।

अनेक शिक्षा विचारकों ने शिक्षक, शिक्षार्थी और पाठ्यक्रम इन तीन प्रमुख अंगों के आधार पर शैक्षिक प्रक्रिया को त्रिभुजीय प्रक्रिया माना है क्योंकि इन तीनों के सम्मिलन से ही शैक्षिक प्रक्रिया सम्पन्न होती है। जॉन एडम्स के प्रसिद्ध कथन "शिक्षक ने जॉन को लैटिन पढ़ाई"[1] से शैक्षिक प्रक्रिया के इन तीनों अंगों का महत्त्व भली-भाँति प्रकट हो जाता है। इस वाक्य में शिक्षक, जॉन और लैटिन तीन संज्ञाओं का प्रयोग हुआ है। शिक्षक पढ़ाने वाला है और पढ़ाना क्रिया के दो कर्म हैं—(१) जॉन अर्थात् शिक्षार्थी और (२) लैटिन अर्थात् पाठ्यक्रम।

शिक्षण (Teaching)

यद्यपि शिक्षक, शिक्षार्थी और पाठ्यक्रम शैक्षिक प्रक्रिया के तीन प्रमुख आधार हैं किन्तु इन तीनों के पृथक-पृथक विवेचन से हमें शैक्षिक प्रक्रिया के व्यावहारिक रूप का सम्यक् ज्ञान नहीं हो सकता जब तक हम यह भी न जान लें कि इन तीनों का सम्यक् योग एवं आदान-प्रदान किस प्रकार सम्भव होता है। उपर्युक्त वाक्य "शिक्षक ने जॉन को लैटिन पढ़ाई" में यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि शिक्षक ने जॉन को लैटिन **किस प्रकार** पढ़ाई? यहीं पर शिक्षण एवं तदन्तर्गत अन्य अनेक समस्याएँ उपस्थित हो जाती हैं। शिक्षक शिक्षार्थी को किस प्रकार ज्ञान प्राप्ति के लिए उत्तेजित और उत्प्रेरित करता है, बालक किस प्रकार शिक्षा ग्रहण करने अथवा सीखने में प्रवृत्त होता है, सीखने की प्रकृति और प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं, शिक्षण के सामान्य सिद्धान्त और विधियाँ क्या हैं, पाठ्य सामग्री का किस प्रकार चयन, वर्गीकरण, संगठन और क्रमायोजन होता है, पाठों की योजना किस प्रकार बनाई जाती है, कक्षा शिक्षण को सजीव, यथार्थ, रुचिर एवं सुग्राह्य बनाने के लिए किस सहायक सामग्री का किस प्रकार प्रयोग किया जाता है और शिक्षार्थी का

1. "The Master taught John Latin." *Adams*—Modern Developments in Educational Practice. P. 12.

शिक्षण में किस प्रकार सक्रिय सहयोग प्राप्त किया जाता है, आदि अनेकानेक प्रश्न उठ खड़े होते हैं जिनका अध्ययन शिक्षण क्रिया को सफल बनाने के लिए आवश्यक हो जाता है। वस्तुतः शिक्षण शैक्षिक प्रक्रिया का प्रत्यक्ष व्यावहारिक एवं क्रियात्मक रूप है और शिक्षक के लिए इसकी जानकारी अति आवश्यक है।

इस प्रकार शैक्षिक प्रक्रिया पर विचार करते समय निम्नलिखित अंगों पर विचार करना आवश्यक हो जाता है—

शिक्षक, शिक्षार्थी, पाठ्यक्रम और शिक्षण।

शिक्षक

शैक्षिक प्रक्रिया में शिक्षक का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन काल में तो वही सर्वेसर्वा था किन्तु आधुनिक शिक्षा-विज्ञान के विकास से उसका महत्त्व कुछ कम हो गया है और उसने अब शासक, नियामक, व्याख्याता, उपदेशक और चरित्र-निर्माता की जगह निरीक्षक एवं पथ-प्रदर्शक का स्थान ग्रहण कर लिया है। किन्तु हम सभी जानते हैं कि शिक्षक के अभाव में शिक्षा की क्रिया संपन्न नहीं हो सकती। अतः उसका स्थान वैसा ही सुदृढ़ बना हुआ है और वह केवल निरीक्षक ही नहीं है बल्कि वही शिक्षा के रंगमंच का सूत्रधार है, वही शिक्षार्थी को सीखने के लिए उपयुक्त अवसर एवं सामग्री प्रदान करने वाला है, वही आदर्श वातावरण एवं ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करता है जिससे बालक का स्वाभाविक विकास संभव हो सके।[1]

शिक्षक शिक्षार्थी की प्रकृति-प्राकृतिक प्रवृत्तियों, संवेगों, क्षमताओं, रुचियों आदि तथा विकास की अवस्थाओं के अनुकूल अपनी शिक्षा योजना बनाता है जिससे बालक का स्वाभाविक एवं स्वतंत्र विकास हो सके। अतः शिक्षक का स्थान सदा ही महत्त्वपूर्ण बना रहेगा।

डा० एडम्स के इस कथन पर कि "आज के शिक्षण में अध्यापक के हस्तक्षेप का कोई स्थान नहीं है और शिक्षक एवं शिक्षार्थी एक मार्ग के ही सहयात्री हैं। (Master and pupil plodding side by side on the same road) एडम्स ने लिखा है कि यह कथन ठीक होते हुए भी हमारे मन में यह अमिट

---

1. 'Yet one has still to hear of systems where there is no educator at all. Generally he is allowed to be necessary, not merely as an observer, but as a Setter of the stage, a supplier of materials and opportunities, a provider of an ideal environment, a creator of conditions underwhich natural development takes place."
—*Ross. J. S.* Educational Theory, P. 95.

विश्वास है कि दोनों सहयात्रियों में शिक्षक की प्रधानता सदा रही है और सदा बनी रहेगी।[1]

शिक्षक की महत्ता, उसके गुण एवं कर्तव्य के संबंध में आगे विस्तार से लिखा गया है।[2]

शिक्षार्थी

आज की शिक्षा को बाल केन्द्रित (Child centered) अथवा स्टैनली हाल के शब्दों में (Paidocentric) शिक्षा की संज्ञा प्रदान की गई है। यह सर्वमान्य विचार है कि शिक्षार्थी ही शिक्षा का केन्द्र है। उसी के विकास के लिए शिक्षा का सारा आयोजन किया जाता है। आधुनिक शिक्षा शास्त्र के जनक जीन जेक रूसो का कहना था कि बालक की आवश्यकता, स्वाभाविक प्रवृत्ति एवं विकास की अवस्थाओं के अनुकूल शिक्षण प्रक्रिया आयोजित होनी चाहिए। प्रकृति उसका सबसे बड़ा शिक्षक है। कोमेनियस का कथन था कि बालक को शिक्षण के अनुकूल बनाने की जगह शिक्षण को बालक के अनुकूल बनाया जाय।[3] रूसो के पश्चात् जो भी शिक्षण प्रणालियाँ विकसित हुई उन सभी में बालक को ही शिक्षा का केन्द्र माना गया। इसीलिए अब यह शिक्षक के लिए आवश्यक हो गया है कि वह बालक का भी अध्ययन करे। यदि श्याम को संस्कृत पढ़ानी है तो संस्कृत के ज्ञान के साथ-साथ श्याम का भी ज्ञान होना चाहिए।

शिक्षा की दृष्टि से बालक को जानना एक विशेष अर्थ रखता है। इसका अर्थ उसके वाह्य रूप, रचना, नाम और आकृति आदि से नहीं बल्कि उसकी आंतरिक शक्तियों से है। बालक के व्यवहारों और क्रियाओं का अध्ययन, मानसिक शक्तियों का अध्ययन, नैसर्गिक प्रवृत्तियों, संवेगों और मनोभावों, रुचियों एवं सीखने की प्रकृति का अध्ययन ही बालक को जानने का वास्तविक तात्पर्य है। इसीलिए आज की शिक्षा का दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक हो गया है। अब शिक्षा का स्वरूप बालक के विकास की दृष्टि से ही निरूपित किया जाता है। उसकी जिज्ञासा को जगाना,

---

1. "........but we have within us the ineradicable conviction that of the two plodders it is the master who has dominated and always will dominate the situation." *Adams*—Modern Developments in Educational Practice. P. 33.
2. देखिए आगे अध्याय ३
3. *Comenius*—The teacher is the servant and not the master of the nature. Instruction must be fitted to the child, not the child to the instruction.

खने के लिए उत्प्रेरित करना, उसे स्वयं-शिक्षा के लिए अग्रसर करना शिक्षा का मुख कार्य है। उसकी अन्तः शक्तियों को उद्बुद्ध करना और उन्हें प्रकाशित होने ा अवसर देना, उसकी स्वाभाविक क्रियाशीलता को स्फुरित करना और वैयक्तिक शेषताओं का ध्यान रखते हुए अनुकूल दिशा में विकसित होने के लिए उचित थतियों का निर्माण करना शिक्षण प्रक्रिया का प्रमुख लक्ष्य हो गया है। इसी दृष्टि शिक्षा में खेल एवं पाठ्येतर क्रियाओं का समावेश बढ़ता जा रहा है।

बालक के विकास में उसकी आनुवंशिकता तथा वातावरण का भी बड़ा ाथ रहता है अतः आज की शिक्षा में शिक्षार्थी की आनुवंशिकता और वातावरण ा भी अध्ययन आवश्यक माना जाता है और उन्हें अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया ाता है।

आज की शिक्षा में दण्ड और आतंक के लिए कोई स्थान नहीं है। उनके स्तिष्क में कोई ज्ञान जबर्दस्ती नहीं ठूँसा जाता और न उन्हें जबर्दस्ती सच्चरित्र ही नाने का प्रयत्न किया जाता है। आंतरिक शक्तियों के समुचित विकास द्वारा ही नके बौद्धिक और चारित्रिक उत्कर्ष का प्रयत्न किया जाता है। बालक के व्यक्तित्व ा सम्मान किया जाता है, उसकी वर्तमान आवश्यकताओं का ध्यान रखा जाता है ौर उसके अनुकूल ही शिक्षण-प्रक्रिया निरूपित की जाती है।

ाठ्यक्रम

शैक्षिक प्रक्रिया का तीसरा अंग पाठ्यक्रम है। आधुनिक शिक्षा सिद्धान्तों के वर्तन के पहले पाठ्यक्रम का महत्त्व शिक्षार्थी से भी बढ़कर था और पाठ्यविषयों का ान शिक्षार्थी को येन-केन प्रकारेण करा देना ही शिक्षा का ध्येय माना जाता ा। किन्तु शिक्षा विचारकों ने इसका विरोध किया और शिक्षा को पाठ्यविषयों के ाक्ष से मुक्त करने का प्रयत्न किया। साथ ही नवीन शिक्षा-सिद्धान्तों के प्रवर्तन से ाक्षार्थी का महत्त्व बढ़ा और वही शिक्षा का केन्द्र माना जाने लगा। तब से पाठ्य-म की प्रधानता समाप्त हुई। किन्तु इससे पाठ्यक्रम का स्थान नगण्य नहीं माना जा कता, जैसा कि एडम्स के पूर्वोक्त कथन (मास्टर ने जॉन को लैटिन पढ़ाई) में ालक और पाठ्यक्रम दोनों ही कर्म के रूप में व्यवहृत हुए हैं। नवीन शिक्षण में ाक्षार्थी और पाठ्यक्रम के यथार्थ एवं उचित संबंधों को सभी स्वीकार करते हैं।[1]

"One of the most characteristic features of the intelligent New Teaching is that the true relation between pupil and subject matter has been clearly recognised." *Adams*—Modern Developments in Educational Practice, P. 13.

प्रयोजनवादी विचारकों, विशेषतः जॉन ड्यूवी ने पाठ्यक्रम को शिक्षा का बहुत ही आवश्यक अंग माना है।

आज की शिक्षा में पाठ्यक्रम का अर्थ कक्षा में पढ़ाये जाने वाले पाठ्य-विषयों से ही नहीं लिया जाता बल्कि उसके अंतर्गत वे सभी ज्ञान एवं अनुभव शामिल हैं जो बालक को विद्यालय में सुलभ होते हैं, चाहे वे कक्षा में हों या कक्षा के बाहर खेल के मैदान में, पुस्तकालय एवं वाचनालय में, विविध पाठ्येतर क्रियाओं में, सामाजिक सेवा के कार्यों में, यात्रा एवं परिभ्रमण में। बर्ट तथा क्रोनबर्ग के अनुसार "व्यापक अर्थ में पाठ्यक्रम संपूर्ण विद्यालय के वातावरण का द्योतक है जिसमें बालकों के लिए आयोजित समस्त पाठ्यविषय, क्रियाएँ, पठन कार्य एवं अनुभव शामिल हैं।[1] इस दृष्टि से पाठ्यक्रम का महत्त्व और भी बढ़ गया है। बालक की शिक्षा का वह मुख्य साधन है। इसीलिए पाठ्यक्रम की रचना, संगठन एवं पाठ्य-विषयों तथा क्रियाओं के निर्वाचन संबंधी अध्ययन पर विशेष बल दिया जाने लगा है। इस संबंध में आगे विस्तार से लिखा गया है।[2]

शिक्षण

यह लिखा जा चुका है कि शैक्षिक प्रक्रिया के तीनों प्रमुख अंगों—शिक्षक, शिक्षार्थी और पाठ्यक्रम को परस्पर मिलाने वाली क्रिया का नाम ही शिक्षण है। इसी रूप में इन तीनों का संपर्क, योग और परस्पर आदान-प्रदान संभव होता है। अतः शिक्षा की संपन्नता और सफलता इस शिक्षण पर ही निर्भर है। यदि शिक्षक इसकी विशेषताओं से अवगत नहीं है तो वह शिक्षार्थी और पाठ्यक्रम के साथ न्याय नहीं कर सकता और न उन दोनों में सम्यक् संबंध ही जोड़ सकता है। उसके लिए यह जानना आवश्यक है कि शिक्षण का अर्थ एवं तात्पर्य क्या है, शिक्षण की प्रकृति एवं उसके आधारभूत सिद्धांत क्या हैं, अच्छा शिक्षक किसे कहते हैं, किस प्रकार शिक्षण के साथ-साथ बालक द्वारा सीखने की क्रिया चलती रहती है तथा सीखने की प्रकृति एवं उसकी प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं? इनका अध्ययन शिक्षण की सफलता की दृष्टि से आवश्यक हो जाता है। अतः अगले अध्याय में इनका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

---

1. "The curriculum in its broadest sense includes the complete school environment, involving all the courses, activities, readings and experiences furnished to the pupils in the schools."
2. अध्याय ४—पाठ्यक्रम

सारांश

जॉन एडम्स के अनुसार शिक्षा एक द्विमुखी प्रक्रिया है जिसमें शिक्षक शिक्षार्थी के विकास के लिए प्रयत्नशील रहता है किन्तु शिक्षार्थी भी निश्चेष्ट और निष्क्रिय नहीं रहता बल्कि आत्म-विकास के लिए अपना सक्रिय योग प्रदान करता रहता है। जॉन ड्यूवी ने शिक्षा को द्विमुखी प्रक्रिया की जगह त्रिमुखी प्रक्रिया माना है—शिक्षक, शिक्षार्थी और समाज। किन्तु सामान्य रूप से इस त्रिमुखी प्रक्रिया के तीन आधार शिक्षक, शिक्षार्थी एवं पाठ्यक्रम माने जाते हैं। इनकी विशेषताओं के संबंध में जानना हमारे लिए अति आवश्यक है।

इन तीनों अंगों—शिक्षक, शिक्षार्थी और पाठ्यक्रम के परस्पर संपर्क और आदान-प्रदान की क्रिया का नाम शिक्षण है। शैक्षिक प्रक्रिया का व्यावहारिक एवं क्रियात्मक रूप ही शिक्षण कहलाता है। इसका अध्ययन शिक्षक के लिए बहुत आवश्यक है जिससे वह अपना शिक्षण-कार्य ठीक प्रकार से चला सके।

प्रश्न

१—शैक्षिक प्रक्रिया से आप क्या समझते हैं? विविध विचारों पर अपना मत प्रकट कीजिए।

२—शैक्षिक प्रक्रिया के प्रमुख अंग क्या हैं और उनमें क्या संबंध है? उनकी महत्ता पर प्रकाश डालिए।

अध्याय २

शिक्षण : प्रकृति एवं आधारभूत सिद्धांत

[शिक्षण की प्रकृति, शिक्षण कला है, शिक्षण विज्ञान पर आधारित कला है, शिक्षण एक प्राविधिक व्यवसाय है, शिक्षण क्रिया का तात्पर्य—सिखाना और सीखना, उत्तम शिक्षण के सिद्धांत, सीखने की प्रकृति, सीखने की सामान्य विशेषताएँ]

"Teaching is an art based upon Science."—*G. A. Yoakam.*
"Teaching may very well be defined as the direction of learning."

—*Risk.*

शिक्षण की प्रकृति

व्यापक दृष्टि से शिक्षण प्रक्रिया "विकास का वह क्रम है जिससे मनुष्य अपने को आवश्यकतानुसार भौतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक वातावरण के अनुकूल बना लेता है।"[1] इस दृष्टि से जीवन के समस्त क्षेत्रों एवं विविध क्रिया-कलापों से प्राप्त अनुभव शिक्षण के अंतर्गत आ जाते हैं और यह शिक्षण आजीवन चलता रहता है। किन्तु शिक्षण का यह व्यापक दृष्टिकोण अस्पष्ट, अनिश्चित एवं अविधिक (Informal) सा है अतः हमें निश्चित, स्पष्ट और सविधिक (formal) शिक्षण की प्रकृति और अर्थ पर विचार करने की आवश्यकता है। व्यापक एवं अविधिक शिक्षण के साधन और स्रोत अनेक संस्थाएँ हैं जैसे गृह अथवा परिवार, समाज, राज्य एवं धर्म संस्थाएँ आदि क्योंकि इनके माध्यम से बालक की शिक्षा होती है।[2] गृह शिक्षा अर्थात् माता-पिता द्वारा शिक्षण का बहुत ही अधिक महत्त्व है और विद्यालय में आने के पहले बालक की शिक्षा का एक मात्र साधन वही है। किन्तु ये साधन नियमित एवं व्यवस्थित शिक्षण के साधन नहीं हैं। अतः नियमित, व्यवस्थित एवं निश्चित शिक्षण के लिए समाज द्वारा ऐसे शिक्षालयों की व्यवस्था होती है जहाँ प्रशिक्षित एवं दक्ष व्यक्तियों (शिक्षकों) द्वारा शिक्षण क्रिया संपन्न होती है। हम यहाँ इसी शिक्षण क्रिया के संबंध में विचार करेंगे।

---

1. टी. रेमांट—शिक्षा सिद्धांत, पृ० २
2. इस संबंध में विस्तृत जानकारी के लिए देखिए लेखक की रचना—शिक्षालय संगठन, प्रथम अध्याय, शिक्षा के साधन एवं स्रोत।

"शिक्षण वह साधन है जिसके द्वारा समाज के अनुभवी सदस्य अपरिपक्व एवं शिशु सदस्यों का जीवन से सामंजस्य-स्थापन के लिए पथ-प्रदर्शन करते हैं।"[1] मानव जगत में इस शिक्षण की महत्ता निर्विवाद सिद्ध है। पशु जगत में इसका उतना महत्त्व नहीं हैं क्योंकि उनके बच्चे शीघ्र ही अपने जीवन-यापन में समर्थ एवं सक्षम हो जाते हैं किन्तु मानव शिशु बहुत ही असहाय होता है और उसे जीवन में सामंजस्य स्थापित करने योग्य बनाने के लिए दीर्घकाल तक (लगभग २०-२५ वर्ष की अवस्था तक) शिक्षा देनी पड़ती है। इस शिक्षण प्राप्ति द्वारा वह समाज के एक योग्य सदस्य के रूप में अपना स्थान ग्रहण करता है और उचित आचरण एवं व्यवहार करने में समर्थ होता है।

शिक्षण वह साधन है जिसके द्वारा शिशु सदस्यों को एक उपयुक्त एवं व्यवस्थित वातावरण में यथाशीघ्र इस प्रकार प्रशिक्षित किया जाता है कि वे जीवन एवं जगत के साथ समायोजन स्थापित कर सकें[2] और जीवन की परिस्थितियों को उन्नत बनाने में अपना योगदान दे सकें। इस प्रकार शिक्षण द्वारा बालक को वह क्षमता प्राप्त होती है जिससे वह व्यक्तिगत उत्कर्ष के साथ-साथ सामाजिक जीवन तथा मानव सभ्यता एवं संस्कृति के उत्कर्ष का भी प्रयत्न करता रहे।

शिक्षण एक कला है—शिक्षण एक कला है, यह एक नैसर्गिक प्रतिभा है। इसी दृष्टि से शिक्षक को भी एक कलाकार की संज्ञा दी जाती है। प्रायः देखने में आता है कि कुछ शिक्षकों में तन्मयता एवं कुशलतापूर्ण शिक्षण का चमत्कार प्राकृतिक, जन्मजात अथवा दैवी रूप से विद्यमान रहता है और वे अनायास ही अपनी वाणी तथा विषय-वस्तु को प्रस्तुत करने की मनोहर शैली से शिक्षार्थियों का मन विमुग्ध कर लेते हैं और उन्हें शिक्षा ग्रहण करने के मार्ग पर अभिमुख कर देने में सफल हो जाते हैं। इस जन्मजात प्रतिभा अथवा शक्ति के आधार पर हम शिक्षण को एक कला मानते हैं।

जिस प्रकार किसी संगीतज्ञ में संगीत के प्रति, चित्रकार में चित्र-कला के प्रति और कवि में कविता के प्रति एक स्वाभाविक रुचि एवं प्रवणता रहती है उसी प्रकार जन्मजात शिक्षक में भी शिक्षण कार्य के प्रति स्वाभाविक रुचि, लगन, निष्ठा, उत्साह

---

1. "Teaching is the means where by the experienced members of the group guide the immature and infant members in their adjustment to life." *Yoakam and Simpson*—Modern method and techniques of teaching. P. 9.

2. "Teaching is the means where by society trains the young in a selected environment as quickly as possible to adjust themselves to the world in which they live." *Ibid.* P. 5.

और प्रवणता दीख पड़ती है और उसमें उसे आनन्द की अनुभूति प्राप्त होती है। यह अन्तःप्रेरणा की वस्तु है और ऐसा क्यों होता है इसका कोई वैज्ञानिक कारण, व्याख्या, विश्लेषण और तर्क नहीं प्रस्तुत किया जा सकता। इस बात के भी प्रचुर उदाहरण हैं कि जिन लोगों में यह स्वाभाविक रुचि, अन्तःप्रेरणा, नैसर्गिक तन्मयता, उत्साह और प्राकृतिक प्रेरणा नहीं है, वे विद्वान्, विचारक एवं गहन अध्येता रहने पर भी शिक्षण में सफल नहीं हो पाते। इस दृष्टि से भी शिक्षण को कला की संज्ञा देना युक्तिसंगत ही प्रतीत होता है।

शिक्षण बालक को शिक्षित करने की क्रिया है। इसमें सिद्धांत का महत्त्व केवल उसके प्रयोग को उत्तम और सुंदर बनाने की दृष्टि से है। ऐसे विषय, जिनमें सिद्धांत का ज्ञान प्रयोग की दृष्टि से प्राप्त किया जाता है कला के अंतर्गत रखे जाते हैं। शिक्षण भी ऐसा ही विषय है जिसकी सफलता बच्चों के सीखने के मार्ग प्रदर्शन (Direction of Learning) की क्रिया में निहित है। यद्यपि इस मार्ग प्रदर्शन की अनेक विधियों, प्रणालियों अथवा शैलियों का प्रतिपादन शिक्षा शास्त्रियों ने किया है फिर भी उनमें आध्यंतरिकता (Subjectivity) का इतना अधिक स्थान रहता है कि कोई भी सामान्य विधि या प्रणाली प्रातिभ शिक्षक के अन्तःस्पर्श मात्र से चमत्कृत हो उठती है; ठीक जिस प्रकार एक ही भाषा, एक ही वर्ण्य विषय और एक ही छन्द विधान रहने पर भी किसी कुशल कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यंजना और मर्म-स्पर्शी शैली का आश्रय पाकर कोई कविता चमत्कृत हो उठती है। जिसकी क्रिया में इस आध्यंतरिकता तथा शैली के प्रयोग का यह व्यक्तिगत चमत्कार देखने को मिलता है उस क्रिया को कला की कोटि में रखना उचित ही प्रतीत होता है। शिक्षण को इस दृष्टि से कला के नाम से अभिहित करना उपयुक्त ही है।

रेमांट ने शिक्षा को कला की संज्ञा देते हुए लिखा है[1] कि विज्ञान में निश्चित तथ्यों की व्याख्या होती है, रूप की व्यापकता होती है, निश्चित पारिभाषिक शब्दों का व्यवहार होता है और विषयों का अध्ययन केवल उन्हीं की जानकारी के लिए होता है। किन्तु जिन विषयों को हम कला कहते हैं उनका उद्देश्य ज्ञान के अतिरिक्त कुछ और है अर्थात् उनका प्रमुख उद्देश्य जानना नहीं, वरन् कुछ करना है, चाहे उनमें भी कुछ निश्चित तथ्य और पारिभाषिक शब्द भले ही हों। शिक्षण भी इसी प्रकार का क्रिया-प्रधान विषय है, ज्ञान-प्रधान नहीं। अतः स्पष्ट है कि शिक्षण कला है विज्ञान नहीं।

---

1. रेमांट—शिक्षा सिद्धान्त, (अनुवादक—देवनारायण मुकर्जी,) पृ० १४–१५

शिक्षण विज्ञान पर आधारित कला है—प्रत्येक कला के दो पक्ष होते हैं—सिद्धांत एवं प्रयोग। कला का जब कोई रूप व्यवहृत होता है, उसका व्यापक प्रयोग और प्रसार होने लगता है तो उस प्रयोग एवं व्यवहार के आधार पर उसके सिद्धांतों का भी निरूपण होता चलता है और वह कला एक शास्त्रीय स्वरूप ग्रहण कर लेती है। जैसे संगीत और कविता के प्रयोग एवं प्रचलन पर उत्तरोत्तर संगीत शास्त्र और काव्य शास्त्र का निरूपण होता गया, भाषा के प्रचलन के बाद भाषा विज्ञान का जन्म हुआ, उसी प्रकार शिक्षण क्रिया प्रारम्भ हो जाने पर उसके प्रचलन के साथ-साथ उत्तरोत्तर उसका सैद्धांतिक अथवा शास्त्रीय पक्ष भी विकसित होता गया और अनेक सिद्धांतों के निरूपण हुए। अतः शिक्षण क्रिया के भी दो पक्ष हैं—सिद्धांत और प्रयोग। इसके सिद्धांत पक्ष को शिक्षा-विज्ञान की संज्ञा प्रदान की जाती है। इसीलिए शिक्षण को विज्ञान पर आधारित कला कहा जाता है।

कुछ विचारकों ने शिक्षण को मुख्यतः कला मानते हुए उपयोगी विज्ञानों जैसे कृषि-विज्ञान, खनिज-विज्ञान, नाविक-विज्ञान आदि के समकक्ष रखा है जिनमें प्रयोग के लिए ही हम सिद्धांतों का अध्ययन करते हैं और प्रयोग ही हमारा मुख्य लक्ष्य रहता है। शुद्ध विज्ञान जैसे पदार्थ विज्ञान, रसायन शास्त्र में भी प्रयोग एवं सिद्धांत दो पक्ष हैं किन्तु उनमें प्रयोग का महत्त्व सिद्धांत निरूपण के लिए रहता है जबकि कला अथवा उपयोगी विज्ञान में सिद्धांत का महत्त्व प्रयोग के लिए समझा जाता है। अतः शिक्षण क्रिया शुद्ध विज्ञान की कोटि से अपने आप पृथक् हो जाती है और उपयोगी विज्ञान के समकक्ष रखी जाती है।

शिक्षण ऐसी कला है जो प्रगतिशील शिक्षा-विज्ञान पर आधारित है।[1] इस शिक्षा-विज्ञान का विकास अभी विगत शताब्दी से ही हुआ है और वह विकास अभी जारी है तथा जारी रहेगा। इसलिये यह नवीन विज्ञान है। इस विज्ञान का क्षेत्र शिक्षा मनोविज्ञान, बाल मनोविज्ञान, प्रायोगिक एवं व्यावहारिक मनोविज्ञान है और इसके विकास की सामग्री अन्य विज्ञानों जैसे प्राणि विज्ञान, समाज विज्ञान, दर्शन, इतिहास आदि से भी उपलब्ध होती है। यह एक प्रकार का सेवा-विज्ञान (Service Science) है क्योंकि इसका उद्देश्य बालकों के विकास का अध्ययन करना है और उन साधनों का अनुसंधान करना है जिनके द्वारा विद्यालय प्रशासन, शिक्षण, विद्यालय योजना, संगठन, व्यवस्था, पाठ्यक्रम, शिक्षण विधि, सीखना तथा

---

1. *Yoakam, G. A. and Simpson, R. G.*—Modern Methods and Techniques of Teaching."—"Teaching is an art based upon Science." P. 8.

शैक्षिक मापन आदि क्रियाओं को अधिकाधिक प्रभावपूर्ण बनाया जा सके। मानव-ज्ञान के समस्त क्षेत्रों से इसका सम्बन्ध है और वह उस ज्ञान का प्रयोग विकासोन्मुख बालकों के लाभ के लिए करना चाहता है।[1]

समय-समय पर प्रचलित शिक्षण विधियों, संगठनों तथा सीखने की पद्धतियों के प्रति असन्तोष के कारण शिक्षा विज्ञान का विकास होता गया है। शिक्षा विज्ञान का उद्देश्य शिक्षण प्रक्रिया को उन्नत बनाना है और उसे इसमें यथेष्ट सफलता भी प्राप्त हुई है। क्योंकि हम देखते हैं कि कला के रूप में शिक्षण क्रिया अति प्राचीन काल से चली आ रही है और प्राचीन शिक्षकों के कार्यों तथा कृतियों से तथा उसमें समय-समय पर होने वाले सुधारों एवं परिवर्तनों के अध्ययन से बहुत कुछ सीखा जा सकता है और शिक्षण के वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा उसमें आगे भी सुधार किया जा सकता है। प्राचीन काल में अध्यापक बालक को किसी प्रकार पाठ्य विषयों का रटा देना ही अपने शिक्षण का उद्देश्य मानते थे किन्तु कोमेनियस, रूसो, पेस्टालाजी, फ्रोबेल, हरबर्ट, हरबार्ट स्पेन्सर, ड्यूवी आदि शिक्षकों एवं शिक्षा विचारकों ने प्राचीन शिक्षण सिद्धांतों और विधियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया और आज की शिक्षा बालकेन्द्रित शिक्षा बन गई है जैसा हम प्रथम अध्याय में विस्तार से लिख चुके हैं।[2] शिक्षण सिद्धान्तों के क्षेत्र में इन शिक्षा-मनीषियों के प्रयत्नों से अन्य क्या उपलब्धियाँ हुई हैं उनका अवलोकन आगे के अध्यायों में हम करेंगे।

शिक्षण कला एवं तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों तथा विधियों के अध्ययन में यह भी ध्यान देने की बात है कि ये सिद्धान्त एवं विधियाँ प्रगतिशील विज्ञान के रूप में ही अंगीकृत होनी चाहिए। इनका अन्तिम एवं पूर्ण विकास हो गया है, यह न मानकर ये विकास के क्रम में हैं, यही मानना शुभकर होगा। अतः शिक्षक इनका सेवक न बने, अपितु अवसर, परिस्थिति एवं प्रसंगानुसार इनका प्रयोग करे तथा अपने व्यक्तिगत योगदान द्वारा उसे और भी उपादेय बनाने का प्रयत्न करे। इससे इन सिद्धान्तों एवं विधियों की प्रगति होती रहेगी और किसी प्रकार की रूढ़िवादिता का समावेश न हो सकेगा। रीति निर्वाह की दृष्टि से इन सिद्धान्तों एवं विधियों का अध्ययन और प्रयोग किसी भी स्थिति में उचित नहीं है।

शिक्षण एक प्राविधिक व्यवसाय है—शिक्षण एक कला है अतः शिक्षण का कार्य एक प्राविधिक व्यवसाय (Skilled Occupation) है। पहले ऐसा

---

1. "Teaching is an art based upon a growing Science of Education..............." *Ibid*, Pp. 8—9.
2. प्रथम अध्याय—'शिक्षार्थी' शीर्षक के अंतर्गत देखिए।

समझा जाता था कि कोई भी शिक्षित व्यक्ति शिक्षण कार्य कर सकता है किन्तु यह ठीक नहीं है उपर्युक्त विवरण से अब यह स्पष्ट हो गया है कि शिक्षण प्रगतिशील शिक्षा विज्ञान पर आधारित कला है, इसके सिद्धान्त एवं प्रयोग दोनों पक्ष हैं और शिक्षण कार्य अपनाने के पहले इस बात की परम आवश्यकता है कि शिक्षा विज्ञान तथा उसके सिद्धान्तों एवं प्रायोगिक विधियों का अध्ययन किया जाय। इसी दृष्टि से शिक्षकों को प्रशिक्षित करने के लिए अनेक प्रशिक्षण विद्यालयों की स्थापना की गई है। शिक्षक को स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए कि शिक्षा के आधारभूत उद्देश्य क्या हैं, समुचित शिक्षण किसे कहते हैं और उन्हें किस प्रकार कार्यान्वित किया जा सकता है।

उचित शिक्षण के लिए विषय का पर्याप्त ज्ञान तो होना ही चाहिए पर यह भी जानना आवश्यक है कि शिक्षण की उपर्युक्त स्थितियाँ क्या हैं, पाठ्य विषय के संगठन की उचित विधि क्या है, छात्रों के सीखने के लिए उचित स्थितियों (Learning situations) का निर्माण किस प्रकार किया जाय और विषय-वस्तु को कैसे प्रस्तुत किया जाय। अच्छा शिक्षक होने के लिए यही आवश्यक नहीं कि उसमें शिक्षण के प्रति अभिरुचि हो, सामान्य शिक्षा तथा कुछ विशेष विषयों में उसका विशेष ज्ञान हो, बल्कि यह भी आवश्यक है कि वह प्रशिक्षण विद्यालय में छात्राध्यापक की हैसियत से शिक्षण विधियों एवं प्रणालियों का विधिपूर्वक प्रशिक्षण प्राप्त कर चुका हो।[1]

शिक्षण क्रिया का तात्पर्य—शिक्षण क्रिया में शिक्षक द्वारा शिक्षा प्रदान करना (Teaching) और शिक्षार्थी द्वारा शिक्षा ग्रहण करना (Learning) दोनों शामिल हैं और दोनों साथ-साथ चलते रहते हैं। हम देख चुके हैं कि शिक्षण शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों के परस्पर आदान-प्रदान और सक्रिय योग से संपन्न होता है। इनमें से किसी भी एक के अभाव में शिक्षण की कल्पना नहीं हो सकती। अतः शिक्षा देना और शिक्षा ग्रहण करना अर्थात् सिखाना और सीखना दोनों शिक्षण के अंतर्गत निहित हैं। यदि कोई शिक्षक शिक्षार्थी का ध्यान रखे बिना ही अपने शिक्षण में तल्लीन रहता है तो इसे शिक्षण नहीं समझना चाहिए। जॉन ड्यूवी के शब्दों में "सीखने के अभाव में सिखाना अर्थात् शिक्षा देना वैसा ही है जैसा कि दूकानदार ने वस्तु बेची

1. "To become a good teacher, the student must not only have a special aptitude for teaching and an inclination for it, a good general education, and specialisation in some field, but must also spend some time as a student teacher in a practice school learning the methods and techniques which are new known to be necessary in order to teach well." *Ibid.* P. 8.

पर किसी ने उसे खरीदा नहीं।"[1] इस कथन से हम सिखाने और सीखने के परस्पर घनिष्ठ संबंध को ठीक प्रकार से समझ सकते हैं। इसी दृष्टि से शिक्षार्थी के सीखने का पथ-प्रदर्शन ही शिक्षण की उपयुक्त परिभाषा मानी जाती है।[2] किस प्रकार ये दोनों क्रियाएँ सिखाना (शिक्षक का कार्य) और सीखना (शिक्षार्थी का कार्य) साथ-साथ चलती रहती हैं, इसका एक उदाहरण रिस्क ने शिक्षण विधि की परिभाषा एवं व्याख्या के सिलसिले में प्रस्तुत किया है जो इस प्रकार है[3] :—

शिक्षक का कार्य	शिक्षार्थी का कार्य
क—प्रस्तावना	क—प्रस्तावना
१—प्रेरित करना, समस्या रखना	१—सीखने की प्रेरणा एवं उत्तेजना प्राप्त करना
२—शिक्षार्थी को स्वयं ज्ञान प्राप्ति में सहायता देना	२—समस्या के प्रति स्वयं जागरूक होना
(i) सहायक सामग्री एवं उदाहरण प्रस्तुत करना	(i) निरीक्षण करना एवं स्थितियाँ प्राप्त करना
(ii) शिक्षार्थी के पूर्व अनुभवों पर विचार-विमर्श करना	(ii) पूर्व अनुभवों का स्मरण और प्रत्यक्षीकरण
(iii) शिक्षार्थी की पूर्व योग्यता की जाँच (Pretesting)	(iii) शिक्षक के प्रस्तुतीकरण और व्याख्या को सुनना
ख—विकास क्रम	ख—विकास क्रम
१—शिक्षार्थी को प्रेरणा देना और क्रियाशील बनाना	१—आत्मीकरण (Assimilative activities)
(i) उत्सुकता पैदा करना	(i) ज्ञात तथ्यों, सिद्धांतों एवं अन्य संबंधित बातों को सुनियोजित करना
(ii) प्रश्न पूछना	(ii) उदाहरण, प्रयोग एवं व्याख्या आदि का निरीक्षण एवं ग्रहण करना
(iii) पूर्व योग्यता की जाँच करना	(iii) अभीष्ट तथ्यों के बारे में और जानकारी के लिए पढ़ना

---

1. "One may as well say that he has sold if no one has bought, as to say that he has taught if no one has learned."
Risk—Principles and Practices of Teaching, P. 3.
2. "Teaching may very well be difined as the direction of learning."
Risk—Principles and Practices of Teaching.
3. *Ibid*, Pp. 10—11.

(iv) वर्णन एवं भाषण

(v) निर्देशन (Giving directions)

(vi) स्पष्टीकरण

(vii) कार्य प्रदान करना (Assignments)

(viii) शिक्षार्थी के अध्ययन का निरीक्षण करना

(ix) दृष्टांत प्रदर्शित करना (Demonstrating)

(x) परीक्षण

२—विद्यार्थी की क्रियाओं का मापन

(i) प्रश्नों द्वारा

(ii) परीक्षण द्वारा (Testing)

(iii) उत्तरोत्तर प्रगति निर्णय द्वारा

(iv) अंकन प्रतिफल द्वारा (Scoring products)

ग—परिणति (Culminating activities)

(i) समीक्षा संचालन और संगठन

(ii) निष्कर्ष प्राप्ति में सहायता देना

(iii) सामूहिक क्रियाओं और उदाहरणों के प्रयोगों को संगठित करने में सहायता देना

(iv) अंतिम परीक्षा लेना

(शिक्षक द्वारा शिक्षण के इस क्रम को अपनाने की प्रकृति को शिक्षण विधि का नाम दिया जा सकता है)।

(iv) आँकड़ों, तथ्यों, सहायक सामग्री तथा उदाहरणों का संकलन

(v) तुलना, परीक्षण, निष्कर्ष एवं सामान्यीकरण

(vi) विचारों को दृढ़ बनाने के लिए क्रियाओं के प्रयोग, अभ्यास एवं व्यवहार

(vii) सारांश समझना, तथ्यों को संगठित करना और उनका विशेष व्यवहार करना

ग—परिणति (Culminating activities)

(i) क्रियाओं की समीक्षा करना

(ii) निष्कर्षों को व्यवस्थित करना

(iii) सोदाहरण प्रयोगों को प्रस्तुत करना

(iv) परीक्षा देना

(v) सामूहिक क्रियाओं में भाग लेना

(शिक्षार्थी द्वारा सीखने के इस क्रम को अपनाने की प्रकृति को सीखने की विधि का नाम दिया जा सकता है)।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि शिक्षण में सिखाना और सीखना दोनों ही अनिवार्य रूप से सम्बद्ध हैं और शिक्षक को सतत् इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि उसके शिक्षण में शिक्षार्थी का सक्रिय योग बना रहे और वह पाठ-विकास के साथ-साथ सीखता चले। शिक्षार्थी के सीखने पर ही शिक्षण की सफलता निर्भर है। अतः हमें सिखाने और सीखने दोनों ही क्रियाओं के आधारभूत सिद्धान्तों (Fundamentals of Teaching and Learning) को समझ लेना चाहिए।

उत्तम शिक्षण के सिद्धान्त[1]—उत्तम शिक्षण के कुछ आधारभूत सिद्धांत हैं जिनका जानना प्रत्येक शिक्षक के लिए आवश्यक है।

(१) उत्तम शिक्षण का अर्थ सीखने का पथ-प्रदर्शन करना है[2]—विद्यार्थियों को ज्ञान प्रदान करने की क्रिया तथा उन्हें दुष्प्रवृत्तियों से रोकना ही शिक्षण क्रिया नहीं है बल्कि इनके साथ-साथ शिक्षार्थी को स्वयं सीखने के लिए प्रयत्नशील बनाना, प्रोत्साहित करना और सीखने की क्रिया में उसका पथ-प्रदर्शन करना उत्तम शिक्षण का लक्षण है। इस पथ-प्रदर्शन में आज्ञा नहीं बल्कि समुचित निर्देशन एवं परामर्शों से काम लिया जाता है और ऐसी स्थितियों का निर्माण किया जाता है जिससे विद्यार्थियों को उचित क्रियाओं के संपादन में सहायता मिले। उत्तम शिक्षण वह है जो विद्यार्थियों को स्वयं ज्ञान प्राप्त करने, स्वानुभव से सीखने, अनुसंधान तथा अन्वेषण करने और अपनी उत्तरोत्तर प्रगति को समझते हुए आगे बढ़ने का अवसर प्रदान करे। योकम और सिम्पसन ने शिक्षण की उपमा अनुभव के संसार में किये जाने वाले एक ऐसे पर्यटन से किया है जिसका संयोजक शिक्षक है और शिक्षार्थी उसके यात्री हैं। शिक्षक एक दक्ष संयोजक के नाते यह जानता है कि इस यात्रा को किस प्रकार सफल, सोद्देश्य और सार्थक बनाया जाय क्योंकि यदि विद्यार्थियों को इस यात्रा में आनन्द नहीं मिला और वे अनुभव द्वारा सीख नहीं सके तो यह यात्रा निरर्थक सिद्ध होगी। इस यात्रा में पग-पग पर शिक्षक द्वारा पथ-प्रदर्शन आवश्यक है, उदाहरणतः (१) यात्रा की योजना और उद्देश्य निर्धारित करना, (२) यात्रा के लिए आवश्यक साधन एकत्र करना, (३) बालकों की रुचि को आकर्षित करने वाले

---

1. *G. A. Yoakam & R. G. Simpson* कृत Modern Methods and Techniques of Teaching के द्वितीय अध्याय Fundamentals of Teaching and Learning के आधार पर
2. "Good Teaching involves skill in guiding learning."

विषयों का निर्देश करना, (४) इन विषयों को सोद्देश्य एवं सार्थक बनाना, (५) यात्रियों (विद्यार्थियों) के सुख एवं सुविधा का ध्यान रखना और अन्त में (६) उनको अपने अनुभवों के मूल्यांकन में सहायता प्रदान करना जिससे वे पुनः इस प्रकार की यात्रा के लिए अग्रसर होने को तत्पर रहें।

(२) दया और सहानुभूति का व्यवहार[1]—उत्तम शिक्षण के लिए यह आवश्यक है कि अध्यापक अपने सभी छात्रों के प्रति, चाहे वे प्रतिभाशाली हों अथवा मंद बुद्धि के, दया और सहानुभूति का वर्ताव रखे। अच्छा शिक्षक कक्षा के वातावरण को घर के समान सुखद और सुमधुर बनाए रखता है, वह छात्रों की रुचि तथा आवश्यकता का ध्यान रखता है, धमकी और घुड़की का आश्रय नहीं लेता, छात्रों की कठिनाइयों को समझने तथा उनको दूर करने का प्रयत्न करता है। वह अपनी मृदुलता से ही छात्रों में अनुशासन और व्यवस्था की भावना उत्पन्न करता है तथा उनकी त्रुटियों को सुधारने का प्रयत्न करता है। वह अपनी सहृदयता और सहानुभूति से छात्रों के हृदय को जीत लेता है, उन्हें सदा सक्रिय बनाये रखता है और अपने व्यक्तित्व, आचरण तथा शिक्षण से उनके ज्ञान, गुण तथा चरित्र का विकास करता है।

(३) अच्छी योजना[2]—अच्छा शिक्षक कक्षा में जाने के पहले से ही अपने शिक्षण की पूरी योजना तैयार कर लेता है और कक्षा में शिक्षण के समय उठने वाली समस्याओं पर भी पूर्व विचार किये रहता है। विषय-वस्तु का क्रमायोजन, पाठ-विकास का क्रम, बीच में उपस्थित होने वाली कठिनाइयाँ तथा उनका समाधान, छात्रों का पाठ-विकास में उचित योग, प्रयोग एवं अभ्यास तथा सीखने की उचित स्थितियों का निर्माण (Learning Situations) आदि सभी बातों पर वह विचार कर लेता है जिससे शिक्षण सुचारु रूप से संपन्न हो सके किन्तु इनके साथ-साथ अच्छा शिक्षक यथा प्रसंग और अवसर अपनी इस पूर्व निर्धारित योजना में आवश्यक परिवर्तन के लिए भी तैयार रहता है।

(४) सहयोग की भावना[3]—उत्तम शिक्षण शिक्षक और शिक्षार्थियों के परस्पर सहयोग पर आधारित होता है। छात्रों का सक्रिय सहयोग प्राप्त किये बिना अध्यापक शिक्षण में कभी भी सफल नहीं हो सकता। छात्र निष्क्रिय श्रोता नहीं, बल्कि पाठ-विकास में सक्रिय योग देने वाला विकासशील प्राणी है, यह समझकर शिक्षक कक्षा

1. "Good teaching is kindly and sympathetic."
2. Good teaching is well planned.
3. Good teaching is Co-operative.

में अनेक ऐसी क्रियाओं का आयोजन करता है जिससे बालक उनमें उत्साहपूर्वक लगे रहें और स्वयं अनुभव तथा ज्ञान प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर हों।

(५) निर्देशात्मकता[1]—अच्छे शिक्षण में निर्देश (Suggestion) से काम लिया जाता है आदेश (dictation) से नहीं। कक्षा में सैनिक शासन की आवश्यकता नहीं। अध्यापक उचित निर्देश और परामर्श से काम लेता है, वह छात्रों के सम्मुख लक्ष्य रखता है, उसकी प्राप्ति के लिए साधन एकत्र करता है और ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देता है कि छात्र शिक्षण संबंधी क्रियाओं में अपने आप संलग्न हो जाते हैं और सीखने में दत्तचित्त हो उठते हैं। अच्छा अध्यापक अपना नेतृत्व छात्रों पर जबर्दस्ती नहीं लादता बल्कि अपने निर्देश एवं मृदुल व्यवहार तथा आचरण द्वारा छात्रों के सम्मान का भाजन हो जाता है।

(६) जनतांत्रिकता[2]—अच्छे शिक्षण में ऐसे जनतांत्रिक वातावरण के निर्माण का प्रयत्न होता है जिसमें प्रत्येक शिक्षार्थी के अधिकारों का सम्मान संभव हो सके। सभी छात्र एक समान हैं, सभी को समान अधिकार प्राप्त हैं, सभी समान रूप से विद्यालय के क्रिया-कलापों में भाग लेने के अधिकारी हैं, सभी को एक दूसरे के अधिकारों का सम्मान रखना चाहिए तथा अपने कर्तव्यों के प्रति सचेत रहना चाहिए आदि जनतन्त्रात्मक भावनाओं पर अच्छे शिक्षण में पूर्ण रूप से बल दिया जाता है और अच्छा अध्यापक इसी विश्वास के साथ अपना कार्य करता है।

जनतान्त्रिक शिक्षण द्वारा बालकों में समाज सेवा और समाज कल्याण की भावना जागरित करने का प्रयत्न किया जाता है। वही अच्छा शिक्षण है जिसके द्वारा बालकों के नित्य-प्रति के आचरण, व्यवहार, मनोवृत्ति तथा कार्य-प्रणाली में जनतान्त्रिकता का समावेश हो जाय और वह अपने अधिकारों एवं सुविधाओं के साथ-साथ अपने कर्त्तव्यों के प्रति भी जागरूक बना रहे।

(७) प्रेरणात्मकता[3]—आधुनिक बाल-केन्द्रित शिक्षण में बालक की क्रियाओं पर विशेष बल देने से ऐसा प्रतीत होता है कि अध्यापक का स्थान नगण्य सा है, किन्तु ऐसी बात नहीं है। अध्यापक अपने व्यक्तित्व एवं कार्यों द्वारा छात्रों के व्यक्तित्व एवं क्रियाओं को बहुत प्रभावित करता है और उन्हें उचित प्रेरणा प्रदान करता है। शिक्षालय में उचित वातावरण के निर्माण तथा क्रियाओं के पथ-प्रदर्शन का उत्तरदायित्व शिक्षक पर ही रहता है। वह छात्रों को विविध क्रियाओं की योजना बनाने, तथ्यों एवं सामग्रियों को संकलित करने, उन्हें सुव्यवस्थित

1. Good teaching is suggestive.
2. Good teaching is democratic.
3. Stimulating.

करने, प्रभावपूर्ण व्यक्त-पठन प्रस्तुत करने, विचार-विमर्श करने, अपनी प्रगति का मापन करने, उचित सामग्री को कंठाग्र करने तथा अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा प्रदान करता है। वह छात्रों में इस प्रकार की स्फूर्ति और उत्साह भर देता है कि वे आत्म-प्रयत्न तथा आत्म-क्रिया द्वारा सीखने के लिए तैयार हो जाते हैं।

(८) पूर्वार्जित ज्ञान एवं अनुभवों का आधार[1]—(क) छात्रों के पूर्व ज्ञान एवं अनुभव का ध्यान—अच्छा शिक्षक यह भली-भाँति जानता है कि शिक्षा का तात्पर्य छात्रों के अनुभवों को सुव्यवस्थित और सुसंगठित करना है। अतः किसी भी नयी क्रिया को प्रस्तुत करने के पहले छात्रों की अभिरुचि, प्रवृत्ति, कौशल, व्यवहार, पूर्वार्जित ज्ञान एवं अनुभव को जानना आवश्यक है और उनके आधार पर तथा उनसे सम्बन्धित करते हुए नवीन ज्ञान तथा क्रिया को प्रस्तुत किया जाता है।

(ख) शिक्षक द्वारा अपने पूर्व अनुभव का लाभ—कुशल शिक्षक उपर्युक्त ध्यान के साथ-साथ इस बात के लिए भी सचेष्ट रहता है कि वह अपने शिक्षण सम्बन्धी पूर्व अनुभवों का लाभ उठावे, उत्तरोत्तर अपने शिक्षण की विधियों एवं युक्तियों में सुधार करता चले और शिक्षण सम्बन्धी समस्याओं के समाधान में उनका उचित प्रयोग करे। इस दृष्टि से प्रत्येक शिक्षक को अनुसंधानात्मक तथा स्वयं संशोधन की प्रवृत्ति रखनी चाहिये। जैसा लिखा जा चुका है शिक्षण एक कला है शिक्षण सिद्धान्तों और विधियों के अध्ययन मात्र से यह कला नहीं आ सकती, बल्कि उसमें पारंगत होने के लिए सतत् प्रयोग और अभ्यास की आवश्यकता होती है, और नित्य ही पूर्व अनुभवों के आधार पर सुधार करने की चेष्टा एवं प्रयत्न से उसमें दक्षता प्राप्त होती है। अच्छा शिक्षक इसी मार्ग का अनुकरण करता है.

(९) प्रगतिशीलता[2]—कुछ योग्यताओं को प्रदान कर देना ही अच्छे शिक्षण का लक्षण नहीं है। वह जड़ अथवा स्थिर ज्ञान का पक्षपाती नहीं, बल्कि वह एक सतत् प्रगतिशील विधान है। बालक की योग्यता, ज्ञान, आचरण, मनोवृत्ति, रुचि, विचार, क्रिया एवं व्यवहार में निरन्तर प्रगति होते रहना ही अच्छा शिक्षण कहलाता है। इसके द्वारा बालक के व्यक्तिगत गुणों का विकास इस दृष्टि से किया जाता है कि वह इनका सदुपयोग वांछित सामाजिक लक्ष्यों की पूर्ति

1. Past experience of the Children and Teacher himself.
2. Progressive.

में अनेक ऐसी क्रियाओं का आयोजन करता है जिससे बालक उनमें उत्साहपूर्वक लगे रहें और स्वयं अनुभव तथा ज्ञान प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर हों।

(५) निर्देशात्मकता[1]—अच्छे शिक्षण में निर्देश (Suggestion) से काम लिया जाता है आदेश (dictation) से नहीं। कक्षा में सैनिक शासन की आवश्यकता नहीं। अध्यापक उचित निर्देश और परामर्श से काम लेता है, वह छात्रों के सम्मुख लक्ष्य रखता है, उसकी प्राप्ति के लिए साधन एकत्र करता है और ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देता है कि छात्र शिक्षण संबंधी क्रियाओं में अपने आप संलग्न हो जाते हैं और सीखने में दत्तचित्त हो उठते हैं। अच्छा अध्यापक अपना नेतृत्व छात्रों पर जबर्दस्ती नहीं लादता बल्कि अपने निर्देश एवं मृदुल व्यवहार तथा आचरण द्वारा छात्रों के सम्मान का भाजन हो जाता है।

(६) जनतांत्रिकता[2]—अच्छे शिक्षण में ऐसे जनतांत्रिक वातावरण के निर्माण का प्रयत्न होता है जिसमें प्रत्येक शिक्षार्थी के अधिकारों का सम्मान संभव हो सके। सभी छात्र एक समान हैं, सभी को समान अधिकार प्राप्त हैं, सभी समान रूप से विद्यालय के क्रिया-कलापों में भाग लेने के अधिकारी हैं, सभी को एक दूसरे के अधिकारों का सम्मान रखना चाहिए तथा अपने कर्तव्यों के प्रति सचेत रहना चाहिए आदि जनतन्त्रात्मक भावनाओं पर अच्छे शिक्षण में पूर्ण रूप से बल दिया जाता है और अच्छा अध्यापक इसी विश्वास के साथ अपना कार्य करता है।

जनतान्त्रिक शिक्षण द्वारा बालकों में समाज सेवा और समाज कल्याण की भावना जागरित करने का प्रयत्न किया जाता है। वही अच्छा शिक्षण है जिसके द्वारा बालकों के नित्य-प्रति के आचरण, व्यवहार, मनोवृत्ति तथा कार्य-प्रणाली में जनतान्त्रिकता का समावेश हो जाय और वह अपने अधिकारों एवं सुविधाओं के साथ-साथ अपने कर्त्तव्यों के प्रति भी जागरूक बना रहे।

(७) प्रेरणात्मकता[3]—आधुनिक बाल-केन्द्रित शिक्षण में बालक की क्रियाओं पर विशेष बल देने से ऐसा प्रतीत होता है कि अध्यापक का स्थान नगण्य सा है, किन्तु ऐसी बात नहीं है। अध्यापक अपने व्यक्तित्व एवं कार्यों द्वारा छात्रों के व्यक्तित्व एवं क्रियाओं को बहुत प्रभावित करता है और उन्हें उचित प्रेरणा प्रदान करता है। शिक्षालय में उचित वातावरण के निर्माण तथा क्रियाओं के पथ-प्रदर्शन का उत्तरदायित्व शिक्षक पर ही रहता है। वह छात्रों को विविध क्रियाओं की योजना बनाने, तथ्यों एवं सामग्रियों को संकलित करने, उन्हें सुव्यवस्थित

---

1. Good teaching is suggestive.
2. Good teaching is democratic.
3. Stimulating.

करने, प्रभावपूर्ण व्यक्त-पठन प्रस्तुत करने, विचार-विमर्श करने, अपनी प्रगति का मापन करने, उचित सामग्री को कंठाग्र करने तथा अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा प्रदान करता है। वह छात्रों में इस प्रकार की स्फूर्ति और उत्साह भर देता है कि वे आत्म-प्रयत्न तथा आत्म-क्रिया द्वारा सीखने के लिए तैयार हो जाते हैं।

(८) पूर्वार्जित ज्ञान एवं अनुभवों का आधार[1]—(क) छात्रों के पूर्व ज्ञान एवं अनुभव का ध्यान—अच्छा शिक्षक यह भली-भाँति जानता है कि शिक्षा का तात्पर्य छात्रों के अनुभवों को सुव्यवस्थित और सुसंगठित करना है। अतः किसी भी नयी क्रिया को प्रस्तुत करने के पहले छात्रों की अभिरुचि, प्रवृत्ति, कौशल, व्यवहार, पूर्वार्जित ज्ञान एवं अनुभव को जानना आवश्यक है और उनके आधार पर तथा उनसे सम्बन्धित करते हुए नवीन ज्ञान तथा क्रिया को प्रस्तुत किया जाता है।

(ख) शिक्षक द्वारा अपने पूर्व अनुभव का लाभ—कुशल शिक्षक उपर्युक्त ध्यान के साथ-साथ इस बात के लिए भी सचेष्ट रहता है कि वह अपने शिक्षण सम्बन्धी पूर्व अनुभवों का लाभ उठावे, उत्तरोत्तर अपने शिक्षण की विधियों एवं युक्तियों में सुधार करता चले और शिक्षण सम्बन्धी समस्याओं के समाधान में उनका उचित प्रयोग करे। इस दृष्टि से प्रत्येक शिक्षक को अनुसंधानात्मक तथा स्वयं संशोधन की प्रवृत्ति रखनी चाहिये। जैसा लिखा जा चुका है शिक्षण एक कला है शिक्षण सिद्धान्तों और विधियों के अध्ययन मात्र से यह कला नहीं आ सकती, बल्कि उसमें पारंगत होने के लिए सतत् प्रयोग और अभ्यास की आवश्यकता होती है, और नित्य ही पूर्व अनुभवों के आधार पर सुधार करने की चेष्टा एवं प्रयत्न से उसमें दक्षता प्राप्त होती है। अच्छा शिक्षक इसी मार्ग का अनुकरण करता है।

(९) प्रगतिशीलता[2]—कुछ योग्यताओं को प्रदान कर देना ही अच्छे शिक्षण का लक्षण नहीं है। वह जड़ अथवा स्थिर ज्ञान का पक्षपाती नहीं, बल्कि वह एक सतत् प्रगतिशील विधान है। बालक की योग्यता, ज्ञान, आचरण, मनोवृत्ति, रुचि, विचार, क्रिया एवं व्यवहार में निरन्तर प्रगति होते रहना ही अच्छा शिक्षण कहलाता है। इसके द्वारा बालक के व्यक्तिगत गुणों का विकास इस दृष्टि से किया जाता है कि वह इनका सदुपयोग वांछित सामाजिक लक्ष्यों की पूर्ति

---

1. Past experience of the Children and Teacher himself.
2. Progressive.

के लिए कर सके। प्रगतिशीलता का तात्पर्य अध्यापक के द्वारा स्वयं अपनी शिक्षण-विधि में भी उत्तरोत्तर प्रगति करते रहना है जिसका उल्लेख आठवें शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है।

(१०) बालकों की कठिनाइयों का निदान[1]—उत्तम शिक्षण में यह देखने का प्रयत्न किया जाता है कि बालक की प्रगति में क्या कठिनाइयाँ पड़ रही हैं, किस विषय में वह पिछड़ा हुआ है और क्यों पिछड़ा हुआ है? कोई विशेष बालक सामान्य रूप से अन्य बालकों के साथ प्रगति क्यों नहीं कर पाता? उसके मार्ग में क्या बाधाएँ हैं और सीखने में वह किस प्रकार की त्रुटियाँ करता है? इन सब बातों का पता लगाकर उसकी व्यक्तिगत कठिनाइयों को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है।

(११) औपचारिक शिक्षण[2]—उपर्युक्त विशेषता अर्थात् 'बालकों की कठिनाइयों के निदान' से स्वतः स्पष्ट है कि उत्तम शिक्षण में औपचारिक शिक्षण की व्यवस्था कितनी आवश्यक है। इस औपचारिक शिक्षण द्वारा व्यक्तिगत कठिनाइयों के साथ-साथ सामूहिक कठिनाइयों को भी दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। औपचारिक शिक्षण के लिए आवश्यक विविध विधियों, प्रणालियों और युक्तियों से परिचित होना आवश्यक है। अनेक पिछड़े हुए विद्यार्थियों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो गया है कि यदि उनकी कठिनाइयों का ठीक निदान करके उनके औपचारिक शिक्षण की व्यवस्था की गई होती तो उनकी ऐसी स्थिति नहीं होती।

(१२) बालकों को आत्म-निर्भर बनाना[3]—उत्तम शिक्षण का उद्देश्य छात्रों में पुरोगामिता (Initiative), स्वतन्त्र चिंतन और कार्य विधि की शक्ति, आत्मनिर्भरता एवं आत्मविश्वास उत्पन्न करना होता है जिससे वे अपनी समस्याओं पर स्वतन्त्रतापूर्वक विचार कर सकें और उनका समाधान निकाल सकें। छात्रों में स्वतन्त्र रूप से स्वाध्याय की तथा कार्य में सफलता प्राप्त करने की प्रवृत्ति का उदय हो जाना अच्छे शिक्षण का प्रमाण है। ऐसा होने से धीरे-धीरे पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता कम होती जाती है और बालक किसी का आश्रय न लेकर स्वयं ही अपने कार्य को सम्पन्न करना जान जाता है।

सीखना : प्रकृति तथा सामान्य विशेषताएँ :

ऊपर हमने शिक्षण के एक पक्ष 'सिखाना' अर्थात् शिक्षक द्वारा सम्पादित

---

1. Diagnosing difficulties.
2. Remedial Teaching.
3. Good teaching liberates the learner.

होने वाली क्रिया के सम्बन्ध में विचार किया है। अब हम उसके दूसरे पक्ष सीखने अर्थात् शिक्षार्थी द्वारा सम्पन्न होने वाली क्रिया के सम्बन्ध में भी संक्षेप में विचार करेंगे। यहाँ हमारा अभिप्राय सीखने का मनोविज्ञान और उसका सैद्धान्तिक विश्लेषण करना नहीं है, बल्कि यह देखना है कि सीखने का तात्पर्य और उसकी सामान्य विशेषताएँ क्या हैं जिनका ध्यान रखना शिक्षक के लिए शिक्षण में आवश्यक है।

सीखने की प्रकृति[1]—सीखना किसे कहते हैं तथा उसकी क्या प्रकृति है, इसे विद्वानों ने विभिन्न ढंग से समझाने का प्रयत्न किया है उनमें से कुछ मुख्य निम्नलिखित हैं—

बालक अपने वातावरण के प्रति अथवा किसी भी स्थिति में पड़ जाने पर स्वभावतः कोई न कोई प्रतिक्रिया करता है किन्तु यह प्रतिक्रिया जन्मजात प्रवृत्ति के आधार पर होती है। इसमें शिक्षा का कोई हाथ नहीं है। इसे हम प्राकृतिक प्रतिक्रिया (Instinctive response) कहते हैं। किन्तु सम्भव है यह प्राकृतिक प्रतिक्रिया सामाजिक दृष्टि से उचित और शिष्ट न हो। अतः इस प्राकृतिक प्रतिक्रिया की जगह उसकी इस प्रतिक्रिया करने की शक्ति का लाभ उठाकर बालक को हम उचित प्रतिक्रिया (Appropriate response) करना सिखाते हैं। इस दृष्टि से उचित प्रतिक्रिया को अपनाने की प्रक्रिया ही सीखने की परिभाषा मानी जाती है।[2]

प्रत्येक प्राणी में अनुभव से लाभ उठाने की क्षमता होती है और इस क्षमता के उपभोग से वह अपने अनुभव जन्य प्रतिक्रियाओं में संशोधन करता जाता है। प्रतिक्रिया का संशोधन एक प्रकार का लाभ अथवा अर्जन (acquisition) है जो हमारे ज्ञान का अभिन्न अंग बन जाता है। अतः अनुभव से लाभ उठाने की क्रिया का नाम ही सीखना है।

सीखना एक प्रकार की क्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने अनुभवों में एक नई बात जोड़ता जाता है और फिर उन अनुभवों से लाभ उठाता है। वह इन पुराने अनुभवों से लाभ उठाकर उस कार्य में धीरे-धीरे सिद्ध-हस्त हो जाता है। इस दृष्टि से वुडवर्थ और मार्क्विस ने सीखने की परिभाषा यह की है कि "किसी कार्य का सीखना व्यक्ति के अनुभव-कोष में एक नई वस्तु की वृद्धि होना है। सीखने में किसी नई वस्तु का समावेश करना होता है, किन्तु वह नई वस्तु व्यक्ति के स्मृतिकोष में बनी रहे और उसके बाद के कार्यों में पुनः परिलक्षित हो।"

---

1. Nature of learning.
2. "Learning is the process of acquiring the appropriate response."

व्यक्ति अपने अनुभवों के आधार पर अपने व्यवहारों में संशोधन करता है। इस क्रिया के आधार पर गेट्स का कहना है कि "अनुभव द्वारा व्यवहार में रूपान्तर लाना ही सीखना है।"[1]

बर्नहार्ट के अनुसार "किसी निश्चित परिस्थिति में किसी लक्ष्य की प्राप्ति अथवा समस्या समाधान के लिए किये गये प्रयत्नों में अभ्यास द्वारा व्यक्ति के कार्यों में बहुत कुछ स्थायी रूपान्तर लाना ही सीखना है।"[2]

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सीखना ज्ञानार्जन मात्र नहीं बल्कि यह एक सोद्देश्य प्रक्रिया है। व्यक्ति स्वयं क्रिया द्वारा सीखता है, अपने अनुभवों द्वारा लाभ उठाता है और वातावरण के प्रति अपने व्यवहारों में उचित परिवर्तन करता है। अतः शिक्षण में सीखने की इस प्रकृति का लाभ उठाना चाहिए और बालक को सीखने के मार्ग पर आत्मक्रिया द्वारा अग्रसर करना चाहिए न कि वाह्य आदेशों और प्रतिबन्धों द्वारा।

सीखने के प्रकार—किसी बात को सीखने के मुख्यतः चार प्रकार हैं—अनुकरण द्वारा, किसी काम को करके अथवा प्रयत्न एवं त्रुटि द्वारा, सूझ-बूझ द्वारा और संबद्ध-सहज क्रिया द्वारा सीखना। शिक्षक को इनका साधारण ज्ञान आवश्यक है जिससे सिखाते समय इनका उचित प्रयोग कर सकें :

(१) अनुकरण द्वारा सीखना[3]—दूसरे को काम करते हुए देखकर बालक स्वयं अनुकरण द्वारा उस काम को करने लगता है। इस प्रकार अनेक क्रियाएँ बालक सीख लेता है। बिल्ली, बन्दर आदि पर किये गये प्रयोगों से पता चलता है कि मनुष्य में यह एक बड़ी विशेषता है। पशु अनुकरण से बहुत कम सीख पाते हैं। अनुकरण द्वारा सिखाने में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बालकों को पहले मूर्त्त वस्तु अथवा स्थूल क्रियाओं के अनुकरण के लिए प्रोत्साहित किया जाय। प्रारम्भिक अवस्था में सूक्ष्म बातों का अनुकरण उनके लिए कठिन होगा।

(२) करके अथवा प्रयत्न एवं त्रुटि द्वारा सीखना[4]—किसी क्रिया को करके सीखने का यह बहुत ही सहज और व्यापक नियम है। हम बार-बार किसी

1. "Learning is modification of behaviour through experience."
Gates & others—Educational Psychology, P. 288.
2. Learning is defined "as the more or less permanent modification of an individual's activity in a given situation, due to practice in attempts to achieve some goal or solve some problem."
Bernhardt—Practical Psychology, P. 259
3. Learning by Immitation.
4. Learning by doing or by Trial and Error Method.

कार्य को करने का प्रयत्न करते हैं, उसमें असफल होते हैं, त्रुटियाँ होती हैं, पर उनका परिहार करते रहते हैं तथा सफल तरीकों को अपनाते जाते हैं और यह क्रम उस समय तक चलता रहता है जब तक कि वह कार्य अच्छी तरह नहीं आ जाता।

इस तरीके में थार्नडाइक ने तीन विषयों का उल्लेख किया है—

(क) परिणाम का नियम[1]—यदि किसी स्थिति में हम ऐसी प्रतिक्रिया करते हैं जिससे हमें संतोष होता है तो फिर वैसी ही स्थिति आने पर हम पहले जैसी प्रतिक्रिया और सुगमता से करेंगे। किन्तु यदि किसी स्थिति में हम ऐसी प्रतिक्रिया करते हैं जिससे हमें असंतोष होता है तो फिर वैसी स्थिति आने पर हम वैसी प्रति क्रिया नहीं करेंगे। अर्थात् इस प्रकार के सीखने में परिणाम का नियम लागू होता है। यह सीखना बहुत कुछ संतोष अथवा असंतोष पर निर्भर है। पशुओं में तो प्राकृतिक इच्छा की पूर्ति से संतोष और पूर्ति न होने से असंतोष होता है किन्तु मनुष्य का संतोष-असंतोष पुरस्कार, यश, प्रशंसा, दण्ड, निन्दा आदि बातों पर भी निर्भर है।

इस नियम के अनुसार सीखते समय बालक को प्रोत्साहित करते रहना चाहिए और ध्यान रखना चाहिए कि बालक को कार्य में सफलता मिले, जिससे उसे संतोष प्राप्त हो अन्यथा असफल होने पर असंतोष के कारण वह सीखना छोड़ देता है।

(ख) अभ्यास का नियम[2]—जिस बात को सीखना अभीष्ट है उसे बार-बार की आवृत्ति अथवा अभ्यास द्वारा दृढ़ कर लेना ही अभ्यास का नियम कहलाता है। इससे सीखी हुई बात दृढ़ हो जाती है और उस क्रिया का करना सुगम हो जाता है। अभ्यास न करने पर धीरे-धीरे सीखी हुई बात भूल जाती है। अतः शिक्षण में ध्यान रखना चाहिए कि बालक द्वारा सीखने का अभ्यास निरंतर होता रहे।

(ग) तत्परता का नियम[3]—जब हम किसी काम को करने के लिए तत्पर रहते हैं तो काम करना या सीखना सुगम हो जाता है और तत्पर न रहने पर सीखना कठिन होता है। तत्परता के कारण बालक सीखने के लिए उत्सुक रहता है और सीखने में रुचि रखता है अतः शीघ्रता से सीख लेता है। यदि वह तैयार नहीं है तो रुचि नहीं होगी, उसे असंतोष होगा और सीखना कठिन हो जायगा। अतः

---

1. Law of Effect.
2. Law of Exercise.
3. Law of readiness.

शिक्षण में सिखाने के पहले बालकों को नये पाठ के लिए उचित प्रेरणा तथा वातावरण की सृष्टि द्वारा तैयार कर लेना चाहिए और उसमें उनकी रुचि पैदा कर देनी चाहिए।

(३) सूझ-बूझ से सीखना[1]—कभी-कभी कोई बात करके अथवा देखकर अनुकरण द्वारा नहीं सीखी जाती बल्कि सूझ द्वारा आ जाती है। जब किसी समस्या को सर्वाङ्गीण रूप से समझने में बाधा पड़ती है तो इस सूझ के द्वारा ही व्यक्ति उसका समाधान ढूँढ़ लेता है और इसके द्वारा उसे सीखने में सहायता मिलती है। कोहलर नामक मनोवैज्ञानिक ने भूखे बन्दर को एक कमरे में बन्द कर दिया जिसकी दीवारों पर वह चढ़ नहीं सकता था। कमरे में छत से कुछ केले लटका दिये गये थे, पर वे इतने ऊँचे थे कि बन्दर उछल-कूद कर भी उन्हें नहीं पा सकता था। बन्दर ने उछल-कूद कर केले पाने की कोशिश की पर असफल रहा। अब वह कुछ सोचने लगा और उसकी दृष्टि कमरे के कोने में रखी हुई संदूक पर गई, वह संदूक खींचकर केले की सीध में लाया और संदूक पर चढ़कर केला पा लेने में सफल हुआ। इससे बन्दर की सूझ-बूझ की शक्ति और उसके द्वारा सीखने का पता चलता है। यह सीखना उच्च, विकसित प्राणियों में ही संभव है। बालक इस शक्ति द्वारा सीखते हैं। उनके सामने एक-एक बात नहीं, बल्कि सारी की सारी परिस्थिति आ जाती है और वे ठीक नतीजे पर स्वयं पहुँच जाते हैं।

बालकों को सूझ-बूझ द्वारा सीखने में सहायता प्रदान करने के लिए शिक्षक को निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए—

(क) संपूर्ण समस्या प्रस्तुत करना[2]—शिक्षार्थी के सम्मुख किसी समस्या को संपूर्ण रूप में प्रस्तुत करना चाहिए, खण्ड रूप में नहीं, ताकि वह पूर्ण समस्या पर विचार करके उसका हल निकालने का प्रयत्न करे।

(ख) गतिशीलता[3]—सीखने की क्रिया में निरंतर संलग्न रखने की तत्परता छात्रों में बनाये रखना चाहिए और उसे ठीक दिशा में प्रोत्साहित करते रहना चाहिए जिससे सीखने में गतिशीलता बनी रहे।

(ग) ज्ञानात्मक एवं संवेगात्मक तत्परता[4]—सीखने में गतिशीलता बनाये रखने का आधार बालक की ज्ञानात्मक एवं संवेगात्मक तत्परता है। ज्ञानात्मक तत्परता का तात्पर्य यह है कि किसी नई बात को सीखने के पहले उसकी आवश्यक

---

1. Learning by Insight.
2. Presentation of the whole problem.
3. Pacing.
4. Cognative and Emotional Readiness.

पृष्ठभूमि तैयार रहे। किसी नये नियम के सीखने के लिए उसके पूर्ववर्ती नियमों का जानना आवश्यक होता है अन्यथा बालक उसे नहीं सीख सकेगा।

संवेगात्मक तत्परता का अर्थ है कि बालक के मन में किसी बात के सीखने के विरुद्ध कोई भावना, पूर्वग्रह या धारणा न हो, सीखने के प्रति उत्साह, रुचि और तत्परता हो तथा वह सीखने में आनन्द का अनुभव करे।

अतः शिक्षक को इन ज्ञानात्मक एवं संवेगात्मक दोनों दृष्टियों से बालकों में सीखने के प्रति तत्परता लाने का प्रयत्न करना चाहिए।

(घ) सफलता प्राप्ति के लिए पर्याप्त प्रोत्साहन एवं सहायता—शिक्षक का कर्त्तव्य है कि सूझ द्वारा सीखने के लिए छात्रों को प्रोत्साहित करे और यथावश्यक सहायता प्रदान करता रहे। छात्रों को प्रस्तुत समस्या के समाधान के लिए उचित वातावरण और स्थितियों का निर्माण करे और उन्हें उसमें दत्तचित्त बनाये रखे। वह समस्या को इस प्रकार प्रस्तुत करे कि बालकों में उसके प्रति रुचि और उत्सुकता जग जाय और वह एकाग्र चित्त होकर उसका हल ढूंढ़ने में सफल हो।

(४) संबद्ध-सहज-क्रिया द्वारा सीखना[1]—अनेक बातें संबद्ध-सहज-क्रिया द्वारा भी सीखी जाती हैं। उदाहरणतः भोजन देखकर कुत्ते के मुँह में पानी आ जाना तो स्वाभाविक है पर बार-बार घंटी बजाकर भोजन देने पर बाद में केवल घंटी सुनकर ही कुत्ते के मुँह में पानी आ जाना संबद्ध सहज क्रिया का परिणाम है। बालक के सीखने में इस सिद्धांत का बहुत बड़ा हाथ रहता है। हम देखते हैं कि कोई बालक जब किसी अध्यापक से बहुत डाँट-फटकार पाता है और मार खाता है तो वह सभी अध्यापकों से डरने लगता है और फिर स्कूल से घबड़ाने लगता है, फलतः शिक्षा के नाम से वह भयभीत हो उठता है। यह संबद्ध-सहज-क्रिया का ही परिणाम है।

सीखने के उपर्युक्त चारों प्रकारों में अध्यापक को यथा अवसर और यथा प्रसंग उचित विधि का अनुसरण करना चाहिए। इस विवाद में पड़ने की आवश्यकता नहीं है कि वास्तविक सीखना किस प्रकार होता है। वस्तुतः सीखने में ये सभी प्रक्रियाएँ काम करती हैं, किसी एक का ही आग्रह उचित नहीं।

सीखने की गति—बालक को सीखने में किन-किन स्थितियों से गुजरना पड़ता है और उसकी कैसी प्रगति होती है, इस संबंध में मनोवैज्ञानिकों ने अनेक प्रयोग किये हैं और निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले हैं—

सीखने की पहली स्थिति में गति बहुत तीव्र होती है क्योंकि व्यक्ति सीखने वाली वस्तु के संबंध में बहुत उत्सुक रहता है, सीखने के प्रति उत्साह होता है, थकावट नहीं रहती और सीखने का प्रारम्भिक रूप सरल प्रतीत होता है।

---

1. Learning by conditioned response..

सीखने की दूसरी स्थिति में गति कुछ कम हो जाती है क्योंकि उत्साह कम रहता है और आगे सीखने की क्रिया जटिल प्रतीत होती है। पहले की सीखी हुई बात का अभ्यास आवश्यक रहता है। इस कारण भी आगे प्रगति नहीं हो पाती।

सीखने की तीसरी स्थिति में प्रगति रुक सी जाती है। इस स्थिति को सीखने का पठार (Learning plateau) कहते हैं क्योंकि व्यक्ति सीखने के क्रम में आगे नहीं बढ़ पाता। कुछ मनोवैज्ञानिक इस स्थिति का कारण सीखने वाले की उदासीनता, निरुत्साह अथवा अरुचि बताते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिक इस स्थिति को आगे की प्रगति की तैयारी के लिए स्वाभाविक सा मानते हैं, क्योंकि बाद में रुचि उत्पन्न होते ही प्रगति प्रारम्भ हो जाती है।

सीखने की चौथी स्थिति में प्रगति तीव्र होने लगती है क्योंकि पुनः रुचि उत्पन्न हो जाती है।

पाँचवी स्थिति में सीखने की प्रगति नहीं होती क्योंकि व्यक्ति सीखने की उस स्थिति तक पहुँच जाता है जिसके आगे विकास नहीं कर पाता। वह थकान का और उस कार्य में बोझिलता अथवा पुरानेपन का अनुभव करने लगता है। कार्य के प्रति ध्यान भी केन्द्रित नहीं हो पाता। असाधारण व्यक्ति ही इस स्थिति में रुचि और उत्साह बनाये रखने में सफल होते हैं और काम करते जाते हैं। इसके लिए दृढ़ इच्छा शक्ति की आवश्यकता होती है। प्रतियोगिता, आत्मगौरव तथा यश प्राप्ति के लिए व्यक्ति इस स्थिति में भी सीखने के कार्य में दक्षता एवं कुशलता प्राप्त करते जाते हैं।

बालक को नई बात सिखाने में उपर्युक्त पाँचों स्थितियों का ध्यान रखना चाहिए और जब सीखने की गति मन्द हो जाती है तो निराश नहीं होना चाहिए, बल्कि बालकों में कार्य के प्रति रुचि और उत्साह बनाये रखने का प्रयत्न करना चाहिए। उनकी उत्सुकता को बढ़ाते जाना चाहिए। कार्य में सतत् संलग्नशील रहने के लिए उचित प्रेरणा देते रहना चाहिए। विद्यार्थियों को स्वयं कार्य करने और अभ्यास करने का पूरा अवसर देना चाहिए, सीखने के बीच जो कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं, उनका निराकरण करते रहना चाहिए और उन्हें हताश नहीं होने देना चाहिए। विद्यार्थियों को किसी दूसरे का नकल करने का अवसर नहीं देना चाहिए और स्वयं कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। कार्य के प्रति छात्रों की रुचि और अवधान बनाये रखने का प्रयत्न करना चाहिए। बालकों को सजगता, सतर्कता और चुस्ती से काम करने की प्रेरणा देते रहना चाहिए। यह देखना चाहिए

कि उसकी शारीरिक और मानसिक क्षमता कितनी है और यदि उन्हें थकान का अनुभव हो तो विश्राम का भी अवसर देना चाहिए और सीखने के कार्य में कुछ नवीनता उत्पन्न करके नई उमंग पैदा करनी चाहिए।

सीखने की सामान्य विशेषताएँ[1]—मनोवैज्ञानिकों के अनुसार सीखने की कुछ प्रमुख सामान्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :—

(१) सीखना अभिवृद्धि है[2]—सीखना वह प्रक्रिया है जिससे बालक के अपने वातावरण के ज्ञान में सतत् वृद्धि होती रहती है, वह अपने चतुर्दिक जीवन के सम्बन्ध में उत्तरोत्तर अधिक ज्ञान प्राप्त करने जाता है और इससे उसे जीवन के क्रिया-कलापों में अधिक कुशलता और आत्म-निर्भरता प्राप्त होती है। व्यक्ति की शारीरिक और मानसिक अभिवृद्धि तो जीवन की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है किन्तु अनुकूल वातावरण तथा उच्च कोटि के अनुभवों से यह अभिवृद्धि और भी अच्छी होती है। अतः प्रभावपूर्ण ढंग से सीखने के लिए अनुकूल एवं सम्पन्न वातावरण की आवश्यकता है जिसमें शिक्षार्थी को उत्तम एवं उच्चकोटि के अनुभव (क्रियात्मक एवं खेल सम्बन्धी, रचनात्मक, सौन्दर्यात्मक तथा सामाजिक जीवन के अध्ययन सम्बन्धी सामाजिक क्रियाओं के सम्बन्ध में विविध एवं व्यापक अनुभव) प्राप्त हों।

(२) सीखना अभियोजन है[3]—सीखने के द्वारा व्यक्ति संसार के साथ विविध प्रकारों से सामंजस्य स्थापित करता है। व्यक्ति के लिए यह सीखना आवश्यक है कि इस परिवर्तनशील जीवन और जगत के साथ किस प्रकार अभियोजन किया जाय। हमारा सामाजिक वातावरण बदल रहा है, जीवन की परिस्थितियाँ बदल रही हैं, वैज्ञानिक विकास से हमारे आर्थिक, भौतिक, नैतिक एवं सांस्कृतिक जीवन और मान्यताओं में बड़ी तीव्र गति से परिवर्तन होते जा रहे हैं। अतः आज के इस जटिल मानव जीवन तथा सतत् परिवर्तनशील वातावरण के साथ उचित अभियोजन की क्षमता प्रदान करना आज की शिक्षा का मुख्य कार्य है और इनके अनुभवों को सीखना शिक्षार्थी के लिए नितांत आवश्यक है।

(३) सीखना अनुभवों का संगठन है[4]—सीखने की क्रिया में मनुष्य अपने अनुभवों की आवृत्ति द्वारा अपने ज्ञान, कौशल, आदर्श, मनोवृत्ति एवं अभिरुचि,

---

1. *G. A. Yoakam*—Modern Methods and Techniques of Teaching, P. 25—29 के आधार पर।
2. Learning is Growth.
3. Learning is Adjustment.
4. Learning is Organising Experience.

आदतों तथा वस्तुओं के प्रति दृष्टिकोण में रूपान्तर और परिष्कार करता जाता है। मनुष्य में अपने अनुभवों से लाभ उठाने तथा नयी परिस्थितियों के प्रति पुनरभियोजन स्थापित करने की अद्भुत् क्षमता होती है। पशुओं में यह क्षमता नहीं के बराबर होती है। अतः सीखते समय अपने अनुभवों के विश्लेषण तथा उनके अर्थ को समझने का अवसर अवश्य मिलना चाहिए। प्रत्येक नवीन अनुभव से पुराने अनुभव में रूपान्तर होता है अर्थात् सीखने के द्वारा व्यक्ति के ज्ञान-कोश एवं वातावरण पर नियन्त्रण शक्ति में निरन्तर वृद्धि होती रहती है और व्यक्ति नवीन अनुभव के साथ अपने ज्ञान को सुसंगठित करता जाता है।

(४) सीखना सोद्देश्य क्रिया है[1]—किसी उद्देश्य अथवा प्रयोजन के रहने पर सीखने की क्रिया अधिक तीव्र और प्रभावपूर्ण सिद्ध होती है। निरुद्देश्य अथवा निष्प्रयोजन सीखना निरर्थक होता है। अतः आधुनिक शिक्षण में इस प्रकार की स्थितियों का निर्माण किया जाता है जिससे बालक को ज्ञान एवं कौशल प्राप्त करने की आवश्यकता वातावरण का निश्चित एवं अभिन्न अंग प्रतीत हो। उद्देश्य और प्रयोजन जितना ही महान् होगा, सीखने की क्रिया में उतनी अधिक गति और प्रभविष्णुता पायी जायगी।

(५) सीखना बुद्धिपूर्ण एवं सृजनात्मक क्रिया है[2]—एक प्रकार की उत्तेजनाओं के प्रति एक प्रकार से प्रतिक्रिया करने का सिद्धान्त यान्त्रिक सिद्धान्त कहा जाता है। कभी-कभी 'सीखने' का अर्थ भी इसी यान्त्रिक रूप में लिया जाता है। किन्तु यह उचित नहीं। सीखना एक बौद्धिक क्रिया है। व्यक्ति पहली बार किसी उत्तेजना के प्रति जो प्रतिक्रिया करता है और उसका जो अनुभव होता है उसका लाभ उठाता है और दूसरी बार अपनी प्रतिक्रिया में सुधार कर लेता है। ठीक पहले जैसी प्रतिक्रिया पशुओं में पायी जाती है और इसीलिए उनका सीखना बहुत कुछ यान्त्रिक होता है। पर मनुष्य विवेकशील प्राणी है और वह सीखने में अपनी बुद्धि का प्रयोग करता है। साथ ही सीखने की स्थिति (Learning Situation) में भी समानता नहीं रहती। विद्वानों का कहना है कि दो स्थितियाँ कभी भी पूर्णरूप से एक समान नहीं हो सकतीं और इसलिए प्रत्येक नयी स्थिति में कुछ न कुछ अभियोजन (Adjustment) की आवश्यकता पड़ती है और इसलिए प्रत्येक स्थिति को ठीक प्रकार से समझकर उपयुक्त एवं अनुकूल प्रतिक्रिया करने की बौद्धिक कुशलता आवश्यक हो जाती है। अतः 'सीखना' यान्त्रिक नहीं बल्कि बुद्धिपूर्ण है। अन्यथा आदत बनने का नियम ही सीखने पर भी लागू

---

1. Learning is purposeful.
2. Learning is intelligent and creative.

हो जाता और ये 'आदत बनना' तथा 'सीखना' दोनों समान क्रियाएँ मान ली जातीं। इस बौद्धिक प्रयोग के कारण ही सृजनात्मक विचारों की उत्पत्ति सम्भव है। यदि मनुष्य के सीखने में बुद्धि का हाथ नहीं रहता और वह स्थिति का विश्लेषण कर अपनी पुरानी प्रतिक्रिया में रूपान्तर करने की बौद्धिक शक्ति नहीं रखता तो नये विचारों का वह सृजन नहीं कर सकता था।

(६) सीखना क्रियाशील होता है[1]—व्यक्ति जब किसी आवश्यकता का अनुभव अपने अन्तःकरण में करता है तभी क्रियाशीलता का स्फुरण होता है। इसीलिए यह एक आन्तरिक प्रक्रिया है। सीखने में यही क्रियाशीलता परिलक्षित होती है। क्रियाशीलता के कारण उसकी रुचि बनी रहती है। सक्रिय सीखना सोद्देश्य सीखना है और इसमें सीखने वाले की आन्तरिक इच्छा रहती है और वह इसमें स्वयं प्रवृत्त होता है, निष्क्रिय सीखना बाहर से आरोपित तथा बाध्यपूर्ण सीखना है। अतः सीखने के लिए इस क्रियाशीलता को स्फुरित करने का प्रयत्न अवश्य होना चाहिए अर्थात् बालक स्वयं सीखने की ओर प्रवृत्त हो, किसी के आदेश द्वारा अथवा विवशता के द्वारा नहीं।

(७) सीखना वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनों है[2]—सीखना एक प्रकार से पूर्णतः वैयक्तिक क्रिया है क्योंकि व्यक्ति वातावरण के प्रति जो प्रतिक्रिया करता है, उसमें उसी का स्नायुमंडल सक्रिय होता है। जहाँ तक व्यक्ति अपने वातावरण की उत्तेजनाओं के प्रति किये गये अपने व्यवहारों में सुधार और परिष्कार करता है, वहाँ तक सीखना वैयक्तिक क्रिया है। प्रत्येक व्यक्ति आत्मक्रिया द्वारा ही सीखता है, दूसरे लोग उसके लिए बहुत ही सीमित अर्थ में सीख सकते हैं। फिर भी व्यक्ति का यह सीखना सामाजिक वातावरण में ही संभव होता है अर्थात् उसकी प्रतिक्रिया ऐसे वातावरण में होती है जिसमें अन्य व्यक्ति एवं भौतिक पदार्थ भी हैं और उन पर उसका प्रभाव पड़ना अवश्यंभावी है। अतः व्यापक अर्थ में व्यक्ति का सीखना सामाजिक भी है।

(८) सीखना वातावरण का ही प्रतिफल है[3]—व्यक्ति का सीखना उन उत्तेजनाओं (Stimuli) पर निर्भर है जो उसे अपने वातावरण से प्राप्त होती हैं। सभी जीवधारी अपने वातावरण के प्रति प्रतिक्रिया करते हैं पर पशुओं की यह प्रतिक्रिया बहुत सीमित होती है। मनुष्य अपने वातावरण से सर्वाधिक

---

1. Learning is Active.
2. Learning is both Individual and Social.
3. Learning is a Product of the Environment.

प्रभावित होने वाला प्राणी है और अनेक प्रकार से प्रतिक्रिया करने की क्षमता रखता है। वह अधिक सामंजस्यपूर्ण ढंग से सीखने वाला प्राणी है और इसीलिए वह अपनी पुरानी प्रतिक्रियाओं से प्राप्त अनुभवों के आधार पर अनुकूल प्रतिक्रिया को शीघ्र ही समझ लेता है और वैसा ही व्यवहार करता है।

यही नहीं बल्कि वह वातावरण को भी अनुकूल बनाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। शिक्षालय बालक को सीखने की दृष्टि से सर्वाधिक उपयुक्त, अनुकूल एवं प्रभावपूर्ण वातावरण प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है।

(६) वास्तविक सीखना सीखने वाले के आचरण को प्रभावित करता है[1]—विचारकों ने इधर सच्चे और झूठे सीखने का अन्तर स्पष्ट कर दिया है। उनके अनुसार सच्चा सीखना वह है जो व्यक्ति के आचरण को उचित दिशा में प्रभावित करता है अर्थात् व्यक्ति जीवन के साथ उचित अभियोजन स्थापित कर लेता है और अपने गलत कार्य पद्धतियों को संशोधित कर लेता है। मिथ्या सीखना वह है जिसमें व्यक्ति के आचरण में रूपान्तर नहीं होता। परम्परागत शिक्षण में मिथ्या सीखने के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। भावों एवं विचारों की प्रेषणीयता की दृष्टि से समर्थ भाषा का अर्जन वास्तविक सीखना है किन्तु उपाधि प्राप्त करने या उच्च शिक्षा के लिए प्रविष्ट होने के लिए अपूर्ण एवं अर्द्धस्फुट भाषा का ज्ञान जिसे वह सहज रूप से अपने व्यवहार में नहीं ला पाता, मिथ्या ज्ञान है। तोते के समान यंत्रवत् प्रतिक्रिया मिथ्या सीखना है क्योंकि इससे व्यक्ति के व्यवहार एवं आचरण में कोई परिष्कार नहीं होता। सच्चा सीखना उसी समय संभव होता है जब व्यक्ति किसी वास्तविक आवश्यकता की पूर्ति के लिए कोई ज्ञान अथवा कौशल अर्जित करता है और इस अर्जन के द्वारा अपने आचरण को परिष्कृत कर लेता है। शिक्षालयों में इसी प्रकार के सीखने पर हमें अधिकाधिक बल प्रदान करना है।

सारांश

शिक्षण वह साधन है जिसके द्वारा समाज के अनुभवी सदस्य अपरिपक्व एवं शिशु सदस्यों का जीवन से सामंजस्य स्थापन के लिए पथ-प्रदर्शन करते हैं। इसके लिए एक उपयुक्त, सुनियंत्रित और सुव्यवस्थित वातावरण के निर्माण की आवश्यकता पड़ती है। शिक्षण एक कला है, किन्तु वह सतत् विकासशील विज्ञान पर आधारित कला है। उसके सिद्धांत और प्रयोग दोनों पक्ष हैं। सिद्धांत पक्ष विज्ञान है और प्रयोग पक्ष कला है। उसके प्रयोग को अधिकाधिक उपयोगी, व्यावहारिक और

1. True Learning affects the Conduct of the Learner.

सुगम बनाने के लिए उसके सिद्धांत पक्ष का अध्ययन तथा ज्ञान आवश्यक है। यह सिद्धांत पक्ष ही शिक्षण विज्ञान अथवा शिक्षण शास्त्र कहलाता है। इसका विकास नित्य-प्रति होता जा रहा है। किन्तु उसके अध्ययन की सार्थकता प्रयोग की दृष्टि से है। इसका अध्ययन इसी दृष्टि से करना चाहिए कि उसका उचित प्रयोग किया जा सके और प्रयोग के सिलसिले में नवीन शोध एवं अनुसंधान का भी प्रयत्न होता चले।

शिक्षण एक प्राविधिक व्यवसाय है अतः शिक्षक होने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए इस कला में प्रशिक्षित होने की नितांत आवश्यकता है।

शिक्षण क्रिया में सिखाना (शिक्षक द्वारा) तथा सीखना (शिक्षार्थी द्वारा) दोनों शामिल हैं। इस प्रकार का शिक्षण जिसमें बालक द्वारा सीखने की क्रिया नहीं हो रही है, व्यर्थ है। परम्परागत शिक्षण में बहुत कुछ यह बात पाई जाती थी पर आज के बालकेन्द्रित शिक्षण में बालक के सीखने पर विशेष ध्यान दिया जाता है। अतः शिक्षण क्रिया के इन दोनों पक्षों—सिखाने और सीखने—के आधारभूत सिद्धांतों को हमें समझ लेना चाहिए।

सिखाने के आधारभूत सिद्धान्त—(१) सीखने का पथ प्रदर्शन, (२) दया और सहानुभूति का व्यवहार, (३) अच्छी योजना, (४) सहयोग की भावना, (५) निर्देशात्मकता, (६) जनतांत्रिकता, (७) प्रेरणात्मकता, (८) पूर्वार्जित ज्ञान एवं अनुभवों का आधार, (९) प्रगतिशीलता, (१०) बालकों की कठिनाइयों का निदान तथा (११) औपचारिक शिक्षण। सीखना—उचित प्रतिक्रिया को अपनाने की प्रक्रिया ही सीखना है। अधिक स्पष्ट रूप में कहा जाय तो "किसी निश्चित परिस्थिति में किसी लक्ष्य की प्राप्ति अथवा समस्या समाधान के लिए किये गये प्रयत्नों के अभ्यास द्वारा व्यक्ति के कार्यों में बहुत कुछ स्थायी रूपान्तर लाना ही सीखना है।

सीखने के चार प्रकार हैं—अनुकरण, प्रयत्न एवं त्रुटि द्वारा, सूझ-बूझ द्वारा तथा सहज-संबद्ध क्रिया द्वारा। सीखने में परिणाम का नियम, अभ्यास का नियम और तत्परता का नियम ध्यान देने योग्य बातें हैं। शिक्षक को इन चारों प्रकारों का यथावश्यक प्रयोग करना चाहिए। उसे सीखने की गति का भी ध्यान रखना चाहिए और बीच में जो मन्दता या शिथिलता आती है उससे निराश न होकर शिक्षार्थी को प्रोत्साहित करते रहना चाहिए।

सीखने की सामान्य विशेषताएँ—सीखना एक अभिवृद्धि है, सीखना अभियोजन है, सीखना अनुभवों का संगठन है, सीखना सोद्देश्य क्रिया है, सीखना बुद्धिपूर्ण एवं सृजनात्मक क्रिया है, सीखना क्रियाशील होता है, सीखना वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनों है, सीखना वातावरण का ही प्रतिफल है, वास्तविक सीखना आचरण को रूपान्तरित करता है।

प्रश्न

१—"शिक्षण सतत् विकासोन्मुख विज्ञान पर आधारित कला है।" इस कथन की युक्तियुक्त विवेचना कीजिए।

२—"शिक्षण क्रिया में सिखाना और सीखना दोनों शामिल हैं और सीखने के अभाव में सिखाना निरर्थक है।" इस कथन के प्रकाश में अच्छे शिक्षण की विशेषताएँ बताइए।

३—सीखने से आप क्या तात्पर्य समझते हैं? उसकी सामान्य विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

अध्याय ३

शिक्षक

[शिक्षक का महत्त्व, गुण एवं कर्त्तव्य, शिक्षकों का प्रशिक्षण]

"यावज्जीवमधीते विप्रः ।"

"Like a master architect, the teacher should have a very thorough knowledge of all the details essential to his work......The teacher must know the real nature of the objectives of his work—the ends to be attained. Besides an understanding of the nature of the outcomes desired, he must understand the nature of the different kinds of learning experience necessary to attain them. He must know how to organise and direct such learning experience. Further, to do this satisfactorily, he should know how to use effectively the best teaching techniques and devices available."

—*Thomas M. Risk.*

शिक्षा संबंधी समस्त क्रिया-कलापों की संपन्नता और सफलता शिक्षक पर निर्भर है। सेकेण्डरी एजुकेशन कमीशन ने शिक्षक के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "शिक्षा के पुनर्निर्माण में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान शिक्षक—उसके वैयक्तिक गुण, शैक्षिक योग्यताएँ, शिक्षण-प्रशिक्षण और विद्यालय एवं समाज में उसका स्थान आदि—का है। विद्यालय की प्रतिष्ठा और सामाजिक जीवन पर उसका प्रभाव निश्चित ही अध्यापकों की कार्य-कुशलता पर निर्भर है।[1]

हुमायूँ कबीर ने लिखा है कि किसी भी शिक्षा के पुनरुत्थान में शिक्षक का केन्द्रवर्ती स्थान है और उसकी शैक्षिक दक्षता के विकास पर ही शिक्षा की पुनर्रचना की सफलता निर्भर करती है। यदि किसी विद्यालय में अध्यापन का कार्य भली-भाँति होता है तो उसे और किसी बात की आवश्यकता नहीं, परन्तु यदि किसी विद्यालय

1. "That the most important factor in the contemplated educational reconstruction is the teacher—his personal qualities, his educational qualifications, his professional training and place which he occupies in the school as well as in the community. The reputation of a school and its influence on the life of the community invariably depends on the kind of teachers working in it."

में अच्छे शिक्षक नहीं हैं तो उससे किसी भी कल्याण की आशा नहीं की जा सकती। शिक्षा की किसी भी प्रणाली की कुशलता, अन्तिम रूप में, शिक्षक के गुणों पर ही निर्भर है। अच्छे अध्यापकों के अभाव में अच्छी से अच्छी प्रणाली भी असफल होगी परन्तु अच्छे अध्यापकों के रहने पर यदि किसी शिक्षा प्रणाली में त्रुटि है तो वह भी बहुत कुछ दूर हो जायगी।[1]

विद्यालय की समुचित व्यवस्था के लिए भी शिक्षक का सहयोग आवश्यक है। विद्यालय में शैक्षिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं खेल-कूद संबंधी अनेक प्रकार के कार्य होते हैं। वे कार्य शिक्षकों में ही वितरित होते हैं। कोई शिक्षक खेल का विशेष ज्ञाता होता है, तो कोई साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कार्यों का, कोई शिक्षक संगठनात्मक कार्यों में अधिक रुचि रखता है तो कोई समाज-सेवा के कार्यों में। इस प्रकार वे अपनी रुचि, योग्यता एवं दक्षता के अनुसार अपना कार्य विशेष कुशलता के साथ सम्पन्न करते हैं। प्रधानाध्यापक उन पर विश्वास के साथ उनके योग्य कार्य सौंप देता है और उनके सहयोग से विद्यालय की सारी व्यवस्था चलती रहती है।

विद्यालय का सर्व प्रमुख कार्य है विद्यार्थियों का बौद्धिक एवं चारित्रिक उत्कर्ष। इसका उत्तरदायित्व शिक्षकों पर ही है क्योंकि विद्यार्थियों से प्रत्यक्ष और सीधा सम्बन्ध उन्हीं का होता है। विद्यार्थी अध्यापकों से निःसंकोच अपनी कठिनाइयाँ प्रस्तुत करते हैं और अध्यापक उन्हें दूर करने का प्रयत्न करते हैं। अध्यापक विद्यार्थियों के व्यक्तिगत जीवन से भी परिचित होते हैं। अध्यापक के व्यक्तित्व का, विचार एवं व्यवहार का, क्रिया एवं आचरण का विद्यार्थियों पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। विद्यार्थी अध्यापक से अनेक प्रेरणाएँ ग्रहण करते रहते हैं। विद्यार्थियों में अनुशासन भावना उत्पन्न करने की दृष्टि से भी अध्यापकों का विशेष महत्त्व है। योग्य अध्यापकों के रहने पर छात्र अपने आप अनुशासित और विनयी बने रहते हैं। इन सभी बातों के आधार पर ही जान एडम्स ने अध्यापकों को 'मानव-निर्माता' की संज्ञा प्रदान की है। नेल्सन बासिंग ने शिक्षक को शिक्षा योजना में केन्द्रीय स्थान प्रदान किया है और कहा है कि "शैक्षणिक प्रक्रिया में प्रमुख संचालक होने के नाते शिक्षक का स्थान अवश्य ही प्रमुख है।"

विद्यालय का समाज के साथ सम्यक् सम्बन्ध स्थापन भी, जो आज की शिक्षा का बहुत ही महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण और उद्देश्य है—योग्य अध्यापकों के अस्तित्व पर ही निर्भर है। अध्यापक एक ओर विद्यार्थियों के अभिभावकों को

---

1. हुमायूँ कबीर—एजुकेशन इन न्यू इंडिया, पृ० १६६।

सरलता से विद्यालय के लिए सक्रिय रूप से सहायक बना सकते हैं और दूसरी ओर विद्यालय को सामाजिक जीवन की आदर्श संस्था के रूप में निर्मित कर सकते हैं। ब्रूबेकर ने इसीलिए लिखा है कि सभ्यता का उत्कर्ष शिक्षक की योग्यता पर निर्भर है। विद्यार्थियों के समाजीकरण (सोशलाइजेशन) का उद्देश्य अध्यापकों के प्रयत्न से ही पूरा हो सकता है। विद्यालय में उपयुक्त शैक्षिक एवं सामाजिक वातावरण का निर्माण अध्यापक ही कर सकते हैं। वही प्रत्येक बालक की गति-विधि पर ध्यान रख सकते हैं और उन्हें वांछित तथा अनुकूल दिशा की ओर प्रवृत्त कर सकते हैं। इस प्रकार विद्यालय की सम्पूर्ण व्यवस्था का वास्तविक आधार शिक्षक मंडल है।

शिक्षक के उपर्युक्त महत्त्व को समझते हुए भी उसे जो सम्मान और गौरव मिलना चाहिए वह उसे प्राप्त नहीं है। यही नहीं बल्कि वह बहुत कुछ उपेक्षित भी है। शिक्षा-मार्मिक की योजना में उसका स्थान कितना नगण्य है यह हुमायूँ कबीर के इस कथन से स्पष्ट हो जाता है—"हमारी शिक्षा प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि हम सबसे पहले भवन के बारे में सोचते हैं, फिर फर्नीचर के, उसके बाद पुस्कालय एवं प्रयोगशाला के बारे में और सबसे बाद में अध्यापक के बारे में।" अर्थात् सबसे पहली बात को अंत में स्थान देते हैं।

सेकेण्डरी एजुकेशन कमीशन ने शिक्षकों की स्थिति की ओर राष्ट्र का ध्यान आकर्षित करते हुए लिखा है कि शिक्षकों का प्राचीन गौरव विलुप्त हो चुका है। उनकी आय और उनका वेतन उन्हीं के समान योग्यता वाले अन्य पेशों के लोगों से बहुत कम है। यहाँ तक कि सापेक्षिक रूप से कम योग्यता वाले और कम जिम्मेदारी का काम करने वाले लोग भी शिक्षकों से अधिक वेतन पाते हैं। परिणामतः योग्य एवं प्रतिभाशाली व्यक्ति शिक्षण-कार्य की ओर नहीं आते। हमें यह समझ लेना चाहिए कि जब तक शिक्षकों की इस स्थिति में सुधार नहीं होता और मेधावी व्यक्ति इस कार्य में प्रवृत्त नहीं होते तब तक शिक्षा-सुधार की बात निर्जन वन में क्रन्दन के समान है। संयुक्त राष्ट्र संघ के शैक्षिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संगठन की ओर से प्रकाशित 'दि एजुकेशन एण्ड ट्रेनिंग आफ टीचर्स' पुस्तिका में उल्लिखित यह तथ्य पूर्णतः विचारणीय है—"विभिन्न शोधपूर्ण अध्ययनों से स्पष्ट है कि अध्यापकों की भावात्मक दृढ़ता का प्रभाव छात्रों पर पड़ता है। असंतुष्ट, खिन्न और हताश अध्यापक अपने छात्रों का निर्माण प्रसन्न, स्वस्थ और समर्थ नवयुवकों के रूप में नहीं कर सकते।"[1]

---

1. "Various research studies show clearly that the emotional stability of teachers affects that of pupils. Unhappy, frustrated, dissatisfied teachers cannot help their pupils to become happy, well adjusted young people."

शिक्षक के गुण—विद्यालय में बहुमुखी रुचि, योग्यता एवं कुशलता सम्पन्न अध्यापकों की आवश्यकता पड़ती है क्योंकि आज का विद्यालय पूर्णरूप से शैक्षिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का केन्द्र माना जाता है। किन्तु यह संभव नहीं कि प्रत्येक अध्यापक में सभी प्रकार के कार्यों को करने की कुशलता और सूक्ष्मदर्शिता पायी जाय। इसीलिए अध्यापकों में सामान्य रूप से जो गुण अपेक्षित हैं, उनका उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।

श्री के० जी० सैयदीन ने लिखा है—"अध्यापक के व्यक्तिगत सदाचार और संस्कृति की संवृद्धि, बौद्धिक उपलब्धियों का प्रसार और सामाजिक सम्बोध एवं अन्तर्दृष्टि की गहनता उसके व्यक्तिगत जीवन के लिए ही उपादेय नहीं हैं बल्कि बालकों की शिक्षा के लिए भी अमूल्य सिद्धियाँ हैं।"[1] उसे अपने विषय का प्रकाण्ड पंडित तथा शिक्षण-कला का मर्मज्ञ होना चाहिए। चार्टर्स एण्ड वेपुल्स (Charters and Waples) द्वारा 'कामनवेल्थ टीचर्स ट्रेनिंग स्टडी' में प्रस्तुत अध्यापक के गुणों की एक वृहत् सूची निम्नलिखित है—

(१) परिस्थित्यनुकूलता (२) आकर्षण, रूपवान् (३) व्यापक अभिरुचि (समाज में, अपने कार्य में और विद्यार्थियों में) (४) सावधानी (शुद्धता, निश्चयात्मकता और सम्पूर्णता) (५) विचारशीलता (सहनशीलता, शिष्टाचार, दयालुता, सहानुभूति, युक्ति, उपयोगिता) (६) सहयोग, सहायता (निष्ठा) (७) निर्भरता (स्थिरता) (८) उत्साह (सतर्कता, चेतनता, प्रेरणा, स्वाभाविकता) (९) प्रवाहपूर्णता (१०) शक्तिशालिता (साहस, निर्णयात्मकता, दृढ़ता, स्वतन्त्रता, प्रयोजनता अथवा साभिप्रायता) (११) सद्न्याय (स्वेच्छाशक्ति, दूरदर्शिता, बुद्धि) (१२) स्वास्थ्य (१३) ईमानदारी (१४) परिश्रम (धैर्य, लगन) (१५) नेतृत्व (अग्रगामिता, आत्मविश्वास) (१६) आकर्षण शक्ति (पहुँच, प्रसन्नता, आशावादिता, प्रफुल्लता, विनोद प्रियता, सामाजिकता, मृदुलध्वनि, बुद्धि, चातुरी) (१७) स्वच्छता (१८) सदाशयता (१९) मौलिकता (कल्पनाशक्ति तथा साधन सम्पन्नता) (२०) प्रगतिशीलता (महत्त्वाकांक्षा) (२१) तत्परता (शीघ्रता, समयपरायणता) (२२) शालीनता (लोकाचारिता, सुरुचि, विनम्रता, नैतिकता, सरलता) (२३) अध्यवसाय (बौद्धिक औत्सुक्य) (२४) आत्मनियंत्रण (शांति, सम्मान, संतुलन, निग्रह, शील) (२५) मितव्ययिता।

---

1. *Saiyidin, K. G.*—"The enrichment of his personal culture, the broadening of his intellectual interests, the deepening of his social insight and understanding are not individual gains to him as they would be to anyone else—they are also valuable equipments for the education of children."

इसी प्रकार अन्य शिक्षाविदों ने भी अध्यापक के लिए आवश्यक अनेक गुणों का वर्णन किया है। उदाहरणतः ब्रे ने अपने 'स्कूल आर्गेनिजेशन' में अध्यापक के लिए निम्नांकित गुणों का उल्लेख किया है[1]—

(१) विद्यार्थियों की आयु, लिंग और सामाजिक स्थिति के अनुकूल बनने की क्षमता (२) हृदय की सच्चाई तथा सहनशीलता (३) धैर्य एवं सहानुभूति (४) उत्साह (५) सद्यः निर्णयशक्ति (६) अपने आदेशों पर दृढ़ रहना (७) ध्वनि एवं स्वर पर नियंत्रण रखना तथा उसे मधुर, सहज और प्रभावपूर्ण बनाना (८) विद्यार्थियों की रुचि, कार्य-संलग्नता का ध्यान रखना (९) न्याय तथा व्यवहार कुशलता (१०) निश्चित उद्देश्य तथा कार्य को समय पर करना (११) अनुशासन को साधन मानना, साध्य नहीं (१२) दृढ़ता, आत्मनिर्भरता और आत्मनियंत्रण (१३) यथा संभव दण्ड के प्रयोग से बचना (१४) विद्यार्थियों के शारीरिक एवं मानसिक सुख और सुविधा का ध्यान रखना और उनको व्यक्तिगत विकास के लिये अवसर प्रदान करना।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि अध्यापक के लिए अनेक गुण अपेक्षित हैं। उसका उत्तरदायित्व इतना महान् है कि इन गुणों की संख्या सीमित नहीं की जा सकती। वह समाज का पथप्रदर्शक है। उसके ऊपर बालक का, विद्यालय का, समाज का, राष्ट्र का और अंततोगत्वा मानव-जाति का भविष्य निर्भर करता है। इसी दृष्टि से उसे एडम्स ने मानव-निर्माता की संज्ञा प्रदान की है। अतः उसके लिए आवश्यक कतिपय गुणों का उल्लेख आगे किया जा रहा है :—

१—ज्ञान एवं अध्यवसाय—किसी भी अध्यापक के लिए सर्वप्रथम अपने विषय का पूर्ण ज्ञाता होना आवश्यक है। ज्ञान के अभाव में ज्ञान प्रदान करने का कार्य संभव ही नहीं है। किसी विषय का पूर्ण ज्ञाता होने का अर्थ यह नहीं है कि पूरी सामग्री उसे कण्ठस्थ हो और वह कोश बन जाय। इसका अर्थ यह है कि उस विषय की सूक्ष्मतम विशेषताओं से वह परिचित हो और उस विषय का व्यापक अध्ययन किस प्रकार किया जा सकता है, इसका उसे ज्ञान हो। वह केवल पाठ्य-पुस्तकों पर ही निर्भर न रहे बल्कि उस विषय से सम्बन्धित अन्य पुस्तकों और शास्त्रों से भी परिचित हो। श्री के० जी० सैयदीन ने ठीक ही लिखा है कि हम किसी पात्र से उतना ही उड़ेल सकते हैं जितना उसमें रखा गया है। इसी प्रकार यदि अध्यापक का ज्ञान रिक्त और शून्य है, और उसमें कोई प्रकाश नहीं है तो वह बच्चों के हृदय

1. **रामखेलावन चौधरी** कृत 'आधुनिक विद्यालय संगठन' में उद्धत, पृ० १०२-३ के आधार पर।

और मस्तिष्क को क्या प्रकाश प्रदान कर सकता है ? यदि वह स्वयं ज्योति विहीन है तो दूसरों को किसी भी प्रकार ज्योति नहीं दे सकता।

सफल शिक्षक के लिए यह आवश्यक है कि अपने विषय का वह पूर्ण ज्ञाता तो हो ही, अन्य विषयों तथा सामान्य ज्ञान-विज्ञान से भी परिचित हो। इससे उसकी प्रतिभा और प्रखर हो उठती है तथा यथावसर वह उनका उपयोग कर सकता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि अध्यापक की विद्वत्ता, प्रतिभा और अध्यवसाय की परीक्षा हर समय ही हुआ करती है, चाहे वह छात्रों के बीच हो, चाहे सहकारी अध्यापकों के साथ हो, प्रधानाध्यापक के साथ हो अथवा अन्यत्र किसी सभा या समाज में हो। अतः उसे हर स्थान पर अपनी सफलता का परिचय देना चाहिए।

आज की शिक्षा में समन्वय एवं अनुबंधित शिक्षण प्रणाली की आवश्यकता एवं महत्त्व का अनुभव सभी लोग करते हैं। इस प्रणाली का प्रयोग उसी समय संभव है जब अध्यापक को अपने विषय के साथ-साथ अन्य विषयों का भी ज्ञान हो जिससे यथावसर और यथाप्रसंग विविध विषयों से संबंधित उठने वाले प्रश्नों का वह उचित उत्तर छात्रों को प्रदान कर सके।

अध्यापक को यह योग्यता उस समय तक नहीं प्राप्त हो सकती जब तक उसमें अध्यवसाय की लगन न हो। "यावज्जीवमधीते विप्रः" अर्थात् शिक्षक आजीवन ही शिक्षार्थी बना रहता है। "अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्" (अपने को अजर-अमर समझ कर विद्या-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते रहना चाहिए) की उक्ति का पालन अध्यापक का परम कर्त्तव्य है। अध्यापक को सदा स्मरण रखना चाहिए कि ज्ञान का सागर अथाह है उसमें से वह जितना भी प्राप्त करता चले उतना ही अच्छा है। वह एक शोधकर्त्ता, अन्वेषणकर्त्ता और प्रयोगकर्त्ता है। अन्वेषण की प्रवृत्ति रहने पर अध्यापक अपने ज्ञान को नित्य नूतन अध्ययन एवं विचारों के समावेश द्वारा परिवर्द्धित करता रहता है। शिक्षा के क्षेत्र में जो विकास हो रहा है उससे भी वह परिचित रहता है और उसके आधार पर वह अपना कार्य अधिक सफलता पूर्वक कर सकता है।

(२) बालक की प्रकृति का अध्ययन—आज की शिक्षा का केन्द्र बालक है। अध्यापक के पांडित्य, अध्यवसाय एवं शिक्षण की महत्ता इस बात में है कि वह बालक के अनुकूल अपनी शिक्षण योजना बना सके।[1] यह तभी संभव है जब

1. "Instruction must be fitted to child and not the child to the instruction"
—*Comenius*.

उसे बालक की प्रकृति का ज्ञान हो।[1] बालक के स्वभाव, रुचि, प्रवृत्तियाँ, उद्वेग, विकास की अवस्थाएँ, और मानसिक शक्ति के संबंध में अध्यापक भली-भाँति जानता हो। इस दृष्टि से उसे बाल-मनोविज्ञान का अध्येता होना आवश्यक है। एडम्स की प्रसिद्ध उक्ति "शिक्षक ने जॉन को लैटिन पढ़ाई" (The Master taught John Latin) इस तथ्य को व्यक्त करती है कि अध्यापक को लैटिन अर्थात् अपना विषय जानने के साथ-साथ जॉन अर्थात् बालक को भी जानना चाहिए। बालक के अध्ययन के आधार पर ही अध्यापक उनकी उत्सुकता और जिज्ञासा को सदा जगाए रख सकता है और उचित प्रेरणाएँ एवं समाधान प्रदान कर सकता है।

(३) शिक्षण कला से परिचय—ज्ञान एवं अध्यवसाय शिक्षक का प्रथम धर्म एवं गुण है किन्तु उसकी सफलता उस ज्ञान के प्रदान करने में है। शिक्षक यह ज्ञान किस प्रकार उचित रीति से प्रदान करें, यही शिक्षण कला है। शिक्षक को इससे अवगत होना चाहिए कि कोई भी ज्ञान बालकों के सम्मुख किस प्रकार प्रस्तुत किया जाय, उन्हें प्रस्तुत पाठ की ओर किस प्रकार अभिमुख बनाया जाय, पाठ को किस प्रकार सजीव, रुचिकर, आकर्षक और ग्राह्य बनाया जाय और पाठ-विकास में उनका सक्रिय सहयोग कैसे प्राप्त किया जाय। उसे शिक्षण के सामान्य सिद्धान्तों एवं विधियों का, पाठ्य सामग्री के उचित क्रमायोजन का और यथा प्रसंग उनके प्रयोग का ज्ञान होना चाहिए।

शिक्षण कार्य एक कला है, क्रिया अथवा प्रयोग है जो अवसर तथा स्थिति के अनुकूल अपना रूप धारण करता रहता है। इसी कारण शिक्षण सिद्धांत तथा विधियाँ स्वयं कोई साध्य नहीं हैं, अपितु वे साधन हैं जिनके द्वारा शिक्षण कार्य सरल एवं सुग्राह्य बनाया जा सके। अध्यापक में इस बात की योग्यता होनी चाहिए कि वह बालकों की स्थिति के अनुकूल, यथा अवसर एवं यथा प्रसंग शिक्षण सिद्धान्तों एवं विधियों का प्रयोग कर सके। इसीलिए शिक्षकों का प्रशिक्षण (Training) अति आवश्यक है।

शिक्षण कला के अंतर्गत कुछ वे गुण एवं विशेषताएँ भी शामिल हैं जो शिक्षण कार्य को सजीव, सुरुचिपूर्ण एवं सुग्राह्य बना देती हैं जैसे (क) अध्यापक की ध्वनि तथा वर्णन शैली (ख) भाषा।

(क) ध्वनि—शिक्षक की ध्वनि स्पष्ट, मधुर और प्रभावपूर्ण होनी चाहिए। शब्द पूर्ण एवं स्पष्ट रूप से उच्चरित और श्रवणीय हों। उच्चारण शुद्ध हो।

---

1. "The school master as one who studieth his scholar's nature as carefully as they their books" —*Thomas Fuller*.

शुद्धता और स्पष्टता के साथ-साथ ध्वनि में माधुर्य का होना भी आवश्यक है। ध्वनि ऐसी हो जो कानों को प्रिय लगे और आनन्ददायक हो।

ध्वनि की प्रभावपूर्णता उपर्युक्त विशेषताओं के साथ-साथ और कई बातों पर निर्भर है जैसे गति, यति, बलाघात, आरोह-अवरोह आदि।

गति का तात्पर्य यह है अध्यापक को एक उचित प्रवाह के साथ बोलना चाहिए। कहीं अति शीघ्रता, कहीं शिथिलता, कहीं भटकना या हकलाना उचित गति में बाधक हो जाते हैं।

यति का तात्पर्य है कि अपने पठन, कथन, भाषण में उचित विरामस्थलों का ध्यान रखे जिससे भावाभिव्यंजन में स्पष्टता बनी रहे और बालक अच्छी तरह उसका अनुसरण कर सकें।

बलाघात का तात्पर्य है अभीष्ट शब्दों या पदों पर बल प्रदान करना जिससे उचित प्रभाव उत्पन्न किया जा सके।

स्वर की उच्चता या मन्दता का भी ध्यान रखना आवश्यक है। स्वर न तो इतना उच्च या तीव्र हो कि वह कर्कश या कर्णकटु प्रतीत हो और न इतना मन्द कि सुनाई ही न पड़े। कक्षा में बालकों की संख्या के अनुरूप ही अध्यापक को अपना स्वर रखना चाहिए। ध्वनि में उपयुक्त आरोह-अवरोह के द्वारा उसकी प्रभविष्णुता बढ़ जाती है।

इस प्रकार उचित गति, यति, बलाघात, स्वर, आरोह-अवरोह के द्वारा ध्वनि में एक लय, प्रवाह और प्रभाव का संचार हो जाता है। प्रभावपूर्णता के लिए अध्यापक को दो और बातों का ध्यान रखना पड़ता है, वह है बोलने की उचित मात्रा और प्रसन्न मुख मुद्रा। कक्षा में अध्यापक को अनावश्यक वार्तालाप में लिप्त नहीं होना चाहिए। उसको प्रसन्न मुख मुद्रा की आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि प्रसन्नचित्तता से अध्यापक के मुख पर एक नैसर्गिकता, ओजस्विता और उत्साह की आभा झलकती है तथा ध्वनि में आकर्षण, सुरुचि और सजीवता आ जाती है।

कथन या वर्णन प्रस्तुत करते समय अध्यापक की मुद्रा से चपलता नहीं व्यक्त होनी चाहिए। यदि भावातिरेक के कारण नेत्रविकार अथवा हाथों का संचालन करना भी पड़े तो उसे बहुत ही संयत तथा शिष्ट रूप में किया जाय। अनावश्यक हाव-भाव सर्वथा त्याज्य है।

(ख) भाषा—शिक्षण कला की सफलता का एक मुख्य आधार अध्यापक की भाषा और वर्णन शैली है। समस्त विषयों के शिक्षण का मूलाधार भाषा ही

है, वही माध्यम है। अतः अध्यापक को भाषा का ज्ञान तो होना ही चाहिए। अस्पष्ट, अशुद्ध और विकृत भाषा में व्यक्त किये गये विचार भी अस्पष्ट, अशुद्ध और विकृत हो जाते हैं और बालक उन्हें उचित प्रकार से ग्रहण नहीं कर पाते।

भाषा में शब्दों का उचित प्रयोग हो। भावों एवं विचारों के अनुरूप शब्द चयन होना चाहिए। व्यावहारिक एवं प्रचलित शब्दों का प्रयोग सदा ही वांछित है। बच्चों के शब्द-भाण्डार का ध्यान रखते हुए उचित भाषा का प्रयोग किया जाय जिससे वे समझते चलें। भाषा सरल और स्वाभाविक हो, क्लिष्ट और कृत्रिम नहीं। वह शुद्ध, स्पष्ट और सप्रवाह हो। जहाँ एक साधारण वाक्य से काम चल सकता है, वहाँ जटिल, संयुक्त तथा मिश्रित वाक्यों का प्रयोग नहीं होना चाहिए। सुगठन भाषा का आवश्यक गुण है। वाक्यों में शब्दों का मेल ठीक रहना चाहिए। खिचड़ी भाषा का प्रयोग नहीं होना चाहिए।

मिष्ठ भाषी होना शिक्षक का बहुत बड़ा गुण है। उसे सदा ही सुसंस्कृत एवं शिष्ट भाषा का प्रयोग करना चाहिए। भाषा के संस्कार और संयम से अध्यापक का व्यक्तित्व भास्वर हो उठता है और छात्रों के हृदय में उसके प्रति श्रद्धा के भाव पैदा होते हैं।

(४) व्यावहारिक कुशलता—उपर्युक्त गुणों के साथ-साथ अध्यापन कार्य में सफल होने के लिए शिक्षक को व्यवहार कुशल होना चाहिए। विद्यालय तथा कक्षा में अनेक ऐसी जटिल परिस्थितियाँ उत्पन्न होती रहती हैं जिनका सामना करने और समाधान प्रस्तुत करने के लिए प्रत्युत्पन्न मति (प्रजेन्स आफ माइंड), युक्ति तथा साधन सम्पन्नता की आवश्यकता पड़ती है। कक्षा में बालकों द्वारा प्रस्तुत प्रश्नों और समस्याओं के सम्बन्ध में भी अध्यापक को तत्काल ही निर्णय करने एवं तदनुकूल व्यवहार करने की आवश्यकता पड़ती है। अध्यापक को सदा अपनी विचार शक्ति का सन्तुलन बनाए रखना चाहिए और यथावसर यथोचित व्यवहार करने की क्षमता, बुद्धि और कुशलता होनी चाहिए। ऐसा नहीं रहने पर अध्यापक स्वयं उलझन में पड़ जाते हैं और समस्या को सुलझाने की जगह और भी उलझा देते हैं और स्वयं छात्रों तथा सहकारियों के उपहास-पात्र बन जाते हैं।

अध्यापक की व्यवहार कुशलता की सच्ची परीक्षा कक्षा में पढ़ाते समय होती है। उसे कक्षा में सदा ही सभ्य, शिष्ट तथा भद्र व्यवहार का परिचय देना चाहिए। किसी ऐसी अस्वाभाविक प्रवृत्ति का परिचय नहीं देना चाहिए जिससे

छात्रों का ध्यान अनावश्यक ही उस ओर आकर्षित हो और वे शिक्षक के प्रति अवांछित धारणा बना लें। बहुत से शिक्षक अनजाने ही ऐसी आदतों के शिकार हो जाते हैं जिनके कारण उनकी हँसी होने लगती है जैसे मुख पर व्यर्थ की गम्भीरता और बोझिलता का भाव, सिर खुजलाना, पैन्ट के पाकेट में हाथ डालकर पढ़ाना, अति हाव-भाव, मेज पर हाथ पटकना, अनावश्यक वार्तालाप, आँख, नाक, कान छूते रहना, खड़िया हाथों में उछालते रहना या मसलते रहना, बात-बात पर झल्लाते रहना, व्यर्थ का रोष प्रकट करना आदि बहुत सी ऐसी आदतें हैं। इनसे सदा ही बचना चाहिए। अध्यापक को कक्षा के सामने मध्य में स्थित होकर स्वाभाविक, प्रसन्न मुद्रा में पढ़ाना चाहिए। टहलते हुए, कुर्सी या मेज पर झुके हुए या आधे लेटे हुए पढ़ाना बुरी आदत है।

(५) नियन्त्रण शक्ति—ज्ञान, शिक्षण कला, चरित्र, निष्ठा, व्यवहार कुशलता रहने पर भी बिना नियन्त्रण शक्ति के पूर्ण अनुशासन नहीं स्थापित किया जा सकता। अध्यापक में प्रेम और सहानुभूति के साथ यदि ढिलाई और अनावश्यक उदारता है तो छात्र अनुचित लाभ उठाने लगते हैं। अतः प्रेम और सहानुभूति के साथ दृढ़ता और नियन्त्रण शक्ति भी आवश्यक है। अध्यापक को छात्रों द्वारा आदेश-पालन के लिए दृढ़ रहना चाहिए, उनमें इस प्रकार का भाव उत्पन्न करना चाहिए कि अनजान में भी कक्षा की शिष्टता, मर्यादा और अनुशासन का उल्लंघन न करें। इसके लिए काम चोर विद्यार्थियों पर विशेष दृष्टि रखने की आवश्यकता पड़ती है। सब समय पूरी कक्षा पर दृष्टि रखना, शान्त और धीर बने रहना, प्रत्येक बालक के नाम, गुण, अवगुण, पारिवारिक, आर्थिक एवं सामाजिक वातावरण आदि से परिचित रहना, अपने व्यवहार में सदैव सतर्कता, सजगता, तत्परता और दृढ़ता का परिचय देना आदि नियन्त्रण की दृष्टि से आवश्यक गुण हैं।

(६) उत्तम व्यक्तित्व—उपर्युक्त गुणों से विभूषित होकर अध्यापक बच्चों के सम्मुख एक ऐसे आदर्श व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा करता है जो बालकों के लिए अनुकरणीय हो जाता है और उन पर सदा के लिए एक अमिट छाप पड़ जाती है। किन्तु प्रभाव की दृष्टि से इन गुणों के साथ दो एक बातें और आवश्यक हो जाती हैं जैसे उचित वेशभूषा, कलात्मक एवं सांस्कृतिक सुरुचि का परिचय, आचरण की श्रेष्ठता। अध्यापक का वस्त्र स्वच्छ और सुरुचिपूर्ण हो। उसके उठने-बैठने, चलने-फिरने, बात-चीत, रहन-सहन आदि सभी बातों से सौम्यता और सुसंस्कृति झलकनी चाहिए।

(७) अध्यापन कार्य के प्रति रुचि, निष्ठा, शक्ति और सामर्थ्य—शिक्षण-कार्य की सम्पन्नता और सफलता उस समय तक सम्भव नहीं जब तक शिक्षक

में अपने कार्य के प्रति रुचि, निष्ठा, उत्साह और लगन न हो। प्रायः देखा जाता है कि अनेक व्यक्ति कोई और कार्य न मिलने पर अध्यापन में लग जाते हैं और किसी दूसरे काम की तलाश में लगे रहते हैं। ऐसे लोग अपने कर्त्तव्य का निर्वाह कभी भी नहीं कर पाते। अतः उन्हीं लोगों को शिक्षक होना चाहिए जो शिक्षण कार्य के प्रति अभिरुचि रखते हों, निष्ठा रखते हों, उसे एक पवित्र और श्रेष्ठ कार्य समझते हों और बहुत सी सुख-सुविधाएँ सुलभ न होने पर भी इसे छोड़ने को तैयार न हों।

• अध्यापन कार्य के लिए अध्यापक में वांछित शक्ति, स्फूर्ति और सामर्थ्य का होना भी आवश्यक है। इसका छात्रों पर स्वभावतः अच्छा प्रभाव पड़ता है और साथ ही शिक्षण कार्य भी अबाध रूप से चलता रहता है।[1] यह शक्ति, स्फूर्ति और सामर्थ्य अध्यापक के शारीरिक, मानसिक और भावात्मक स्वास्थ्य पर निर्भर है। अध्यापक शारीरिक रोगों से तो मुक्त हो ही, मानसिक बीमारियों से भी मुक्त रहे। भावात्मक सन्तुलन ठीक हो। उसमें ईर्ष्या-द्वेष, क्षोभ-रोष, चिड़-चिड़ापन और दुराग्रह नहीं होना चाहिए। आन्तरिक कुण्ठा, मानसिक प्रतिरोध अथवा ग्रन्थियाँ, हीनता, चिन्ता, निराशा और जड़ता की भावना रहने से शिक्षण कार्य ठीक से नहीं चल पाता। नीरोग, सक्रिय, सतर्क, कार्य तत्पर, संलग्नशील और उत्साही व्यक्ति ही एक श्रेष्ठ अध्यापक बन सकता है।

(८) चरित्र तथा नैतिकता—अध्यापक का सर्व प्रमुख गुण उसका चरित्र है। बालकों का चरित्र निर्माण शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य है। सच्चरित्र अध्यापक ही इस उद्देश्य को पूरा कर सकता है क्योंकि अध्यापक के कार्य, विचार और व्यवहार ही बच्चों के सम्मुख आदर्श रूप में प्रस्तुत होते हैं और बच्चे उन्हीं का अनुकरण करते हैं। छात्रों पर अध्यापक के जीवन और चरित्र की अमिट छाप पड़ती है। अतः सच्चरित्र होना अध्यापक के लिये आवश्यक गुण है।

प्राचीन भारत में शिक्षा द्वारा चरित्र निर्माण पर बहुत ही बल दिया जाता था। चरित्र को ज्ञान से भी श्रेष्ठ स्थान दिया गया है। कहा जाता है कि विद्वान् केवल हमारी प्रशंसा का पात्र होता है पर चरित्रवान् हमारी श्रद्धा और प्रेम का भाजन होता है। अतः छात्रों की श्रद्धा और प्रेम का अधिकारी वही अध्यापक हो सकता है जो सच्चरित्र और नैतिक गुणों से सम्पन्न हो।

---

1. *Moehlman, Arthur B.*—Good vitality is essential to successful teaching, not only in its reflex influence upon the children, but also in making possible contribution of work with the fewest possible interruptions from illness because of general fatigue.

सच्चरित्रता और नैतिकता की सीमा बहुत ही व्यापक है। उसमें सभी मानवीय गुणों का समावेश हो जाता है पर सामान्य रूप से निम्नलिखित गुण आवश्यक हैं—

(क) कर्त्तव्य परायणता—अपने कार्यों में किसी भी प्रकार की शिथिलता न आने देना और सदा समय परायणता का ध्यान रखना।

(ख) सत्यवादिता—सदा सत्य बोलना, कठिन से कठिन परिस्थिति में भी झूठ का आश्रय न लेना और अपने प्रभाव द्वारा छात्रों में भी सत्य बोलने की आदत डालना।

(ग) प्रेम और सहानुभूति, धैर्य एवं सहनशीलता—सदा प्रेम और सहानुभूति से काम लेना, बालकों से त्रुटियाँ होने पर भी क्रोध न करना और धैर्य तथा सहनशीलता का परिचय देना, शांतिपूर्वक बालक की उछृंखलताओं और अशिष्टताओं का कारण जानना और प्रेम तथा सहानुभूति द्वारा उसे दूर करने का प्रयत्न करना।

(घ) न्यायप्रियता और निष्पक्षता—सभी छात्रों को एक समान समझना, किसी स्वार्थवश किसी विशेष बालक जैसे प्रतिभाशाली, धनी अथवा संभ्रांतकुलीन के प्रति पक्षपात न करना और सभी के साथ निष्पक्ष एवं समान वर्ताव करना।

(ङ) ईमानदारी और लोभ-निग्रह—अध्यापन कार्य को व्यापार नहीं समझना चाहिए, बल्कि उसे एक साधना, मानव-सेवा और त्याग का उत्कृष्ट रूप मानना चाहिए। अतः लोभ की वृत्ति का त्याग करके ईमानदारी से कार्य करना चाहिए।

(च) आत्म-संयम और आत्म-विश्वास—अध्यापक को आत्मनिग्रही और सामान्य प्रवृत्तियों पर नियंत्रण रखना चाहिए। आत्म विश्वास की भावना रहने से वह कक्षा को प्रभावित करता है और अनुशासन बनाये रखता है।

(छ) सरल जीवन और उच्च विचार—अध्यापक का सदा ही यह आदर्श होना चाहिए। कृत्रिमता, प्रदर्शन, आडम्बर उसे शोभा नहीं देता। छात्रों के जीवन का निर्माता जब तक स्वयं अपने जीवन का आदर्श रूप प्रस्तुत नहीं करेगा तब तक उनके जीवन को आदर्श नहीं बना सकता। वह अपने शिष्टाचार एवं सदाचार द्वारा ही छात्रों में भी शिष्टाचार और सदाचार की भावना पैदा कर सकता है।

(ज) सामाजिकता—जनतांत्रिक सामाजिक रचना में अध्यापक के लिए सामाजिक भावना का होना नितांत आवश्यक है। आज के विद्यालयों का उद्देश्य

उत्तम नागरिकों का निर्माण करना है और इसीलिए विद्यालयों का संगठन सामाजिक आदर्शों के अनुरूप किया जा रहा है। विद्यालय को एक लघु समाज की संज्ञा दी गई है। इस समाज के निर्माण का उत्तरदायित्व अध्यापक पर ही है। पर जब तक यह स्वयं सामाजिक भावनाओं से ओत-प्रोत नहीं होगा तब तक विद्यालय रूपी समाज का निर्माण नहीं कर सकता। छात्रों के साथ व्यवहार करने में अध्यापक को अपनी सामाजिकता का परिचय देना चाहिए। उसका व्यवहार मानवीय हो, सहानुभूति पूर्ण हो और निष्पक्ष हो। सहायता करने के लिए उसे सदा तत्पर रहना चाहिए।

अध्यापक को अभिभावकों के साथ व्यवहार करने में भी अपनी सामाजिकता का परिचय देना चाहिए। समाज भीरु, पलायनवादी तथा एकान्त सेवी अध्यापक अभिभावकों का विश्वासभाजन नहीं हो सकता और विद्यालय के प्रति उनमें अभिरुचि नहीं पैदा कर सकता। अध्यापक को समाज के अनेक वर्गों तथा विविध स्वभाव के लोगों से सम्पर्क रखना पड़ता है। अतः इन सभी के साथ उचित व्यवहार करने और उन्हें अपने अनुकूल बना लेने की क्षमता अध्यापक में होनी चाहिए। अध्यापक को सामाजिक जीवन का अच्छा ज्ञान होना चाहिए। उसकी सामाजिक जीवन की कुशलता पर ही विद्यालय की प्रतिष्ठा निर्भर है।

सामाजिकता का आधार समाज सेवा है। अध्यापक को स्वभाव से ही समाज सेवी होना चाहिए। उसे सामाजिक समस्याओं के समाधान में योग प्रदान करना चाहिए। सामाजिक विषमताओं को दूर करने का यथासाध्य प्रयत्न करना चाहिए। विद्यार्थियों में भी सामुदायिक क्रिया-कलापों में भाग लेने की प्रेरणा तथा समाज सेवा की भावना का संचार करना चाहिए और अपने कार्यों द्वारा इसका आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए। समाज सेवा का ही एक रूप राष्ट्र सेवा है। अध्यापक में देश-भक्ति की भावना अवश्य होनी चाहिए जिससे वह छात्रों में भी इसका संचार कर सके।

शिक्षक के कर्त्तव्य

सामान्य धारणा यही है कि शिक्षक का कार्य केवल कक्षा में शिक्षण कार्य कर देना है किन्तु यह सर्वथा भ्रमपूर्ण है। जिस प्रकार आज का विद्यालय केवल शैक्षिक कार्य का ही नही बल्कि बालक के सर्वांगीण विकास के लिए अनेक पाठ्येतर क्रिया-कलापों, सामाजिक तथा सांस्कृतिक-कार्यों एवं आयोजनों का केन्द्र बना हुआ है, उसी प्रकार अध्यापक का कार्य भी केवल शिक्षण कार्य ही सम्पन्न

करना नहीं रह गया है बल्कि उसे बालक के विकास तथा विद्यालय की प्रतिष्ठा एवं उत्कर्ष के लिए अनेक कार्य सम्पन्न करने पड़ते हैं। इसमें संदेह नहीं कि बालक की शिक्षा का क्षेत्र जितना ही व्यापक और विस्तृत होता जायगा शिक्षक के कर्त्तव्यों में भी उतनी ही वृद्धि होती जायगी। अतः अध्यापक के इन कर्त्तव्यों का एक संक्षिप्त विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

(१) शैक्षिक कार्य—शिक्षण-कार्य अध्यापक का सर्व प्रमुख कार्य है। इस शिक्षण कार्य को विद्यार्थियों की दृष्टि से अधिकाधिक उपयोगी बनाना उसका निश्चित कर्त्तव्य है। इसके लिए उसे अपना विषय भली-भाँति तैयार कर लेना चाहिए और कक्षा में उसकी व्याख्या और स्पष्टीकरण इस प्रकार करना चाहिए कि प्रत्येक बालक को विषय सामग्री हृदयंगम हो जाय। उसे निर्बल छात्रों पर विशेष ध्यान रखना चाहिए। छात्रों में पाठ के प्रति रुचि जाग्रत करने का प्रयत्न करना चाहिए और पाठ-विकास में उनका सहयोग लेते चलना चाहिए। बालकों की ग्रहण शक्ति का ध्यान रखना चाहिए। शिक्षण कला के सिद्धांतों एवं प्रयोगों से उसे अवगत रहना चाहिए और यथावसर उनका यथोचित रूप से अनुसरण करना चाहिए। इस दृष्टि से निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—

(क) पाठों का क्रमायोजन—१ महीने अथवा कम से कम एक सप्ताह के के लिए पढ़ाये जाने वाले पाठों का क्रम आयोजित कर लेना चाहिए।

(ख) कल पढ़ाये जाने वाले पाठों को आज ही अच्छी तरह तैयार कर लेना चाहिए और उनके उद्देश्य पर विचार कर लेना चाहिए।

(ग) पाठ सम्बन्धी उपकरणों का चयन और संकलन कर लेना चाहिए और उनकी प्रयोग-विधि से भी परिचित हो लेना चाहिए। छात्रों द्वारा किये जाने वाले कार्यों एव पाठ-विकास में उनके सक्रिय सहयोग की प्राप्ति के लिए भी योजना बना लेनी चाहिए।

(घ) पाठ-विकास के लिए अपेक्षित प्रश्नों, तथा बीच-बीच में उठने वाली समस्याओं के सम्बन्ध में पूर्ण विचार कर लेना चाहिए।

(ङ) पाठ सम्बन्धी अन्य टिप्पणियों की तैयारी।

(च) पाठ की आवृत्ति द्वारा तथा अन्य परीक्षणों द्वारा यह ज्ञात करते रहना चाहिए कि छात्रों ने उसे कहाँ तक ग्रहण किया है। जो पिछड़े हुए बालक हों, उन पर अलग से भी ध्यान दिया जाय।

(छ) बालकों के गृह कार्य की ठीक जाँच होती रहनी चाहिए। यदि समय का अभाव है तो गृह कार्य भले ही कम दिया जाय, किन्तु उनका संशोधन अवश्य किया जाय। यही बात कक्षा में दिये जाने वाले लिखित कार्य के सम्बन्ध में भी है। वॉग्ले ने 'कक्षा प्रबन्ध' में इस संशोधन कार्य पर बहुत ही जोर दिया है। अन्य विद्वानों का मत है कि गृहकार्य एवं अन्य लिखित कार्यों की जाँच के लिए अध्यापक को विद्यालय में ही समय मिलना चाहिए तभी उसमें निश्चितता और नियमितता आ सकती है।

(ज) साप्ताहिक, मासिक अथवा सात्रिक परीक्षाओं द्वारा छात्रों की प्रगति से परिचित होते रहना और तदनुसार अपने शिक्षण में भी वांछित परिवर्तन एवं सुधार करते रहना चाहिए। अर्द्धवार्षिक तथा वार्षिक परीक्षाओं में उसे विशेष सतर्कता, निष्पक्षता और सावधानी से उत्तर पुस्तकों की जाँच करनी चाहिए क्योंकि इन्हीं पर विद्यार्थियों की कक्षोन्नति और कक्षाओं का शैक्षिक स्तर निर्भर है।

(झ) अध्यापकों को यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि शिक्षण शास्त्र एक सतत विकासशील शास्त्र है। नवीन शिक्षा दर्शन, सिद्धान्त और प्रयोग प्रवर्तित होते रहते हैं। अध्यापक को इनसे परिचित रहना चाहिए। नवीन शिक्षण प्रणालियों और विधियों के प्रयोग से भी अवगत रहना चाहिए। अध्यापन कार्य सम्बन्धी विचार गोष्ठियों, सम्मेलनों, अध्ययन गोष्ठियों में भाग लेते रहना चाहिए जिससे शिक्षण कार्य सम्बन्धी नवीनतम प्रयोगों तथा मापन एवं परीक्षण की विधियों से भली-भाँति परिचित रहें।

(२) शोधकार्य तथा नवीन शिक्षण प्रयोगों का प्रवर्त्तन—अध्यापक का शिक्षण कार्य से सीधा सम्बन्ध रहता है और वह प्रतिदिन शिक्षण प्रणालियों एवं विधियों के प्रयोग के सम्बन्ध में नयी-नयी अनुभूतियाँ प्राप्त करता रहता है। अतः उसका यह नैतिक कर्त्तव्य है कि वह स्वयं उन अनुभूतियों के आधार पर शिक्षण कार्य सम्बन्धी नयी खोजों को प्रकाश में लाए। विधियों एवं प्रणालियों की व्यावहारिकता और अव्यावहारिकता का जितना सच्चा पारखी वह हो सकता है उतना दूसरे विचारक नहीं हो सकते। उसे शिक्षण सिद्धान्तों और विधियों के ही सम्बन्ध में नहीं अपितु पाठ्यक्रम, पाठ्यपुस्तकें, परीक्षा, अनुशासन आदि के सम्बन्ध में भी अपने विचार एवं अनुभव व्यक्त करने चाहिए। यदि वह कोई मौलिक प्रयोग करना चाहता है तो अधिकारियों की सहमति एवं अनुमति प्राप्त करके उसे भी सम्पन्न करना चाहिए और उसके निष्कर्षों से लोगों को अवगत कराना चाहिए। यह धारणा बहुत ही दोषपूर्ण है कि शिक्षा के सम्बन्ध में नये प्रयोगों एवं प्रवर्त्तनों

का कार्य अलग कुछ विचारकों एवं तत्वचिन्तकों का है, अध्यापक तो उनका केवल अनुसरण कर्त्ता है।

(३) पाठ्येतर क्रियाओं का आयोजन—यह लिखा जा चुका है कि बालक के बौद्धिक विकास के साथ-साथ शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के लिए अनेक पाठ्येतर क्रियाओं का आयोजन करना पड़ता है जैसे खेल-कूद, व्यायाम, सैनिक-प्रशिक्षण, बालचर संस्था, परिभ्रमण, प्रदर्शनी, वाद-विवाद, सभाएँ, व्याख्यान माला, अभिनय, प्रहसन, आदि अनेक कार्यक्रमों एवं समारोहों की व्यवस्था करनी पड़ती है। इन कार्यक्रमों का शैक्षिक महत्त्व सभी को ज्ञात है। अध्यापक को इन आयोजनों में उत्साह से भाग लेना चाहिए और उन्हें सफलता पूर्वक सम्पन्न करने का प्रयत्न करना चाहिए। इनके संगठन और संचालन में अध्यापक की अग्रगामिता, प्रबन्ध पटुता, व्यवहार कुशलता और बहुमुखी रुचि स्वतः प्रकट हो जाती है। यह ध्यान रखना चाहिए कि इन कार्यक्रमों की असफलता से आयोजकों एवं प्रबन्धकों को उपहास का पात्र बन जाना पड़ता है, जिसका प्रभाव विद्यालय के अनुशासन पर भी पड़ता है। अतः जो भी कार्यक्रम हो उसमें प्रारम्भ से ही सावधानी रखी जाय, विभागीय नियमों का पालन किया जाय और विधिवत् उसे सम्पन्न किया जाय। इनकी सम्पन्नता के लिए आवश्यक है कि अध्यापक स्वयं इन कार्यक्रमों में रुचि रखे और अपने पथप्रदर्शन में योग्य छात्रों का सक्रिय सहयोग प्राप्त करने में दक्ष हो और उचित रूप से कार्यों का वितरण कर सके।

(४) अन्य विवरणात्मक कार्य—अध्यापक को विद्यालय में शैक्षिक एवं पाठ्येतर क्रियाओं के अतिरिक्त अनेक हिसाब-किताब करने तथा विवरण आदि लिखने का काम करना पढ़ता है जैसे :—

(१) साप्ताहिक डायरी (२) छात्रों की उपस्थिति का रजिस्टर जिसमें प्रत्येक महीने में प्रत्येक बालक की उपस्थिति गिनकर उसकी रिपोर्ट देनी पड़ती है। छात्रों के मासिक शुल्क का भी हिसाब इसी में लिखना पड़ता है। (३) परीक्षा-फल का रजिस्टर (४) छात्रों के प्रवेश-पत्र तथा विद्यालय छोड़ने का विवरण (५) छात्रों के विवरण-पत्र तथा उनके आचरण एवं व्यवहार सम्बन्धी टिप्पणियाँ (६) प्रधानाध्यापक द्वारा विद्यालय की व्यवस्था के सम्बन्ध में सौंपे गये अन्य कार्यों का विवरण अथवा लिखना-पढ़ना। अध्यापक को ये कार्य भी नियमित रूप से और सावधानी से करना चाहिये। रुपये-पैसे वाले काम में उसे विशेष सतर्कता और सावधानी बरतनी चाहिए।

(५) अध्यापक और विद्यालय का अनुशासन—अध्यापक की जीवन शैली का, उसके आचरण और व्यवहार का छात्रों पर बहुत प्रभाव पड़ता है। अतः अध्यापक को छात्रों के सम्मुख अपने आचार-विचार द्वारा ऐसा आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए कि छात्रों में अनुशासन की भावना अपने आप प्रादुर्भूत हो जाय। छात्रों को अनुशासित और विनय सम्पन्न बनाने के लिए अध्यापक को स्वयं भी अनुशासित, विनय सम्पन्न और मर्यादापूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहिए। उसे नियमों का पालन करना चाहिए और यथावसर छात्रों में भी नियमों के पालन की भावना भरनी चाहिए।

छात्रों के साथ अध्यापक का संबंध केवल कक्षा में ही नहीं, बल्कि विद्यालय के अन्य क्रिया-कलापों में भी रहता है अतः उन सभी कार्यों में अनुशासन का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। जिन पाठ्येतर क्रियाओं का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, उन सभी में मर्यादा-पालन होना चाहिए।

अध्यापक को छात्रों द्वारा अनुशासन के पालन में दृढ़ता का परिचय देना चाहिए। उन्हें कभी भी अनुशासनहीनता का अवसर नहीं देना चाहिए और न उनके प्रति ढिलाई करनी चाहिए। अनुशासन के लिए उचित पुरस्कार अथवा दंड का भी आश्रय लेना चाहिए।

छात्रों में अपने विद्यालय के प्रति सम्मान की भावना भरकर उन्हें अनुशासन प्रिय बनाने का प्रयत्न अध्यापक की ओर से होना चाहिए। छात्र अपनी शिक्षा संस्था के प्रति गर्व का अनुभव करें, उसके सम्मुख श्रद्धावनत होकर रहें, उससे अपने को उपकृत तथा ऋणी समझें और इस सरस्वती के मंदिर में सात्त्विक भावना लेकर उपस्थित हों। विद्यालय में ऐसे वातावरण का निर्माण और छात्रों के हृदय में ऐसी भावनाओं की उद्भावना अध्यापक का एक पवित्र कर्त्तव्य है और इसके निर्वाह से ही सच्चे अनुशासन की स्थापना संभव है।

(६) अध्यापक और विद्यार्थी—विद्यार्थियों के सर्वांगीण विकास का उत्तरदायित्व अध्यापक पर है। वही सच्चे अर्थों में विद्यार्थियों के भावी जीवन का निर्माता है। अतः विद्यार्थियों के साथ अध्यापक का बहुत ही घनिष्ठ संबंध है। यद्यपि आजकल कक्षा में विद्यार्थियों की अधिक संख्या हो जाने के कारण अध्यापक का उनसे जिस प्रकार का व्यक्तिगत संबंध स्थापित होना चाहिए वैसा नहीं हो पाता और ऐसी स्थिति पायी जाती है कि अध्यापक अपने अनेक विद्यार्थियों से बिल्कुल ही परिचित नहीं रहता; पर यह स्थिति ठीक नहीं है। कुछ अध्यापक

जानबूझकर विद्यार्थियों के प्रति निरपेक्ष भाव बनाये रखते हैं और समझते हैं कि इससे छात्रों पर नियंत्रण बना रहेगा। यह भावना भी ठीक नहीं। वस्तुतः विद्यार्थियों से पूर्ण परिचय और उनसे निकट सम्पर्क बनाये रखते हुए भी अध्यापक उनकी श्रद्धा का पात्र जब बना रहे, तभी उसकी योग्यता और दक्षता सराहनीय समझी जा सकती है। बालक से पूर्ण परिचय का अर्थ है उसकी मानसिक और बौद्धिक योग्यता, क्षमता, शक्ति, सामर्थ्य और रुचियों से भी अवगत होना। अध्यापक नाना विधि से इन बातों का परिचय प्राप्त कर सकता है। अच्छा तो यह होगा कि अध्यापक सभी का योग्यता संबंधी विवरण लिखित रूप में अपने पास रखे।

अध्यापक को छात्रों के साथ केवल कक्षा के परिचय मात्र से ही संतुष्ट न होकर पाठ्येतर क्रियाओं के द्वारा भी व्यक्तिगत परिचय करना चाहिए। प्रायः देखा जाता है कि कुछ विद्यार्थी कक्षा के अध्ययनात्मक अथवा बौद्धिक कार्यों में उतने सफल नहीं होते पर अन्य पाठ्येतर क्रियाओं में बड़े कुशल होते हैं। अध्यापक को चाहिए कि छात्रों की इन अभिरुचियों एवं कुशलताओं को प्रोत्साहित करे और उनका पथ-प्रदर्शन करे। इधर व्यावहारिक मनोविज्ञान के विकास से अच्छे विद्यालयों में पथ-प्रदर्शन सेवाओं की योजना भी शुरू हो गई है और इसके लिए विशेष प्रशिक्षित मनोवैज्ञानिक की नियुक्ति भी होने लगी है। वह छात्रों का शैक्षिक, व्यावसायिक तथा भावात्मक पथ-प्रदर्शन करता है।

अध्यापक छात्रों की व्यक्तिगत कठिनाइयों तथा सुख-सुविधाओं के ध्यान द्वारा भी उनसे अपना संबंध सुदृढ़ कर सकता है। छात्रों के पारिवारिक जीवन से भी अध्यापक को परिचित रहना चाहिए। उनकी शैक्षिक कठिनाइयों को यथासम्भव दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

छात्रों के साथ निकट सम्पर्क स्थापित करने के लिए एक उपाय यह है कि प्रत्येक अध्यापक के संरक्षण में एक निश्चित क्षेत्र के बालक बाँट दिये जाते हैं और उनकी देखभाल वह अध्यापक करता रहता है। इससे छात्रों के अभिभावकों से भी सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और विद्यार्थियों पर अध्यापक का प्रभाव बना रहता है। विद्यार्थी भी आवश्यकता पड़ने पर अपने संरक्षक अध्यापक के घर जाकर अपनी कठिनाइयों का निवारण कर लेते हैं।

विद्यार्थी के साथ सम्पर्क स्थापन में अध्यापक को सदा इस बात का स्मरण रखना है कि वह विद्यार्थी के जीवन का निर्माता है और उसके आचार-विचार से विद्यार्थी प्रेरणा ग्रहण करता है। अतः सदा ही उसे एक आदर्श शिक्षक के रूप

में रहना चाहिए। यदि उसमें स्वयं ही आलस्य, प्रमाद, निष्कर्मण्यता, नियमों की अवहेलना आदि दोष होंगे और शिष्टाचार तथा सदाचार का अभाव होगा तो छात्रों के लाभ की जगह हानि की ही सम्भावना है।

(७) अध्यापक और प्रधानाध्यापक—विद्यालय की प्रगति इन दोनों की कर्त्तव्य परायणता पर निर्भर है। आजकल विद्यालयों में प्रधानाध्यापक तथा अध्यापकों में प्रायः अच्छे सम्बन्ध नहीं रहते। प्रधानाध्यापक जब अपने को विद्यालय का एक निरंकुश स्वामी अथवा एकछत्र शासक समझने लगता है तो अध्यापक असन्तुष्ट रहते हैं। दूसरी ओर कुछ अध्यापक भी दलबन्दी द्वारा कुछ न कुछ षड्यन्त्र करते रहते हैं। वस्तुतः दोनों को ही सहयोग और सौहार्द से काम लेना चाहिए। अध्यापकों में परस्पर एकता तो रहनी चाहिए किन्तु उनकी एकता रचनात्मक दृष्टि से हो। उन्हें प्रधानाध्यापक के आदेशों का अवश्य पालन करना चाहिए और यदि कोई आदेश उचित नहीं है, तो उसके सम्बन्ध में शान्ति से अपने विचार प्रधानाध्यापक के सम्मुख उपस्थित करना चाहिए। विचार-विमर्श से ही सब बातें निश्चित होनी चाहिए। आदेशों की अवहेलना से पूरे विद्यालय का वातावरण उच्छृंखल-सा हो उठता है। अतः प्रधानाध्यापक के साथ सदा सहयोग की ही नीति अपनानी चाहिए।

(८) अध्यापक और समाज—अध्यापक ही समाज और विद्यालय के बीच की कड़ी है। समाज और विद्यालय के बीच सुदृढ़ सम्बन्ध स्थापन में वह जितना उपयोगी सिद्ध हो सकता है उतना कोई नहीं। वह समाज का एक मान्य नेता होता है। ऐसी स्थिति में समाज के प्रति अध्यापक के कुछ कर्त्तव्य अनिवार्य से हो जाते हैं। इस दृष्टि से पहला कर्त्तव्य है समाज-सेवा। अध्यापक जितना भी समय दे सके, समाज-सेवा में लगाये। सामाजिक कुरीतियों को दूर करने और समाज को सुशिक्षित बनाने का प्रयत्न करे, पिछड़े हुए लोगों में स्वच्छता, निरक्षरता-निवारण, चिकित्सा, अछूतोद्धार, श्रमदान आदि के लिए कार्य करे और सभ्य तथा सुसंस्कृत जीवन-यापन के लिए पथ-प्रदर्शन करे।

अध्यापक विद्यालय के विविध सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्रियाकलापों द्वारा समाज का नेतृत्व कर सकता है। वह सामाजिक समस्याओं के समाधान में योग प्रदान कर सकता है और स्थानीय राजनैतिक कटुता को अपनी सेवावृत्ति, त्याग और निःस्वार्थ की भावना से दूर कर सकता है। समाज को रचनात्मक कार्यों में लगाकर वह सामाजिक विषमता और कलह को शान्त कर सकता है। सामाजिक कार्यों में भाग लेने में अध्यापक को इस बात का ध्यान रखना चाहिए

कि वह स्वयं सामाजिक विषमताओं के जाल और अपने स्वार्थों की सिद्धि में लिप्त न हो जाय। उसे सदा ही अपने नैतिक आदर्शों का सम्बल लेकर ही सामाजिक कार्यों में और समाज-सेवा में संलग्न होना चाहिए।

(६) शिक्षकों में सहयोग-भावना—विद्यालय की सफलता के लिए शिक्षकों का आपस का सहयोग सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि विद्यालय के अहर्निश सम्पर्क में और कार्य सम्पादन में वही संलग्न रहते हैं। जिस विद्यालय में शिक्षक मण्डल बिखरा हुआ और परस्पर कटुता तथा भेद-भाव से ग्रस्त रहता है वहाँ की स्थिति कभी भी सुधर नहीं सकती। सभी अध्यापकों का यह कर्त्तव्य है कि वे एक दूसरे की सहायता करें, विद्यालय के समस्त कार्य को अपना कार्य समझ, एक दूसरे की कठिनाइयों को दूर करने का प्रयत्न करें और आपस में समय-समय पर उठ खड़ी होने वाली समस्याओं का सद्भावना के साथ मिल-जुल कर समाधान कर लें।

सभी शिक्षकों को विद्यालय के उत्कर्ष में एकदलीय भावना के साथ जुटे रहना चाहिए। उन्हें समझना चाहिए कि वे सभी निश्चित उद्देश्य की पूर्ति में संलग्न हैं। एक दूसरे की निन्दा की बात सोचनी नहीं चाहिए। परस्पर यदि कोई मनोमालिन्य है, तो उसका निपटारा भी विवेकपूर्ण ढङ्ग से तत्काल ही कर लेना चाहिए। उसे बैर का रूप नहीं धारण करने देना चाहिए।

शिक्षकों का प्रशिक्षण

कुछ लोगों का कथन है कि कवि और कलाकार की भाँति शिक्षण की प्रतिभा भी जन्मजात होती है। यह एक नैसर्गिक गुण है जो सब को प्राप्त नहीं होता। अतः प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं। पहले यह धारणा अधिक प्रचलित थी। किन्तु अब लोग प्रशिक्षण का महत्त्व समझने लगे हैं। सार्वजनिक शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार से अधिकाधिक शिक्षकों की आवश्यकता पड़ती जा रही है। इन्हें कुशल शिक्षक बनाने के लिए शिक्षणकार्य एवं विधि से परिचित करना आवश्यक है। शिक्षण एक कला है, वह एक प्रयोग है। जिस प्रकार अन्य कलाओं में पारंगत होने के लिए प्रतिभा के साथ-साथ अध्ययन, प्रयोग और अभ्यास की आवश्यकता पड़ती है और उस कार्य की समस्त गतिविधि से परिचित होना पड़ता है उसी प्रकार शिक्षण कार्य के लिए भी प्रशिक्षित होना आवश्यक है। इधर नवीन मनोवैज्ञानिक एवं वैज्ञानिक अनुसंधानों ने शिक्षण कार्य में अनेक नवीन प्रणालियों

और प्रयोगों को जन्म दिया है, जिनसे परिचित होने के लिए भी शिक्षकों का प्रशिक्षण आवश्यक है। सेकेण्डरी एजुकेशन कमीशन ने शिक्षकों के प्रशिक्षण पर बहुत बल दिया है। प्रशिक्षित शिक्षक ही छात्रों में उचित रीति से शिक्षा के प्रति उत्कण्ठा जागरित कर सकता है और उन्हें स्वयं शिक्षा प्राप्त करने की विधि से परिचित करने में सफल होता है।

सारांश

शिक्षा की योजना में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान शिक्षक का है। विद्यार्थियों के बौद्धिक एवं चारित्रिक उत्कर्ष का दायित्व उसी पर है। शिक्षालय और समाज का सम्यक् संबंध उन्हीं के द्वारा स्थापित रह सकता है। विद्यालय की संपूर्ण व्यवस्था के आधार स्तम्भ शिक्षक ही हैं। शिक्षक के मुख्य गुण हैं—ज्ञान एवं अध्यवसाय, बालक की प्रकृति का अध्ययन, शिक्षण कला से परिचय, उपयुक्त ध्वनि तथा वर्णन शैली, व्यावहारिक कुशलता, नियंत्रण शक्ति, उत्तम व्यक्तित्व, अध्यापन कार्य के प्रति रुचि, निष्ठा, शक्ति और सामर्थ्य, चरित्र तथा नैतिकता, सामाजिकता। शिक्षक के कर्त्तव्य—शैक्षिक कार्य, शोध कार्य एवं नवीन शिक्षण प्रयोग, पाठ्येतर क्रियाओं का आयोजन, विद्यालय में अनुशासन स्थापन, छात्रों के साथ संपर्क, प्रधानाध्यापक से सहयोग, सामाजिक संबंध तथा परस्पर सहयोग की भावना। इन सभी कर्त्तव्यों की पूर्ति के लिए शिक्षकों का प्रशिक्षण आवश्यक है।

प्रश्न

१—"शिक्षा-योजना की सम्पन्नता और सफलता शिक्षकों पर निर्भर है।" इस कथन की सम्यक् विवेचना कीजिए।

२—आधुनिक शिक्षण कला के विकास को देखते हुए शिक्षक के लिए किन-किन गुणों का होना आवश्यक है?

३—शिक्षक के प्रमुख कर्त्तव्यों पर विवेचनात्मक प्रकाश डालिए।

अध्याय ४

पाठ्यक्रम

[पाठ्यक्रम का महत्व; एक संक्षिप्त ऐतिहासिक सिंहावलोकन, पाठ्यक्रम का अर्थ और प्रयोजन, वर्तमान पाठ्यक्रम के दोष, पाठ्यक्रम-सामग्री तथा उसके स्रोत, पाठ्यक्रम रचना के सिद्धान्त, पाठ्य विषयों का संगठन, पाठ्यक्रम के प्रकार, विविध स्तरों के लिए उपयुक्त पाठ्यक्रम, पाठ्य विषयों का क्रमायोजन]

"The Curriculum is the tool in the hands of the artist (The teacher) to mould his material (the pupil) according to his ideal (objective) in his studio (the school)".

—*Cunninghum.*

पाठ्यक्रम का महत्व

पाठ्यक्रम कलाकार (शिक्षक) के हाथ की वह तूलिका है जिससे वह अपने कला-मन्दिर (शिक्षालय) में अपनी सामग्री (शिक्षार्थी) को अपने आदर्शों (शिक्षा के उद्देश्यों) के अनुरूप निरूपित करता है।[1] कनिंघम के इस कथन से स्पष्ट है कि बालक के निर्माण की दृष्टि से पाठ्यक्रम का कितना अधिक महत्त्व है। बालक की रचना और उसके भावी विकास का रूप बहुत कुछ पाठ्यक्रम पर निर्भर है। विद्यालय के समस्त कार्यों का आधार पाठ्यक्रम ही है। इसीलिए शिक्षा-विदों ने पाठ्यक्रम को शैक्षिक विधान का प्राण माना है।

शिक्षा की योजना निर्धारित करते समय सर्वप्रथम यही समस्या उपस्थित होती है कि बालक को क्या सीखना है और उसके जीवन के लिए क्या-क्या विषय अथवा ज्ञान उपयोगी हैं। इसी दृष्टि से पाठ्यक्रम का निर्धारण किया जाता है। अतः इस बात में कोई संदेह नहीं कि पाठ्यक्रम बालक की शिक्षा का प्रमुख साधन है।

पाठ्यक्रम का महत्त्व इस बात से भी समझा जा सकता है कि आधुनिक शिक्षा-सिद्धांतों के विकास के पूर्व पाठ्यक्रम ही शिक्षा का केन्द्र था। उस समय बालक की

1. The Pivotal Problems of Education, P. 281

अपेक्षा पाठ्यक्रम को अधिक महत्त्व प्रदान किया जाता था। आधुनिक विचारों के फलस्वरूप शिक्षा पाठ्यक्रम केन्द्रित न होकर बाल-केन्द्रित हो गई है। बालक की प्रकृति, शक्ति, रुचि और आवश्यकताओं को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है। किन्तु इससे पाठ्यक्रम की उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि उसके अभाव में बालक की शिक्षा ही सम्भव नहीं है। अन्तर इतना ही है कि पहले 'पाठ्यक्रम' ही साध्य-सा बना हुआ था, पर अब वह बालक की शिक्षा एवं उसके विकास का साधन बन गया है। साधन के बिना साध्य की सिद्धि कैसे सम्भव हो सकती है? अतः शिक्षा की प्रक्रिया में पाठ्यक्रम का महत्त्व किसी भी प्रकार कम नहीं हो सकता।

शिक्षालय संगठन की दृष्टि से पाठ्यक्रम का महत्त्व बहुत ही अधिक है। पाठ्यक्रम को दृष्टि में रखकर ही शिक्षकों की नियुक्ति करते हैं तथा शिक्षण की योजना और समय-सारिणी बनाते हैं। विद्यालय-भवन, कक्षाओं, प्रयोगशालाओं, पुस्तकालय तथा शिक्षणोपयोगी उपकरणों की भी व्यवस्था उसी के अनुसार की जाती है। समस्त शिक्षण एवं परीक्षण कार्य पाठ्यक्रम के ही आधार पर होते हैं। विद्यालय के समस्त कार्यों का अभियोजन (एडजस्टमेन्ट) और समायोजन (कोआर्डिनेशन) भी इसी पर निर्भर है। इसके अभाव में विद्यालय की कोई भी व्यवस्था सुचारु रूप से नहीं चल सकती।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि पाठ्यक्रम शिक्षा एवं शिक्षालय संगठन का एक अपरिहार्य साधन है और उसकी रचना की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। इसी कारण इस सम्बन्ध में अनेक मत प्रतिपादित किये जाते हैं।

एक संक्षिप्त ऐतिहासिक सिंहावलोकन

शिक्षा के प्राचीन इतिहास पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि शिक्षा का आधार पाठ्यक्रम ही रहा है और इसका जन्म या उद्भव तत्कालीन जीवन के क्रिया-कलापों के आधार पर हुआ है। चाहे हम प्राचीन भारतीय शिक्षा को लें अथवा चीनी शिक्षा को, यूनानी शिक्षा को लें अथवा रोमन शिक्षा को, सभी जगह जन-जीवन के दैनिक क्रिया-कलापों से ही पाठ्यक्रम की उत्पत्ति हुई है। इसीलिए उसे व्यावहारिक पाठ्यक्रम (फंक्शनल करिक्यूलम) की संज्ञा दी गई है। बालक को बड़ा होने पर जिस प्रकार के कार्य सम्पन्न करने होते थे, उन्हीं को पाठ्यक्रम के रूप में स्थान दिया जाता था। भावी शिल्पी को शिल्प की शिक्षा लेनी होती थी तो योद्धा

को युद्ध शास्त्र की, तथा पुरोहित को पूजा और कर्मकाण्ड की। पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में यह व्यावहारिक आधार ही सबसे पहले हम शिक्षा के क्षेत्र में व्यवहृत होते हुए देखते हैं। एक बार स्पार्टा के नरेश एजिसिलॉस (Agesilaus) से पूछा गया कि बच्चों के लिए क्या सीखना सर्वोपयुक्त है तो उसका संक्षिप्त उत्तर यही था कि "वयस्क होने पर जो कार्य उन्हें करना है।" यही विचार उस समय पाठ्यक्रम का आधार था। यूरोपीय सभ्यता एवं संस्कृति के प्राचीन केन्द्र यूनान के शिक्षा दार्शनिकों ने बौद्धिक दृष्टि से कुछ प्रमुख शैक्षिक विषयों की उद्भावना अवश्य की, किन्तु उन्होंने भी व्यावहारिक पाठ्यक्रम की ही योजना बनाई थी जिसमें जीवन के बौद्धिक, शारीरिक, नैतिक और सौन्दर्यात्मक पक्षों का अपूर्व समन्वय पाया जाता है।

बौद्धिक दृष्टि से प्राचीन यूनान के पाठ्यक्रम में तीन विषय (Trivium)—व्याकरण (ग्रामर), साहित्यशास्त्र (रिटारिक) तथा तर्क शास्त्र (लाजिक) रखे गये थे। प्लेटो ने तर्क शास्त्र अथवा तत्व विज्ञान (डायलेक्टिक्स) को पाठ्यक्रम का आधार माना था क्योंकि उसका विचार था कि किसी भी सत्य के ज्ञानात्मक बोध के लिए यही मूल शास्त्र है। प्राचीन यूनान के बौद्धिक पाठ्यक्रम (इंटेलेक्चुअल करिक्यूलम) का जो दूसरा रूप है उसमें चार विषय (Quadrivium) गणित, ज्योमेट्री, खगोल-शास्त्र अथवा ज्योतिष शास्त्र और संगीत थे। इसमें गणित का सबसे अधिक महत्त्व था। पाइथागोरस (५८० से ५०० ई० पू०) ने दूसरे विज्ञानों—भूगोल, पदार्थ विज्ञान और चिकित्सा-शास्त्र को भी शामिल करने का प्रयास किया पर इन्हें उचित स्थान नहीं मिल सका। पाठ्यक्रम में शारीरिक शिक्षा का भी स्थान आवश्यक था। यूनानी लोग शारीरिक शिक्षा को मानसिक शिक्षा से कुछ हीन मानते हुए भी शारीरिक शिक्षा के बड़े समर्थक थे। यूनानियों ने बौद्धिक और शारीरिक के साथ-साथ सौन्दर्यबोधात्मक (aesthetic) तथा नैतिक शिक्षा के लिए भी पाठ्यक्रम में स्थान प्रदान किया था। इस पाठ्यक्रम में व्यावसायिक अथवा कला-कौशल की शिक्षा का सर्वथा अभाव था और प्लेटो के 'रिपब्लिक' में कला-कौशल के प्रति एक तिरस्कार की ही भावना पाई जाती थी क्योंकि इस कार्य का सम्बन्ध दासों से था।[1] रोमन पाठ्यक्रम बहुत कुछ यूनानी पाठ्यक्रम के ही अनुकरण पर था। पर उन लोगों ने ग्रीक भाषा के साथ अपनी भाषा की शिक्षा भी जोड़ दी थी जिससे उनके पाठ्यक्रम में दो भाषाओं की शिक्षा का समावेश हुआ। यह पाठ्यक्रम परम्परागत (ट्रेडिशनल) अथवा विषय प्रधान पाठ्यक्रम (सबजेक्ट मैटर करिक्यूलम) के नाम से प्रचलित था।

---

1. *Brubacher*—A History of the Problems of Education. Pp. 253-254.

संक्षेप में पाठ्यक्रम का प्रारम्भिक रूप यही है। इसके बाद उसका क्रमिक विकास होता रहा। मानव ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ नवीन विषयों का आविर्भाव होता रहा और जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शिक्षा में इन्हें स्थान मिलता गया। पाठ्यक्रम की उस प्रारम्भिक अवस्था से लेकर हम किस प्रकार वर्त्तमान 'कोर करिक्यूलम' अथवा ड्यूवी के 'अनुबन्धित (इंटिग्रेटेड) पाठ्यक्रम' तक पहुँचे, इसके इतिहास की यहां आवश्यकता नहीं है। पर इतना कहना आवश्यक है कि विविध शिक्षा-दर्शनों—मानववाद, आदर्शवाद, प्रकृतिवाद तथा यथार्थवाद आदि के विकास का प्रभाव पाठ्यक्रम पर भी पड़ता गया। प्रसिद्ध शिक्षा विशेषज्ञ हर्बार्ट ने विविध विषयों की एकता और उनमें समन्वय स्थापन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। फिर बाल-केन्द्रित पाठ्यकम (चाइल्ड सेन्टर्ड करिक्यूलम) अथवा प्रसिद्ध शिक्षाविद जॉन ड्यूवी द्वारा प्रतिपादित क्रियात्मक पाठ्यक्रम (एक्टिविटी करिक्यूलम) का विकास हुआ। अब पाठ्यक्रम की रचना में बालक के विकास और जीवन एवं समाज की आवश्यकता की पूर्त्ति, उसकी प्रकृति, शक्ति, क्रियाशीलता, स्वभाव, रुचि आदि का विशेष ध्यान रखा जाता है और इनके अनुसार ही शिक्षा के विविध विषयों का निर्धारण किया जाता है।

पाठ्यक्रम के इस नवीन स्वरूप के प्रतिपादन से शिक्षा के क्षेत्र में एक नवीन क्रान्ति हो गई है। अभी कुछ दिनों पूर्व तक तो पाठ्यक्रम के परम्परागत रूप और नवीन बाल-केन्द्रित व्यावहारिक रूप में काफी वाद-विवाद चलता रहा। पर अब यह विवाद समाप्त हो चुका है और नवीन रूप ही सर्वमान्य-सा है।

पाठ्यक्रम, उसका अर्थ और प्रयोजन

सामान्य रूप से कक्षाओं में पढ़ाये जाने वाले विषयों से ही पाठ्यक्रम का अर्थ लिया जाता है, किन्तु शिक्षा-सिद्धान्तों के निरन्तर विकास तथा पाठ्यक्रम के परिवर्तित रूपों के कारण पाठ्यक्रम की एक निश्चित परिभाषा प्रस्तुत करना सरल नहीं है। कुछ विद्वानों ने इस पर 'मानसिक अनुशासन' (मेन्टल डिसिप्लिन) तथा 'सामाजिक दृष्टि से उपयोगी आदतों (सोशली यूजफुल हैबिट्स)' के रूप में विचार किया है किन्तु यह पाठ्यक्रम का सैद्धान्तिक अथवा दार्शनिक पक्ष है। फिर प्रश्न यह उठता है कि पाठ्यक्रम की रचना का आधार क्या हो? सामाजिक रचना के तत्व, राज्य के स्वरूप, जीवन का निर्माण, मानव-प्रकृति का सिद्धान्त, शिक्षा के उद्देश्य, मनुष्य के सीखने की विधि आदि अनेक आधार-तत्व पाठ्यक्रम की रचना के सम्बन्ध में प्रस्तुत किये जाते हैं।[1]

1. *Brubacher*—A History of the Problems of Education. P. 249.

पाठ्यक्रम का अंग्रेजी शब्द करीक्यूलम लैटिन भाषा से लिया गया है जिसका अर्थ है दौड़ का मार्ग (Race-course) अर्थात् शिक्षा में पढ़े जाने वाले पाठ्य विषयों की श्रृङ्खला को हम पाठ्यक्रम कह सकते हैं। उस दौड़-पथ को पार करके ही हम शिक्षा की मंजिल पार करते हैं। किन्तु इस दृष्टि से विद्यालय में शिक्षा के लिए निर्वाचित कुछ विषयों को ही पाठ्यक्रम की संज्ञा प्रदान कर देना पाठ्यक्रम का एक संकीर्ण अर्थ है। आधुनिक शिक्षा-विशेषज्ञों के अनुसार पाठ्यक्रम का तात्पर्य उन वास्तविक अनुभवों से लिया जाता है जिनका चयन और संगठन बालक के जीवन को सुसम्पन्न बनाने के लिए किया जाता है। विद्यालय के संरक्षण और पथ-प्रदर्शन में प्राप्त होने वाले बालक के समस्त अनुभव पाठ्यक्रम के अन्तर्गत आ जाते हैं। पाठ्यक्रम केवल पाठ्य-विषयों, पाठ्य-पुस्तकों तथा अध्ययन-सामग्री तक ही सीमित नहीं है। उसका क्षेत्र इनसे कहीं अधिक व्यापक है। विद्यालय का सम्पूर्ण जीवन ही पाठ्यक्रम है। पाठ्यक्रम में बालक के समस्त अनुभव, जिन्हें वह कक्षा में अथवा बाहर विभिन्न विषयों के शिक्षण द्वारा प्राप्त करता है, अन्य पाठ्येतर क्रियाओं द्वारा प्राप्त करता है, पुस्तकालय और वाचनालय से प्राप्त करता है, गोष्ठियों तथा सभाओं से प्राप्त करता है, खेल-कूद से प्राप्त करता है—सभी समाहित हैं।[1] वस्तुतः पाठ्यक्रम वह साधन है जिसके द्वारा बालक वातावरण से अपने को अभियोजित करता है। इसका उद्भव भी बालक के तात्कालिक जीवन की क्रियाओं से होता है। जीवन की इन क्रियाओं की मीमांसा सरल कार्य नहीं है और न उन्हें विविध विषयों—गणित, इतिहास, विज्ञान आदि के रूप में सरलता से वितरित ही किया जा सकता है। इसी कारण अब "परम्परागत विषय प्रधान पाठ्यक्रम" का विरोध किया जाता है। वस्तुतः बालक के अनुभव को ही सर्वोत्तम शिक्षक माना जाता है और यही तथ्य पाठ्यक्रम के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण प्रदान करता है।

शिक्षा का उद्देश्य बालक का सर्वाङ्गीण विकास माना जाता है। पाठ्यक्रम बालक की शिक्षा का प्रमुख साधन है। पाठ्यक्रम का अर्थ उन क्रियाओं से लिया जाता है जिनसे बालक का सर्वाङ्गीण विकास हो सके। अतः केवल बौद्धिक शिक्षा की दृष्टि से निर्वाचित कुछ विषयों को ही पाठ्यक्रम की संज्ञा प्रदान करना भूल है। बालक के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और सांस्कृतिक आदि समस्त

---

1. "Curriculum does not mean only the academic subjects traditionally taught in the school but it includes the totality of experiences that pupil receives through the manifold activities that go on in the school, in the class room, library, laboratory, workshop, playground and in the numerous informal contacts between teachers and pupils." Secondary Education Committee Report, P. 80.

गुणों के उत्कर्ष की दृष्टि से आयोजित सभी क्रियाएँ पाठ्यक्रम के अन्तर्गत आ जाती हैं। कनिंघम ने पाठ्यक्रम को ऐसी क्रियाओं का सिलसिला माना है जिन्हें पुरानी पीढ़ी आगत पीढ़ी के लिए इसलिए आयोजित करती है कि उनके माध्यम से बालकों का विकास समाज के आदर्श व्यक्तियों के रूप में होगा।[1]

बाल-केन्द्रित अथवा क्रियात्मक पाठ्यक्रम की नवीन विचार धारा के महान् प्रतिपादक ड्यूवी के अनुसार पाठ्यक्रम बालक की क्रियाओं का सतत प्रवाह है, व्यवस्थित विषय-सामग्री द्वारा जिसकी शृंखला बनी रहती है और उसका स्रोत बालक की रुचि तथा उसकी स्वानुभूत आवश्यकताएँ ही होती हैं।[2] इस नवीन दृष्टिकोण से अब परम्परागत शैक्षिक विषयों का स्वरूप बदल गया है। कक्षा-शिक्षण के साथ-साथ अब अनेक नवीन कार्य-योजना—वाद-विवाद, विचार-गोष्ठी, प्रयोगशालाओं में शोध एवं प्रयोगात्मक कार्य, श्रव्य-दृश्योपकरणों का प्रयोग, चित्रपट, रंगशालाएँ तथा अभिनय, वाचनालय, पुस्तकालय, खेल-कूद तथा अन्य सामाजिक एवं सांस्कृतिक आयोजन—का समावेश किया जाता है। इस प्रकार पाठ्यक्रम जीवन की आवश्यकताओं, क्रियाओं एवं अनुभवों का ही समवाय है। ई० ए० क्रूग ने पाठ्यक्रम योजना (Curriculum Planning) में पाँच प्रकार की सहगामी क्रियाओं का उल्लेख किया है :—

(१) विद्यालय के विविध कार्यों का परिचय और परिभाषा; (२) संपूर्ण विद्यालय योजना का विकास, (३) शिक्षण तथा कार्य-क्रम के अन्य पक्षों की रूप रेखा, (४) शिक्षकों की विशेष सहायता तथा (५) अध्यापन और अध्ययन पर बल प्रदान करना। इससे हम समझ सकते हैं कि आज पाठ्यक्रम का अर्थ और तात्पर्य कितना व्यापक हो गया है।

वर्तमान पाठ्यक्रम के दोष

यद्यपि पाठ्यक्रम निर्धारण के आधुनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन बहुत दिन से किया जा रहा है, किन्तु उनका समुचित रूप से पालन करने में हम अभी तव

1. "It (Curriculum) is a series of activities the older generatio plans for the younger generation with the hope that throug carrying on these activities young pupil will grow into the kin of men and women that society, of which they are to be member holds as its ideals." The Pivotal Problems of Education, P. 28

2. Curriculum is the "Continuing stream of child activities, unbroke by systematic subject and springing from the interests an personally felt needs of the child."

असफल ही रहे हैं। व्यवहार में अभी बहुत कुछ परम्परागत पाठ्यक्रम का ही अनुगमन हम करते जा रहे हैं जो आज के वैज्ञानिक शैक्षिक दृष्टिकोण को देखते हुए बहुत ही दोषपूर्ण है। 'सेकेंड्री एजूकेशन कमीशन' के अनुसार वर्तमान पाठ्यक्रम के दोष निम्नलिखित हैं[1]—

(१) पाठ्यक्रम अत्यन्त संकीर्ण है[2]—माध्यमिक शिक्षा का वर्तमान पाठ्यक्रम बहुत ही संकीर्ण है। इसका एकमात्र उद्देश्य छात्रों को विश्वविद्यालय में प्रवेश पाने के लिए तैयार करना है। इसका स्वयं न तो कोई निश्चित लक्ष्य है और न वह अपने आप में पूर्ण ही है। इस प्रकार यह पाठ्यक्रम विश्वविद्यालयीय शिक्षा के लिए एक उपक्रम मात्र रह जाता है और विद्यार्थी अन्धकार में पड़े हुए निरुद्देश्य ही इस शिक्षा को ग्रहण करते रहते हैं।

(२) पुस्तकीय तथा सैद्धान्तिक[3]—माध्यमिक शिक्षा का वर्तमान पाठ्यक्रम पुस्तकीय मात्र है। उससे बालकों को जो ज्ञान प्राप्त होता है वह सैद्धांतिक रूप में ही प्राप्त होता है। उसे वे व्यवहृत करने में असमर्थ से बने रहते हैं। विश्वविद्यालयीय शिक्षा का एक उपक्रम होने के कारण माध्यमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम भी उसी के अनुरूप बना हुआ है और जो विषय विश्वविद्यालय में पढ़ने हैं, वही विषय यहाँ रख दिये जाते हैं।[4] इससे यह पाठ्यक्रम अवांछित रूप से पुस्तकीय और अव्यावहारिक हो जाता है।

(३) अत्यधिक विषय[5]—इस पाठ्यक्रम में विषयों की अधिकता भी एक मुख्य दोष है। छात्रों को ऐसे भी विषय पढ़ने पड़ते हैं जिनका उनके जीवन में कोई उपयोग नहीं। विषय का शिक्षण भी अनावश्यक विस्तार के साथ किया जाता है। परिणामतः उन्हें वे रट भर लेते हैं। ऐसी शिक्षा से बालकों के चिन्तन एवं तर्क शक्ति का विकास नहीं हो पाता।

विषयों की अधिकता के साथ-साथ इसमें यह भी दोष है कि इन विषयों में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है और प्रत्येक विषय एक दूसरे से अलग करके पढ़ाया जाता है। समन्वय अथवा अनुबन्ध का सिद्धान्त नहीं अपनाया जाता है।

---

1. Report of the Secondary Education Commission Ch. VI, Pp. 74-80
2. "The present curriculum is narrowly conceived."
3. "It is bookish and theoretical."
4. Secondary Education Commission—'Owning to the great influence that the College curriculum exercises over the secondary School curriculum the latter has become unduly bookish and theoretical.
5. "It is overcrowded, without providing rich and significant contents."

(४) व्यावहारिकता का अभाव[1]—पाठ्यक्रम में ऐसे विषयों एवं क्रियाओं को स्थान नहीं प्रदान किया गया है जिनसे बालक व्यावहारिक जीवन में सफल हो सकें। बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक विविध क्रियाओं को पाठ्यक्रम में स्थान देना आवश्यक है।

(५) किशोर छात्रों की आवश्यकता एवं रुचि विभिन्नता की उपेक्षा[2]—वर्तमान पाठ्यक्रम का एक प्रमुख दोष यह है कि किशोर बालकों की आवश्यकता, अभिरुचि और वैयक्तिक विभिन्नता का कोई ध्यान नहीं रखा गया है।

(६) परीक्षा की प्रधानता[3]—वर्तमान पाठ्यक्रम परीक्षा के भूत से आक्रान्त है। परीक्षा उत्तीर्ण करने की ही दृष्टि से सभी विषय रखे जाते हैं और पढ़ाये जाते हैं। इसका प्रभाव यह हुआ है कि परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाना ही शिक्षा का उद्देश्य बन गया है और इसी उद्देश्य को छात्र, अध्यापक तथा अभिभावक सभी अपने सामने रखते हैं।

(७) प्राविधिक तथा व्यावसायिक शिक्षा का अभाव[4]—यद्यपि माध्यमिक शिक्षा पर विचार करने के लिए नियुक्त सभी कमीशनों ने प्राविधिक (टेक्निकल) और व्यावसायिक (वोकेशनल) शिक्षा पर जोर दिया है फिर भी वर्तमान पाठ्यक्रम में इन विषयों को उचित स्थान नहीं प्रदान किया गया है। वर्तमान पाठ्यक्रम अधिकांशतः साहित्यिक बना हुआ है। परिणामतः माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद बालक चाहने पर भी आत्मनिर्भर नहीं बन पाते और उन्हें या तो बेकारी का सामना करना पड़ता है या विश्वविद्यालयीय शिक्षा ग्रहण करने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

उपर्युक्त दोषों के अतिरिक्त कुछ और भी दोष शिक्षाविदों ने गिनाये हैं जो इस प्रकार हैं :—

---

1. "It makes inadequate provision for practical and other activities which should reasonably find room in it, if it is to educate the whole of the personality."
2. "It does not cater to the various needs and capacities of the adolescents."
3. It is dominated too much by examinations."
4. "It does not include technical and vocational subjects which are so necessary for training the students to take part in the industrial and economic development of the country."

(क) पाठ्य सामग्री में कुछ पाठ्य-पुस्तकों मात्र का ही सहारा लिया जाता है। अतः रट्टू विद्यार्थियों को ही अधिक सफलता मिल पाती है।

(ख) विविध विषयों में कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता और वे पृथक्-पृथक, एक दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र रूप से पढ़ाये जाते हैं।

(ग) वास्तविक जीवन से पाठ्यक्रम का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। तात्कालिक आर्थिक और सामाजिक समस्याओं पर कोई विचार नहीं किया जाता और अपने चतुर्दिक सामाजिक गति-विधि से आँखें बन्द किये हुए हम कक्षा में अपना समय केवल वाग्जाल में ही व्यतीत करते रहते हैं।

(घ) बालक के विकास और वृद्धि के सिद्धान्तों तथा सीखने की विधियों का कोई ध्यान नहीं रखा जाता और न उनके आधार पर कक्षा का शिक्षण ही आयोजित किया जाता है।

(ङ) छात्रों का अपनी शिक्षा में कोई हाथ नहीं रहता और उनके शिक्षण की सारी योजना तथा कार्यक्रम शिक्षक द्वारा ही निर्धारित होता है। छात्रों को क्या पढ़ना है, कब पढ़ना है, कैसे पढ़ना है और उन्होंने पढ़कर प्रगति की है या नहीं, आदि सभी बातें उन्हें बाहर से बतायी जाती हैं, वे स्वयं कुछ भी निर्णय नहीं करते।

(च) शिक्षा को उपयोगी बनाने और जीवन प्रदान करने वाली क्रियाओं एवं योजनाओं के लिए कक्षा के घंटों में कोई अवसर नहीं मिल पाता। खेल, रचनात्मक कार्य, चित्रपट, परिभ्रमण आदि कार्यों के लिए इस पाठ्यक्रम में कोई स्थान नहीं।

(छ) पथ-प्रदर्शन (गाइडेन्स) के लिए कोई अवसर नहीं। अध्यापक और छात्र परस्पर सुपरिचित ही नहीं हो पाते जो प्रभावकारी पथप्रदर्शन के लिए बहुत ही आवश्यक है।

पाठ्यक्रम निर्माण के सिद्धान्त—जेम्स एस० रास का कथन है कि पाठ्यक्रम की दृष्टि से शिक्षा और दर्शन का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है और शिक्षा के इतिहास पर दृष्टिपात करने से भी स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा-दर्शन तथा शिक्षा के उद्देश्यों के अनुसार पाठ्यक्रम का रूप बदलता रहा है। जीवन दर्शन तथा सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक रचना एवं परिवर्तनों के अनुसार शिक्षा के उद्देश्यों में और तदनुरूप पाठ्यक्रम में भी परिवर्तन होता रहता है। अतः पाठ्यक्रम

निर्माण का कोई स्थिर एवं शाश्वत सिद्धान्त नहीं है बल्कि इसका आधार हमारा जीवन-दर्शन, देश-काल तथा अन्य सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियाँ हैं।

शिक्षा-दर्शनों की विभिन्नता से पाठ्यक्रम निर्माण सम्बन्धी अनेक सिद्धान्त प्रचलित हैं। प्रकृतिवादी शिक्षा विचारकों के अनुसार बालक की वर्तमान आवश्यकताएँ, रुचियाँ और क्रियाएँ ही पाठ्यक्रम का आधार हैं। उसे स्वतन्त्र वातावरण में स्वतन्त्र रूप से विकसित होने देना चाहिए। बालक को बालक (प्रौढ़ नहीं, बल्कि प्रौढ़ बनने के क्रम में है) मानकर ही उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व के निर्माण की दृष्टि से पाठ्यक्रम का निर्धारण होना चाहिए। उग्र प्रकृतिवादी स्पेन्सर ने जीवन की मूल आवश्यकताओं एवं क्रियाओं को दृष्टि में रखते हुए पाठ्यक्रम रचना का सुझाव प्रस्तुत किया है। उन आवश्यकताओं एवं क्रियाओं को भी वह महत्त्व के अनुसार क्रमायोजित करता है यथा—(१) आत्म-सुरक्षा, (२) परोक्ष रूप से आत्म-सुरक्षा में सहायता देने वाली क्रियाएँ, (३) संतति-पालन एवं शिक्षा-दीक्षा, (४) सामाजिक एवं राजनैतिक क्रियाएँ और (५) अवकाश का सदुपयोग (कविता एवं ललित कलाएँ)। अतः इन आवश्यकताओं और क्रियाओं को ध्यान में रखकर ही हमें पाठ्यक्रम में विविध विषयों को स्थान देना चाहिए।

आदर्शवादी शिक्षा-विचारक बालक की वर्तमान एवं भावी आवश्यकताओं की अपेक्षा विचारों एवं आदर्शों के आधार पर पाठ्य-क्रम की समस्या सुलझाते हैं। संपूर्ण मानव जाति द्वारा अर्जित अनुभव पाठयक्रम का प्रथम आधार होना चाहिये। बच्चों को पढ़ाये जाने वाले विषयों में मानव सभ्यता एवं संस्कृति की झलक होनी चाहिये। मानव अनुभव के दो रूप हैं—प्राकृतिक वातावरण सम्बन्धी और समाज सम्बन्धी। अतः इन दोनों के अनुसार विज्ञान और मानवीय विषय (humanities) पढ़ाये जायँ। जैसा कि टी० परसीनन का कथन है कि "विद्यालय राष्ट्र के जीवन के ही अवयव हैं जिनका मुख्य कार्य उसकी आध्यात्मिक शक्ति को अक्षुण्ण रखना, उसकी ऐतिहासिक परम्परा को बनाये रखना, उसके अतीत की उपलब्धियों को सुरक्षित रखना और उसके भविष्य को सुदृढ़ तथा विकासमान बनाना है। अपने विद्यालयों द्वारा राष्ट्र उन अक्षय स्रोतों से परिचित होता है जिनसे उसे सदा ही जीवन में प्रगति की प्रेरणा प्राप्त हुई है और उनके द्वारा उसे अपनी महान संतति के स्वप्नों को चरितार्थ करना एवं साकार रूप प्रदान करना है।"......अतः पाठयक्रम में इन क्रियाओं एवं विषयों का समावेश होना चाहिये जैसे शारीरिक सुडौलता एवं स्वास्थ्य-शिक्षा, शिष्टाचार, नीति, धर्म, सामाजिक संगठन, साहित्य, ललित कलाएँ—संगीत

और चित्रकला, हस्त शिल्प, विज्ञान—गणित, इतिहास और भूगोल। अंतिम दोनों विषयों को जिनमें मानव-प्रगति का उल्लेख और चित्रण होता है, केन्द्रीय स्थान मिलना चाहिये।[1]

यथार्थवादी शिक्षा विचारक इस प्रकार के पाठ्यक्रम का पूर्ण विरोध करते हैं जिनमें ऐसे विषयों का समावेश होता हो जिनका साध्य पुस्तकीय, अमूर्त तथा अव्यावहारिक ज्ञान प्रदान करना होता है। पाठ्यक्रम जीवन को वास्तविकताओं पर आधारित होना चाहिये। सामाजिक यथार्थवादी पुस्तकीय अध्ययन का विरोध करते हैं और व्यक्ति तथा समाज के एक सदस्य के रूप में मनुष्य के अध्ययन पर बल देते हैं। ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवादियों का विचार है कि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ही हम समस्त ज्ञान ग्रहण करते हैं अतः प्राकृतिक वस्तुओं के अध्ययन का सबसे अधिक महत्त्व है तथा साहित्यिक विषयों के अध्ययन की जगह वैज्ञानिक विषयों के अध्ययन पर बल दिया जाय। स्पेन्सर और हक्सले ने वैज्ञानिक शिक्षा तथा संस्कृत का विशेष प्रतिपादन किया है।

प्रयोजनवादी शिक्षा विचारकों के अनुसार पाठ्यक्रम में उन विषयों का समावेश होना चाहिये जो भावी जीवन में उपयोगी सिद्ध हों, ज्ञान के साथ-साथ कुशल जीवन-यापन की क्षमता प्रदान कर सकें और सामाजिक प्रगति को अग्रसर करने में सहायक हों यथा शारीरिक प्रशिक्षा एवं स्वास्थ्य-विज्ञान, भाषा, इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान, कृषि-विज्ञान बालिकाओं के लिये गृह-विज्ञान आदि। बालक को किसी व्यवसाय की भी शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिये। पठ्यक्रम में बालक की क्रिया, व्यवसाय एवं अनुभव का भी स्थान मिलना चाहिये। अतः उसमें पाठ्य-विषयों के अतिरिक्त उन क्रियाओं का भी समावेश हो जो सोद्देश्य हों, जिनसे बालक के स्वतंत्र विकास में सहायता मिले, सामाजिक गुणों की अभिवृद्धि हो और सामाजिक कुशलता तथा व्यावसायिक दक्षता प्राप्त हो।

उपर्युक्त मतभेदों को देखते हुए पाठ्यक्रम-रचना में बड़ी उलझनें पैदा हो जाती हैं। अतः उनके विवाद में न जाकर आधुनिक शिक्षा में समाहारक (Eclectic) अथवा समन्वयात्मक प्रवृत्ति परिलक्षित होने लगी है अर्थात् सभी विचारधाराओं से मंगलकारी तत्वों को स्वीकार कर लेना और उनके उपयुक्त समन्वय द्वारा पाठ्यक्रम रचना का सिद्धान्त स्थिर कर लेना ही श्रेयस्कर माना जाने लगा है। ये सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :—

---

1. *T. P. Nunn*—Education, Its data and First Principles; P, 253–264

१—पुरोदर्शिता का सिद्धान्त[1] २—परंपरावादी सिद्धांत[2] ३—सृजनात्मकता का सिद्धांत[3] ४—जीवन की तैयारी का सिद्धांत[4] ५—क्रियात्मकता[5] । राइबर्न ने इन सिद्धांतों का विस्तृत विवेचन किया है[6] जिसका सारांश निम्नलिखित है।

(१) पुरोदर्शिता—इस सिद्धांत के अनुसार पाठ्यक्रम में उन विषयों का समावेश होना चाहिए जिनके द्वारा बालकों में अपने वर्तमान एवं भविष्य की परिस्थितियों के साथ सामंजस्य स्थापित करने की क्षमता उत्पन्न हो और वे अतीत के दास तथा रूढ़ियों एवं परम्पराओं के अन्धभक्त न बनें। इस सामंजस्य की क्षमता के द्वारा ही व्यक्ति तथा समाज की प्रगति संभव होती है। अतीत के प्रति मोहान्ध एवं रूढ़िग्रस्त समाज का ह्रास आवश्यक है। जो व्यक्ति और समाज युग एवं परिस्थितियों के अनुकूल अपने आचार-विचार में परिवर्तन करते रहे वे निश्चय ही उन्नति के पथ पर बढ़ते गये।

इस सिद्धांत का यह तात्पर्य नहीं है कि हम अपने अतीत को सर्वथा भुला दें, बल्कि इसका आशय इतना ही है कि अपने अतीत की परम्पराओं और विचारों में जो मंगलकारी तत्व हैं उन्हें ग्रहण करें और जो बातें युग के प्रतिकूल एवं अमंगलकारी हैं उन्हें त्याग दें। अर्थात् पाठ्यक्रम द्वारा प्रगतिशील नागरिकता की शिक्षा मिलनी चाहिए।

सामाजिक प्रगति बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि उसके नागरिक अपने अवकाश का सदुपयोग किस प्रकार करते हैं। इस दृष्टि से हमें पाठ्यक्रम में कला, शिल्प, संगीत, नाटक, काव्य तथा रचनात्मक कार्यों को विशेष स्थान देना चाहिए। इस सिद्धांत के अनुसार पुरातन साहित्य तथा धर्म शास्त्र एवं परम्पराओं के अध्ययन का वह महत्त्व नहीं रहेगा जो परम्परावादी सिद्धांत के अनुसार समझा जाता है और जिसका उल्लेख हम आगे कर रहे हैं।

(२) परम्परावादी सिद्धांत—इस सिद्धांत के अनुसार पाठ्यक्रम में उन क्रियाओं एवं विषयों का समावेश होना चाहिए जिनसे बालक में मानवजाति द्वारा अर्जित अनुभवों एवं परम्पराओं को सुरक्षित रखने की क्षमता उत्पन्न हो। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि हमारा वर्तमान अतीत का ही परिणाम है और भविष्य का उपकरण। ऐसी स्थिति में अतीत के ज्ञान एवं अनुभव, रीति-नीति, कौशल, व्यवसाय

---

1. Forward Looking Principle. 2. Conservative Principle. 3. Creative Principle. 4. Preparation for life. 5. Activity Principle. 6 *W.M. Ryburn*—The Principles of Teaching. P. 212-220

तथा विविध संस्थाओं, संगठनों और सांस्कृतिक तत्वों को समझकर ही हम अपने वर्तमान को समझ सकते हैं और उसकी उत्तम रचना कर सकते हैं। इस परम्परा का ज्ञान भावी संतति को प्रदान कर हम उत्तम भविष्य का भी निर्माण कर सकते हैं। ऐसे पाठ्यक्रम में उन विषयों का समावेश आवश्यक है जो मानव जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सदा से ही उपादेय सिद्ध हो चुके हैं।[1] भाषा, विज्ञान, गणित, स्वास्थ्य विज्ञान, सामाजिक अध्ययन (इतिहास, भूगोल, नागरिक शास्त्र, अर्थशास्त्र), धर्म, संस्कृति, उद्योग-धन्धे, शिल्प आदि विषय ऐसे ही उपयोगी विषय हैं।

(२) **सृजनात्मकता का सिद्धान्त**—सृजन मनुष्य की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति एवं क्रिया है। आज के ज्ञान-विज्ञान का उत्कर्ष, आवागमन के साधन, बड़े-बड़े यंत्र, कल-कारखाने आदि उसकी सृजनात्मक शक्ति के ही परिचायक हैं। उसकी सृजनात्मक शक्ति केवल उपयोगी, स्थूल एवं मूर्त वस्तुओं के निर्माण में ही नहीं, अपितु सौन्दर्यबोधात्मक शक्तियों एवं ललित कलाओं के क्षेत्र में भी परिलक्षित होती है। कला, काव्य, संगीत, चित्र आदि भी उसकी सृजनात्मक शक्ति के द्योतक हैं। अतः इस शक्ति के विकास की दृष्टि से पाठ्यक्रम का निर्माण होना चाहिए और उसमें उपयोगी तथा ललित दोनों ही कलाओं का समावेश करना चाहिए। उपयोगिता की दृष्टि से भाषा, विज्ञान, गणित, सामाजिक विषय—इतिहास, भूगोल, नागरिक शास्त्र, अर्थ शास्त्र—शिल्प, उद्योग-धन्धे आदि, तथा सौन्दर्य बोधात्मक की दृष्टि से ललित कलाओं का समावेश आवश्यक है। इसीलिए अवकाश के सदुपयोग के लिए कलात्मक एवं सांस्कृतिक तत्वों से परिचित कराने वाले विषय शिक्षा के आवश्यक उपादान माने जाते हैं।

सृजनात्मकता के सिद्धांत को प्रारम्भिक स्तर पर विशेष रूप से महत्व प्रदान किया जाता है जिससे इस शक्ति के विकास को उचित दिशा प्राप्त हो सके और बालक भविष्य में एक योग्य निर्माता तथा कलाकार बन सके। इसी दृष्टि से बेसिक शिक्षा प्रणाली में किसी उद्योग, शिल्प या कला को केन्द्र मानकर उससे अनुबंधित करते हुए

---

1. "It is, in fact, being increasingly recognised that the various subjects of the curriculum represent certain forms of skill and certain branches of knowledge which have proved to be of importance in the experience of the race, and which have to be taught to each succeeding generation. From this point of view it is the function of the school to preserve and transmit the traditions, knowledge and standards of conduct on which our civilization depends. *Ryburn*—'Principle of Teaching'. P. 213, quoted from Hand Book of Suggestions for Teachers. Board of Education. London." P. 37.

अन्य विषयों की शिक्षा प्रदान करने पर बल दिया जाता है। इसी सिद्धांत पर प्रोजेक्ट प्रणाली और अन्य क्रियात्मक शिक्षा भी आधारित है।

(४) **जीवन की तैयारी का सिद्धांत**—इस सिद्धांत के अनुसार पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिए जिससे बालक में भावी जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने तथा सामने आने वाली समस्याओं के समाधान करने की क्षमता उत्पन्न हो जाय। भविष्य का तात्पर्य उसके शिक्षा-काल की समाप्ति के बाद प्रारम्भ होने वाले जीवन से ही नहीं है अपितु तत्काल आने वाली समस्याओं अर्थात् निकटवर्ती भविष्य से भी है।

'जीवन की तैयारी का सिद्धान्त' एक अस्पष्ट शब्दावली है। इसका अर्थ बहुत ही व्यापक और विशद भी हो सकता है और उसमें जीवन के समस्त रूपों और क्षेत्रों का समावेश किया जा सकता है। दूसरी ओर इसका संकीर्ण अर्थ भी हो सकता है। यह इस बात पर निर्भर करता है कि हमारा जीवन-दर्शन क्या है और जीवन के आदर्शों में हम किन-किन तत्त्वों को प्रधानता देते हैं। अभी प्रकृतिवादी दृष्टिकोण के प्रसंग में स्पेन्सर द्वारा प्रतिपादित जीवन की तैयारी के सिद्धांत में पाँच आवश्यक क्रियाओं एवं तदनुसार पाठ्यक्रम रचना के सिद्धांत का उल्लेख किया जा चुका है। पर वह अध्यात्मवादी जीवन-दर्शन की दृष्टि से बहुत ही संकीर्ण तथा अपूर्ण माना जाता है, क्योंकि उन क्रियाओं में धर्म, अध्यात्म का कोई स्थान ही नहीं और ललित कलाओं को भी उपेक्षित अथवा अंतिम स्थान दिया गया है।

इस अस्पष्टता के बावजूद भी जीवन की तैयारी का सिद्धांत एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है और इसमें बालक को प्रदान की जाने वाली अनेक योग्यताओं एवं क्षमताओं यथा वैयक्तिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक गुणों का उल्लेख किया जाता है और उनके लिए आवश्यक विषयों तथा क्रियाओं को पाठ्यक्रम का आधार माना जाता है। ये योग्यताएँ एवं क्षमताएँ सामान्यरूप से निम्नलिखित हैं :—

(१) जीविकोपार्जन की क्षमता। (२) जीवन में उपस्थित होने वाली समस्याओं के समाधान की क्षमता और कठिन परिस्थितियों में धैर्य एवं स्थिरता के साथ तत्क्षण विचार करके उचित मार्ग निकाल लेने की क्षमता। (३) मानसिक शक्तियों के विकास सम्बन्धी क्षमताएँ जैसे निरीक्षण, तुलना, विवेचना, नियम-निर्धारण, परीक्षण एवं प्रयोग, सामान्य ज्ञान-विज्ञान से परिचय (४) व्यावहारिक कुशलता—शिष्टाचार, सहयोग, शालीनता, विनम्रता, वार्तालाप की कुशलता। (५) चारित्रिक विशेषता—सत्य, सेवा, प्रेम, बलिदान, कष्ट सहिष्णुता, दृढ़ संकल्प, कर्त्तव्य परायणता, आत्म-नियन्त्रण, एकाग्रचित्तता, आत्मनिर्भरता। (६) सामाजिक एवं नागरिक गुण—नागरिक अधिकारों एवं कर्त्तव्यों के प्रति सजगता, सामाजिक कार्यों में रुचि एवं नेतृत्व करने की शक्ति और क्षमता, सामाजिक समस्याओं का अध्ययन और उचित

समाधान, सामाजिक प्रगति में योगदान आदि। (७) सांस्कृतिक तत्वों का परिचय और उनमें रुचि, ललित कलाओं में निपुणता।

जीवन की तैयारी के लिए इन समस्त गुणों एवं शक्तियों के विकास को दृष्टि में रखकर आवश्यक क्रियाओं एवं विषयों के आधार पर पाठ्यक्रम का निर्माण होना चाहिए और साथ ही व्यक्तिगत विशिष्टताओं, रुचियों एवं प्रवणताओं के विकास के लिए विषयों की विविधता का भी पूरा ध्यान रखा जाना चाहिए।

(५) क्रियाशीलता का सिद्धांत— इस सिद्धांत के अनुसार पाठ्यक्रम में ऐसी क्रियाओं का समावेश होना चाहिए जिनके आधार पर बालक स्वयं अनुभव द्वारा ज्ञान प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर हों। उनके ऊपर बाहर से कोई ज्ञान या सूचना थोप देना पाठ्यक्रम का आधार नहीं होना चाहिए, बल्कि बालक की आंतरिक क्रियाशीलता को स्फुरित करते हुए, उसे सक्रिय रूप से अपने अनुभव द्वारा सीखने की प्रेरणा मिलनी चाहिए। तथ्यों को रट लेना वास्तविक ज्ञान-प्राप्ति नहीं है।

इस सिद्धांत पर विशेष आपत्ति यह है कि मानव जाति ने जो अर्जित ज्ञान संचित कर लिया है और जिसे सरलतापूर्वक उचित शिक्षण द्वारा बालक को प्रदान किया जा सकता है, उस ज्ञान को बालक स्वानुभव द्वारा नये सिरे से पुनः सीखें, यह बड़ा कठिन, अवैज्ञानिक और मूर्खतापूर्ण बात लगती है। वर्तमान पीढ़ी का धर्म अपने पूर्वजों द्वारा अ जत ज्ञान को शिक्षा द्वारा शीघ्र ही सीखकर उस ज्ञान-परम्परा को आगे बढ़ाना है न कि पूर्वजों द्वारा प्राप्त ज्ञान का कोई लाभ न उठाकर फिर से उसी को स्वानुभव और स्वक्रिया द्वारा सीखना। इस आपत्ति का निराकरण इस प्रकार संभव हो सकता है कि शिक्षण में बालक की आत्मक्रिया एवं स्वानुभूति को अधिक से अधिक महत्त्व और स्थान देना चाहिए और स्वयं ज्ञान-प्राप्ति के लिए उत्सुकता पैदा कर देनी चाहिए। किन्तु अध्यापक को भी उचित पथ-प्रदर्शन के लिए तैयार रहना चाहिए और बालक की क्रिया एवं अनुभव के लिए उचित वातावरण, आधार एवं पृष्ठभूमि बनाते रहना चाहिए।

पाठ्यक्रम-संगठन के सिद्धांत[1]—'पाठ्यक्रम संगठन' पाठ्यक्रम निर्माण से भिन्न कोई तत्व नहीं है। वस्तुतः पाठ्यक्रम-निर्माण में विविध शैक्षिक विषयों एवं क्रियाओं का निर्वाचन तथा संगठन दोनों शामिल हैं। अतः पाठ्यक्रम निर्माण में जिन दार्शनिक एवं तात्विक सिद्धांतों का उल्लेख किया गया है वे पाठ्यक्रम संगठन के भी सिद्धांत हैं। किन्तु इन मूलभूत सिद्धांतों के अतिरिक्त वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक शिक्षण

---

1. Principles of Organisation of Curriculum.

की दृष्टि से पाठ्य विषयों को व्यवस्थित रूप देने के लिये जो सिद्धांत शिक्षा शास्त्रियों ने बताये हैं उन्हें पाठ्यक्रम-संगठन के सिद्धांत के रूप में नीचे लिखा जा रहा है। इस उलझन से बचने के लिये कुछ विचारकों ने पाठ्यक्रम संगठन के सिद्धान्त की जगह पाठ्यक्रम-योजना के सिद्धांत[1] कहना अधिक समीचीन माना है—

(१) बाल-केन्द्रित[2]—पाठ्यक्रम-संगठन का आधार बालक की मूलभूत आवश्यकताएँ, तथा उसकी मानसिक विकास की अवस्थाएँ हैं अर्थात् बालक की आयु, आवश्यकताएँ, अभिरुचि, योग्यता एवं ग्रहण करने की शक्ति के अनुकूल ही पाठ्यक्रम संगठित होना चाहिए। इसके द्वारा बालक की प्राकृतिक प्रवृत्तियों एवं रुचियों का परिष्कार होना चाहिए। बालक के प्रारम्भिक स्थूल अनुभवों में मानव-जाति के सूक्ष्म व्यवस्थित ज्ञान का बीज विद्यमान रहता है और उसे हमें जानने का प्रयत्न करना चाहिए।[3]

(२) व्यापकता[4]—आधुनिक शिक्षा सिद्धांतों एवं विचारों के अनुसार, जैसा कि ड्यूवी ने लिखा है, पाठ्यक्रम में केवल परम्परागत बौद्धिक विषय ही शामिल नहीं हैं, बल्कि वे सम्पूर्ण अनुभव शामिल हैं जिन्हें छात्र विद्यालय की बहुमुखी क्रियाओं—कक्षा-शिक्षण, पुस्तकालय, प्रयोगशाला, खेल-कूद, सांस्कृतिक आयोजन तथा शिक्षकों से संपर्क—आदि से प्राप्त करता है। इस दृष्टि से विद्यालय का संपूर्ण जीवन ही पाठ्यक्रम है जो बालक के जीवन के सभी क्षेत्रों को प्रभावित करता है और उसके सुन्दर तथा संतुलित व्यक्तित्व के विकास में सहायक होता है।[5] शारीरिक विकास, स्वास्थ्य, चरित्रनिर्माण, अपनी संस्कृति का ज्ञान, निपुणता, विचार शक्ति, बौद्धिक उत्कर्ष, सौन्दर्यानुभूति, रचनात्मक कुशलता, आर्थिक तथा सामाजिक सम्बन्ध, आध्यात्मिक गुण आदि जीवन-विकास के ऐसे क्षेत्र एवं आवश्यकताएँ हैं जिन्हें पाठ्यक्रम-रचना के समय अवश्य ध्यान में रखना चाहिए।[6] अतः बौद्धिक विषयों के निर्वाचन के साथ-साथ शारीरिक, सांस्कृतिक एवं कलात्मक उत्कर्ष की दृष्टि से विविध क्रियाओं एवं विषयों का समावेश होना चाहिए। व्यापकता

---

1. Principles of Curriculum. Planning
2. Child centered.
3. "The course should be adapted to the basic needs and developmental growth patterns of pupils (needs, capacities and interests)".
4. Board—based.
5. "The subject matter of a course should be chosen because of its importance in helping pupils acquire desired abilities and understandings useful in contemporary or adult life. The proposed matter, activities or experiences should aim at harmonious development of the child (body, mind and spirit).
6. Report of the Secondary Education Commission. P. 80.

का यह तात्पर्य नहीं है कि छात्रों को जीवन के संपूर्ण क्षेत्रों के ज्ञान कराने वाले विषय एक साथ ही पढ़ा दिए जायँ ।[1] इसका तात्पर्य इतना ही है कि बालक की उत्तरोत्तर प्रगति तथा सर्वाङ्गीण विकास की दृष्टि से आवश्यक विषयों का ज्ञान सुलभ होता जाय ।

(३) विविधता और प्रसारकता[2]—व्यक्तिगत भिन्नता, शक्ति, योग्यता और आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए पाठ्यक्रम-संगठन में विविधता एवं प्रसारकता होनी चाहिए जिससे बालक अपने अनुकूल वांछित विषय ले सकें और आवश्यकता पड़ने पर उसमें नवीन विषयों एवं प्रकरणों का भी समावेश किया जा सके ।[3] छात्रों पर उनकी रुचि के विपरीत किसी विषय की शिक्षा लादना लाभदायक नहीं होता । कुछ विषय ऐसे अवश्य होते हैं जैसे भाषा, सामान्य ज्ञान एवं सौन्दर्यानुभूति संबंधी विषय, जिन्हें सभी बालकों के लिए अर्जित करना आवश्यक होता है । ऐसे विषयों और क्रियाओं को हम अनिवार्य बना सकते हैं । प्राइमरी कक्षाओं में इन अनिवार्य विषयों को ही रखा जाता है । इसे ही केन्द्रीय पाठ्यक्रम (कोर करिक्यूलम) की संज्ञा दी जाती है । माध्यमिक कक्षा-स्तर पर इन अनिवार्य विषयों—भाषा, गणित—के अतिरिक्त अधिक से अधिक ऐच्छिक (आप्शनल) विषयों को पाठ्यक्रम में स्थान मिलना चाहिए । इसी दृष्टि से माध्यमिक स्तर पर साहित्यिक वैज्ञानिक, व्यावसायिक, औद्योगिक, कलात्मक तथा अन्य प्राविधिक विषयों का समावेश किया गया है । ऐच्छिक विषयों के निर्धारण में छात्रों की विभिन्न रुचियों के अतिरिक्त स्थानीय परिस्थितियाँ जैसे ग्रामीण अथवा औद्योगिक वातावरण का भी ध्यान रखना चाहिए ।[4]

(४) वातावरण तथा सामाजिक जीवन से संबंध—पाठ्यक्रम संगठन का एक मुख्य आधार वातावरण तथा सामाजिक जीवन भी है ।[5] पाठ्यक्रम द्वारा बालकों

---

1. "The curriculum should neither be as norrow as the class room nor as broad as life i self."
2. Varied and elastic.
3. "There should be enough variety and elasticity in the curriculum to allow for individual differences and adaptation to individual needs and interests".
4. It should diversified to provide for various aptitudes and local respectable differences. It should allow as many combinations as possible. It should be varied to suit environmental conditions (Rural. Urban and Industrial.).
5. "Ths curriculum must be vitally and organically related to community life." Report of the Secondary Education Commission. P. 80.

के मन पर यह प्रभाव जम जाना चाहिए कि वे स्थानीय समाज के अभिन्न अंग हैं। इस दृष्टि से स्थानीय उद्योगों एवं व्यवसायों को पाठ्यक्रम में उचित स्थान मिलना चाहिए। विद्यालय की क्रियाओं में भी स्थानीय जीवन तथा परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं का ध्यान रखना चाहिए और उनके द्वारा विद्यालय तथा समाज में अनुरूपता लाने का प्रयत्न करना चाहिए। सामाजिक दृष्टिकोणों में होनेवाले परिवर्तनों एवं उत्तरोत्तर नवीन शैक्षिक शोधों के अनुसार पाठ्यक्रम में भी परिवर्तन और परिवर्द्धन के लिए स्थान बना रहना चाहिए।[1]

हमें यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि विद्यालय सामाजिक जीवन का अभिन्न अंग है और उसके द्वारा सामाजिक जीवन का चित्र आभासित होता है, किन्तु साथ ही साथ वह सामाजिक जीवन का स्तर ऊँचा उठाने के लिए भी प्रयत्न करता रहता है।[2] अतः पाठ्यक्रम में इस सामाजिक उत्कर्ष के लिए आवश्यक विषयों एवं क्रियाओं का भी समावेश रहना चाहिए।

(५) अवकाश का सदुपयोग एवं सांस्कृतिक अभिरुचि[3]—जीवन के लिए उपयोगी क्रियाओं एवं व्यवसायों की दृष्टि से ही पाठ्यक्रम का संगठन नहीं होना चाहिये, बल्कि उसमें उन विषयों एवं क्रियाओं का भी समावेश होना चाहिए जिनसे बालकों को अपना अवकाश सुरुचि पूर्ण एवं कलात्मक ढंग से व्यतीत करने की शिक्षा मिल सके। ऐसी सामाजिक, शारीरिक, सौन्दर्यबोधात्मक एवं सांस्कृतिक क्रियाएँ आयोजित होनी चाहिए जिनमें से बालक अपनी रुचि के अनुकूल प्रिय विषय (हॉब्बी के रूप में) चुन सकें। इस दृष्टि से ललित कलाओं (कविता, संगीत, नृत्य, चित्रकारी आदि) का स्थान आवश्यक हो जाता है।

(६) अनुबन्धता[4]—पाठ्यक्रम का संगठन इस रूप में होना चाहिए जिससे

---

1. "It is generally accepted that the purpose of the school is to prepare the pupils to take full and active part in the life of the community and state If this task is to be carried on successfully, attention must be given to what is taught. Hence a continual programme of curriculum revision is required in order that the material in use may be altered in response to fundamental changes in society outside the school, or may be changed as research finds new material of social significance for school use. Jacobson, P. O.—The affective school. Principal P. 148-49.
2. "School reflect the society but in turn exert a pressure upon that society to raise it to better standards."
3. "The curriculum should be designed to train the students not only for work but also for leisure."
4. Integration.

विविध पाठ्य विषयों तथा ज्ञान एवं अनुभव के विभिन्न स्वरूपों का अनुबंधित और एकीकृत[1] रूप प्रस्तुत हो सके। एक दूसरे से असम्बद्ध तथा पृथक-पृथक विषयों का स्वतंत्र निर्वाचन एवं शिक्षण आज के प्रचलित पाठ्यक्रम का बहुत बड़ा दोष है। अनुबंधित पाठ्यक्रम द्वारा इस दोष का बहुत कुछ निराकरण हो सकता है। इस अनुबंधित पाठ्यक्रम में विविध विषयों के अनुबंध के साथ-साथ प्रत्येक विषय की पाठ्य सामग्री में भी पूर्वापर सम्बन्ध बनाये रखने पर बल दिया जाता है।

अनुबंध से मिलता-जुलता एक और शब्द सहसम्बन्ध[2], का भी इस प्रसंग में उल्लेख किया जाता है जिसका तात्पर्य एक विषय से दूसरे विषय का सम्बन्ध स्थापित करते हुए समस्त पाठ्य विषयों की शिक्षा प्रदान करना है। इन दोनों शब्दों के प्रयोग में प्रायः उलझन पैदा हो जाती है। अतः पृथक से इनका एक संक्षिप्त विश्लेषण आगे प्रस्तुत किया गया है। यहाँ इतना ही यथेष्ट है कि पाठ्य विषयों को किसी क्रिया के आधार पर अनुबन्धित रूप से प्रस्तुत किया जाय अथवा कम से कम उनमें सह-सम्बन्ध तो अवश्य ही बना रहे जिससे बालकों को ज्ञान की अखण्डता और जीवन में उसकी व्यावहारिकता तथा उपयोगिता का अनुभव हो सके।

उपर्युक्त प्रमुख सिद्धांतों के अतिरिक्त पाठ्यक्रम संगठन अथवा पाठ्यक्रम योजना के कुछ और भी सिद्धांत हैं जिनका व्यावहारिक दृष्टि से विशेष महत्त्व है—

(७) पाठ्यक्रम में यह स्पष्ट उल्लेख रहना चाहिए कि उसके द्वारा बालकों में किन योग्यताओं, कौशलों एवं मनोवृत्तियों का विकास करना है।

(८) पाठ्यक्रम संतुलित[3] हो। ऐसा न हो कि जीवन के किसी एक पक्ष की ही प्रधानता हो जाय। मोटे तौर पर निम्नलिखित बातों में संतुलन का ध्यान रखा जाय:—

(i) सामान्य एवं विशेष शिक्षा में[4]

(ii) उदार एवं सांस्कृतिक शिक्षा तथा प्राविधिक एवं औद्योगिक शिक्षा में[5]

(iii) विज्ञान एवं मानवीय विषयों में[6]

(iv) व्यावहारिक एवं आनुशासनिक मूल्यों में[7]

(v) शाश्वत एवं सामयिक मूल्यों में[8]

---

1. Unified.
2. Co-relation.
3. Balanced.
4. General or essential and specialised education.
5. Liberal and cultural versus Technical and vocational.
6. Science and Humanities.
7. Practical and Disciplinary Values.
8. Perennial and Contemporary.

(vi) सामान्य ज्ञान एवं गहन अध्ययन में[1]

(vii) वैयक्तिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं की दृष्टि से[2]

(viii) कार्य एवं अवकाश की दृष्टि से[3]

(९) पाठ्यक्रम का विकास आद्यन्त सिलसिलेवार होना चाहिए अर्थात् उसमें उत्तरोत्तर क्रमिक विकास पाया जाय। प्रत्येक स्तर का पाठ्यक्रम अपने पूर्ववर्ती स्तर पर अधारित हो और परवर्ती स्तर के लिए आधार भूमि का काम करे। यह क्रम ज्ञात से अज्ञात की ओर चलना चाहिए।

प्रत्येक विषय का विकास शिक्षा के विविध स्तर (प्राइमरी, पूर्व माध्यमिक, माध्यमिक, विश्वविद्यालयीन) को ध्यान में रखते हुए एक व्यवस्थित क्रम से किया जाय। यह क्रम इस प्रकार परिचित से अपरिचित की ओर[4], सरल से जटिल की ओर[5], मूर्त्त से अमूर्त्त की ओर[6], स्थूल से सूक्ष्म की ओर[7], संक्षेप से विस्तार की ओर[8], पूर्ण से खंड की ओर[9], प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की ओर[10], सामान्य से गहन की ओर[11], मूल से व्युत्पन्न की ओर[12], विशेष से सामान्य की ओर[13], प्रचलित से प्राविधिक की ओर[14], विरूप से ललित की ओर[15]।

(१०) प्रत्येक स्तर के पाठ्य विषयों का अपने पूर्ववर्ती तथा परवर्ती पाठ्य विषयों के साथ परिमाण सम्बन्धी मेल स्थापित रहना चाहिए जिससे एक समय किसी एक विषय का अनावश्यक भार बालक पर न पड़े। किसी भी स्तर पर पाठ्य विषयों की भीड़ न होनी चाहिए।

(११) एक स्तर के पाठ्य विषयों का दूसरे स्तर के पाठ्य विषयों से इस प्रकार सह-सम्बन्ध एवं समायोजन रहना चाहिए जिससे व्यक्तित्व के समवेत विकास एवं वृद्धि में अधिकाधिक योग प्राप्त हो सके और विषयों की अनावश्यक आवृत्ति[16] भी न हो। यह सह-सम्बन्ध एक विषय के अन्तर्गत विविध प्रकरणों में, एक विषय से

---

1. General Knowledge and Intensive Studies. 2. Personal and Social. 3. Education for work and leisure. 4. Familiar to Unfamiliar. 5. Simple to Complex. 6. Concrete to Abstract. 7. Gross to Suttle. 8. Quantitatively Small to Quantitatively much. 9. Whole to Part. 10. Direct to Indirect. 11. Overall view to Detail. 12. Basic to Derivative. 13. Particular to General. 14. Popular to Technical. 15. Course to Fine. 16. Unnecessary repitition.

दूसरे विषय में, एक कक्षा से दूसरी कक्षा में, एक स्तर से दूसरे स्तर में तथा शिक्षालय और समाज में बना रहे।

(१२) पाठ्यक्रम का विकास स्वाभाविक परिस्थितियों एवं वातावरण के अनुकूल हो।

(१३) पाठ्यक्रम में शिक्षा के सांस्कृतिक मूल्यों पर बल देते समय वर्तमान एवं जीवित संस्कृति को ही दृष्टि में रखा जाय, मृत पुरातन संस्कृति को नहीं।

(१४) पाठ्यक्रम में प्रत्येक पाठ्य सामग्री (कोर्स) के लिए पर्याप्त समय दिया जाय जिससे उसके उद्देश्यों की प्राप्ति हो सके। विद्यार्थी को जब नया विषय ग्रहण करना हो तो उसके अध्ययन के लिए पर्याप्त समय और सुविधा मिलनी चाहिए।

(१५) उद्देश्यों की प्राप्ति बालक के अनुभवों पर निर्भर है, किन्तु विद्यालय में प्राप्त साज-सज्जा, सुविधा एवं सामग्री आदि पर भी विचार करना आवश्यक है। पाठ्यक्रम की योजना बनाते समय उसे कार्यान्वित करने वाले सुलभ अध्यापकों का भी ध्यान रख लेना चाहिए।

(१६) पाठ्यक्रम सदा शैक्षिक शोधकार्यों के अनुसार आयोजित होना चाहिए।

ये सिद्धांत स्वतः इतने स्पष्ट हैं कि इनकी विस्तृत समीक्षा की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

सह सम्बन्ध—पाठ्यक्रम के विविध विषय 'ज्ञान' के विभिन्न अंग हैं। अतः इन सभी विषयों का शिक्षण इस रूप में होना चाहिए कि वे परस्पर संबंधित और एक दूसरे के पूरक प्रतीत हों। विभिन्न विषयों के परस्पर स्वाभाविक संबंध को ही 'सह-सम्बन्ध' की संज्ञा प्रदान की गई है।

सह-सम्बन्ध की ओर शिक्षाविदों का ध्यान आकर्षित करने का श्रेय प्रसिद्ध शिक्षा दार्शनिक हरबार्ट (१७७६-१८४१) को है। उसने विविध विषयों को एक दूसरे से सर्वथा पृथक रखकर पढ़ाने की प्रणाली का विरोध करते हुए उसे अमनोवैज्ञानिक बताया। इस पृथकता को हटाने के लिए, उसने सह-सम्बन्ध का सिद्धांत प्रतिपादित किया। उसके अनुसार पाठ्यक्रम के विषयों को इस प्रकार क्रमायोजित करना चाहिए जिससे एक विषय के शिक्षण से दूसरे विषय के शिक्षण में सहायता मिलती चले और उनमें स्वाभाविक सम्बन्ध बना रहे।

सह-सम्बन्ध से ज्ञान की अखण्डता बनी रहती है और बालक को अनुभव हो जाता है कि विविध विषयों में स्वाभाविक सम्बन्ध है और वे एक दूसरे के पूरक हैं।

विविध विषयों के अध्ययन में एक ही बात की पुनरावृत्ति नहीं करनी पड़ती और केवल एक संकेतमात्र से बालक उस तथ्य को समझ लेता है। इससे पाठ्यविषय की रोचकता बढ़ जाती है और पूर्व संचित ज्ञान एवं अनुभव और भी दृढ़ हो जाता है।

हरबार्ट के अनुसार सह-सम्बन्ध का आधार मनोवैज्ञानिक है। उनका कहना था कि बालक अपने पूर्व संचित प्रत्ययों के आधार पर ही नवीन ज्ञान को ग्रहण करता है। प्रत्येक नवीन प्रत्यय पूर्व संचित प्रत्ययों से मिलकर ही मन में स्थिर होता है। जब यह सिद्धांत एक विषय के शिक्षण में चरितार्थ हो सकता है तब दो या अधिक विषयों के शिक्षण में क्यों नहीं लागू हो सकता। उदाहरणतः इतिहास के शिक्षण में यदि हम किसी नये तथ्य को बताने के लिए किसी पूर्व ज्ञात ऐतिहासिक तथ्य को प्रस्तुत करते हैं तो फिर उसी प्रकार हम अन्य भौगोलिक, साहित्यिक एवं राजनैतिक तथ्य को भी नवीन तथ्य के ग्रहण का आधार बना सकते हैं। इससे शिक्षण में विविध विषयों की पृथकता दूर होती है, ज्ञान-भंडार की अधिक संवृद्धि होती है और शिक्षण भी अधिक सजीव एवं रोचक बन जाता है।

शिक्षा के उद्देश्यों की एकता सह-सम्बन्ध द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। हरबार्ट ने शिक्षा का उद्देश्य चरित्र-निर्माण माना था। चरित्र-निर्माण का आधार दृढ़ इच्छा-शक्ति है और दृढ़ इच्छाशक्ति का आधार ज्ञान की अखण्डता है। यह ज्ञान की अखण्डता और एकता सहसम्बन्ध द्वारा ही सुलभ हो सकती है। विभिन्न विषयों को स्वतंत्र और पृथक रखने से शिक्षा के उद्देश्यों की अनेकता और ज्ञान की विभेदता ही प्रकट होती है जो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से असत्य है।

केन्द्रीकरण—शैक्षिक उद्देश्यों की आवश्यक एकता एवं ज्ञान की अखण्डता पर बल देने के लिए हरबार्ट के शिष्य ज़िलर ने अध्ययन के केन्द्रीकरण[1] का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उसका कहना था कि विविध विषयों के सहसम्बन्ध के लिए किसी एक विषय को केन्द्र या धुरी बना लेना चाहिए। उसके मत से 'इतिहास' को केन्द्रीय विषय के रूप में स्थान देना चाहिए। हरबार्ट ने भी इतिहास को प्रमुखता प्रदान की थी, क्योंकि उसका विचार था कि शिक्षा का उद्देश्य चरित्र अथवा नैतिक उत्कर्ष है और इतिहास द्वारा इसमें सब से अधिक सहायता मिलती है। अमेरिकन शिक्षाशास्त्री पार्कर ने 'प्रकृति अध्ययन' को केन्द्रीय विषय माना, क्योंकि उसके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य 'व्यापक बुद्धि एवं अन्तर्दृष्टि' उत्पन्न करना है और 'प्रकृति अध्ययन' इसमें विशेष सहायक होता है। हरबार्ट के एक अनुयायी डिगार्मो ने 'अर्थशास्त्र' को केन्द्रीय विषय माना, क्योंकि इसके शिक्षण से व्यावहारिक कार्य-कुशलता प्राप्त होती है जो शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है।

---

1. Concentration of Studies.

सहसम्बन्ध के विविध रूप—शिक्षा विशेषज्ञों ने सहसम्बन्ध के अनेक रूपों का वर्णन किया है :—

(१) विविध विषयों का परस्पर संबंध जैसे इतिहास से संबंधित करके भूगोल, नागरिक शास्त्र, अर्थशास्त्र अथवा किसी भी अन्य विषय का शिक्षण।

(२) एक ही विषय के विभिन्न अंगों या प्रकरणों का परस्पर सम्बन्ध जैसे इतिहास के किसी एक पाठ का दूसरे पाठ से संबंध।

(३) विविध मानसिक पक्ष वाली वस्तुओं का परस्पर संबंध जैसे ज्ञान प्रधान, अनुभूति प्रधान और क्रिया प्रधान वस्तुओं का सहसम्बन्ध। इससे बालक के संपूर्ण व्यक्तित्व का समन्वित विकास सम्भव होता है, क्योंकि उसके ज्ञान, अनुभूति एवं कार्यों में संतुलन और सामंजस्य बना रहता है।

(४) विद्यालय एवं समाज का सहसंबंध—इसके द्वारा विद्यालय का जीवन अपने चतुर्दिक वातावरण तथा सामाजिक जीवन के अनुरूप बना रहता है और शिक्षा द्वारा व्यावहारिक एवं सामाजिक कुशलता प्राप्त होती है।

सहसम्बन्ध के दो और रूप—आकस्मिक सहसम्बन्ध तथा व्यवस्थित सहसम्बन्ध भी हैं। पाठ पढ़ाते समय यथावसर प्रसंगानुसार किसी अन्य विषय-सामग्री का अनायास ही उल्लेख होना और प्रस्तुत पाठ से उसका सम्बन्ध स्थापित करना आकस्मिक सहसम्बन्ध कहलाता है। किन्तु निश्चित योजना बनाकर किसी अन्य विषय-सामग्री से सम्बन्ध स्थापित करके प्रस्तुत पाठ पढ़ाना व्यवस्थित सहसम्बन्ध कहलाता है। इस प्रकार के सहसम्बन्ध के लिए विभिन्न विषयों के लिए आवश्यक हो जाता है कि पढ़ाने वाले प्रकरणों के सम्बन्ध में पहले ही विचार कर लें और उन प्रकरणों में सहसम्बन्ध की योजना बना लें जिससे वे अपने-अपने विषयों के अध्यापन में अन्य विषय-सामग्री का ठीक प्रयोग कर सकें। व्यवस्थित सहसम्बन्ध के भी दो भेद किये जा सकते हैं : (१) सामान्य अथवा शिथिल सहसम्बन्ध और (२) सूक्ष्म अथवा विशिष्ट सहसम्बन्ध। शिक्षक जब अपने विषय से सम्बन्धित अन्य विषय-सामग्री से छात्रों को परिचित कर देता है और अपने पाठ-शिक्षण में उससे सम्बन्ध स्थापित करके पढ़ाता है तब उसे सामान्य अथवा शिथिल सहसम्बन्ध कहते हैं। किन्तु शिक्षक जब किसी पाठ को पढ़ाते समय उस पर इतिहास, भूगोल, राजनीति शास्त्र, अर्थशास्त्र, विज्ञान आदि विविध विषयों की दृष्टि से भी प्रकाश डालते चलता है और उनसे सम्बन्ध स्थापित करते हुए पढ़ाता है तब उसे सूक्ष्म अथवा विशिष्ट सहसम्बन्ध कहते हैं। इससे बालक को एक ही पाठ या प्रकरण के सम्बन्ध में अनेक दृष्टिकोणों का भी ज्ञान प्राप्त होता है और उसके ज्ञान की परिधि विस्तृत एवं व्यापक होती है।

निस्सन्देह ही सह-सम्बन्ध की उपयोगिता सभी स्वीकार करते हैं। किन्तु यह बात सदा ध्यान रखने की है कि पाठ्य विषयों का परस्पर सम्बन्ध स्वाभाविक रूप से स्थापित हो, अन्यथा विविध विषयों में जबर्दस्ती सम्बन्ध स्थापन से सह-सम्बन्ध का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है। कुछ विद्वानों का कथन है कि इस योजना द्वारा कोई ऐसा उपयुक्त और सुसम्बद्ध पाठ्यक्रम नहीं बन पाता जिसमें सभी आवश्यक पाठ्य विषयों एवं उनकी सम्पूर्ण अध्ययन सामग्री का समावेश किया जा सके। इसमें शिक्षण की भी कोई सुनिश्चित योजना नहीं बन पाती। उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं के लिए इस प्रकार के पाठ्यक्रम की उपयुक्तता और भी संदिग्ध हो जाती है क्योंकि इससे किसी विषय का विशद ज्ञान सम्भव नहीं हो पाता। प्राइमरी कक्षाओं के लिए सहसम्बन्ध की योजना अधिक उपयुक्त है।

अनुबन्ध—प्रसिद्ध अमेरिकन शिक्षा-शास्त्री प्रो० जॉन ड्यूवी ने सहसम्बन्ध के स्थान पर अनुबन्ध पर बल दिया है। उनके अनुसार पाठ्यक्रम के विभिन्न विषय सह-सम्बन्ध के रूप में नहीं, अपितु अनुबन्धित रूप में प्रस्तुत होने चाहिए। अनुबन्ध का तात्पर्य है विभिन्न अथवा विरुद्ध प्रतीत होनेवाली वस्तुओं में अभिन्नता अथवा एकता की स्थापना करना। इस अनुबन्धित पाठ्यक्रम का आधार ड्यूवी महोदय का शिक्षा-दर्शन है। उनका कहना है कि मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन ही क्रियाओं का एक सतत प्रवाह है और इस प्रवाह की प्रत्येक क्रिया के मूल में कोई न कोई प्रयोजन रहता है। मनुष्य स्वतः एक बुद्धिशील प्रयोजनाभिप्रेरित प्राणी[1] है। अतः मनुष्य जब किसी प्रयोजन से प्रेरित होकर किसी क्रिया में संलग्न होता है तो उसे उस क्रिया के समुचित संचालन के लिए सम्बन्धित उपयोगी ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है। यह उपयोगी ज्ञान उसे सामाजिक परम्परा से प्राप्त होता है और वह उनका संकलन करता चलता है। फिर वह धीरे-धीरे इस बात का भी अनुभव करने लगता है कि इस संकलित ज्ञान में कौन-सा ज्ञान उपयोगी है और किसके द्वारा उसका प्रयोजन सिद्ध हो सकता है। इससे उसके प्राचीन ज्ञान में सुधार होता है तथा उपयोगिता एवं प्रयोजन सिद्धि की दृष्टि से वह नवीन ज्ञान का संकलन करता जाता है और इनके द्वारा उसके व्यवहार में परिवर्तन होता चलता है। मनुष्य आजीवन इसी प्रक्रिया द्वारा सीखता अथवा ज्ञान ग्रहण करता रहता है। मनुष्य के व्यवहार में इस प्रकार का 'उत्तरोत्तर परिष्करण'[2] होना ही सीखना है।

उपर्युक्त विचार के आधार पर हम कह सकते हैं कि मनुष्य अपनी प्रयोजनाभि-प्रेरित क्रिया के सफल संचालन के लिए अपेक्षित ज्ञान का संकलन किसी एक विशिष्ट

---

1. Intelligent purposing organism.
2. Progressive modification.

विषय से ही नहीं करता बल्कि अनेक क्षेत्रों एवं विषयों से यह उपयोगी ज्ञान संकलित करता है। इस ज्ञान का एक अंश किसी एक विषय जैसे इतिहास से सम्बन्धित हो सकता है तो दूसरा अंश किसी अन्य विषय जैसे भूगोल, प्रकृति विज्ञान अथवा गणित से सम्बन्धित हो सकता है। अतः उस क्रिया के संचालन के लिए अपेक्षित जानकारी अनेक विषयों के परस्पर अनुबन्धित रूप से प्राप्त होती है, किसी एक ही स्वतन्त्र अथवा पृथक विषय से नहीं।

उपर्युक्त विवरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न पाठ्य विषयों को किसी प्रयोजनवती क्रिया के चारों ओर संगठित करना चाहिए जिससे वे सभी विषय स्वाभाविक रूप में एक होकर उस क्रिया के माध्यम से अभीष्ट प्रयोजन के साधक बन सकें। इसी अनुबंधित रूप में विभिन्न प्रतीत होने वाले विषयों को पाठ्यक्रम में स्थान मिलना चाहिये। प्रोजेक्ट प्रणाली में इसी प्रकार के पाठ्यक्रम-संगठन का सिद्धान्त अपनाया जाता है।

पाठ्यक्रम में विषयों की अत्यधिक संख्या का बोझ कम करने की दृष्टि से भी अनुबंधित पाठ्यक्रम का विशेष महत्त्व है। मानव सभ्यता के विकास तथा ज्ञान-विज्ञान की अत्यधिक शाखाओं के कारण पाठ्य-विषयों की संख्या बहुत बढ़ गई है और विशद ज्ञान विस्तार के कारण परस्पर संबंधित विषय भी बिल्कुल अलग-अलग से जान पड़ते हैं जैसे सामाजिक अध्ययन के विविध विषयों की पृथकता। अनुबन्धित पाठ्यक्रम द्वारा पाठ्य विषयों की संख्या कम की जा सकती है। इनके अनुबंधित शिक्षण से शिक्षक और शिक्षार्थी के समय और श्रम की बचत होती है तथा बालक के ज्ञान की पृष्ठभूमि अधिक व्यापक बनाने में भी सहायता मिलती है।

संकीर्ण विशिष्टीकरण की प्रवृत्ति रोकने के लिए भी अनुबंधित पाठ्यक्रम उपयोगी होता है। विषय-विशेषज्ञ अध्यापक केवल अपने ही विषय पर बल देते हैं और बालकों को विविध विषयों की एकता का आभास तक नहीं होने देते। इससे बालक ज्ञान को विभिन्न असम्बद्ध तथ्यों का संकलन मात्र समझने लगते हैं। अनुबन्ध द्वारा इस दोष का निराकरण हो जाता है।

हमारे देश की बेसिक शिक्षा प्रणाली में अनुबन्धित पाठ्यक्रम पर जोर दिया गया है। गाँधी जी ने किसी स्थानीय शिल्प विशेषतः कताई-बुनाई को केन्द्रीय विषय मानकर उससे सह-सम्बन्ध स्थापित करते हुए अन्य विषयों की शिक्षा प्रदान करने पर बल दिया। केन्द्रवर्ती विषय के रूप में अब अनेक शिल्प या कला जैसे कताई-बुनाई, मिट्टी का काम, चमड़े का काम, कृषि, बागवानी आदि अपनाए गये हैं।

सह-सम्बन्ध और अनुबन्ध—यहाँ हमें सह-सम्बन्ध और अनुबन्ध का अन्तर भी समझ लेना चाहिए। सह-सम्बन्ध की स्थापना तभी सम्भव है जब पाठ्यक्रम में विभिन्न विषयों को परस्पर अथवा किसी एक विशेष विषय को केन्द्र मानकर उसी से

सभी विषयों को सम्बन्धित करते हुए प्रस्तुत किया जाय। इससे विद्यार्थी को ज्ञान की अखंडता और उपयोगिता का आभास हो जाता है। किन्तु ज्ञान का प्रत्येक अंश सप्रयोजन है, अथवा उससे सतत किसी न किसी प्रयोजन की पूर्ति हो रही है, इसकी अनुभूति बालक को नहीं हो पाती। अनुबन्ध द्वारा इस तत्काल प्रयोजन की सिद्धि का अनुभव बालक को होता रहता है और बालक स्वयं ही विविध विषयों के अनुबन्धित रूप की स्थापना कर लेता है सहसम्बन्ध की स्थापना का उत्तरदायित्व बहुत-कुछ शिक्षक पर ही होता है और शिक्षार्थी उसमें सक्रिय योग नहीं दे पाता।

• **पाठ्यक्रम के उपादान[1] एवं स्रोत[2]**—उपादान का अर्थ मनुष्य-जीवन के उस ज्ञान, अनुभव एवं क्रिया से है जिनके आधार पर हम अध्ययन की विविध विषय-सामग्री जैसे भाषा, गणित, सामाजिक विषय, विज्ञान आदि को एक सुसंगठित रूप देकर पाठ्यक्रम का निर्माण करते हैं। ये उपादान ही एक प्रकार पाठ्यक्रम के आधार तत्व हैं और उनमें से ही आवश्यकतानुसार बालक के उचित विकास की दृष्टि से विविध विषयों का चयन और संगठन किया जाता है। किन्तु ये उपादान स्वयं मनुष्य के 'सामाजिक उत्तराधिकार'[3] पर आधृत हैं और इसीलिए कुछ विद्वानों ने सामाजिक उत्तराधिकार को ही पाठ्यक्रम का स्रोत माना है।

'सामाजिक उत्तराधिकार' एक व्यापक अर्थ वाला शब्द है। इसके अन्तर्गत मनुष्य द्वारा किये गये वैयक्तिक एवं सामाजिक विकास के सारे प्रयास शामिल हैं। मनुष्य ने आदि काल से ही अपने भौतिक एवं आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए जो प्रयत्न किये हैं, उसने अपने विकास-पथ को प्रशस्त करने के लिए जिन क्रियाओं, प्रक्रियाओं एवं प्रयोगों का आश्रय लिया है, देश-काल एवं परिस्थितियों के अनुसार उसने जो सामाजिक एवं नैतिक मान-दंड स्थिर किये हैं और नित्य नूतन आविष्कारों एवं प्रयोगों द्वारा वह आज के जीवन का जैसा कुछ निर्माण कर सका है, ये सभी 'सामाजिक परम्परा' में आ जाते हैं। "जीवन और जगत के सम्बन्ध में मनुष्य द्वारा अर्जित और संचित समस्त ज्ञान एवं अनुभूतियों को ही हम सामाजिक परम्परा की संज्ञा प्रदान करते हैं।"[4] "यह सामाजिक परम्परा मानव के आज तक के समस्त क्रियाकलापों के परिणामों का संकलन है, साथ ही वह आगे किये जाने वाले उसके सभी प्रयत्नों की आधार भूमि भी है। यही पाठ्यक्रम का स्रोत है।"[5] मानव जीवन के नानाविध समस्त पक्षों का

---

1. Contents of Curriculum.
2. Source of the Curriculum.
3. Social inheritance.
4. Cunningham—The Pivotal Problem of Education. P. 291.
5. सिंह और शास्त्री—अध्यापन के सिद्धांत एवं विशिष्ट पद्धतियाँ, पृ० २०।

संकलन होने से सामाजिक परम्परा का स्वरूप बहुत जटिल है और जीवन-विकास के साथ-साथ यह जटिलता और भी बढ़ती जा रही है। इसी कारण इन ज्ञान एवं अनुभूतियों, प्रयोगों एवं क्रियाओं में से बालक की आवश्यकता, क्षमता और प्रगति के अनुसार उपयुक्त विषयों का चुनाव करके ही पाठ्यक्रम का निर्माण करना पड़ता है और यह एक बहुत जटिल तथा महत्त्वपूर्ण कार्य है।

कनिंघम ने मानव प्रकृति को ही पाठ्यक्रम-निर्माण का आधार माना है। मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है और उसके पास दो ऐसी स्पष्ट मानवीय शक्तियाँ हैं जो उसे पशुजगत से पृथक कर ऊँचे उठा देती हैं। ये शक्तियाँ हैं—विचार[1] और, अभिव्यक्ति सम्बन्धी[2]। इन दोनों शक्तियों के प्रयोग में मनुष्य ने जो कुछ अर्जित एवं संचित किया है उसे हम 'सामाजिक उत्तराधिकार' कहते हैं। अभिव्यक्ति का सम्बन्ध भाषा एवं ललित कलाओं से है जिन्हें हम पाठ्यक्रम का एक अनिवार्य आधार कह सकते हैं। विचार अथवा ज्ञान क्षेत्र के सम्बन्ध में उसका कथन है कि मनुष्य जीवन के तीन जगत हैं और शिक्षा का कार्य इन तीनों से परिचित करना है यथा—(१) भौतिक जगत, (२) अध्यात्म जगत तथा (३) मानव जगत। भौतिक जगत से सम्बन्धित ज्ञान के लिए प्रकृति विज्ञान—पदार्थ, रसायन एवं जीव विज्ञान आदि विषय; अध्यात्म जगत की दृष्टि से दर्शन, धर्म एवं नीति विज्ञान; और मानव जगत की दृष्टि से सामाजिक विज्ञान, समाज शास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति, इतिहास आदि की शिक्षा आवश्यक है। पाठ्यक्रम द्वारा बालक को इन तीनों ज्ञान-क्षेत्रों से परिचित करना होता है। ये तीनों क्षेत्र सतत विकासशील हैं और इसीलिए ज्ञान-विज्ञान की इतनी शाखाएँ-प्रति शाखायें फूटती जा रही हैं तथा नये-नये विषयों का प्रादुर्भाव होता जा रहा है। पाठ्यक्रम भी इसी कारण सतत परिवर्तनशील है और उसकी रचना दिन प्रतिदिन जटिल होती जा रही है। इस प्रकार अंततोगत्वा मानव प्रकृति ही पाठ्यक्रम का स्रोत है।

पाठ्यक्रम के प्रकार

विविध पाठ्य विषयों को संगठित करने के अनेक दृष्टिकोण, क्रम, रूप और प्रक्रियाएँ हैं जिनके आधार पर पाठ्यक्रम के अनेक प्रकारों का उल्लेख किया जाता है। मुख्य रूप से ये प्रकार निम्नलिखित हैं :—

१—पृथक्-पृथक्-विषय रूप पाठ्यक्रम
२—व्यापक क्षेत्रीय पाठ्यक्रम

---

1. Power of thought.
2. Power of expression.
3. The Pivotal Problems of Education. P. 291-92.

३—केन्द्रीय पाठ्यक्रम

४—अनुबंधित पाठ्यक्रम

(१) **पृथक्-पृथक् विषय रूप पाठ्यक्रम**—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इस प्रकार के पाठ्यक्रम में भाषा, गणित, विज्ञान, इतिहास, भूगोल आदि विविध पाठ्य विषयों को पृथक्-पृथक् स्वतंत्र अस्तित्व प्रदान करके संकलित कर दिया जाता है और उसी रूप में बालकों को उनकी शिक्षा भी प्रदान की जाती है।

• इस प्रकार के पाठ्यक्रम का आधार प्राचीन शक्ति अथवा सामर्थ्य मनोविज्ञान[1] है जिसके अनुसार यह माना जाता था कि मस्तिष्क अनेक शक्तियों का समूह है और उन शक्तियों को विकसित करने के लिए अलग-अलग विषयों की शिक्षा आवश्यक है जैसे गणित द्वारा तर्क एवं सूक्ष्म विचार शक्ति, विज्ञान द्वारा निरीक्षण, प्रयोग एवं निर्णय शक्ति, साहित्य एवं कला द्वारा सौन्दर्य-बोध तथा कल्पना शक्ति का विकास किया जा सकता है। किन्तु यह आधार अब मान्य नहीं है। इस प्रकार के पाठ्यक्रम द्वारा बालक में न तो अध्ययन की रुचि पैदा होती है और न उसका समन्वित एवं संतुलित विकास ही होता है। वह विविध विषयों की उपयोगिता भी ठीक से नहीं समझ पाता और रट-रटाकर परीक्षा उत्तीर्ण करना ही अपना ध्येय समझने लगता है। शक्ति मनोविज्ञान अब बहुत पुराना पड़ गया है और आधुनिक मनोविज्ञान उसे किसी भी प्रकार की मान्यता नहीं प्रदान करता।

इस प्रकार के पाठ्यक्रम का सबसे बड़ा दोष यह है कि पृथक्-पृथक् विषयों को रख देने से अनेक विषयों की भीड़-सी लग जाती है और उनमें स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित कर सकना असम्भव-सा हो जाता है। छात्र इन विषयों को आत्मसात नहीं कर पाते और न जीवन में ही उनकी उपयोगिता रह जाती है। अतः प्राइमरी एवं पूर्व माध्यमिक कक्षाओं के लिए यह बिल्कुल ही अनुपयुक्त सिद्ध होता है। उच्चतर माध्यमिक तथा विश्वविद्यालयीय स्तर पर इसकी उपयोगिता हो सकती है जहाँ विशिष्टीकरण के लिए पृथक्-पृथक् विषय का सूक्ष्म एवं गहन अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

(२) **व्यापक क्षेत्रीय पाठ्यक्रम**[2]—इस प्रकार के पाठ्यक्रम में पाठ्य विषयों को इस प्रकार संगठित किया जाता है कि प्रत्येक विषय अपने में अनेक सम्बद्ध अथवा समक्षेत्रीय विषयों को समाहित किये हुए रहते हैं जैसे 'सामाजिक अध्ययन'

---

1. Faculty Psychology.
2. Broad-field Curriculum

जिसमें इतिहास, भूगोल, नागरिक शास्त्र, अर्थशास्त्र समाहित हैं; 'सामान्य विज्ञान' जिसमें भौतिक, रसायन, प्राणि एवं वनस्पति विज्ञान समाहित रहते हैं; 'गणित' जिसमें अंकगणित, रेखागणित और बीजगणित शामिल हैं। प्रत्येक विषय का अध्ययन-क्षेत्र इस प्रकार व्यापक अथवा विस्तृत बना दिया जाता है और उसके अन्तर्गत विविध पाठ्य वस्तुओं को भी परस्पर सम्बन्धित रूप देकर किसी क्रिया, योजना अथवा समस्या के माध्यम द्वारा संगठित कर दिया जाता है। फिर प्रत्येक व्यापक क्षेत्रीय विषयों में भी सह-सम्बन्ध का ध्यान रखा जाता है।

इस प्रकार के पाठ्यक्रम की सबसे बड़ी उपयोगिता यह है कि पाठ्यक्रम में पाठ्य विषयों की संख्या कम हो जाती है और बालकों को तत्सम्बन्धी आवश्यक एवं व्यावहारिक ज्ञान भी प्राप्त हो जाता है। अनावश्यक सूचनाओं एवं तथ्यों के रटने के भार से बालक मुक्त रहते हैं। उनकी ग्रहण शक्ति एवं संतुलित मानसिक विकास की दृष्टि से भी इस प्रकार के पाठ्यक्रम का विशेष महत्त्व है। प्राइमरी एवं पूर्व माध्यमिक कक्षाओं के लिए इस प्रकार के पाठ्यक्रम का विशेष महत्त्व है।

(३) केन्द्रीय पाठ्यक्रम[1]—जब किसी विशेष विषय को केन्द्र मानकर अन्य समस्त विषयों का संगठन किया जाता है तो उसे केन्द्रीय पाठ्यक्रम कहा जाता है। हरबार्ट द्वारा प्रतिपादित 'सह-सम्बन्ध' के प्रसंग में इसका उल्लेख किया जा चुका है।

किन्तु पाठ्यक्रम निर्माण की दृष्टि से केन्द्रीय (कोर) शब्द उन अनिवार्य विषयों का द्योतक रहा है जिनकी शिक्षा सभी के लिए आवश्यक समझी जाती है। इसीलिए अब पाठ्यक्रम के उस अंश के लिए इस शब्द का प्रयोग होने लगा है जिसे सामान्य शिक्षा[2] कह सकते हैं।

'कोर' शब्द का अर्थ प्रकट करने के लिए विद्वानों ने अनेक शब्दों का प्रयोग किया है जैसे 'बुनियादी विषय'[3], 'आधार भूत विषय'[4], 'अनुबन्धित विषय'[5], 'एकीकृत विषय'[6], 'सामान्य ज्ञान'[7], 'सामान्य शिक्षा'[8] आदि। ये सभी शब्द थोड़े बहुत अन्तर से यही आशय प्रकट करते हैं कि केन्द्रीय अथवा कोर पाठ्यक्रम का प्रयोग उन विषयों के संगठन के लिए किया जाता है जो सभी शिक्षार्थियों के लिए आवश्यक हैं, क्योंकि इनके आधार एक ओर जहाँ सर्व सामान्य वैयक्तिक आवश्यकताएँ हैं वहाँ

---

1. Core Curriculum. 2. General Education. 3. Basic Courses. 4. Foundation Courses. 5. Integrates Courses. 6. Unifying Courses. 7. Common Learning. 8. General Education.

दूसरी ओर जनतान्त्रिक समाज के एक सक्रिय सदस्य होने के नाते सामाजिक तथा नागरिक आवश्यकताएँ भी हैं। ई० एम० ड्रेपर ने इसी अर्थ में 'कोर' करिक्यूलम का प्रयोग किया है। इन अनिवार्य विषयों में मातृभाषा तथा राष्ट्र भाषा, गणित, सामान्य विज्ञान तथा सामाजिक अध्ययन की गणना की जाती है। इस प्रकार का पाठ्यक्रम प्राइमरी कक्षाओं के लिए विशेष उपयोगी माना जाता है जहाँ सभी छात्रों को ये विषय समान एवं अनिवार्य रूप से पढ़ने पड़ते हैं। किन्तु उच्च स्तर पर सभी के लिए आवश्यक इन बुनियादी पाठ्य विषयों के अतिरिक्त व्यक्तिगत रुचि एवं प्रकृति की भिन्नता को ध्यान में रखकर विशेष शिक्षा की भी व्यवस्था करनी पड़ती है और ऐसे अनेक ऐच्छिक विषयों को पाठ्यक्रम में रखना पड़ता है जिनमें से बालक अपनी रुचि, योग्यता एवं सामर्थ्य के अनुकूल विषय को चुन सकें।

४--अनुबन्धित पाठ्यक्रम[1]--जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, इस पाठ्यक्रम का आधार प्रसिद्ध अमेरिकन शिक्षा विचारक प्रो० जॉन ड्यूवी का 'अनुबन्ध' सम्बन्धी विचार है। इसे एकीकृत बाल केन्द्रित पाठ्यक्रम[2] भी कहते हैं। यह पृथक्-पृथक्-विषय रूप पाठ्यक्रम के सर्वथा विपरीत प्रकार है। इसमें बालक के जीवन से संबंधित एवं तात्कालिक प्रयोजन सिद्ध करने वाली किसी क्रिया, योजना अथवा समस्या को पूरा करने के सिलसिले में विविध विषयों की जानकारी कराई जाती है। इससे शिक्षा एक सोद्देश्य क्रिया के रूप में बालक के सम्मुख प्रस्तुत होती है और उसमें बालक की रुचि तथा एकाग्रचित्तता बनी रहती है। इस प्रकार के पाठ्यक्रम द्वारा बालक स्वयं अथवा आत्म प्रयत्न से शिक्षा ग्रहण करता है। सीखने का सम्बन्ध बालक के व्यक्तित्व-विकास के साथ अभिन्न रूप में जुड़ा रहता है और उसे साथ-साथ सामाजिक कुशलता भी प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार अनुबन्धित पाठ्यक्रम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी ठीक प्रतीत होता है।

इस पाठ्यक्रम का सबसे बड़ा दोष यह है कि हम यह मान लेते हैं कि मनुष्य केवल आत्म क्रिया द्वारा सीखता है, दूसरों के अनुभवों के संकलन से नहीं। किन्तु यह ठीक नहीं है। मनुष्य आत्म क्रिया एवं स्वानुभव के साथ-साथ दूसरों के अनुभवों के द्वारा भी बहुत कुछ सीखता है। इस पाठ्यक्रम में विविध विषयों का व्यवस्थित ज्ञान प्रदान करना भी सम्भव नहीं हो पाता, क्योंकि पाठ्य विषय सम्बन्धी समस्त ज्ञान अनुबन्धित रूप से प्रस्तुत नहीं हो पाते और अनेक बातें छूट जाती हैं। इस पाठ्यक्रम में निश्चित् पाठ्य पुस्तकों का भी आश्रय नहीं लिया जाता और छात्रों के स्वाध्याय की दृष्टि से केवल उपयोगी पुस्तकों का चयन और संकलन करना पड़ता है। यह

1. Integrated Curriculum.
2. Unified Child-Centred Curriculum.

बहुत ही व्ययसाध्य प्रणाली है जो हमारे देश के लिए तो और भी दुःसाध्य है। ऐसे कुशल शिक्षकों का भी हमारे यहाँ अभाव है जो सामान्य रूप से सभी विषयों पर अधिकार रखते हों और उन्हें अनुबंधित रूप में पढ़ा सकते हों। इन कठिनाइयों के कारण अनुबन्धित पाठ्यक्रम को केवल प्राइमरी एवं पूर्व माध्यमिक कक्षाओं तक ही उपयोगी माना जाता है जब तक कि बालकों को सामान्य शिक्षा की आवश्यकता रहती है और उनमें विशिष्ट अभिरुचि एवं ज्ञान प्राप्त करने की विशेष दिशा का उदय नहीं हुआ रहता है।

विविध स्तरों के लिए पाठ्यक्रम—हमारे देश में शिक्षा के निम्नलिखित स्तर हैं—(१) पूर्व प्राथमिक अथवा नर्सरी। (२) प्राथमिक। (३) पूर्व माध्यमिक। (४) माध्यमिक। (५) विश्वविद्यालयीय। इनमें से पूर्व प्राथमिक तथा विश्वविद्यालयीय स्तर के पाठ्यक्रम पर विचार करना इस पुस्तक की सीमा के बाहर की बात है। अतः केवल प्राथमिक, पूर्व माध्यमिक और माध्यमिक इन्हीं तीन स्तरों के पाठ्यक्रम पर विचार किया जा रहा है।

प्राथमिक स्तर—हमारे प्रदेश में यह स्तर कक्षा १ से ५ तक अर्थात् ५ वर्ष की शिक्षा का है। इन स्कूलों को 'बेसिक प्राइमरी स्कूल' अथवा 'जूनियर बेसिक स्कूल' कहते हैं। यह स्तर ६ से लेकर ११ वर्ष तक की आयु वाले बालकों के लिए है। अतः उनके स्वाभाविक विकास की दृष्टि से पाठ्यक्रम की रचना की गई है। यह ध्यान रखा गया है कि इसके द्वारा बालकों को अपने प्राकृतिक एवं सामाजिक वातावरण का सही-सही ज्ञान प्राप्त हो सके, उनकी रुचि, शक्ति और क्रियाशीलता के अनुरूप मनोवैज्ञानिक ढंग से उनका विकास हो सके और साथ ही सीनियर बेसिक स्कूल की शिक्षा के लिए उनकी तैयारी भी हो सके। इसलिए इस स्तर के पाठ्यक्रम में निम्नलिखित विषय रखे गये हैं—

(१) शिल्प एवं कला—इस स्तर के बालकों में बड़ी क्रियाशीलता होती है और क्रिया द्वारा सीखना ही उनके लिए मनोवैज्ञानिक प्रणाली है। अतः बेसिक शिक्षा में शिल्प[1] और कला[2] ही शिक्षा के आधार हैं। इनसे बालक की रचनात्मक एवं कलात्मक प्रवृत्ति एवं शक्तियों का विकास तो होता ही है, साथ ही इनके माध्यम से अन्य विषयों की शिक्षा ग्रहण करने में भी सहायता मिल जाती है। 'स्वयं करके सीखना' तथा 'स्वानुभव द्वारा सीखना' इस स्तर की सर्वोपयुक्त प्रणाली मानी जाती है और शिल्प एवं कला के द्वारा इन दोनों का पूर्ण अवसर मिल जाता है। शिल्प अथवा कला का चुनाव स्थानीय वातावरण के अनुकूल किया जाता है। हमारे ग्रामीण वातावरण के अनुरूप जैसे कताई-बुनाई, कृषि, बागवानी, मिट्टी का काम, बढ़ईगिरी

1. Craft.
2. Art.

आदि शिल्प विशेष उपयुक्त हैं। इनके द्वारा स्थानीय समाज एवं वातावरण के अनुकूल पाठशाला के जीवन का सामंजस्य बना रहता है। शिल्प के समावेश से तथा उसे आधार मानकर शिक्षा देने से विविध विषयों का सह-सम्बन्ध भी स्वाभाविक रूप से स्थापित हो जाता है।

कला की दृष्टि से ड्राइंग, चित्रकारी, रंगाई, संगीत और नृत्य को विशेष रूप से स्थान दिया गया है।

भाषा—भाषा समस्त विषयों की शिक्षा का मूलाधार है। वही अभिव्यक्ति एवं विचार-विनिमय का साधन है। इस स्तर पर बालक को इतनी भाषा अवश्य आ जानी चाहिए कि वह अपने विचारों को सरल, स्वाभाविक एवं शुद्ध भाषा में व्यक्त कर सके, दूसरों के द्वारा व्यक्त सरल भावों एवं विचारों को समझ सके, अपनी पाठ्य-पुस्तकों को पढ़कर तथ्यों एवं विचारों को ग्रहण कर सके और उन पर आधारित प्रश्नों का उत्तर दे सके एवं अपने भावों, विचारों एवं अनुभवों को सरल भाषा में लिख सके।

गणित—गणित की शिक्षा द्वारा बालक में विचार एवं तर्क शक्ति का विकास होता है और निर्णय करने अथवा निष्कर्ष निकालने की क्षमता बढ़ती है। अतः इस स्तर पर सामान्य गणित की शिक्षा अनिवार्य है, किन्तु बालकों की मानसिक शक्ति के अनुकूल केवल व्यावहारिक गणित पर ही बल दिया गया है जिसे वे स्वयं अपने ज्ञान एवं अनुभव के आधार पर सीखते चलें। इसीलिए दिन-प्रति-दिन के जीवन में आनेवाली समस्याओं पर आधारित जोड़, बाकी, गुणा, भाग तथा साधारण नाप-तौल आदि के प्रश्न ही उन्हें दिये जाते हैं।

सामाजिक अध्ययन—बालकों को प्राकृतिक एवं सामाजिक वातावरण का ज्ञान प्रदान करने के लिए सामाजिक अध्ययन का विषय इस स्तर के पाठ्यक्रम में रखा गया है। इसके अन्तर्गत इतिहास, भूगोल, नागरिक शास्त्र, समाज विज्ञान, अर्थशास्त्र सम्बन्धी सामान्य बातें उन्हें बताई जाती हैं। इससे उनमें नागरिकता की भावना का उदय होता है और वे अपने व्यक्तिगत तथा सामाजिक अधिकार एवं कर्त्तव्य से परिचय प्राप्त करते हैं। सरल एवं रोचक कहानियों के द्वारा इनकी पाठ्य सामग्री प्रस्तुत की जाती है।

सामान्य विज्ञान एवं स्वास्थ्य विज्ञान—सामान्य विज्ञान मुख्यतः प्राकृतिक वातावरण से परिचित कराने वाला मुख्य विषय है। इसके अन्तर्गत भौतिकी, रसायन, जीव विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, प्राकृतिक भूगोल सम्बन्धी अति सरल एवं सामान्य बातों की जानकारी कराने का प्रयत्न किया जाता है और उन्हें आरम्भ से ही वैज्ञानिक ढंग से सोचने तथा कार्य करने की सूझ-बूझ प्रदान की जाती है। इसकी शिक्षा मुख्यतः क्रियात्मक एवं प्रयोगात्मक रहती है।

स्वास्थ्य विज्ञान द्वारा बालकों को नियमित जीवन व्यतीत करने, स्वच्छता से रहने, जल, वायु और भोजन सम्बन्धी सामान्य बातों से परिचित कराने का प्रयत्न किया जाता है।

प्राथमिक स्तर का पाठ्यक्रम
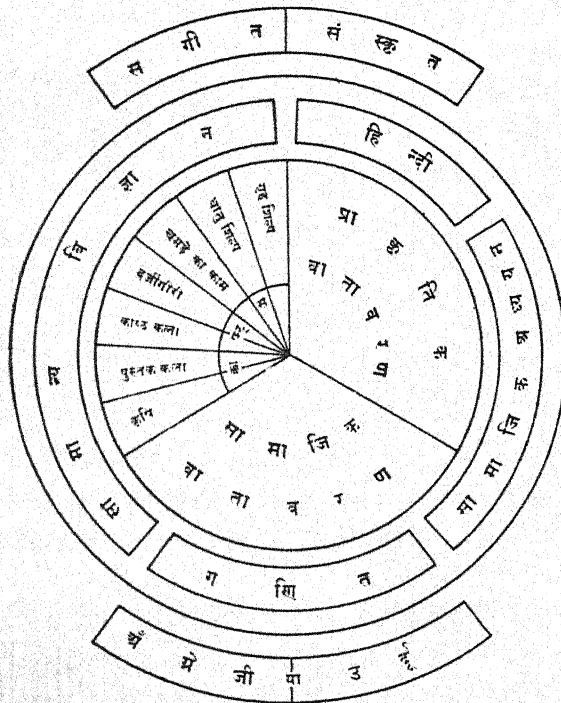
शारीरिक शिक्षा—इस स्तर पर बालकों की शारीरिक शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता है। खेल-कूद और व्यायाम को बालकों की शिक्षा के कार्यक्रम में नियमित रूप से स्थान दिया गया है। सामूहिक खेलों द्वारा उनमें सामाजिकता, सहयोग, सौहार्द आदि गुणों की अभिवृद्धि होती है। अन्य विषयों की शिक्षा भी खेल द्वारा प्रदान की जाती है। शारीरिक शिक्षा के कार्यक्रम से बालकों में एक आनन्द और उल्लास की भावना बनी रहती है और वे शिक्षा को भार न समझ कर उसे रुचि एवं आनन्द के साथ ग्रहण करते हैं।

पूर्व माध्यमिक स्तर—यह स्तर कक्षा ६ से कक्षा ८ तक तीन वर्ष की शिक्षा का रखा गया है। सामान्यतः बालकों की आयु ११+से १४+तक रहती है। इसे सीनियर अथवा उत्तर बेसिक स्कूल अथवा जूनियर हाई स्कूल भी कहा जाता है।

वस्तुतः यह स्तर माध्यमिक शिक्षा का ही पूर्ववर्ती रूप है। माध्यमिक शिक्षा को दो भागों में विभक्त किया गया है। पहला पूर्व माध्यमिक स्तर और दूसरा हायर सेकेन्डरी अथवा उच्चतर माध्यमिक स्तर। मुदालियर कमीशन ने माध्यमिक शिक्षा सम्बन्धी आख्या में पाठ्यक्रम रचना पर विचार करते हुए इन दोनों स्तरों के लिए जिस पाठ्यक्रम की संस्तुति की है, उसे हम एक आदर्श पाठ्यक्रम के रूप में अपना सकते हैं।

पूर्व माध्यमिक स्तर पर उक्त कमीशन के अनुसार पाठ्यक्रम में निम्नलिखित विषय रखे गये हैं—

(१) भाषाएँ—इनमें मातृभाषा (प्रादेशिक भाषा) तथा राजभाषा (हिन्दी) दोनों का समावेश किया गया है। जिन प्रदेशों में हिन्दी ही मातृभाषा है, वहाँ छात्र एक और किसी प्रादेशिक भाषा का अध्ययन करेंगे। इन दो के अतिरिक्त तीसरी भाषा का भी समावेश किया जा रहा है। पाठ्यक्रम में विदेशी भाषा के रूप में अंग्रेजी की शिक्षा का समावेश किया गया है, पर उसे अनिवार्य विषय नहीं रखा गया है।[1]

(२) सामाजिक अध्ययन—इसके अंतर्गत इतिहास, भूगोल, नागरिक शास्त्र और अर्थशास्त्र में पढ़ाई जाने वाली सामग्री ही अनुबन्धित रूप में पढ़ाई जायगी। इन विषयों में इतनी स्वाभाविक घनिष्ठता है कि इस स्तर पर एक विषय के रूप में ही उन्हें पढ़ाना उचित प्रतीत होता है।

(३) सामान्य विज्ञान—इसके द्वारा छात्रों को सामान्य वैज्ञानिक सिद्धांतों से परिचित कराया जायगा। इसकी शिक्षा में प्रायोगिक कार्यों, निरीक्षण, परिभ्रमण, निदर्शन आदि पर विशेष बल दिया जायगा और वास्तविक जीवन एवं वस्तु स्थिति से अवगत कराने का प्रयत्न किया जायगा।

(४) गणित—इसमें अंकगणित, ज्योमेट्री और बीजगणित तीनों का सामान्य ज्ञान प्रदान किया जायगा।

(५) कला और संगीत—इनका समावेश छात्रों में सांस्कृतिक अभिरुचि उत्पन्न करने और कलात्मक उत्कर्ष की दृष्टि से किया गया है।

(६) शिल्प—बेसिक शिक्षा के सिद्धांत के अनुसार एक मध्यवर्ती अथवा केन्द्रीय

---

[1] यद्यपि पाठ्यक्रम में अंग्रेजी अनिवार्य विषय नहीं है, पर व्यवहारतः वह अनिवार्य विषय के रूप में ही पढ़ाई जा रही है और अब हमारे प्रदेश में प्राइमरी कक्षा ३ से ही इसका समावेश किया गया है। इस प्रकार अंग्रेजी ने भी एक अनिवार्य भाषा का स्थान ले लिया है।

विषय के रूप में इसका समावेश आवश्यक है। इसे आधार मानकर विविध विषयों का अनुबन्ध स्थापित किया जा सकता है, पर शिल्प के चुनाव में स्थानीय वातावरण और छात्रों की प्रवणता (एप्टिट्यूड) को ध्यान में रखना आवश्यक है।

पूर्व माध्यमिक स्तर का पाठ्यक्रम
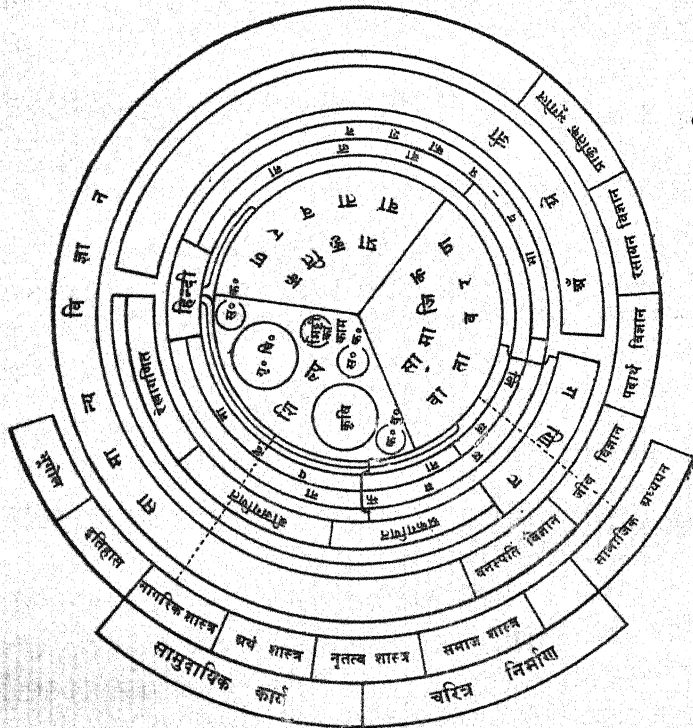
(७) शारीरिक शिक्षा (फिजिकल एजुकेशन)।

इन विषयों की महत्ता स्वयं सिद्ध है और इनके सम्बन्ध में प्राइमरी शिक्षा के पाठ्यक्रम के प्रसंग में कुछ लिखा भी जा चुका है। अतः इनकी महत्ता एवं उपादेयता पर लिखने की आवश्यकता नहीं है।

उच्चतर माध्यमिक स्तर—यह पहले लिखा जा चुका है कि यह स्तर एक ओर अपने आप में पूर्ण है और दूसरी ओर विश्वविद्यालयीय शिक्षा के लिए तैयारी का स्तर भी है। इसी कारण इस स्तर पर अनेक ऐच्छिक विषयों का समावेश आवश्यक माना जाता है। माध्यमिक शिक्षा समाप्त करने वाले विद्यार्थी अपने जीवन में किसी विशेष व्यवसाय अथवा कार्य-क्षेत्र को चुन सकें, इसके लिए पाठ्य विषयों को अनेक वर्गों में विभक्त किया गया है जो दिये गये चार्ट से स्पष्ट है। उच्चतर माध्यमिक

स्तर पर मुदालियर कमीशन ने निम्नलिखित पाठ्यक्रम का सुझाव रखा है और यही थोड़े बहुत हेर-फेर के साथ सभी माध्यमिक विद्यालयों में अपनाया गया है।

अ—(१) मातृ भाषा या प्रादेशिक (रीजनल) भाषा अथवा मातृ भाषा और पुरातन (क्लासिकल) भाषा की सम्मिलित पाठ्य सामग्री (कम्पोजिट कोर्स) जैसे हमारे प्रदेश में हिन्दी के साथ संस्कृत सम्मिलित है।

(२) निम्नलिखित में से कोई एक और भाषा—

क—हिन्दी (जहाँ हिन्दी मातृ भाषा नहीं है)

ख—प्रारम्भिक अंग्रेजी (उन छात्रों के लिए जिन्होंने सीनियर बेसिक स्तर पर अंग्रेजी नहीं ली है)

ग—उच्च अंग्रेजी (जिन्होंने पूर्व माध्यमिक स्तर पर अंग्रेजी पढ़ी है)

घ—एक आधुनिक भारतीय भाषा (हिन्दी छोड़कर)

ङ—एक आधुनिक विदेशी भाषा (अंग्रेजी छोड़कर)

च—एक पुरातन (क्लासिकल) भाषा।

ब—(१) सामाजिक अध्ययन—सामान्य पाठ्य सामग्री (कोर्स), (केवल प्रथम दो वर्षों के लिए)

(२) सामान्य विज्ञान गणित सहित—सामान्य पाठ्य सामग्री (केवल प्रथम दो वर्षों के लिए)

स—निम्नांकित में से स्थानीय आवश्यकता को देखते हुए कोई एक शिल्प—(क) कताई और बुनाई, (ख) काष्ठ शिल्प, (ग) धातु-शिल्प, (घ) बागवानी, (ङ) दर्जी का काम, (च) छपाई, (छ) वर्कशाप प्रैक्टिस, (ज) सिलाई, कढ़ाई का काम (लड़कियों के लिए) तथा (झ) माडेलिंग।

द—निम्नांकित किसी एक वर्ग (ग्रूप) में से ३ विषय—

वर्ग १—(ह्यूमेनिटीज)

(क) एक पुरातन भाषा अथवा तीसरी भाषा जो पहले अ—(२) से नहीं ली गई है।

(ख) इतिहास, (ग) भूगोल, (घ) अर्थशास्त्र और नागरिक शास्त्र के तत्व, (ङ) मनोविज्ञान और तर्क शास्त्र के तत्व, (च) गणित (छ) संगीत तथा (ज) गृह विज्ञान।

वर्ग २—(विज्ञान)

(क) पदार्थ विज्ञान, (ख) रसायन, (ग) जीव-विज्ञान, (घ) भूगोल, (ङ) गणित तथा (च) शरीर विज्ञान और स्वास्थ्य विज्ञान (जीव विज्ञान के साथ नहीं होना चाहिए)।

वर्ग ३—प्राविधिक (टेक्निकल)

(क) व्यावहारिक गणित तथा ज्योमेट्रिकल ड्राइंग, (ख) व्यावहारिक विज्ञान,

(ग) मेकेनिकल इंजीनियरिंग के तत्व तथा (घ) इलेक्ट्रिकल इंजीनियरिंग के तत्व ।

उच्चतर माध्यमिक स्तर का पाठ्यक्रम
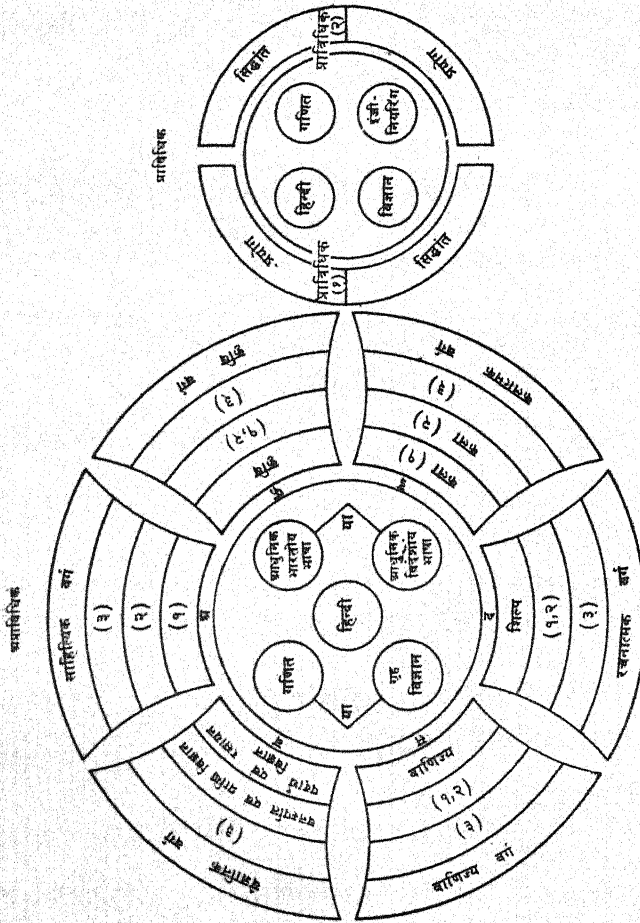
वर्ग ४—(वाणिज्य)

(क) वाणिज्य व्यवहार (ख) हिसाब-किताब (बुककीपिंग) (ग) वाणिज्यिक भूगोल या प्रारम्भिक अर्थशास्त्र तथा नागरिक शास्त्र तथा (घ) शार्टहैण्ड और टाइप राइटिंग ।

वर्ग ५—(कृषि)

(क) सामान्य कृषि, (ख) पशुपालन, (ग) वृक्ष विज्ञान[1] तथा बागवानी और (घ) कृषि रसायन तथा वनस्पति शास्त्र ।

1. Horticulture.

वर्ग ६—(ललित कलाएँ)[1]

(क) कला का इतिहास (ख) ड्राइंग और डिजाइनिंग, (ग) पेंटिंग, (घ) माडेलिंग, (ङ) संगीत तथा (च) नृत्य।

वर्ग ७—(गृह विज्ञान)

(क) गृह अर्थशास्त्र, (ख) पोषक तत्व तथा पाक शास्त्र (ग) मातृ कौशल तथा शिशु-रक्षा (घ) गृह प्रबन्ध तथा गृह परिचर्या—

य—उपर्युक्त के अतिरिक्त कोई छात्र एक अतिरिक्त विषय किसी भी वर्ग में से ऐच्छिक विषय के रूप में ले सकता है चाहे उसने उस वर्ग में से दूसरे ऐच्छिक विषय लिये हों या नहीं।

पाठ्य विषय-निर्धारण[2]—पाठ्यक्रम में विद्यालय के समस्त विषयों एवं कार्यों का उल्लेख रहता है एवं विविध स्तरों पर पाठ्य विषयों की क्रमिक एवं सामान्य रूप-रेखा दे दी जाती है, किन्तु किसी विशेष स्तर पर पाठ्य वस्तु की विस्तृत योजना, तथा कक्षा में कौन विषय, किस समय, कितना और किस प्रकार पढ़ाना है, आदि का उल्लेख पाठ्य-विषय (Syllabus) में किया जाता है। इस योजना को तैयार करना ही पाठ्यविषय-निर्धारण (Framing of syllabus) कहा जाता है।

पाठ्य-विषय निर्धारण के रूप—शिक्षण कार्य के सुव्यवस्थित संचालन के लिए यह आवश्यक है कि वर्ष के प्रारम्भ में ही अधिकारी एवं अध्यापकगण विद्यालय के लिए अपनी साधन सम्पन्नता और विद्यार्थियों की आवश्यकता को समझ कर पाठ्यक्रम में से उपयुक्त विषयों का निर्वाचन कर लें और कक्षा को ध्यान में रखते हुए पूरे वर्ष के लिए प्रत्येक विषय की पाठ्य सामग्री निर्धारित कर लें। यह निर्धारण दो रूपों में हो सकता है—(१) पूरी पाठ्य सामग्री विविध प्रकरणों अथवा शीर्षकों के क्रम में आयोजित की जाय और क्या पढ़ना है इसकी सामान्य रूप-रेखा मात्र दे दी जाय। (२) दूसरा रूप यह है कि प्रत्येक शीर्षक या प्रकरण के अन्तर्गत पढ़ाई जाने वाली सामग्री को अधिकाधिक उपशीर्षकों एवं तदन्तर्गत विविध भेदों-उपभेदों में विभक्त करते हुए विस्तार के साथ क्रमायोजित किया जाय।

उच्चतर माध्यमिक स्तर पर यह दूसरे प्रकार का अर्थात् पाठ्य वस्तु का विस्तृत क्रमायोजन ही अधिक उपयोगी होता है। इसमें पूरे वर्ष के लिए पाठ्य सामग्री निश्चित कर लेने पर यह योजना भी बना ली जाती है कि किस सत्र (Term) में कितनी पाठ्य सामग्री पढ़ा देनी है। प्रत्येक सत्र के शैक्षणिक कार्य को फिर मासिक एवं साप्ताहिक इकाइयों में बाँट लिया जाता है। प्रत्येक अध्यापक को वर्ष के प्रारम्भ

1. Fine Arts. 2. Framing of syllabus

में ही पूरे वर्ष के लिए अपने विषय एवं शिक्षण की यह पूर्ण और निश्चित योजना स्पष्ट रूप से ज्ञात रहनी चाहिए।

कुछ विचारकों का यह कहना है कि अध्यापक विषयसामग्री एवं शिक्षण सम्बन्धी यह योजना पहले ही तैयार न करके पाठ-शिक्षण की प्रगति के अनुसार आगे की सामग्री एवं शिक्षण की योजना बनाता चले। व्यावहारिकता, यथार्थता एवं शुद्धता (Exactness) की दृष्टि से यह संगत जान पड़ता है, किन्तु विशेष कार्य-तत्पर, योग्य एवं कुशल अध्यापक ही ऐसा कर सकता है अन्यथा शिक्षण का क्रम टूट जाने का भय बना रहता है। अतः वर्ष के प्रारम्भ में ही पाठ्य विषय-निर्धारण की योजना अधिक उपयोगी सिद्ध होती है।

उपयोगिता—पाठ्य विषय-निर्धारण की आवश्यकता स्वयंसिद्ध है। इसके द्वारा अध्यापक के सम्मुख एक स्पष्ट लक्ष्य बन जाता है और उसके अनुसार वह अपनी शिक्षण-प्रगति भी आँकता चलता है। वह आवश्यकतानुसार अपनी गति भी घटा-बढ़ा सकता है। इस योजना से यह भी लाभ है कि किसी विषय के किसी अंग के प्रति उपेक्षा नहीं हो पाती और सर्वाङ्ग संतुलित पाठ्य सामग्री पर ध्यान बना रहता है। अतः प्रत्येक अध्यापक के पास इस योजना की प्रतिलिपि अथवा डायरी रहनी चाहिए। प्रधानाध्यापक के लिए भी इसका महत्त्व प्रत्यक्ष है। इसके द्वारा वह प्रत्येक अध्यापक के कार्य को समझ लेता है और कार्य संचालन सम्बन्धी जहाँ कहीं कोई अनियम अथवा असावधानी देखता है, वह उचित निर्देश अथवा आदेश दे सकता है।

पाठ्य-विषय-निर्धारण से अध्यापक की कार्यक्षमता में भी वृद्धि हो जाती है। उनके सामने एक स्पष्ट दिनचर्या रहती है जिससे शिक्षण की तैयारी भी शीघ्र हो जाती है। हाई स्कूल तथा इन्टरमीडियट में दो-दो वर्ष के लिए पाठ्यक्रम निर्धारित रहता है। अतः कितना भाग पहले वर्ष में और कितना दूसरे वर्ष में पढ़ाना है, इसे निश्चित कर लेना आवश्यक हो जाता है। सात्रिक परीक्षाओं की दृष्टि से भी इसका बहुत महत्त्व है, क्योंकि प्रत्येक सत्र के लिए निश्चित पाठ्य सामग्री का शिक्षण आवश्यक हो जाता है और उसी आधार पर प्रश्न-पत्रों की रचना होती है।

पाठ्य-विषय निर्धारण में ध्यान देने योग्य बातें—

(१) वर्ष के प्रारम्भ में ही शिक्षा-विभाग द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम अच्छी तरह देखकर अपने विद्यालय के लिए उपयुक्त विषयों का चुनाव कर लेना चाहिए।

(२) विद्यालय में एक अध्यापक कई कक्षाओं को पढ़ाता है। अतः प्रत्येक कक्षा के लिए उसे एक सत्र का कार्य निश्चित कर लेना चाहिए और प्रधानाध्यापक से उसकी स्वीकृति ले लेनी चाहिए तथा अपनी डायरी में इस योजना का उल्लेख कर लेना चाहिए।

(३) पाठ्य-विषय को विविध सत्रों की दृष्टि से विभक्त करते समय ठीक अनुपात का ध्यान रखना चाहिए। किसी सत्र में अधिक और किसी में कम, ऐसा नहीं होना चाहिए। प्रधानाध्यापक को भी डायरी निरीक्षण के समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए।

(४) पाठ्यविषय रचना का कोई एक ही रुढ़िग्रस्त नियम नहीं है। सुविधानुसार अध्यापक एवं प्रधानाध्यापक पाठ्यसामग्री का विभाजन मासिक या सात्रिक रूप में कर सकते हैं, किन्तु यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि पाठ्यपुस्तक में दिये हुए प्रकरणों या शीर्षकों की सूची गिना देना ही पर्याप्त नहीं है बल्कि पाठ्यवस्तु (Content), शिक्षण के उद्देश्य (Objectives) और दृष्टिकोण (Approach) का भी उल्लेख होना चाहिए।

(५) यह देखते रहना चाहिए कि पूर्व निर्धारित पाठ्य-योजना ठीक से चल रही है जिससे पूर्वापर सम्बन्ध बना रहे।

(६) एक कक्षा में अनेक वर्ग (सेक्सन) होते हैं और एक ही विषय का शिक्षण अनेक अध्यापक करते हैं। अतः पाठ्य-विषय निर्धारण के समय सभी अध्यापक मिलकर निश्चित करें कि एक सत्र में या अमुक समय तक कितना कार्य करना है। इससे उस कक्षा के सभी वर्गों के छात्रों की शिक्षा समान रूप से चलती है और शिक्षकों के कार्य में भी समायोजन (Coodination) बना रहता है। समय-समय पर होनेवाली अध्यापकों की बैठकों में शिक्षण की प्रगति पर विचार होना चाहिए और तदनुसार आगामी योजना बननी चाहिए।

पाठ्य सामग्री का नियोजन[1]—पाठ्य सामग्री का चयन और वर्गीकरण सामान्यतः निम्नलिखित तीन योजनाओं के आधार पर किया जाता है[2] :—

(१) प्रकरण विधि[3] अर्थात् समस्त पाठ्य सामग्री प्रकरणों की सूची के रूप में क्रमायोजित कर ली जाती है और क्रम से उनका अध्ययन किया जाता है।

(२) समस्या विधि[4] अर्थात् समस्याओं की सूची जिन्हें सिद्ध करने के माध्यम से समस्त अध्येय सामग्री पढ़ा दी जाती है।

(३) अन्विति विधि[5] अर्थात् पूरी पाठ्य सामग्री अन्वितियों में विभाजित करके क्रमायोजित कर ली जाती है और क्रमशः उनका अध्ययन किया जाता है।

---

1. Planning the Scope of a Course.
2. *T. M. Risk*—Principles and Practices of Teaching, P. 270.
3. By Topics. 4. By Problems. 5. By Units.

इन योजनाओं में अन्विति विधि का विशेष महत्त्व है अतः उसका संक्षिप्त परिचय हमारे लिए आवश्यक है। रिस्क महोदय ने कास्वेल एवं कैम्पबेल की पुस्तक 'करिकुलम डेवलपमेन्ट' से उद्धृत करते हुए अन्वितियों के दो प्रमुख प्रकारों का उल्लेख किया है—(क) विषय वस्तु पर आधारित अन्वितियाँ[1], (ख) अनुभवात्मक अन्वितियाँ[2]। फिर प्रत्येक के तीन-तीन प्रकार हैं—

(क) विषय वस्तु पर आधारित अन्वितियाँ—(१) प्रकरण-अन्विति[3], (२) सामन्यीकरण अन्विति[4], (३) वातावरण के किसी विशेष पक्ष पर आधारित अन्विति[5]।

(ख) अनुभवात्मक अन्वितियाँ—(१) रुचिकेन्द्र पर आधारित[6], (२) प्रयोजन पर आधारित[7], (३) आवश्यकता पर आधारित[8]।

(१) प्रकरण अन्विति—सामग्री को कुछ शीर्षकों या पाठों के क्रम से आयोजित करना और प्रत्येक शीर्षक के अन्तर्गत तत्संबंधी तथ्यों, सूचनाओं एवं उदाहरणों आदि को संकलित करना ही 'प्रकरण अन्विति' का रूप है। उदाहरणतः किसी एक कक्षा की इतिहास विषयक सामग्री को समयानुक्रम से घटित होने वाली घटनाओं के आधार पर विविध प्रकरणों में बाँटकर प्रत्येक प्रकरण को एक अन्विति के रूप में मान लिया जाता है। इस विधि में परम्परागत पाठ या अध्याय विधि से कोई भिन्नता नहीं प्रतीत होती।

(२) सामान्योकरण अन्विति—इसके अनुसार किसी विषय सम्बन्धी सामान्य नियमों, सिद्धांतों अथवा निष्कर्षों के आधार पर अन्वितियाँ बनाई जाती हैं और प्रत्येक अन्विति एक पाठ के रूप में छात्रों के सम्मुख आती है। इस बात का ध्यान रखा जाता है कि पहले आवश्यक तथ्य, उदाहरण एवं प्रयोग प्रस्तुत किये जायँ और उनके द्वारा छात्र स्वयं ही नियमों अथवा सिद्धांतों के सामान्यीकरण पर पहुँच सकें न कि पहले सिद्धांत या नियम ही प्रस्तुत कर दिया जाय। दूसरे शब्दों में अन्वितियों की योजना आगमन-विधि को ध्यान में रखते हुए होगी, निगमन विधि को नहीं। विज्ञान, गणित, व्याकरण आदि विषयों में सामान्यीकरण अन्विति का अनुकरण बहुत उपयोगी होता है।

---

1. Subject matter units.
2. Experience units.
3. The topic unit.
4. The generalisation unit.
5. The unit based on a significant aspect of environment.
6. The unit based on a centre of interest.
7. The unit based on pupil purpose.
8. The unit based on pupil need.

(३) वातावरण के किसी विशेष पक्ष पर आधारित अन्विति—विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि शिक्षा के सभी विषय किसी न किसी रूप में वातावरण के ज्ञान पर आधारित हैं। 'वातावरण' शब्द बड़ा व्यापक अर्थ रखता है। वातावरण प्राकृतिक, भौतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि जीवन के सभी पक्षों को आविष्ट किए हुए है और यही नहीं बल्कि वर्तमान के साथ-साथ अतीत का भी ज्ञान उसके अन्तर्गत समाहित है। सम्पूर्ण विज्ञान, कला, नीति एवं व्यवहार भी उसके अन्तर्गत आते हैं। अतः वातावरण किसी विशेष पक्ष को आधार मानकर अध्ययन-सामग्री को अन्वितियों में विभक्त किया जा सकता है। इससे शिक्षार्थी में वातावरण के प्रति सामंजस्य की क्षमता बढ़ती है और पाठ्य सामग्री का सम्बन्ध वातावरण से बने रहने के कारण वह सोद्देश्यता, रोचकता एवं सजीवता का अनुभव भी करता रहता है।

(ख) अनुभवात्मक अन्वितियाँ—इस प्रकार की अन्वितियों की रचना तभी सम्भव है जब पहले से यह स्पष्ट ज्ञात रहे कि किस विशेष वर्ग के लिए इनकी रचना हो रही है। प्रारम्भिक कक्षाओं के लिए ये अधिक उपयुक्त हैं। इनके तीन प्रकार निम्नलिखित हैं—

(१) रुचि केन्द्र पर आधारित—बालकों की रुचि पर आधारित क्रियाएँ एवं वस्तुएँ जो एक-एक शीर्षक के अन्तर्गत क्रमायोजित की जाती हैं। जैसे नाव, वायुयान, रेलगाड़ी, कल-कारखाने, यातायात आदि।

(२) प्रयोजन पर आधारित—रुचि से प्रयोजन उत्पन्न होता है। किसी-किसी रुचि वाली वस्तु, जैसे—खिलौना, बैट्री, साइकिल आदि, को देखकर फिर उन्हें बनाने की उत्कंठा जागरित हो सकती है। इस प्रकार की अन्वितियों के लिए अध्यापक को बहुत सचेत और छात्रों की रुचि एवं योग्यता से परिचित रहना चाहिए।

(३) आवश्यकता पर आधारित—इन अन्वितियों का आधार बालक की आवश्यकताओं को पूरी करने वाली वस्तुएँ एवं क्रियाएँ हैं; उदाहरणतः बालक को पुस्तकालय के प्रयोग, वस्त्र तैयार करने, अपना हिसाब रखने आदि की योग्यता की आवश्यकता है। इन्हें सूचीबद्ध करके अन्वितियों के रूप में क्रमायोजित कर सकते हैं।

अन्विति-रचना के सिद्धांत—अन्वितियों की रचना में निम्नांकित सिद्धांतों का ध्यान रखना आवश्यक है[1]—

१—अन्वितियों की रचना भौतिक वातावरण के व्यापक महत्त्वपूर्ण पक्षों, जीवन की क्रियाओं एवं विज्ञानों, कलाओं और सामाजिक व्यवहारों में प्राप्त संस्कृति के आधार पर होनी चाहिए।

---

1. *Risk*—Principles and Practices of Teaching, P. 292-294.

२—व्यक्तित्व का अन्विति सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण समायोजन ही लक्ष्य के रूप में निर्धारित हो और अन्विति सम्बन्धी सभी क्रियाएँ उसी पर केन्द्रित हों। यह लक्ष्य अन्विति की अखंडता को बनाये रखता है। यह लक्ष्य बोध-शक्ति, योग्यता, मनोवृत्ति, सौन्दर्यानुभूति, रुचि, आदर्श, आचरण सम्बन्धी आदतों आदि के रूप में होना चाहिए।

३—अन्विति में इस प्रकार की आवश्यक एवं वांछित क्रियाओं का समावेश रहना चाहिए जिनसे लक्ष्य या लक्ष्यों को सुगमता एवं प्रभावपूर्णता के साथ प्राप्त किया जा सके।

४—शैक्षिक क्रियाओं के चुनाव में बालक के सर्वांङ्गीण विकास के सिद्धान्त का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए।

५—अन्विति-रचना में बालकों की व्यक्तिगत आवश्यकताओं, रुचियों तथा योग्यताओं का भी ध्यान रखना चाहिए।

६—अन्विति सम्बन्धी क्रियाओं अथवा सीखने सम्बन्धी अनुभवों[1] के चुनाव में यह ध्यान रखना चाहिए कि बालकों को प्रयोजन निर्धारित करने, योजना बनाने की योग्यता प्राप्त करने, पुरोगामिता[2] और सामाजिकता की भावना का विकास करने का अवसर मिले।

७—अन्विति-कार्य यथासम्भव जीवन की परिस्थितियों के ही द्योतक हों और उन्हीं साधनों का प्रयोग हो जैसा वे जीवन में घटित होते हैं अर्थात् यथार्थ जीवन-परिस्थितियों से ही सम्बद्ध हों, काल्पनिक न हों।

८—अन्विति इस प्रकार की हो कि विद्यालय में उपलब्ध साधनों से ही पूरी हो सके, अन्य क्रियाओं से उसका मेल बना रहे, प्राप्त समय में ही पूरा हो जाय और उससे विद्यालय एवं छात्रों की वैयक्तिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो।

सारांश—विद्यालय के समस्त क्रिया-कलापों का आधार पाठ्यक्रम ही होता है। वह शिक्षा एवं शिक्षालय-संगठन का अपरिहार्य साधन है। इसीलिए कहा जाता है कि "पाठ्यक्रम कलाकार के हाथ की वह तूलिका है जिससे वह अपनी सामग्री (शिक्षार्थी) को अपने आदर्शों के अनुरूप निरूपित करता है।" अभी कुछ दिनों पूर्व पाठ्यक्रम ही शिक्षा का केन्द्र मान जाता था। यद्यपि अब बालक शिक्षा का केन्द्र है, किन्तु पाठ्यक्रम का महत्त्व कम नहीं हो सकता।

पाठ्यक्रम का अर्थ बहुत व्यापक हो गया है। विद्यालय के समस्त क्रिया-कलाप, शारीरिक, बौद्धिक, सांस्कृतिक—सभी इसके अंतर्गत आ जाते हैं और बौद्धिक विषयों

---

1. Learning experiences.
2. Initiative.

के साथ-साथ बालक के अन्य पाठ्येतर क्रियाओं से जो अनुभव प्राप्त होते हैं वे सभी इसमें शामिल हैं।

वर्तमान पाठ्यक्रम के दोष—संकीर्णता, पुस्तकीय एवं सैद्धान्तिक विषयों की प्रचुरता, अव्यावहारिकता, छात्रों की आवश्यकता एवं रुचि-विभिन्नता की उपेक्षा, परीक्षा की प्रधानता, प्राविधिक एवं व्यावसायिक शिक्षा का अभाव।

पाठ्यक्रम निर्माण के सिद्धान्त—प्रकृतिवादी शिक्षा दर्शन के अनुसार जीवन की मूल आवश्यकताएँ एवं क्रियाएँ ही पाठ्यक्रम रचना के आधारतत्त्व हैं। आदर्शवादी शिक्षादर्शन के अनुसार जीवन के शाश्वत आदर्श एवं मूल्य पाठ्यक्रम रचना के आधार हैं। यथार्थवादी विचारधारा जीवन की यथार्थता पर बल देती है। प्रयोजनवादी विचारधारा भावी जीवन की उपयोगिता, जीवन-यापन की दक्षता तथा सामाजिक जीवन की कुशलता के आधार पर पाठ्यक्रम रचना पर बल देती है। इन विचारधाराओं के समन्वय के आधार पर निम्नाङ्कित सिद्धान्त माने जाते हैं—

पुरोदर्शिता, परम्परावादिता, सृजनात्मकता, जीवन की तैयारी, क्रिया-शीलता।

पाठ्यक्रम का संगठन—बालकेन्द्रित, व्यापकता, विविधता और प्रसार-कता, वातावरण एवं सामाजिक जीवन से सम्बन्ध, अवकाश एवं सांस्कृतिक अभिरुचि, अनुबन्धता।

सह-सम्बन्ध का सिद्धान्त—सह-सम्बन्ध का आधार मनोवैज्ञानिक है। पाठ्यक्रम के विविध विषय 'ज्ञान' के विभिन्न अंग हैं। अतः इन सभी विषयों का शिक्षण इस रूप में होना चाहिये कि वे परस्पर सम्बन्वित और पूरक प्रतीत हों। विभिन्न विषयों के परस्पर स्वाभाविक सम्बन्ध को ही 'सह-संबंध' की संज्ञा प्रदान की गई है। विभिन्न विषयों की एकता के लिए हरबार्ट के शिष्य ज़िलर ने अध्ययन के केन्द्रीकरण का सिद्धान्त प्रतिपादित किया अर्थात् किसी एक विषय या क्रिया को सभी विषयों का केन्द्र या धुरी मानकर शिक्षा देनी चाहिए। प्रो० जानड्यूवी ने सह-संबंध के स्थान पर अनुबन्ध पर बल दिया। उनके अनुसार पाठ्यक्रम के विभिन्न विषय सह-संबंध के रूप में नहीं, अपितु अनुबंधित रूप में प्रस्तुत होने चाहिए।

पाठ्यक्रम के उपादान एवं स्रोत—सामाजिक उत्तराधिकार और मानव प्रकृति, पाठ्यक्रम के प्रकार—पृथक्-पृथक् विषय रूप पाठ्यक्रम, व्यापक क्षेत्रीय पाठ्यक्रम, केन्द्रीय पाठ्यक्रम, अनुबंधित पाठ्यक्रम।

विविधस्तरों के लिए पाठ्यक्रम—

(१) प्राथमिक—शिल्प एवं कला, भाषा, गणित, सामाजिक अध्ययन, सामान्य विज्ञान एवं स्वास्थ्य विज्ञान, शारीरिक शिक्षा।

(२) पूर्व माध्यमिक—भाषाएँ (मातृभाषा, राजभाषा, सहराजभाषा), सामाजिक अध्ययन, सामान्य विज्ञान, गणित, कला और संगीत, शिल्प, शारीरिक शिक्षा।

(३) उच्चतर माध्यमिक—भाषाएँ (पूर्व माध्यमिक की ही भाँति), सामाजिक अध्ययन, सामान्य विज्ञान गणित सहित, कोई एक शिल्प। इनके अतिरिक्त इस स्तर पर पाठ्यक्रम अनेक धाराओं में विभक्त हो जाता है—मानविकी, विज्ञान, टेक्नालाजी, वाणिज्य, कृषि ललित कलाएँ एवं गृह विज्ञान।

पाठ्य सामग्री का नियोजन—प्रकरण विधि, समस्या विधि, अन्विति विधि।

प्रश्न

१—पाठ्यक्रम का नया दृष्टिकोण क्या है ?

२—वर्तमान पाठ्यक्रम के दोषों की विवेचना कीजिए।

३—पाठ्यक्रम निर्माण के क्या सिद्धान्त हैं ? आप इन विभिन्न सिद्धान्तों का समन्वय किस रूप में चाहते हैं ?

४—पाठ्यक्रम संगठन के सिद्धान्तों का उल्लेख कीजिए।

५—पाठ्यक्रम में सह-संबंध एवं अनुबन्ध से आप क्या समझते हैं ? शिक्षण की दृष्टि से उसकी उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।

६—पाठ्यक्रम के उपादान एवं स्रोत क्या हैं ? इनके आधार पर पाठ्यक्रम की रचना किस प्रकार की जा सकती है ?

७—पाठ्यक्रम के प्रमुख प्रकारों का उल्लेख कीजिए और उनके संबंध में अपने विचार प्रकट कीजिए।

८—विविध शैक्षिक स्तरों के लिए आप पृथक्-पृथक् पाठ्यक्रम की रूपरेखा तैयार कीजिए और बताइए कि आप उन्हें क्यों उचित समझते हैं ?

अध्याय ५

शिक्षण पद्धति के सामान्य सिद्धांत;[1] शिक्षणसूत्र[2] तथा शिक्षण विधियाँ[3]

"In fact, this is what method is, the use the teacher makes of teaching material in order to arouse the student to activity, and, as he works with these materials, to give him the necessarry guidance for learnig to place."

—Cunningham

पाठ्यक्रम पर विचार करने के बाद शिक्षण की दृष्टि से सर्वप्रथम यह समस्या उपस्थित होती है कि पाठ्य विषय अथवा विषय सामग्री किस प्रकार छात्रों के सम्मुख प्रस्तुत की जाय। दूसरे शब्दों में शिक्षक अपना शिक्षण कार्य किस प्रकार सम्पादित करें। यहीं पर शिक्षण पद्धति की समस्या सामने आ जाती है।

वस्तुतः शिक्षण पद्धति उस प्रक्रिया का नाम है जिसके द्वारा शिक्षक अपनी शिक्षण सामग्री का उचित प्रयोग करके छात्रों को सीखने के लिए उत्प्रेरित करता और सक्रिय बनाता है तथा उचित एवं आवश्यक पथ-प्रदर्शन द्वारा उन्हें सीखने का अवसर प्रदान करता है। विषय-वस्तु अथवा शिक्षण-सामग्री के अभाव में पद्धति का कोई अस्तित्व नहीं है। अतः पद्धति पर विचार करने का हमारा सर्वोपरि अभिप्राय उन शिक्षण-सिद्धान्तों का निर्धारित करना है जिनके आधार पर शिक्षक अपनी पाठ्य-सामग्री प्रस्तुत करने के लिए सर्वोत्तम विधि का चुनाव और प्रयोग कर सके।

शिक्षण पद्धति के सामान्य सिद्धान्त निर्धारित करने के पूर्व हमें यह भी जान लेना चाहिए कि शिक्षण पद्धति का कोई एक स्थिर, निश्चित और सार्वभौम रूप नहीं हो सकता। शिक्षण की प्रकृति ही ऐसी है। शिक्षण की

---

1. General Principles of Teaching Maxims.
2. Methods of Teaching
3. Methods of Teaching

स्थिति सदा एक सी नहीं रह सकती और उसमें विविधता एवं विभिन्नता अनिवार्य सी है।[1] ये विभिन्नताएँ अनेक हो सकती हैं किन्तु निम्नांकित विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं :—

(१) विद्यार्थियों की व्यक्तिगत विभिन्नता एवं शैक्षिक स्तर। (२) शिक्षकों की वैयक्तिक एवं शिक्षण योग्यता की विभिन्नता (३) विषयवस्तु एवं पाठ सम्बन्धी विभिन्नता (४) विद्यालय के वातावरण एवं साधन-सम्पन्नता सम्बन्धी भिन्नता तथा (५) स्वयं पद्धति संबंधी भिन्नता। इन भिन्नताओं के कारण शिक्षण पद्धति का कोई सार्वमान्य एवं सार्वभौम रूप निश्चित नहीं हो सकता। इन विभिन्नताओं का उचित ध्यान न रखने के कारण ही शिक्षण विधि कालान्तर में रीति वद्ध (Formal) एवं रुढ़िग्रस्त हो जाती है और उनमें गत्यात्मकता नहीं रह जाती। अतः अध्यापक को सदा ही इनके प्रयोग में अपने विवेक एवं बुद्धिमानी से काम लेना पड़ता है। विभिन्न परिस्थितियों में उचित एवं उपयुक्त पद्धति का चुनाव और प्रयोग पूर्णतः शिक्षक के विवेक पर निर्भर है। इसीलिए शिक्षा-विशेषज्ञों का विचार है कि शिक्षण विधियों एवं युक्तियों के स्थान पर शिक्षण के सामान्य सिद्धान्तों का अध्ययन करना अधिक समीचीन है क्योंकि विधियाँ एवं युक्तियाँ तो एक प्रकार की व्यावसायिक चाल अथवा उपाय हैं जो एक स्थिति में तो बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं किन्तु दूसरी स्थिति में बिल्कुल अनुपयोगी। किन्तु सामान्य सिद्धान्त सर्वमान्य एवं सार्वभौम होते हैं और यदि ठीक प्रकार से समझ कर बुद्धिमानी के साथ उनका प्रयोग किया जाय तो उनसे अनेकानेक परिस्थितियों में निर्देशन प्राप्त हो सकता है।[2] ये सिद्धान्त बालक के स्वभाव एवं प्रकृति के अध्ययन पर आधारित हैं। राइबर्न ने अपनी पुस्तक 'दि प्रिंसिपुल्स आफ टीचिंग' में इन सामान्य सिद्धान्तों का विशद विवेचन किया है जो संक्षेप में इस प्रकार हैं :—

१—क्रियाशीलता का सिद्धान्त[3]—बालक प्रकृत्या ही क्रियाशील होते हैं। यह क्रियाशीलता शारीरिक और मानसिक दोनों ही होती है। बालक निरन्तर कुछ न कुछ करना चाहता है और वह इस क्रिया के द्वारा सीखता है।

1. "The teaching situation is one that is characterised by variables rather than constants." —Cunningham.
2. The important thing in the study of the thory of teaching is to learn principles not devices. Devices are tricks of trade which may work well in one situation but be absolutely valueless in another. Principles are universal, and if clearly understood and intelligently applied, will give guidance in the selection of procedures in a multitude of situations. Ibid, 453-54
3. The principle of activity.

इसी कारण 'करके सीखने'[1] के सिद्धान्त का प्रतिपादन सभी शिक्षा विचारकों ने किया है। आधुनिक पद्धतियों—किंडर गार्टन, मान्टेसरी, प्रोजेक्ट, ह्यूरिस्टि डाल्टन आदि सभी में इस सिद्धान्त पर बहुत बल दिया गया है। बालक को सच्चा ज्ञान तभी प्राप्त होता है जब वह उस ज्ञान का प्रयोग करता है, उसे किसी न किसी रूप में व्यक्त करता है और उसे अपने जीवन एवं अनुभव का वास्तविक अंग बना लेता है। ये समस्त क्रियाएँ उसकी क्रियाशीलता के उचित प्रयोग से ही सम्पन्न होती है। अतः शिक्षक को शिक्षण के समय यह स्मरण रखना चाहिए कि बालक की क्रियाशीलता को वह सजग बनाये रखे और कार्य के माध्यम से उन्हें स्वयं सीखने के लिए प्रेरित करता रहे। बालक कक्षा में निष्क्रिय श्रोता के रूप में न रहे अन्यथा उनका ज्ञान पुस्तकीय ज्ञान तक ही सीमित रह जाता है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि बालक प्रत्येक प्रकार के पाठ में स्वयं ही क्रियाशील बना रहेगा। इसका तात्पर्य इतना ही है कि शिक्षक अपने पाठ में यथावश्यक सक्रियता उत्पन्न करके बालकों को उसमें संलग्न बनाने का प्रयत्न करता रहे; जैसे सामाजिक विषय के पाठों में अभिनय, विचार गोष्ठियाँ एवं परिषदों का आयोजन, परिभ्रमण, मानचित्र तैयार कराना, बाल-सभाएँ, जनतांत्रिक चुनाव आदि क्रियाएँ अपनाई जा सकती हैं जिनसे बालकों को यथार्थ एवं व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त होता है। विद्यालय में अनेक प्रकार की पाठ्येतर एवं सह पाठ्यक्रम क्रियाओं के आयोजन से बालकों की क्रियाशीलता स्फुरित एवं सजग होती है और उनमें सद्विचार, सद्भावना, सद्व्यवहार एवं सामाजिक कुशलता की अभिवृद्धि होती है।

२—पूर्वार्जित ज्ञान एवं अनुभव से सम्बन्ध स्थापन का सिद्धान्त—यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि बालक अपने पूर्वार्जित ज्ञान एवं अनुभव के आधार पर ही नवीन ज्ञान एवं अनुभव प्राप्त करता है। यदि इस पूर्वार्जित ज्ञान एवं अनुभव से नये ज्ञान एवं अनुभव का सम्यक् मेल नहीं है तो बालक को उसे ग्रहण करने में बड़ी कठिनाई होती है। अतः बाकल द्वारा अर्जित अनुभव ही शिक्षण का प्रारम्भिक बिन्दु है[2]। इस आधार पर शिक्षक को अपनी पाठ्य सामग्री सौन्दर्य बोध अथवा किसी भी शैक्षणिक क्रिया को बालक के पूर्व अनुभव से संबंधित करते हुए ही प्रारम्भ करना चाहिये।

जीवन एक सतत अनुभव है।[3] हम नित्य ही नये अनुभव प्राप्त करते हैं

1. Learning by doing.
2. "To teach we must use experience already gained as a starting point for our work."
3. "Life is a continuous experience."

किन्तु जो अनुभव पूर्वार्जित अनुभवों से अपना संबंध स्थापित कर लेता है वह स्थायी और हमारे जीवन का अभिन्न अंग हो जाता है। अतः शिक्षक को अपनी पाठ्य सामग्री बालक के पूर्वार्जित अनुभव के माध्यम से प्रस्तुत करना चाहिये तभी वह सरलता से ग्रहण करेगा और उसका ज्ञान सच्चा तथा स्थायी होगा। ऊपर हम लिख चुके हैं कि वास्तविक अनुभव क्रिया के माध्यम से ही संभव होता है। अतः पूर्वार्जित अनुभव का तात्पर्य बालक की किसी न किसी पूर्व क्रिया से है चाहे वह शारीरिक हो अथवा मानसिक।

३—यथार्थ जीवन एवं वातावरण से सम्बन्ध स्थापन का सिद्धान्त[1]—पाठ्य-सामग्री का संबंध बालक के वास्तविक जीवन एवं वातावरण से स्थापित करना शिक्षण पद्धति का एक मुख्य सिद्धान्त है। बालक अपने चतुर्दिक् जीवन में जिन बातों को देखता है, उनसे पाठ्य सामग्री का संबंध यदि स्थापित कर दिया जाय तो शिक्षण का व्यावहारिक मूल्य बढ़ जाता है और बालक का ज्ञान सिद्धान्त एवं पुस्तक तक ही सीमित न रहकर यथार्थ एवं व्यावहारिक बन जाता है। अतः बालक के सामाजिक एवं प्राकृतिक वातावरण से पाठ का संबंध अवश्य स्थापित करना चाहिए। भूगोल, इतिहास, विज्ञान आदि के पाठ बड़ी सरलता से बालक के वास्तविक जीवन एवं वातावरण से संबद्ध हो जाते हैं।

४—रुचि का सिद्धान्त[2]—सीखने के प्रति बालक की रुचि जागरित करना शिक्षक का प्रमुख कर्त्तव्य है। यह देखा जाता है कि यदि शिक्षण का संबंध बालक के सक्रिय जीवन से स्थापित है तो रुचि अपने आप जागरित हो जाती है। पर रुचि जागरित करने के लिए यह भी आवश्यक है कि शिक्षण को सोद्देश्य बनाया जाय। क्रियाशीलता और सोद्देश्यता रुचि जागरित करने के मुख्य साधन हैं। सीखने के लिए बालक में रुचि जागरित हो जाने पर शिक्षक का कार्य सरल हो जाता है और बालक सहज ही नया ज्ञान एवं अनुभव प्राप्त कर लेता है।

५—निश्चित उद्देश्य का सिद्धान्त[3]—शिक्षण पद्धति का एक मुख्य सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक पाठ का एक निश्चित उद्देश्य होना चाहिये। शिक्षक सामान्यतः इस बात का ध्यान नहीं रखते और बालक भी नहीं समझ पाते कि वे वह पाठ किस उद्देश्य से पढ़ रहे हैं। यह स्वयं सिद्ध है कि एक स्पष्ट उद्देश्य सामने रहने से शिक्षण-कार्य में रोचकता और प्रभविष्णुता आ जाती है तथा

1. The principle of linking with life and environment.
2. The principle of interest.
3. Principle of definite aim.

बालक भी रुचि के साथ उसे पढ़ते हैं। उद्देश्य के अनुसार ही हमें शिक्षण-क्रम और प्रक्रिया अपनानी पड़ती है। उदाहरणतः कविता-शिक्षण में यदि सौन्दर्य बोध और रसास्वादन करना हमारा उद्देश्य है तो शिक्षण का ढंग दूसरा होगा और यदि कविता पढ़ने का कौशल प्रदान करना है तब पढ़ाने की प्रक्रिया दूसरी होगी। अतः कोई भी पाठ पढ़ाने के पहले उसका एक निश्चित उद्देश्य निर्धारित करना और उसे बालकों के सम्मुख रखना आवश्यक है। इससे पाठ के प्रति बालकों में रुचि, उत्साह, तत्परता और लगन की भावना पैदा हो जाती है।

६—चयन का सिद्धान्त [1]—पाठ का उद्देश्य निश्चित हो जाने पर पाठ-सामग्री का ठीक प्रकार से चयन करना भी आवश्यक है। शिक्षक को यह स्पष्ट होना चाहिए कि पाठ में पढ़ाने के कौन से आवश्यक तत्त्व हैं और उनका क्रम क्या है।[2] प्रत्येक पाठ में कुछ बातें आवश्यक, कुछ साधारण और कुछ विशेष उल्लेखनीय होती हैं। अतः छात्रों की योग्यता एवं कक्षा स्तर के अनुसार पाठ्य सामग्री का चयन कर लेना चाहिए। अध्यापक इस सामग्री के चयन में जितना ही कुशल होगा, उसका शिक्षण उतना ही ग्राह्य एवं सफल होगा।

७—विभाजन का सिद्धान्त [3]—पाठ्य सामग्री के चयन के साथ-साथ पाठ्य सामग्री का उचित वर्गीकरण और क्रमायोजन भी आवश्यक है। इसके लिए पाठ्य सामग्री को कुछ सोपानों अथवा अन्वितियों में विभाजित कर लेना चाहिये और यह ध्यान रखना चाहिये कि प्रत्येक पद या सोपान अपने अगले पद या सोपान के लिये स्वाभाविक आधार बनता चले। इस प्रकार के विभाजन से छात्र पाठ को सरलता से ग्रहण करते चलते हैं। प्रत्येक पद के अंत में आवश्यकतानुसार उसका सारांश भी दे दिया जाय। उचित वर्गीकरण के अभाव में पाठ जटिल, उलझन पूर्ण और दुर्बोध हो जाता है तथा बालक ठीक अनुसरण नहीं कर पाते।

८—सह संबंध का सिद्धान्त [4]—पाठ्यक्रम के प्रसंग में 'सह संबंध' के बारे में विस्तार से लिखा जा चुका है। शिक्षाविदों का कहना है कि बालक का ज्ञान अथवा अनुभव इतिहास, भूगोल, विज्ञान, गणित आदि विविध विषयों के

---

1. Principle of selection.
2. Essential points of teaching and their sequence.
3. Principle of division.
4. Pri ciple of corelation.

अनेक खण्डों में नहीं विभक्त हो सकता। अतः एक विषय में प्राप्त ज्ञान को दूसरे विषय के ज्ञान के साथ संबंधित करने का प्रयत्न होना चाहिये। कुछ विषयों में यह संबंध बहुत ही स्वाभाविक रहता है जैसे इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र परस्पर बहुत ही घनिष्ठ रूप से जुड़े रहते हैं। विज्ञान के विविध विषय परस्पर स्वाभाविक रूप से संबंधित है। भाषा का संबंध सभी विषयों से है। बेसिक शिक्षा प्रणाली एवं प्रोजेक्ट प्रणाली में यह सह संबंध का सिद्धान्त सरलता से अपनाया जाता है।

९—आवृत्ति एवं अभ्यास का सिद्धान्त[1]—छात्रों के ज्ञान को स्थायी बनाने के लिए पढ़ाये हुए तथ्यों की आवृत्ति एवं अभ्यास आवश्यक है। अभ्यास एवं आवृत्ति बहुत कुछ पाठों के प्रकार पर निर्भर है। शिल्प एवं कौशल के पाठों में अभ्यास का विशेष स्थान है। ज्ञान प्रधान पाठों में आवृत्ति आवश्यक है चाहे यह आवृत्ति पाठ के प्रत्येक सोपान के अन्त में हो या पूरे पाठ के अन्त में हो अथवा दोनों जगह हो। विना आवृत्ति अथवा अभ्यास के छात्रों का ज्ञान अधूरा रह जाता है और शीघ्र ही विस्मृत भी हो जाता है। आवृत्ति द्वारा वे पाठ को स्थायी रूप से आत्मसात् कर लेते हैं।

शिक्षण सूत्र[2]

शिक्षण पद्धति के सामान्य सिद्धान्तों के परिचय के बाद अध्यापक के लिये यह भी जानना आवश्यक है कि कक्षा में पाठ्य सामग्री किस क्रम से विधिवत् प्रस्तुत की जाती है। इस दृष्टि से शिक्षा विशेषज्ञों ने कुछ शिक्षण सूत्रों का प्रतिपादन किया है जिनमें से निम्नांकित मुख्य है :—

१—विश्लेषण से संश्लेषण की ओर[3]
२—स्थूल से सूक्ष्म की ओर[4]
३—ज्ञात से अज्ञात की ओर[5]
४—प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की ओर[6]
५—सरल से जटिल की ओर[7]
६—प्रकृति का अनुसरण[8]

1. Principle of revision and practice.
2. Maxims
3. Proceed from analysis to synthesis.
4. Concrete to abstract.
5. Known to unknown.
6. From seen to unseen.
7. Simple to complex.
8. Follow nature.

७—मनोवैज्ञानिकता से तार्किकता की ओर[1]

८—पूर्ण से अंश की ओर[2]

९—विशिष्ट से सामान्य की ओर[3]

१०—अनिश्चित से निश्चित की ओर[4]

११—अनुभव से तर्क की ओर[5]

१—विश्लेषण से संश्लेषण की ओर—किसी भी वस्तु या तथ्य के ज्ञान के लिये उसके प्रत्येक अंग अथवा अवयव की व्याख्या एवं विश्लेषण आवश्यक है। इसके द्वारा बालक के अस्पष्ट, अनिश्चित, असम्बद्ध एवं अपूर्ण ज्ञान को स्पष्ट, निश्चित, सुसम्बद्ध एवं पूर्ण बनाने में सहायता मिलती है। इस सूत्र के अनुसरण का तात्पर्य यह है कि बालक को पहले किसी वस्तु या तथ्य के पूर्ण रूप से परिचित कराया जाय और फिर उस पूर्ण रूप में विभिन्न अंशों या अवयवों का विश्लेषण किया जाय और अन्त में फिर उन अवयवों के सम्मिलन से बने हुए वस्तु या तथ्य का संश्लिष्ट रूप सामने रखा जाय। उदाहरणतः व्याकरण की शिक्षा में शिक्षक छात्रों के सम्मुख एक पूर्ण वाक्य प्रस्तुत करता है, फिर उसके अंश अर्थात् प्रत्येक शब्द का पृथक्-पृथक् विश्लेषण करता है और फिर उनके द्वारा बने हुए पूरे वाक्य का संश्लिष्ट रूप सामने रखता है। यही क्रिया भूगोल, ज्यामिति आदि के पाठों में अपनाई जाती है। यदि पुष्प का ज्ञान कराना है तो पहले पुष्प का पूर्ण रूप प्रस्तुत करना चहिए, फिर विश्लेषण द्वारा पुष्प के प्रत्येक अंग का पृथक्-पृथक् प्रदर्शन और परिचय देना चाहिए और अन्त में सबको मिलाकर पूरा पुष्प सामने रखना चाहिये। इसी प्रकार भूगोल में पृथ्वी की रचना की धारणा पहले ग्लोब के द्वारा प्रदान करके फिर विविध खण्डों का विश्लेषण और अन्त में संश्लेषण करना चाहिये। यह प्रक्रिया प्रत्येक पाठ के शिक्षण में अपनाई जाती है अर्थात् किसी वस्तु का ज्ञान पहले अस्पष्ट एवं अविश्लेषित रूप में, फिर विश्लेषण और अन्त में संश्लेषण द्वारा प्रदान करना उचित होता है। इसी कारण इस सूत्र को शुद्ध रूप से न तो विश्लेषण विधि कहा जा सकता है और न संश्लेषण विधि। टी० रेमाण्ट ने डॉ० लारी के शब्दों में इसे विश्लेषण-संश्लेषण विधि की संज्ञा दी है।[6]

---

1 Psychological to logical order.
2. Whole to parts.
3. Particular to general
4. Indefinite to definite.
5. Empirical to rational.
6. "Analytic synthetic."

२ स्थूल से सूक्ष्म की ओर—यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि बालक पहले स्थूल वस्तु का ज्ञान प्राप्त करता है और उनके निरीक्षण एवं प्रयोग द्वारा धीरे-धीरे सूक्ष्म को समझने में समर्थ होता है। अतः यही प्रक्रिया हमें शिक्षण में भी अपनानी चाहिए। स्थूल से सूक्ष्म की ओर का तात्पर्य है कि बालक को स्थूल वस्तुओं एवं उदाहरणों के माध्यम से स्वयं प्रयत्न द्वारा किसी सिद्धान्त, नियम अथवा विचार की उद्‌भावना कर लेने में सक्षम बनाया जाय जैसा कि प्रसिद्ध शिक्षा विचारक स्पेन्सर का कथन है कि हमारे पाठ का आरम्भ स्थूल से हो और अन्त सूक्ष्म में हो।[1]

इस सूत्र की सार्थकता स्वयंसिद्ध है। किसी भी विषय में चाहे वह विज्ञान हो या भाषा, सिद्धान्त अथवा नियम के पहले हमें वस्तु या उदाहरण अवश्य प्रस्तुत करना चाहिए। इस सूत्र के प्रयोग में अध्यापक को सदा सचेत रहना चाहिए कि विद्यार्थियों का ज्ञान वास्तविक पदार्थ अथवा स्थूल तक ही न रह जाय, बल्कि उस स्थूल के आधार पर सूक्ष्म को जानने की उत्कण्ठा भी उनमें पैदा हो जाय और वे इस प्रक्रिया में निपुण हो जायँ। यदि भूगोल का ज्ञान हम विद्यालय की स्थिति तथा स्थानीय वातावरण से प्रारम्भ करते हैं तो उसी को साध्य नहीं बना देना चाहिए बल्कि उसके आधार पर आगे सूक्ष्म भौगोलिक सिद्धान्तों को समझने की क्षमता भी प्रदान करनी चाहिए। इसी प्रकार भौतिक विज्ञान की शिक्षा वस्तुओं के निरीक्षण, नाप-तौल आदि स्थूल बातों तक ही सीमित न होकर उनके द्वारा सामान्य नियम एवं सिद्धान्त निर्धारण अर्थात् सूक्ष्म ज्ञान तक होना चाहिए। व्याकरण की शिक्षा में पहले चुने हुए उपयुक्त उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उनके आधार पर तुलना एवं व्याख्या द्वारा परिभाषा एवं नियम निर्धारण कराना चाहिए। बालक के लिए 'वाक्य' का उदाहरण तो स्थूल है तथा परिभाषा एवं लक्षण आदि सूक्ष्म हैं।

इस सूत्र के पालन में एक और बात का ध्यान रखना चाहिए कि सूक्ष्म पर पहुँचना ही हमारे शिक्षण का उद्देश्य नहीं होना चाहिए। उदाहरणतः किसी व्याकरण के पाठ में किसी नियम या परिभाषा जान लेने अथवा भौतिक विज्ञान में किसी सिद्धान्त को निकाल लेने में ही पाठ की पूर्णता नहीं है, बल्कि उनके पूर्ण प्रतिपादन के लिए फिर स्थूल अर्थात्, उदाहरणों एवं प्रयोगों की आवश्यकता पड़ती है। इसके अभाव में सूक्ष्म ज्ञान की उपयोगिता नहीं रह जाती।

---

1. Our lessons should start from concrete and end in the abstract.

३—ज्ञात से अज्ञात की ओर—यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि बालक अपने पूर्व ज्ञान के आधार पर ही नवीन ज्ञान ग्रहण करता है। प्रसिद्ध शिक्षा मनोवैज्ञानिक हरबर्ट ने इस तथ्य के मनोवैज्ञानिक पक्ष को स्पष्ट किया और बताया कि किस प्रकार बालक के मस्तिष्क में पूर्व संचित प्रत्यय अथवा विचारों से मेल खाने वाले नये विचार एवं प्रत्यय शीघ्र ही ग्राह्य हो जाते हैं। ये नये विचार या प्रत्यय यदि पूर्व संचित प्रत्ययों के विपरीत अथवा असमान होते हैं तो उन्हें ग्रहण करना कठिन हो जाता है। अतः पूर्व ज्ञान से सम्बन्धित होने पर ही नवीन ज्ञान बालक के मन में सरलता से प्रविष्ट होते हैं। पेस्टालाजी इस क्रिया को ही ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ने की क्रिया कहता है। इस सूत्र का तात्पर्य यह हुआ कि शिक्षक को बालक के पूर्व ज्ञान से परिचित होना चाहिए और नया पाठ पढ़ाने के लिए तत्सम्बन्धी पूर्व ज्ञान को उद्बुद्ध करके उसकी चेतना में ले आना चाहिये और उससे सम्बन्धित करते हुए नये पाठ को प्रस्तुत करना चाहिये। फिर क्रम से छात्रों को जो ज्ञात होता चले उसके सहारे अज्ञात की ओर बढ़ते जाना चाहिये। इससे छात्र में नवीन ज्ञान अर्जित करने के लिये रुचि उत्पन्न होती है। यह सबसे सरल, स्वाभाविक एवं युक्ति-युक्त विधि है। बालक को यदि चक्रवृद्धि ब्याज पढ़ाना है तो पहले साधारण ब्याज ज्ञात हो जिसके सहारे आगे बढ़ना चाहिये। इसी प्रकार रेखा और कोण के ज्ञान के आधार पर त्रिभुज का ज्ञान प्रदान करना चाहिये।

इस सूत्र के अनुसरण में यह ध्यान रखने की बात है कि पाठ के प्रति छात्रों का अवधान और रुचि बनाये रखने के लिए आवश्यक है कि पाठ में परिचित एवं अपरिचित दोनों तत्त्व हों। केवल परिचित बातें रहने से बालक पाठ की ओर ध्यान नहीं देते तथा केवल अपरिचित एवं अज्ञात बातें ही रहने से बालक बोझिलता का अनुभव करने लगते हैं। अतः ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ने से बालकों में पाठ के प्रति रुचि एवं एकाग्रचित्तता बनी रहती है।

४—प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की ओर—'ज्ञात से अज्ञात की ओर' से मिलता-जुलता यह भी शिक्षण सूत्र है कि बालक जिन बातों को प्रत्यक्ष देखते हैं, उनके आधार पर हम अप्रत्यक्ष की ओर बढ़ें। इतिहास या सामाजिक विषयों के शिक्षण में वर्तमान जीवन के उदाहरणों से हम बालक को भूतकाल की घटनाओं एवं जीवन पर प्रकाश डाल सकते हैं क्योंकि बालक वर्तमान जीवन को देखता है, वह उसके सम्मुख प्रत्यक्ष है

और उसके आधार पर तुलना के सहारे वह अतीत का जीवन भी समझ सकता है।

५—सरल से जटिल की ओर—यह भी सर्वमान्य सूत्र है कि बालकों को पहले सरल बातें बताई जायँ और फिर क्रमशः जटिल बातों का ज्ञान कराया जाय। इसी क्रम से पाठ-योजना तैयार होनी चाहिये। एक पाठ ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण पाठ्य विषयों की योजना में भी यही सिद्धान्त अपनाया जाता है। जैसे-जैसे बालक का बौद्धिक विकास होता जाता है, पाठ्य विषय जटिल होते जाते हैं। शिक्षण का क्रम भी यही है पहले ही जटिल विषय पढ़ाने से समझना तो दूर, बालकों में पढ़ने से ही अरुचि हो जाती है।

सरलता का तात्पर्य बालक में ज्ञानस्तर एवं ग्रहण शक्ति के अनुसार ही समझना चाहिये। हम प्रायः अपने प्रौढ़ मस्तिष्क से कठिन बातों को भी सरल समझ लेते हैं और छात्रों पर उसे लादना चाहते हैं। अतः छात्रों की योग्यता, मानसिक शक्ति, अवधान एवं ग्रहण शक्ति को समझकर निश्चय करना चाहिये कि उनके लिये क्या बोधगम्य है और उसी बात को पहले रखना चाहिये तथा फिर ज्ञात से अज्ञात सूत्र का अनुसरण करते हुए जटिल की ओर बढ़ना चाहिये। इसी दृष्टि से हम छात्रों को इतिहास, भूगोल, नागरिक शास्त्र की शिक्षा जीवनी एवं कहानियों से प्रारम्भ करते हैं और राज्य, शासन-प्रणाली, न्याय, नागरिक अधिकार एवं कर्त्तव्य आदि जटिल बातें बाद में बताते हैं। भूगोल में किसी प्रदेश का जलवायु बताने के लिये पहले गर्म, सर्द या नम के रूप में बता देते हैं पर क्रमशः आगे तापक्रम, हवा का दबाव आदि का उल्लेख करते हैं।

६—प्रकृति का अनुसरण—इस सूत्र का तात्पर्य है बालक की प्रकृति के अनुसार शिक्षा। बालक के शारीरिक एवं मानसिक विकास की एक प्राकृतिक प्रक्रिया होती है, उसके अनुसार ही बालक की स्वाभाविक एव उचित शिक्षा होती है। इस प्राकृतिक विकास के विरुद्ध चलने से बालक के शैक्षिक विकास में बाधा पड़ती है। अतः शिक्षा में अस्वाभाविकता, कृत्रिमता नहीं होनी चाहिये। रूसो ने इसी दृष्टि से लिखा है कि शिक्षा में कृत्रिमता के आते ही उसकी सफलता असम्भव हो जाती है।[1] अतः बालक की प्रकृति ही उसकी शिक्षा का आधार है। उसकी प्राकृतिक प्रवृत्तियों, संवेगों एवं मानसिक शक्तियों के विकास क्रम को ध्यान में रखते हुए उनके अनुसार शिक्षण प्रक्रिया अपनानी चाहिए।

1. "As soon as education becomes an art, it is well-nigh impossible for it to succeed."

७—मनोवैज्ञानिकता से तार्किकता की ओर—शिक्षण में तार्किक क्रम की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक क्रम को अपनाना अधिक लाभप्रद होता है। तर्कात्मक क्रम का तात्पर्य यह है कि अध्यापक पाठ्य विषय को तार्किक आधार पर विविध भागों में विभक्त एवं क्रमायोजित करके छात्रों के सम्मुख प्रस्तुत करता है और उसी क्रम में सम्पूर्ण पाठ्य विषय पढ़ा देता है। किन्तु इस क्रम से पढ़ाने में बालकों की जिज्ञासा, रुचि, आवश्यकता एवं ग्रहण शक्ति की अवहेलना हो जाती है। किन्तु मनोवैज्ञानिक क्रम में बालकों की जिज्ञासा, आवश्यकता और रुचि का ध्यान विशेष रूप से रखा जाता है और इसके लिये पाठ्य विषय में दिये हुए प्रकरणों के क्रम में यथावश्यक परिवर्तन भी कर लिया जाता है। उदाहरणतः भाषा की शिक्षा तर्कात्मक क्रम के अनुसार वर्ण एवं ध्वनि से प्रारम्भ होनी चाहिए पर बालक की रुचि वाक्यों एवं सार्थक शब्दों में होती है। अतः मनोवैज्ञानिक क्रम के अनुसार भाषा की शिक्षा वाक्य एवं शब्द से प्रारम्भ होनी चाहिए। इससे बालक सरलता से विषय वस्तु ग्रहण कर लेते हैं। इतिहास के शिक्षण में तर्कात्मक क्रम के अनुसार सारा पाठ्य विषय काल-क्रमानुसार आयोजित होता है और उसी के अनुसार पढ़ाया भी जाता है, चाहे बालकों की रुचि उसमें हो या न हो। किन्तु मनोवैज्ञानिक क्रम के अनुसार इतिहास की शिक्षा बालक के वर्तमान सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं तथा वातावरण के आधार पर क्रमायोजित की जाती है। मनोवैज्ञानिक क्रम की सबसे बड़ी उपयोगिता यही है कि इसमें बालक के मानसिक विकास के अनुसार विषय-वस्तु को क्रमायोजित किया जाता है।

उपर्युक्त विवरण का यह तात्पर्य नहीं है कि मनोवैज्ञानिक एवं तार्किक क्रम एक दूसरे के विरोधी हैं। वस्तुतः दोनों ही क्रम उपयोगी हैं। प्रारम्भिक अवस्था में बालक की उत्सुकता, नैसर्गिक शक्ति, रुचि एवं आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए मनोवैज्ञानिक क्रम अधिक श्रेय्यकर है और जब बालक का ज्ञान बढ़ जाता है, बुद्धि से एवं तर्क से वह काम लेने लगता है, तब तार्किक क्रम का प्रयोग होने लगता है। अतः दोनों ही उपयोगी हैं। यदि बालक में किसी सिद्धान्त को ग्रहण करने की क्षमता है तो तार्किक क्रम स्वतः मनोवैज्ञानिक क्रम बन जाता है, इसी प्रकार मनोवैज्ञानिक क्रम की निगमनात्मक (Deductive) एवं संश्लेषणात्मक न प्रतीत होते हुए भी तार्किक क्रम बन जाता है।

८—पूर्ण से अंश की ओर—यह सूत्र विश्लेषण से संश्लेषण की ओर का विरोधी प्रतीत होता है किन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है बल्कि इन्हें हम

एक दूसरे का पूरक कह सकते हैं। विश्लेषण का अर्थ यही बताया गया था कि बालक को पहले किसी वस्तु का ज्ञान अस्पष्ट, अनिश्चित सा रहता है किन्तु वस्तु के विविध अंगों के विश्लेषण द्वारा उसके संश्लिष्ट रूप का स्पष्ट एवं निश्चित ज्ञान सुलभ हो जाता है। इसी प्रकार पूर्ण से अंश की ओर के सिद्धान्त का तात्पर्य है कि बालक को पहले सम्पूर्ण वस्तु का परिचय होता है, उसके विविध अंशों या अवयवों का ज्ञान नहीं रहता। अतः सम्पूर्ण वस्तु के परिचय से हम पाठ प्रारम्भ करते हैं और उसके अवयवों का ज्ञान कराते हैं। यह सिद्धान्त गेस्टाल मनोविज्ञान पर आधारित है जिसके अनुसार हमें पहले पूर्ण वस्तु अथवा अवयवी (Whole) का ज्ञान होता है और बाद में उसके अवयवों का। उदाहरणतः किसी पहाड़ी या वन के दृश्य को देखें। तो पहले वन का सम्पूर्ण रूप ही सामने आता है फिर बाद में अलग-अलग पेड़ों, लता-गुल्मों, चट्टानों आदि अन्य अंगों की ओर ध्यान जाता है। अतः शिक्षण में इस क्रम को ध्यान में रखना चाहिये। इसी सूत्र के आधार पर भाषा शिक्षण में वाक्य एवं शब्द से चलकर वर्ण एवं मात्रा की ओर आते हैं और उनका ज्ञान प्रदान करना उपयोगी माना जाता है।

इस सूत्र के अनुसरण में यह ध्यान देने की बात है कि पूर्ण वस्तु के परिचय का तात्पर्य यह नहीं कि बालकों को अज्ञात एवं जटिल वस्तु पहले प्रस्तुत करनी चाहिए और फिर उसके अंशों पर आना चाहिए। उदाहरणतः कोई शिक्षक इस सूत्र के आधार पर भूगोल की शिक्षा में छोटे बच्चों को पहले ग्लोब के रूप में यदि सम्पूर्ण पृथ्वी का चित्र प्रस्तुत करता है और उसके बाद फिर विविध अंगों एवं देशों की स्थिति बताता है तो यह ठीक नहीं होगा क्योंकि बालक की भौगोलिक शिक्षा तो उसके घर, गाँव एवं स्थानीय वातावरण से प्रारम्भ करना ही मनोवैज्ञानिक एवं स्वाभाविक है। अतः इस सूत्र में पूर्णता का अर्थ उस पूर्णता से है जो बालक को साधारणः ज्ञात है। जैसे चाय का पाठ पढ़ाना है तो हमें पहले चाय का जो रूप दूकानों में मिलता है और बालक के लिए परिचित रूप है, उसी से पाठ प्रारम्भ होना चाहिए और उचित रीति से चाय के पौधे पर ले जाना चाहिए।

६—विशिष्ट से सामान्य की ओर—टी० रेमाण्ट का कथन है कि 'स्थूल से सूक्ष्म की ओर' का शिक्षण सूत्र ही कभी-कभी 'विशिष्ट से सामान्य की ओर' के सूत्र के रूप में कहा जाता है। किन्तु विशिष्ट से सामान्य की ओर के सिद्धान्त की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें हमें 'अगमन विधि' का अनुसरण करते हैं अर्थात् उदाहरणों के आधार पर सामान्यीकरण या निष्कर्ष पर पहुँचते

हैं और फिर उस सामान्यीकरण या निष्कर्ष की पुष्टि अनेक प्रयोगों एवं विशिष्ट तथ्यों द्वारा की जाती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि पहले अगमन विधि और फिर निगमन विधि का प्रयोग होता है।[1]

इस सूत्र का यही अर्थ नहीं है कि हम सर्वदा ही विशिष्ट से सामान्य की ओर बढ़ते हैं, बल्कि यह भी है कि कभी-कभी साधारण सामान्यीकरण के आधार पर व्यापक सामान्यीकरण की ओर भी बढ़ते हैं जैसे एक साधारण सामान्यीकरण यह है कि गर्म पानी से शीशे का गिलास टूट जाता है अथवा गर्मी पाकर लोहा बढ़ता है, किन्तु इस साधारण प्रयोग एवं नियम के आधार पर आगे चलकर भौतिक विज्ञान में हमे व्यापक सामान्यीकरण की ओर बढ़ते हैं।

१०—अनिश्चित से निश्चित की ओर—किसी भी वस्तु, व्यक्ति या तथ्य के सम्बन्ध में बालकों की प्रारम्भिक धारणा या विचार अनिश्चित और अस्पष्ट सा रहता है। ये विचार भ्रामक भी हो सकते हैं। अतः व्यवस्थित शिक्षण द्वारा बालक के इन अस्पष्ट, अनिश्चित और भ्रमपूर्ण विचारों को स्पष्ट, निश्चित एवं तर्क युक्त बनाना आवश्यक हो जाता है। अतः शिक्षण का एक प्रमुख सूत्र है—'अनिचित से निश्चित की ओर' बढ़ना। बालक की अस्पष्ट एवं अनिश्चित धारणाएँ यदि समय पर स्पष्ट एवं निश्चित नहीं बनाई गईं तो बालक अन्ध-विश्वास, रूढ़ि एवं दोषपूर्ण मनोवृत्तियों का शिकार हो सकता है। अतः इस सूत्र के प्रयोग का अर्थ है कि बालक ने यदि किसी वस्तु, घटना, विचार या नैतिक मूल्य के सम्बन्ध में गलत धारणा बना ली है तो उसे दूर करके उचित, स्पष्ट एवं तर्कपूर्ण विचार के रूप में बदल दिया जाय।

उदाहरणतः एक पुष्प के सम्बन्ध में बालक की पहली धारणा अस्पष्ट एवं अनिश्चित सी रहती है। पूरे पुष्प का एक सामान्य चित्र उसके मानस पर अंकित हो जाता है, किन्तु पुष्प की पंखुड़ियाँ, परागकेशर तथा अन्य विविध भागों का उसे कोई ज्ञान नहीं रहता। इसी प्रकार गणित के अंकों के सम्बन्ध में, ज्योमेट्री के विविध आकारों के सम्बन्ध में, भूगोल में अपने चतुर्दिक् वातावरण के सम्बन्ध में बालक का ज्ञान धूमिल-सा रहता है पर इस धूमिल ज्ञान के आधार पर हम उसे निश्चित एवं स्पष्ट ज्ञान प्रदान करते हैं। प्रारम्भिक कक्षाओं में वर्षा का माप बताने के लिए अध्यापक अधिक औसत या कम शब्द के प्रयोग

१—आगमन एवं निगमन विधि का उल्लेख इसी अध्याय में आगे किया गया है।

से काम चला लेता है पर बाद में निश्चित ज्ञान के लिये इंच की निश्चित मात्रा बताता है।

११—अनुभव से तर्क की ओर—मनोवैज्ञानिकों के अनुसार बालक पहले अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अनुभव प्राप्त करता है और अनुभवों के आधार पर ही वह ज्ञान ग्रहण करता है। इसी कारण पेस्टालाजी जैसे महान् शिक्षक ने अनुभव जन्य ज्ञान पर बल दिया था और माण्टेसरी ने बालकों की ज्ञानेन्द्रियों के प्रशिक्षण पर। किन्तु बालक किसी वस्तु, घटना या परिस्थिति के सम्पर्क में आने पर अनुभव कर लेता पर उनके कारणों को पहले नहीं समझ पाता अर्थात् कार्य-कारण में वह कार्य तो जान लेता है पर कारणों की व्याख्या नहीं कर सकता। अतः उचित शिक्षण द्वारा बालकों को अपने अनुभवों के कारणों को समझने में सहायता प्रदान की जाती है। यही 'अनुभव से तर्क की ओर' का शिक्षण सूत्र है। भूगोल की शिक्षा में अध्यापक बालक के इस अनुभव के आधार पर कि वर्षा ऋतु आते ही वृष्टि होने लगती है, उसके कारणों पर प्रकाश डालता है। क्या कारण है कि इसी समय वर्षा होती है, बालक यह समझ जाता है। यही अनुभव से तर्क की ओर बढ़ने की क्रिया है। अतः शिक्षण में बालक के जीवन को अनुभवों को आधार मानकर आगे बढ़ना स्वाभाविक, मनोवैज्ञानिक एवं युक्तियुक्त माना जाता है। बालक का जिज्ञासा को जागरित किया जाता है कि जिस वस्तु, घटना या परिस्थिति का तुम अनुभव करते हो वह क्यों उत्पन्न होती है उसके कारण क्या हैं और उन कारणों से यही परिणाम कैसे निकलता है आदि। अतः बालक स्वयं ही तर्क करने लगता है और अध्यापक की सहायता से जान लेता है।

शिक्षण विधियाँ[1]

शिक्षण के सामान्य सिद्धान्तों एवं सूत्रों के पश्चात् यह जानना भी आवश्यक है कि शिक्षण विधियाँ क्या हैं। शिक्षण विधि का तात्पर्य पाठ्य सामग्री को इस प्रकार सुव्यवस्थित रीति से क्रमायोजित करना है जिससे बालक के मस्तिष्क पर उसका सर्वोत्तम प्रभाव पड़ सके।[2] अतः अपनी विषय सामग्री किस क्रम से आयोजित करें, इसका ध्यान रखना बहुत आवश्यक है। इसके द्वारा शिक्षण कार्य सुगम एवं सफल सिद्ध होता है। शिक्षा विशेषज्ञों ने इस दृष्टि से अनेक विधियों का उल्लेख किया है जिनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं—

1. Methods of teaching
2. "Method is an orderly arrangement of material of instruction as to cause the material it's best effect on the mind of the learner."
   J. Remant

१—आगमन विधि[1]
२—निगमन विधि[2]
३—सुकराती विधि[3]
४—प्रयोगात्मक विधि[4]
५—निरीक्षण विधि[5]
६—अन्वेषण विधि[6]
७—निर्दिष्ट कार्य विधि[7]
८—निरीक्षण स्वाध्याय विधि[8]

आगमन विधि

बालकों की 'स्वयं शिक्षा' एवं तर्क शक्ति के विकास की दृष्टि से यह विधि बहुत ही उत्तम मानी जाती है क्योंकि इसके अनुसार उदाहरणों एवं प्रयोगों के द्वारा नियम या सिद्धान्त बताया जाता है। इस विधि में पूर्व वर्णित शिक्षण सूत्रों —'विशेष से सामान्य' एवं 'स्थूल से सूक्ष्म' की ओर का प्रयोग किया जाता है। इस विधि द्वारा पाठ का अन्त किसी सामान्य अथवा व्यापक सिद्धान्त के रूप में प्रतिफलित होता है। बालकों के सम्मुख पहले अनेक विशेष उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं और उनके आधार पर तुलना एवं विश्लेषण द्वारा वे एक सामान्य सिद्धान्त पर पहुँचते हैं और फिर उदाहरणों द्वारा उस सिद्धान्त की पुष्टि अथवा प्रामाणिकता सिद्ध करते हैं। उदाहरणतः हिन्दी व्याकरण में यदि कर्त्ता और क्रिया का संबंध बताना है तो पहले हम इसके कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं और उन उदाहरणों द्वारा बालक इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कर्त्ता के अनुसार क्रिया में लिंग और वचन की दृष्टि से क्या परिवर्तन हो जाता है। इस विधि के प्रयोग का उद्देश्य है विशेष उदाहरणों अथवा अनुभवों के आधार पर एक सामान्य सिद्धान्त या विचार को निष्कर्ष रूप में प्राप्त करना, स्थूल

1. Inductive Method
2. Deductive Method,
3. Socratic Method
4. Experimental Method.
5. Observational Method.
6. Heuristic Method.
7. Assignment Method
8. Supervised Study Method.

उदाहरणों के आधार पर किसी सूक्ष्म निष्कर्ष पर पहुँचना और विशिष्ट निष्कर्षों के आधार सामान्य सिद्धान्त स्थिर करना।

इस विधि के प्रयोग में यह ध्यान रखना चाहिए कि उदाहरण शुद्ध, उपयुक्त और पर्याप्त संख्या में हों और उनके आधार पर उचित प्रश्नों द्वारा क्रम से नियम की ओर विद्यार्थियों को अग्रसर किया जाय। इस विधि का विशेष महत्व इसलिए है कि गणित के नये नियम, विज्ञान के सामान्य सिद्धान्त, व्याकरण के नियम, भौगोलिक कारणों एवं नियमों को समझने में बड़ी सरलता हो जाती है। यह विधि मनोवैज्ञानिक भी है क्योंकि बालक उदाहरणों के आधार पर स्वयं ही अवलोकन तथा चिन्तन द्वारा निष्कर्ष निकालने अथवा नियम निर्धारित करने में समर्थ हो जाते हैं।

इस विधि के प्रयोग में सामान्यतः निम्नलिखित चार पदों का ध्यान रखना आवश्यक है :—

१—उदाहरण—पर्याप्त संख्या में एक प्रकार के उदाहरणों का चुनना।

२—तुलना और तत्व निरूपण—उदाहरणों की पृथक्-पृथक् तुलना करते हुए और उनमें समानता तथा असमानता दिखाकर तर्क पूर्ण ढंग से किसी परिणाम पर पहुँचने का प्रयत्न करना।

३—नियम-निर्धारण—उपर्युक्त प्रयत्न द्वारा सामान्य सिद्धान्त निश्चित करना।

४—नियम की पुष्टि—नियम निकालने के बाद फिर अनेक उदाहरणों द्वारा नियम की सत्यता या प्रामाणिकता पुष्ट करना।

ये चार पद अन्य प्रकार से भी प्रस्तुत किये जाते हैं जैसे (१) समस्या का स्पष्ट परिचय बालक को यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि समस्या क्या है।

(२) तथ्यों को एकत्र करना[1]—समस्या के समाधान के लिए विविध उदाहरणों, विवरणों, प्रमाणों या दृष्टान्तों को एकत्र किया जाता है।

(३) एकत्र सामग्री का पृथक्करण, तुलना और तत्व निरूपण[2]—यह पद ऊपर के दूसरे पद के ही भाँति है।

(४) सामान्यीकरण[3]—तत्व निरूपण के साथ-साथ एक सामान्य नियम या निष्कर्ष निकालना।

इन चारों पदों के प्रयोग को और वैज्ञानिक बनाने का प्रयत्न किया गया

---

1. Collection of data.
2. Sifting of data, Comparison and abstraction.
3. Generalisation.

है। पहले पद में बालकों के पूर्व ज्ञान को जागरित करके नवीन समस्या को स्पष्ट करना और उसके समाधान की पृष्ठभूमि तैयार करना, दूसरे पद में समस्या के हल की कल्पना का अनुभाव (Hypothesis) करना और दो एक प्रयोगात्मक नियम बनाने का प्रयत्न करना, तीसरे पद में तुलना और व्याख्या के आधार पर समानता और असमानता दिखाते हुए अनुमानित नियम की परीक्षा करना, चौथे पद में अनुमानित नियम में यथावश्यक संशोधन करके सामान्य नियम स्थिर करना। उदाहरण के लिए 'हवा का वाष्प के रूप में जमना' पाठ पढ़ाना है। पहले पद में यह क्रिया एक समस्या के रूप स्पष्ट की जाती है कि हवा वाष्प के रूप में क्यों जमती है ? दूसरे पद में अनेक दृष्टान्त सामग्री और अनुमानित नियम (Hypothesis) के रूप में प्रस्तुत किये जायँगे, जैसे वायु से धूमिल ऐनक, स्वास से धूमिल दर्पण, बर्फ से भरे हुए गिलास पर जल कण का जमाव, रात में घास पर ओस विन्दुओं का जमाव। इनके प्रश्नों के अनुमानित उत्तर होंगे—(१) वायु का चिकने पदार्थ से स्पर्श, (२) अन्धकार और (३) वायु का ठंडा होना। अब तीसरे पद में इन अनुमानित कारणों की जाँच की जायगी और अनेक दृष्टान्तों तथा प्रयोगों द्वारा और पहले दोनों कारणों की सत्यता को गलत सिद्ध करते हुए तीसरे कारण को सत्य सिद्ध कर लिया जायगा। इस प्रकार अगमन विधि को अधिकाधिक तर्क संगत, युक्तियुक्त एवं वैज्ञानिक बनाने का प्रयत्न किया गया है।

निगमन विधि

यह विधि अगमन विधि के विपरीत है क्योंकि अगमन विधि में तथ्यों एवं उदाहरणों से प्रारंभ करके सामान्य नियम निकालते हैं किन्तु इसमें 'सामान्य से विशिष्ट की ओर' अथवा नियम या सिद्धान्त बताकर उदाहरण एवं तथ्य की ओर आते हैं। शिक्षक बालकों को नियम या सिद्धान्त बता देते हैं, फिर प्रयोग द्वारा एवं विविध उदाहरण देकर उस नियम या सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं। जैसे अध्यापक ज्योमेट्री में बालकों को यह नियम बता देता है कि त्रिभुज के तीनों कोणों का योग सदा १८० होता है। अब बालकों की सहायता से वह अनेक प्रकार के त्रिभुजों का उदाहरण प्रस्तुत करता है और प्रत्येक त्रिभुज के कोणों का माप लेकर इस नियम की सत्यता सिद्ध करता है। बालक प्रत्येक त्रिभुज के तीनों कोणों को नापकर एक ही परिणाम पर पहुँचते हैं और इस नियम को स्थिर कर लेते हैं। यह विधि अङ्कगणित, ज्यामिति, विज्ञान आदि में अधिक प्रयुक्त होती है। इस विधि का अवगुण यह है कि बालक किसी तर्क शक्ति के ही सीधे नियम से परिचित हो जाता है और बाद में प्रयोगों एवं

उदाहरणों द्वारा उसकी सत्यता की जाँच करता है। उसे स्वयं प्रयत्न द्वारा नियम निकालने का एवं तर्क शक्ति के विकास का अवसर नहीं मिलता।

निगमन विधि का प्रयोग दो प्रकार से होता है—(१) प्रत्याशित निगमन[1] और (२) व्याख्यात्मक निगमन[2]। प्रत्याशित निगमन में नियम या सिद्धान्त के आधार पर तथ्यों एवं उदाहरणों की सम्भावना प्रदर्शित की जाती है। उदाहरणतः भूगोल में शिक्षक पहले बता देता है कि जलवायु के क्या नियम है अर्थात् किस स्थिति में कैसी जलवायु होती है। अब इस नियम के आधार पर किसी विशेष प्रदेश की जलवायु बताने का प्रयत्न किया जाता है। व्याख्यात्मक निगमन में निर्दिष्ट नियमों या सिद्धान्तों द्वारा तथ्यों या उदाहरणों की व्याख्या करते हैं जैसे किसी प्रदेश की जलवायु बताकर फिर जलवायु के नियमों द्वारा उस विशेष जलवायु के कारणों पर प्रकाश डाला जाय।

निगमन-विधि में पाठ-विकास के लिए निम्नांकित ४ पदों का अनुसरण किया जाता है :—

पहले पद में समस्या अथवा नियम या सिद्धान्त का स्पष्टीकरण होता है। यह समझ लेना आवश्यक होता है कि हमारा अभीष्ट क्या है अर्थात् हमें सिद्ध क्या करना है। फिर दूसरे पद में प्रस्तुत नियमों या सिद्धान्तों को विविध तथ्यों या उदाहरणों पर लागू किया जाता है और इस प्रकार नियमों की छानबीन की जाती है। तीसरे पद में अनुमति नियमों का प्रयोग और जाँच की जाती है और चौथे पद में अभीष्ट नियम या सिद्धान्त को पुष्ट एवं प्रमाणित कर लेते हैं।

अगमन और निगमन की विधियों का अन्तर—उपर्युक्त दोनों विधियाँ एक दूसरे के विपरीत-सी हैं। यह विपरीतता निम्नलिखित रूपों में स्पष्ट की जा सकती है :—

१—अगमन विधि में तथ्यों एवं उदाहरणों से सामान्य सिद्धान्त की की ओर चलते हैं जब कि निगमन विधि में सामान्य सिद्धान्त से तथ्यों एवं उदाहरणों की ओर चलते हैं।

२—अगमन विधि में सामान्य नियम बालक स्वयं निकालते हैं जब कि निगमन में नियम पहले बता दिया जाता है और बालक शिक्षक पर निर्भर रहते हैं। अतः अगमन विधि में बालक पाठ के विकास में सक्रिय भाग लेते हैं पर निगमन में यह अवसर नहीं मिलता और शिक्षक ही सारा कार्य सम्पन्न कर देता है।

---

1. Anticipatory deduction.
2. Explanatory deduction.

३—अगमन विधि का प्रयोग छोटे बच्चों के लिए बहुत उपयोगी है जब कि निगमन विधि का प्रयोग बड़े बच्चों के लिये ही अनुसरणीय है। छोटे बच्चों को सीधे नियम बता देना उनकी विचार एवं तर्क शक्ति के विकास की अवहेलना करना है। अगमन विधि में उन्हें खूब सोचने, विचार करने, तर्क करने का अवसर मिलता है पर निगमन विधि में यह अवसर नहीं मिलता। इसमें जाने हुए नियम को उदाहरणों द्वारा पुष्ट करने का प्रयत्न अवश्य करना पड़ता है पर अगमन विधि जैसी उनकी मौलिक शक्ति का प्रयोग नहीं हो पाता।

४—अगमन विधि में बालक अन्वेषण करना सीखता है। उसमें स्वय निरीक्षण, अनुभव एवं निर्णय पर विश्वास उत्पन्न होता है जब कि निगमन विधि में वह अनुकरण करने तथा शिक्षक पर निर्भर रहने का आदी बन जाता है।

उपर्युक्त दृष्टियों से ही अगमन विधि को हम मनोवैज्ञानिक एवं उत्तम शिक्षण विधि मानते हैं।

अगमन—निगमन विधि—यद्यपि अगमन एवं निगमन विधियाँ परस्पर विपरीत कही गयी हैं किन्तु ये परस्पर पूरक भी हैं। शिक्षण में दोनों का ही महत्व है। दोनों का प्रयोग सर्वथा पृथक्-पृथक् नहीं होता। दोनों का साथ-साथ प्रयोग ही उत्तम विधि है। जहाँ अगमन विधि का प्रयोग होता है वहीं निगमन विधि का भी। जब हम अगमन विधि द्वारा कोई नियम निर्धारित करते हैं तो यह आवश्यक हो जाता है कि और उदाहरणों एवं प्रयोगों द्वारा उसकी सत्यता प्रमाणित कर ली जाय। इसके लिये तत्काल ही निगमन की आवश्यकता पड़ जाती है। केवल नियम निकाल कर ही सन्तुष्ट हो जाने से बालक का ज्ञान स्थायी नहीं हो सकता। अतः दोनों विधियों को मिलाकर 'अगमन-निगमन' विधि ही उपयुक्त एवं मनोवैज्ञानिक है। इसी प्रकार ऊँची कक्षाओं में जहाँ आरम्भ में ही किसी नियम, सूत्र या सिद्धान्त को बता दिया जाता है अर्थात् निगमन का प्रयोग होता है वहाँ अगमन द्वारा उसका परीक्षण विविध प्रयोगों एवं उदाहरणों की सहायता से करते हैं तभी शिक्षण पूरा माना जाता है। अतः दोनों के मिश्रण से ही शिक्षण-कार्य सफल हो सकता है।

सुकराती विधि

प्राचीन यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात ने किसी वस्तु या सिद्धान्त की सत्यता प्राप्त करने के लिए 'प्रश्न-विधि' अपनाई थी। उसका कथन था

कि क्रमयुक्त प्रश्नावली द्वारा भ्रामक विचारों को दूर किया जा सकता है और जो वास्तविक सत्य होता है उसको हम प्राप्त कर सकते हैं। सुकरात किसी भी वस्तु का सही रूप जानने के लिए लोगों से प्रश्न पूछता जाता था और जो उत्तर मिलता था उस पर फिर प्रश्न पूछता जाता था। इस प्रकार अन्ततः सच्चे निष्कर्ष पर पहुँच जाता था। उपयुक्त एवं सक्रम प्रश्नावली द्वारा भ्रामक विचारों का निवारण करते हुए सही तथ्य, विचार या सिद्धान्त पर पहुँच जाना ही इस विधि का उद्देश्य था। सुकरात के द्वारा प्रयुक्त होने के कारण इस विधि का नाम ही सुकराती विधि पड़ गया। सुकरात का कहना था कि मानव मस्तिष्क ज्ञान से परिपूर्ण है पर वह ज्ञान अव्यवस्थित एवं अनेक उलझनों से भरा रहता है। उसे व्यवस्थित, उलझन रहित, शुद्ध एवं स्पष्ट करने के लिए प्रश्न सबसे उत्तम विधि है। प्रश्नों द्वारा सच्चे ज्ञान पर पड़े हुए अनेक धूमिल आवरण अपने आप हट जाते हैं तथा सारा कुहासा दूर होकर सही तथ्य स्पष्ट दृष्टिगोचर हो जाता है।

सुकराती विधि की कार्य-प्रणाली—सुकरात एक महान् शिक्षक था। उसका दृढ़ विश्वास था कि ज्ञान ऊपर से थोपने की वस्तु नहीं है। व्यक्ति के अन्तःकरण में से जो शक्ति, विचार एवं ज्ञान है उसे प्रकाशित करने का अवसर देना ही शिक्षक का कार्य है। वह कोई बात प्रत्यक्ष रूप से नहीं बताता था बल्कि प्रश्न द्वारा व्यक्ति से स्वयं ही, अभीष्ट ज्ञान प्रकाशित करा लेता था। इसमें सुकरात बहुत ही कुशल था। उसकी यह विधि 'स्वयं-शिक्षा' के लिए प्रेरित करती था। यदि किसी वस्तु या विचार के सम्बन्ध में शंका, जिज्ञासा या कौतूहल है तो प्रश्न पूछो और उसके द्वारा जो नहीं जानते हो उसकी ओर बढ़ो, जानने का प्रयत्न करो और इस प्रकार स्वयं प्रेरित शिक्षा ही सर्वोत्तम शिक्षा है। उसकी दृष्टि से उठी हुई जिज्ञासा अथवा समस्या पर प्रश्न पूछना, ज्ञात से अज्ञात की ओर क्रम से बढ़ना और स्वशिक्षण के लिए प्रेरित एवं प्रोत्साहित करना बालक की शिक्षा की वैज्ञानिक विधि है।

सुकरात ने आजीवन इसी विधि का अनुसरण किया। जो भी उसके पास शंका समाधान के लिए, कुछ जानने के लिये या ज्ञान प्राप्त करने के लिये आते थे, सुकरात उनसे उनकी जिज्ञासी शंका या धारणा पर ही आधारित प्रश्न पूछता था और प्रश्नों के तर्कयुक्त क्रम से जिज्ञासु को स्वयं ही आत्मा-लोचन के लिए बाध्य कर देता था। इस क्रम से व्यक्ति स्वयं ही अपनी गलत धारणाओं को दूर करने और सही ज्ञान प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर होने

लगता था और अन्ततः सही ज्ञान प्राप्त कर लेता था। जिस प्रकार एक दाई गर्भ के बच्चे को बाहर निकलने में सहायता प्रदान करती है उसी प्रकार वह लोगों को उनके नवीन मस्तिष्क-निर्माण में सहायता प्रदान करता था।[1]

गुण

१—इस विधि की पहली विशेषता यह है कि ज्ञान प्राप्ति के लिये विद्यार्थी की रुचि एवं जिज्ञासा जागरित की जाती है।

२—बालक की रुचि देख कर ही ज्ञानार्जन की ओर उसे प्रोत्साहित किया जाता है।

३—पूर्वार्जित ज्ञान के आधार पर क्रम से अज्ञात की ओर अग्रसर होते हैं।

४—कोई नई बात बताने की जगह बालक से ही उसे निकलवाने का प्रयत्न किया जाता है और यदि उसका उत्तर गलत है तो उचित प्रश्न द्वारा इसका अनुभव भी उसे करा दिया जाता है जिससे वह उसे दूर कर ठीक उत्तर की ओर जा सके।

५—ज्ञान प्राप्ति के लिए प्रश्नों का प्रयोग ही सर्वोत्तम विधि है क्योंकि शिक्षार्थी इससे समझता है कि उसने स्वयं ज्ञान प्राप्त किया है। आत्मप्रयत्न ही ज्ञान प्राप्ति की सच्ची सीढ़ी है।

दोष

१—इस विधि का प्रयोग हम सर्वथा नवीन तथ्यों के लिए नहीं कर सकते। कभी-कभी अध्यापक बालक से ही नवीन तथ्य निकलवाने का हठ कर बैठते हैं और इसके लिए व्यर्थ के प्रश्न पूछते रहते हैं। यह उचित विधि नहीं है। प्रश्न का प्रयोग तर्क युक्त अथवा कार्य-कारण सम्बन्ध वाले तथ्यों के निकालने में अधिक उपयोगी सिद्ध होता है पर ऐतिहासिक या भौगोलिक नवीन तथ्य तो बताने ही पड़ते हैं। विज्ञान, गणित, व्याकरण जैसे पाठों में यह प्रणाली अधिक उपयुक्त है जिनमें पूर्वापर सम्बन्ध जुड़ा रहता है।

२—इस विधि के अनुसरण में प्रश्नों की झड़ी लग जाती है और अध्यापकों में यह गलत धारणा बन जाती है कि अच्छा पाठ वही है जिसमें एक पर एक प्रश्नों का ताँता लगा रहे। पर यह ठीक नहीं। प्रश्न के साथ-साथ उचित कथन, वर्णन आदि के मिश्रण से ही पाठ रोचक और सजीव होता है।

---

1. He described himself as "a man midwife for mind" who assisted other people to bring into the world new briths of mind.

प्रश्नों के अत्यधिक प्रयोग से बालकों में भी प्रश्न पूछने की आदत पड़ जाती है और वे अनावश्यक प्रश्न पूछने लगते हैं।

३—उपयुक्त प्रश्नों की रचना एक श्रमसाध्य कुशलता है जो सभी अध्यापकों को सुलभ नहीं है। अवसर, प्रसंग एवं आवश्यकता को देखते हुए तत्काल ही उपयुक्त प्रश्न बना लेना अनुभव अभ्यास एवं दक्षता पर निर्भर है।

उपर्युक्त कमियों के होते हुए भी सुकराती अथवा 'प्रश्नविधि' आधुनिक शिक्षण की एक अपरिहार्य विधि है, और उसका उपयुक्त एवं यथावश्यक प्रयोग निसन्देह ही वांछनीय है और प्रत्येक अध्यापक को इसके अनुसरण के लिए प्रश्नों की रचना एवं उनके उचित प्रयोग की दक्षता प्राप्त करनी चाहिए।

प्रयोगात्मक विधि

विविध प्रयोगों द्वारा जब हम बालकों को नया ज्ञान सीखने का अवसर प्रदान करते हैं तो उसे प्रयोगात्मक विधि कहते हैं। प्रयोग द्वारा ही बालक किसी तथ्य अथवा सिद्धान्त पर पहुँचता है और ज्ञान प्राप्त करता है। शिक्षक इस विधि में कोई सिद्धान्त बताने के पहले बच्चों को क्रियात्मक प्रयोग का अवसर देता है और उन्हें प्रयोग करने के लिए प्रोत्साहित करता है। विज्ञान के पाठों में यह विधि बहुत उपयोगी सिद्ध होती है। विज्ञान के सिद्धान्तों को समझाने के लिए प्रयोगों की नितान्त आवश्यकता पड़ती है। प्रयोग की आवश्यकता विज्ञान-शिक्षणों में बार-बार पड़ती है जैसे किसी सिद्धान्त को निकालने के लिए और फिर सिद्धान्त निकालने के पश्चात् उसे प्रमाणित करने के लिए प्रयोगों द्वारा ही बालक किसी सिद्धान्त की सच्चाई की जाँच कर सकता है।

प्रयोगों द्वारा सिद्धान्त या नियम निकालने की प्रक्रिया वही है जो आगमन विधि में अनुसरण की जाती है। इसमें अनेक बार के प्रयोग करने से जब वही फल प्राप्त होता है तो बालक सामान्य सिद्धान्त निकाल लेते हैं। इस विधि की उपयुक्तता यह है कि बालक स्वयं ही नियम निकालना जान जाता है और उसकी रुचि एवं जिज्ञासा बनी रहती है। "कार्य द्वारा शिक्षा प्राप्त करने का शिक्षण सिद्धान्त" इस विधि द्वारा अपने आप ही प्रयुक्त हो जाता है और यह ज्ञान अधिक ठोस तथा स्थायी होगा। इस प्रकार के शिक्षण में बालक का सक्रिय सहयोग प्राप्त रहता है।

प्रयोगों के महत्व के कारण ही आधुनिक विज्ञान-शिक्षण के लिए प्रयोग-शालाओं के महत्व पर इतना बल दिया जाने लगा है। शिक्षक स्वयं यहाँ अनेक प्रयोग करके विद्यार्थियों को निरीक्षण का अवसर देते हैं और विद्यार्थियों

को स्वयं प्रयोग करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। इससे पाठ क्रियात्मक, रोचक एवं सजीव बन जाते हैं और बालक शुष्क सिद्धान्तों को रटने के भार से बच जाते हैं। वे अपने आप तर्कसंगत बातें प्रयोगों द्वारा निकाल लेते हैं और सरलता-पूर्वक उन्हें आत्मसात् कर लेते हैं। इस प्रकार से प्राप्त ज्ञान सुव्यवस्थित होता है और उन्हें विस्मृत नहीं होता।

निरीक्षण विधि

किसी वस्तु अथवा तथ्य का केवल शाब्दिक वर्णन बालकों के मानसपटल पर वह चित्र नहीं खींच सकता जो उन्हें उस वस्तु या तथ्य के साक्षात् निरीक्षण अथवा सम्पर्क में आने से सम्भव हो सकता है। जब बालक किसी वस्तु को देखते हैं तो बिना बताये भी उसके वास्तविक स्वरूप से अवगत हो जाते हैं। वस्तु को देखने पर उसके सम्बन्ध में विचार करने, जिज्ञासा प्रकट करने, उनके समाधान के लिए प्रयत्न करने आदि शैक्षिक प्रयत्नों की ओर बालक स्वयं ही अग्रसर हो जाता है और उस सम्बन्ध में उसकी आत्मप्रकाशन शक्ति का विकास होता है। विज्ञान, भूगोल, इतिहास आदि के शिक्षण में निरीक्षण विधि विशेषरूप से उपयोगी सिद्ध होती है। हम अशोक के स्तूपों एवं स्तम्भों का कितनी ही सजीव वर्णन करें किन्तु उसका उतना अच्छा प्रभाव बालकों पर नहीं पड़ेगा, जितना कि बालकों को इन्हें स्वयं देखने का प्रभाव। ऐतिहासिक एवं भौगोलिक स्थानों का परिभ्रमण एवं निरीक्षण वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं एवं उनमें किये जाने वाले प्रयोगों के निरीक्षण का अवसर प्रदान करना और बालकों को स्वतन्त्र रूप से इनके अवलोकन के लिए प्रोत्साहित करना एक उत्तम शिक्षण विधि है। इससे बालकों में स्वतन्त्र रूप से विचार करने एवं तुलना तथा विश्लेषण करने की शक्ति का विकास होता है।

निरीक्षण विधि के प्रयोग में शिक्षक को निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिये :—

१—बालकों को कोई वस्तु दिखाने के पहले शिक्षक को स्वयं ही उसका निरीक्षण कर लेना चाहिये और उस सम्बन्ध में बालकों को क्या-क्या बातें ज्ञात करानी हैं, इसका निर्णय कर लेना चाहिए।

२—निरीक्षण के पहले बालकों में उस वस्तु या स्थान के सम्बन्ध में उचित प्रश्नों द्वारा जिज्ञासा जागरित करनी चाहिए और समुचित निरीक्षण की विधि से परिचित कर देना चाहिए।

३—निरीक्षण के समय बालकों को भली भाँति देखने, समझने और पूछने का पूर्ण अवसर प्रदान करना चाहिए।

४—निरीक्षण के समय शिक्षक स्वयं बालकों से प्रश्न पूछ कर वस्तु का सम्यक् ज्ञान प्रदान करने में सहायक हो सकता है और बालकों का ध्यान प्रमुख तथ्यों की ओर आकर्षित कर सकता है। इससे बालकों को वस्तु के सुव्यवस्थित ज्ञान का अवसर मिलता है और वे आगे स्वयं निरीक्षण द्वारा किसी वस्तु की पूरी जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

५—वस्तु सम्बन्धी अन्य प्रासंगिक बातें भी आवश्यकतानुसार बालकों को बतानी चाहिए।

अन्वेषण विधि

अन्वेषण विधि उस विधि को कहते हैं जिसमें बालक स्वयं ही किसी तथ्य या सिद्धान्त की खोज करता है। अन्वेषण विधि अंग्रेजी शब्द ह्यूरिस्टिक मेथड का समानार्थी है। ह्यूरिस्टिक का अर्थ होता है खोज करना। अतः इस विधि के नाम से स्पष्ट है कि बालक ऐसी स्थिति में रख दिया जाता है कि वह स्वयं ही ज्ञान प्राप्ति की दिशा में अग्रसर हो और स्वयं प्रयोग द्वारा तथ्यों, विचारों एवं सिद्धान्तों की खोज करे। शिक्षण-विधि के रूप में इसके प्रवर्त्तन का श्रेय प्रोफेसर आर्मस्ट्रांग (Prof. Armstrong) को है जिन्होंने विज्ञान-शिक्षण के लिए इसे एक व्यवस्थित रूप दिया। किन्तु विज्ञान की शिक्षा के लिए ही इसे सीमित न रखकर इस विधि का प्रयोग किसी भी विषय के शिक्षण के लिए किया जा सकता है।

अन्वेषण विधि का महत्व विज्ञान, भूगोल, इतिहास अथवा व्याकरण के तथ्यों का ज्ञान कराने की दृष्टि से उतना नहीं जितना कि बालक को यह सिखाने में है कि किसी भी विषय, तथ्य या सिद्धान्त का ज्ञान किस प्रकार स्वयं प्राप्त किया जा सकता है, किस प्रकार इस ज्ञान को व्यवस्थित किया जा सकता है और किस प्रकार उसे प्रयोग में लाया जा सकता है। इस विधि के प्रयोग से बालक में निरीक्षण करने, विचार करने और सही तरीके से कार्य करने की क्षमता पैदा हो जाती है।

इस विधि के प्रयोग में अगमन विधि का ही मुख्यतः आश्रय लिया जाता है। बालक स्वयं सक्रिय प्रयत्न द्वारा पाठ्य-पुस्तकों से, प्रयोगों से, स्वाध्याय से अथवा अध्यापक की सहायता से सूचनाएँ संग्रह करते हैं, तथ्यों का संकलन करते हैं और उनके आधार पर ज्ञान की खोज करते हैं। इस विधि का मूल सिद्धान्त 'व्यक्तिगत शिक्षा' का सिद्धान्त है क्योंकि इसमें प्रत्येक बालक स्वयं प्रयत्न एवं प्रयोग द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है। अध्यापक इस विधि में बालकों के सम्मुख कुछ समस्या इस रूप में प्रस्तुत करता है कि वे रुचिपूर्वक उत्साह के

साथ कार्य में लग जाते हैं। समस्या देते समय बालकों की मानसिक शक्ति एवं शैक्षिक स्तर का ध्यान रखना होता है। समस्या समाधान में बालक स्वयं ही निरीक्षण, अध्यापन, परीक्षण के आधार पर आगे बढ़ते हैं और स्वानुभव द्वारा समाधान ढूँढ़ने का प्रयत्न करते हैं।

"बालक स्वानुभव से ही सही माने में सीखता है" का सिद्धान्त ही इस विधि का मूल सिद्धान्त है। यह एक क्रियात्मक विधि है क्योंकि बालक एक अन्वेषक, आविष्कारक अथवा अनुसंधानकर्त्ता की भाँति ज्ञान की खोज करता है और उसकी मानसिक क्रियाशीलता सतत बनी रहती है। वह स्वयं सोचता रहता है और किसी न किसी प्रयोग में लगा रहता है जिससे किसी निष्कर्ष को प्राप्त कर सके। इसका यह तात्पर्य नहीं कि इस विधि द्वारा प्रत्येक बालक अनुसंधानक ही बन जाता है किन्तु इसमें संदेह नहीं कि इसके अनुसरण से बालकों में वैज्ञानिक ढंग से सोचने और व्यवस्थित रूप से कार्य करने की आदत पड़ती है और उनका दृष्टिकोण भी वैज्ञानिक हो जाता है। छात्रों में समालोचनात्मक प्रवृत्ति पैदा होती है और वे उचित प्रमाणों के आधार पर ही किसी कथन को स्वीकार करते हैं। यहाँ तक कि पुस्तक या पत्रिका में मुद्रित वस्तु को भी वे समीक्षात्मक दृष्टि से ही देखते हैं। ह्यूरिस्टिक विधि में इस बात पर बल नहीं दिया जाता कि बालक अधिक से अधिक ज्ञान का संचय कर ले, बल्कि इस बात पर बल दिया जाता है कि उसका मानसिक एवं बौद्धिक विकास अधिक से अधिक हो। संक्षेप में इस विधि के आधारभूत सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :—

१—**क्रिया द्वारा सीखना**—अन्वेषक विधि एक क्रियात्मक विधि है। इसमें 'करके सीखने' (Learningeq by doing) का सिद्धान्त अपनाया जाता है। बालक एक अन्वेषक के रूप में कार्य करता है जिससे उसकी मानसिक शक्ति सजग और क्रियाशील बनी रहती है। इस प्रकार प्राप्त किया हुआ ज्ञान स्थायी और अमिट होता है। निष्क्रिय श्रोता बनकर कक्षा में बालक जो सूचनाएँ प्राप्त करते हैं, वे शीघ्र ही विस्मृत हो जाती हैं क्योंकि उनके ग्रहण करने में बालक का मस्तिष्क सक्रिय एवं सजग नहीं रहता और वे सूचनाएँ बालक की आत्मक्रिया एवं आत्म अनुभव द्वारा नहीं प्राप्त होतीं।

२—**स्वानुभव से सीखना**—इस विधि में बालक क्रिया द्वारा स्वयं अनुभव से ही सीखता है। वह स्वयं खोज करता है तथ्यों का संकलन, परीक्षण, चिन्तन तथा नियमन आदि कार्य उसे स्वयं करना पड़ता है जिससे उसकी तर्क एवं विचार शक्ति का विकास होता है। बालक इस प्रकार से सीखने में आनन्द का अनुभव करता है क्योंकि वह स्वप्रेरित एवं स्वस्फूर्त ढंग से कार्य में संलग्न

होता है । उसमें कार्यतत्परता, संलग्नशीलता, एकाचित्तता, आत्मनिर्भरता एवं आत्मविश्वास का भाव बना रहता है ।

३—मनोवैज्ञानिक क्रम—इस विधि में पूर्व वर्णित शिक्षण सूत्र मनोवैज्ञानिक क्रम का अनुसरण किया जाता है । कोई नई समस्या इस रूप में रखी जाती है कि बालक अपने पूर्व ज्ञान के आधार पर अज्ञात की ओर बढ़ सकें और क्रम से नवीन ज्ञान की खोज में सफल हो सकें । मनोवैज्ञानिक क्रम से ज्ञान की खोज में उनकी रुचि बनी रहती है और वे स्वेच्छा एवं उत्साह से कार्य में लगे रहते हैं वे अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य के अनुसार प्रगति करते हैं, जबर्दस्ती आगे बढ़ने का बन्धन नहीं रहता । बालकों के शारीरिक एवं मानसिक विकास क्रम के अनुसार ही किसी कार्य विशेष में उनकी प्रगति की आशा की जाती है ।

४—वैज्ञानिक दृष्टिकोण—इस विधि द्वारा बालकों में किसी भी कार्य को संपन्न करने का वैज्ञानिक दृष्टिकोण पैदा होता है और वैज्ञानिक ढंग से करने की आदत पड़ती है । कार्य करने की व्यवस्थित पद्धति, तथ्यों का वैज्ञानिक परीक्षण और तर्क संगत निष्कर्ष इस विधि के अनिवार्य गुण है ।

अन्य गुण—अन्वेषण विधि बालक के मनोवैज्ञानिक विकास की दृष्टि से बहुत ही उत्तम मानी जाती है क्योंकि इसके द्वारा बालकों की मानसिक शक्ति—निरीक्षण, परीक्षण, चिन्तन एवं तर्क शक्ति तथा समीक्षण शक्ति का विकास होता है । उनमें स्वयं शिक्षा की लगन पैदा हो जाती है तथा स्वाध्याय एवं परिश्रम करने की आदत पड़ती है । बालक अन्वेषक एवं अनुसंधानकर्त्ता बन जाता है और बिना समीक्षा के कोई कथन स्वीकार नहीं करता । बालक की वैयक्तिक विशिष्टता के विकास की दृष्टि से भी यह विधि बहुत उपयोगी है ।

अन्वेषण पद्धति का प्रयोग केवल विज्ञान शिक्षण के लिये ही नहीं अपितु अन्य विषयों की शिक्षा में भी उपयोगी सिद्ध होता है । भाषा व्याकरण की शिक्षा में बालक अनेक उदहरणों को एकत्र कर उनके आधार पर नियम निकालता है । यह प्रक्रिया अन्वेषण विधि का ही अनुसरण है । इसी प्रकार भूगोल की शिक्षा में जब बालक कुछ परिस्थितियों के आधार पर किसी स्थान का जलवायु पता लगाता है और इसी प्रकार के अनेक उदाहरणों के आधार पर किसी सामान्य नियम पर पहुँचता है तो यह प्रकिया अन्वेषण विधि का ही अनुसरण है । इतिहास में जब हम मूल विवरणों या सामग्रियों के आधार पर किसी ऐतिहासिक घटना का उल्लेख करते हैं तो यह प्रक्रिया भी अन्वेषण विधि का ही आधार ले लेती है । विज्ञान के शिक्षण में तो किसी भी प्रयोग के आधार पर

नियम या सामान्यीकरण का प्रयत्न इसी विधि के आधार पर किया जाता है। अर्थात् जब भी हम बालक को एक अन्वेषक की स्थिति में रखते हैं और वह प्राप्त सामग्री के आधार पर ज्ञान की खोज करता है और अपने किसी निर्णय पर पहुँचता है तो हमें समझना चाहिये कि हम अन्वेषण विधि का प्रयोग कर रहे हैं।

अन्वेषण विधि की सीमाएँ—अन्वेषण विधि के उपर्युक्त गुणों और उपयोगिताओं का यह तात्पर्य नहीं है कि हम इस विधि का प्रयोग हर विषय में हर समय कर सकते हैं। अतः इसकी क्या सीमायें हैं और इसका प्रयोग कहाँ तक संभव है, इससे भी हमें परिचित हो लेना चाहिये :—

१—किसी विषय के शिक्षण में अनेक अवसर ऐसे आ जाते हैं जब हम बालकों से यह आशा नहीं कर सकते कि वे स्वयं ही नवीन ज्ञान या सूचना प्राप्त कर लेंगे। ऐसे अवसर पर उन्हें नयी बात बता देना शिक्षक का कर्त्तव्य हो जाता है। कभी-कभी इस आशा में कि बालक स्वयं ही नये तथ्यों को खोज लेगा, अध्यापक व्यर्थ ही समय व्यतीत कर देते हैं और इसके विपरीत कभी-कभी अध्यापक सारी सूचनाएँ स्वयं ही बता देते हैं। ये दोनों ही बातें ठीक नहीं हैं। अतः शिक्षक को इस विवेक से काम लेना चाहिए कि बालक किस बात का पता लगा सकता है और किस बात का नहीं।

२—इस विधि के अनुसरण में बालक की वैयक्तिक क्षमता का सदा ध्यान रखना चाहिए। प्रत्येक बालक की मानसिक शक्ति, कार्यक्षमता और कार्य करने की गति भिन्न होती है। अतः वैयक्तिक भिन्नता का ध्यान रखते हुए प्रत्येक बालक से नए खोज की आशा रखनी चाहिए। सभी बालकों से समान आशा रखना भूल है। सभी में अन्वेषक होने की योग्यता या क्षमता नहीं रहती।

३—यदि मानव द्वारा अर्जित ज्ञान बालक पुनः अपने जीवन में नये सिरे से खोजना प्रारम्भ कर दे तो समय का अपव्यय ही माना जायगा और यह सम्भव भी नहीं है। अतः इस विधि के अनुसरण में इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि पाठ्य विषय में कौन-सा प्रकरण किस प्रकार के प्रयोग एवं खोज की अपेक्षा रखता है, किस सीमा तक विद्यार्थी को स्वयं ज्ञान प्राप्ति की दिशा में संलग्न रखना है और कौन सी बातें सीधे उन्हें बता देनी है या उन्हें स्वयं पाठ्य पुस्तकों से जान लेनी है।

४—इस विधि के अनुसरण में शिक्षक को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि बालक कहीं गलत ढंग से प्रयोग न कर बैठें और जल्दीबाजी में गलत

निष्कर्ष न निकाल लें । इससे बालकों के विकास पर बुरा प्रभाव पड़ता है और कभी-कभी वे अपनी गलती समझने पर भी निरुत्साहित हो जाते हैं। अतः प्रारम्भ से ही अध्यापक का निर्देशन एवं पथ प्रदर्शन ठीक से होना चाहिए जिससे बालक ठीक ढंग से काम पूरा करें और सही परिणाम निकाल सकें। बालकों को इसके लिए प्रोत्साहित करते रहना चाहिये।

५—ऊँची कक्षाओं में ही इसका प्रयोग उपयोगी होता है जब कि बालकों का ज्ञान कुछ अधिक हो जाता है और उस आधार पर वे आगे की खोज कर सकते हैं। उनका अपने अंगों पर नियन्त्रण भी रहता है। जिससे वे वैज्ञानिक यन्त्रों के शिक्षण सामग्रियों के प्रयोग और प्रयोगात्मक कार्यों को सम्पन्न कर सकने में सफल हो सकते हैं। प्रारम्भिक कक्षाओं के लिए यह विधि विशेष उपयुक्त नहीं है क्योंकि अविकसित तथा अपरिपक्व मस्तिष्क वाले इन छात्रों से हम किसी प्रयोग एवं खोज की आशा नहीं कर सकते।

६—हमारे देश के सामान्य स्कूलों में इस विधि का अनुसरण इस दृष्टि से भी कठिन है कि इसके लिए प्रर्याप्त शिक्षण सामग्री यन्त्रों, एवं उचित प्रयोगशालाओं की आवश्यकता पड़ती है जो इन स्कूलों में सम्भव नहीं है। विशेष प्रकार के कक्षा-भवन जहाँ इन प्रयोगों को बालक सम्पन्न कर सकें, हमारे सामान्य स्कूलों में सुलभ नहीं है । अतः यह विधि व्ययसाध्य विधि है जिसका अनुसरण कुछ साधन सम्पन्न स्कूलों में ही सम्भव है।

७—इस विधि के अनुसरण के लिए विशेष दीक्षित अध्यापकों की आवश्यकता है, जो ठीक प्रकार से छात्रों का निर्देशन और पथप्रदर्शन कर सकें। उन्हें बालकों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन के साथ-साथ इस बात में भी निपुण होना चाहिए कि कौन समस्या किस रूप में उनके सम्मुख प्रस्तुत की जाय और उन्हें किस प्रकार के प्रयोग द्वारा उचित निष्कर्ष निकालने में सहायता प्रदान की जाय।

इस प्रकार उपर्युक्त सीमाओं का ध्यान रखते हुए इस विधि का अनुसरण विज्ञान शिक्षण में ही नहीं, अपितु अन्य विषयों के शिक्षण में भी निस्सन्देह उपयोगी है और इसमें आधुनिक मनोवैज्ञानिक विधियों के सभी गुणों का जैसे स्वयं शिक्षा, क्रियात्मक शिक्षा, स्वतन्त्रता, मौलिकता, व्यक्तिगत शिक्षा, आत्म निर्भरता आदि का समावेश हो जाता है।

निर्दिष्ट-कार्य विधि

इस विधि में शिक्षक पढ़ाने के पहले ही विद्यार्थियों को पाठ सम्बन्धी कार्य दे देता है और उन्हें सम्पन्न करने के लिए कुछ संकेत भी प्रदान कर

देता है जिसके आधार पर बालक पुस्तकालय से सामग्री प्राप्त कर अथवा घर पर ही अपना कार्य पूरा करता है । इससे विद्यार्थी में स्वयं ज्ञान प्राप्ति के लिए परिश्रम करना पड़ता है और निर्दिष्ट कार्य की दृष्टि से साधनों को जुटाने के लिए विचार शक्ति एवं अन्तर्दृष्टि से काम लेना पड़ता है । इससे बालक में साधन सम्पन्नता (Resourcefulness) का गुण पैदा होता है और जो कुछ साधन सुलभ हो सकते हैं, उनसे काम लेना सीख जाता है ।

निर्दिष्ट कार्य विधि के अनुसरण में शिक्षक को निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए—

१—निर्दिष्ट कार्य निश्चित और स्पष्ट होना चाहिए जिसे बालक अच्छी तरह समझ सकें और कार्य पूरा करने में उन्हें विशेष कठिनाई न हो। यह काय न तो इतना सरल होना चाहिये कि बालक उनकी अवहेलना करने लगे और न इतना कठिन होना चाहिए कि वे उसे पूरा करने में असमर्थ हों और निरुत्साहित हो उठें ।

कभी-कभी परिश्रम से बचने के लिए अथवा जल्दीबाजी में अध्यापक इस प्रकार के अनिश्चित या अस्पष्ट निर्दिष्ट कार्य दे देते हैं जिसका प्रयोजन छात्रों की दृष्टि से स्पष्ट नहीं रहता । उदाहरणतः "कल के लिए इस पाठ के चार पृष्ठ पढ़ कर आना ।" वह निर्दिष्ट कार्य अनिश्चित और अस्पष्ट कहा जायगा क्योंकि बालकों को यह नहीं ज्ञात है कि इतना अंश क्यों पढ़ना है, किस दृष्टि से पढ़ना है, किन-किन बातों को ध्यान में रखकर पढ़ना है ? वस्तुत: निर्दिष्ट कार्य पाठ्य विषय से अवगत करने की एक शिक्षण विधि है और उसका प्रयोजन प्राय: पढ़ाये गये पाठ तथा अगले दिन पढ़ाये जाने वाले पाठ के बीच सम्बन्ध स्थापित करना होता है । निर्दिष्ट कार्य द्वारा अगले दिन के पाठ की पृष्ठभूमि ठीक प्रकार से तैयार हो सके और बालक उस आधार पर नया पाठ ठीक प्रकार से ग्रहण कर सकें, इसे ध्यान में रखकर निर्दिष्ट कार्य देना चाहिए।

२—निर्दिष्ट कार्य संक्षिप्त और बोधगम्य होना चाहिए। यदि उसमें कोई स्थल या बात कठिन प्रतीत हो तो शिक्षक स्पष्ट कर दे अथवा बालकों को समझाने की दृष्टि से आवश्यक व्याख्यात्मक कथन दे दे ।

३—निर्दिष्ट कार्य का सम्बन्ध यदि बालक द्वारा पठित पाठ या ज्ञात तथ्य से रहता है और उससे नवीन पाठ या तथ्य की ओर जाने में सहायता

मिलती है तो बालक उस कार्य को रुचि एवं उत्साह के साथ पूरा करते हैं। अतः बालकों के पूर्व ज्ञान एवं नये पाठ दोनों का ध्यान रखकर निर्दिष्ट कार्य का चुनाव करना चाहिए।

४—निर्दिष्ट कार्य के लिए अपेक्षित प्रश्नों की रचना बहुत सावधानी से करनी चाहिए जिससे किसी प्रकार की उलझन या अस्पष्टता न रहे और न सन्देहास्पद उत्तर या परिणाम की गुंजाइस ही रहे। निर्दिष्ट कार्य देते समय आवश्यक अवलोकन ग्रंथ, पाठ्य पुस्तकें, मानचित्र, सहायक सामग्री तथा यदि आवश्यकता समझें तो कार्य-विधि का उल्लेख कर देना चाहिए जिससे घर पर बालकों को व्यर्थ की परेशानी न हो। अन्यथा उन्हें इन बातों के लिए भटकना पड़ता है और समय का अपव्यय होता है।

५—निर्दिष्ट कार्य रोचक तथा विचार प्रेरक होना चाहिए जिससे कार्य करने की प्रेरणा तथा आनन्द दोनों प्राप्त हों।

वस्तुतः निर्दिष्ट कार्य विधि पाठ योजना का ही एक रूप है। पाठ्य-विषय का क्रमायोजन करते समय शिक्षक को निर्दिष्ट कार्य की भी योजना बना लेनी चाहिए जिससे निर्दिष्ट कार्य द्वारा पाठ विकास में उचित सहायता मिलती चले। निर्दिष्ट कार्य विधि का महत्व इस दृष्टि से भी है कि—(१) बालकों में स्वयं विचार करने और सीखने की आदत पड़ती है, (२) अगले पाठ की पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है जिससे पाठ सरल, रोचक और ग्राह्य बन जाता है, (३) बालकों में स्वाध्याय एवं सुलभ साधनों से स्वतन्त्र रूप में कार्य करने की रुचि जागरित होती है।

निर्दिष्ट कार्य विधि के अनुसरण में कुछ कठिनाइयाँ भी आती हैं जिनकी ओर शिक्षक को ध्यान देना पड़ता है। बहुत से बालकों को घर पर अध्ययन करने की आवश्यक सुविधाएँ नहीं प्राप्त होतीं। अतः वह कार्य पूरा नहीं कर पाता। साधन विहीनता (पुस्तकों एवं अध्ययन सामग्रियों का अभाव, प्रतिकूल वातावरण एवं स्थान आदि) के कारण विद्यार्थी चाहते हुए भी निर्दिष्ट कार्य से लाभ नहीं उठा पाता। कुछ विद्यार्थी निर्दिष्ट कार्य की पूर्ति अनुचित ढंग से कर लेते हैं जैसे घर में पढ़े-लिखे भाई अथवा अभिभावकों से पूछ कर कार्य कर लेना। इससे स्वाध्याय तथा स्वयं कार्य पूरा करने का मूल उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है और अध्ययन की दृष्टि से बालक आत्मनिर्भर नहीं हो पाता। इस विधि का एक दोष यह भी है कि इसके अनुसरण द्वारा विद्यार्थियों के व्यक्तिगत भेद एवं कमजोरियों का

पता नहीं चलता और यदि कुछ पता चलता भी है तो उसे दूर करने के लिए निर्दिष्ट कार्यों में कोई परिवर्तन नहीं हो पाता। सभी विद्यार्थियों के लिए एक ही निर्दिष्ट कार्य दिया जाता है जो उस कक्षा-स्तर के अनुकूल ठीक समझा जाता है। अतः एक ओर प्रतिभाशाली छात्रों के लिए तो वह कार्य सरल प्रतीत होता है और दूसरी ओर पिछड़े एवं मन्द-बुद्धि वालों के लिए कठिन। इन दोनों प्रकार के विद्यार्थियों को इस विधि में नुकसान होता है।

निरीक्षित स्वाध्याय विधि

उपर्युक्त निर्दिष्ट कार्य विधि के दोषों का बहुत कुछ परिहार निरीक्षित स्वाध्याय विधि द्वारा हो जाता है क्योंकि इस विधि के अनुसरण में शिक्षार्थियों को कक्षा में ही निर्दिष्ट कार्य देकर शिक्षक के निर्देशन में नियन्त्रित अध्ययन कराया जाता है।

इस विधि का उद्देश्य यह निर्देश देना रहता है कि शिक्षार्थी सुचारु रूप से अध्ययन करने की रीति समझ लें और अपने कार्य सम्पादन के लिए उस रीति का ठीक प्रयोग करने लगें। इस विधि के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं :—

(१) बालकों में अध्ययन के महत्त्व एवं प्रकृति के प्रति अनुकूल मनोवृत्ति उत्पन्न करना (२) अध्ययन की दृष्टि से अनुकूल स्थिति एवं वातावरण प्रदान करना। (३) अध्ययन के लिए प्रभावपूर्ण निर्देशन प्रदान करना और अध्ययन किस प्रकार किया जाय इसमें सहायता प्रदान करना।

इस विधि में कक्षा में ही निर्दिष्ट कार्य दे दिया जाता है। अध्यापक बालकों का पथप्रदर्शन और निर्देशन करता है। इससे शिक्षार्थी को स्वयं ही कार्य पूरा करना पड़ता है। वह किसी से सहायता नहीं ले सकता और अपनी समस्या स्वयं सुलझाता है।

सामान्य कक्षा शिक्षण और निरीक्षित स्वाध्याय में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि कक्षा शिक्षण में अध्यापक अपनी विषय सामग्री को समाप्त करने पर अधिक ध्यान देता है, बालक उसे कितना ग्रहण कर रहे हैं और स्वयं कितनी जानकारी प्राप्त कर सकते हैं, इस पर वह ध्यान नहीं देता। निरीक्षित स्वाध्याय विधि में शिक्षार्थी को स्वयं कार्य करना पड़ता है अतः उसे अध्ययन का ढंग भी जानना पड़ता है और जब तक वह विषय सामग्री अच्छी तरह समझ नहीं लेता तब तक आगे बढ़ नहीं सकता। इस विधि में मन्दबुद्धि के बालकों की भी प्रगति सम्भव हो जाती है।

निरीक्षित स्वाध्याय विधि में कार्य-प्रणाली की दृष्टि से चार सोपान होते हैं :—

१—समस्या एवं प्रयोजन—अध्ययन सम्बन्धी किसी भी निर्दिष्ट कार्य को देते समय मुख्य समस्या एवं उस कार्य का प्रयोजन स्पष्ट हो जाना चाहिये। विद्यार्थी यह भली भाँति समझ लें कि प्रस्तुत कार्य द्वारा इस समस्या के समाधान में क्या सहायता मिल सकती है। इसके स्पष्ट हो जाने पर ही बालक अपना निर्दिष्ट कार्य अधिक मनोयोग से कर सकेगा।

२—सामान्य अवलोकन अथवा कार्य की रूपरेखा—समस्या एवं प्रयोजन स्पष्ट हो जाने पर यह भी आवश्यक है कि विद्यार्थी अध्ययन कार्य को आद्यंत सामान्य रूप से समझ लें। निर्दिष्ट कार्य सम्बन्धी प्रसंग और उसके क्रमिक खण्डों को समझ लेने पर पूरे कार्य की रूपरेखा स्पष्ट हो सकती है।

३—विभाग, विश्लेषण एवं कार्य सम्पादन—कार्य सम्बन्धी सामान्य रूपरेखा समझ लेने के पश्चात् शिक्षार्थी कार्य को विस्तार से समझना चाहता है। अध्यापक के निर्देशन में वह अपने कार्य को कुछ इकाइयों में क्रमायोजित करता है अथवा आवश्यक खण्डों में विभाजित करता है। फिर वह आवश्यक तथ्यों को संग्रह करता है और उनका प्रयोग निश्चित लक्ष्य को सामने रखकर करता है। यह सोपान वास्तविक कार्य-सम्पादन का होता है।

४—सार या संक्षिप्तीकरण—अन्त में छात्र सम्पूर्ण कार्य को एक सूत्र में व्यवस्थित करता है और सारांश या संक्षितीकरण प्रस्तुत करता है।

इस विधि के अनुसरण में सामान्य अध्ययन की अपेक्षा कुछ समय अधिक लगता है पर विद्यार्थियों में स्वयं अध्ययन करने की अच्छी आदत पड़ती है। विद्यार्थियों की व्यक्तिगत कठिनाइयों एवं कमजोरियों से अध्यापक परिचित हो जाता है और उसे दूर करने के लिए उचित निर्देशन प्रदान करता है।

सारांश

शिक्षण पद्धति उस प्रक्रिया का नाम है जिसके द्वारा शिक्षक अपनी शिक्षण सामग्री के उचित प्रयोग से छात्रों को सीखने के लिए प्रेरित करता है और यथावश्यक पथ-प्रदर्शन एवं निर्देशन द्वारा उन्हें सीखने के लिए सक्रिय बनाता है। यह प्रक्रिया मुख्यतः निम्नांकित शिक्षण सिद्धान्तों पर आधारित है—(१) क्रियाशीलता का सिद्धान्त, (२) बालक के पूर्वार्जित ज्ञान एवं अनुभव से सन्बन्ध स्थापन का सिद्धान्त, (३) यथार्थ जीवन एवं वातावरण से सम्बन्ध स्थापन

का सिद्धान्त, (४) रुचि का सिद्धान्त, (५) निश्चित उद्देश्य अथवा प्रयोजन का सिद्धान्त, (६) चयन का सिद्धान्त, (७) विभाजन का सिद्धान्त, (८) सह सम्बन्ध का सिद्धान्त (९) आवृत्ति का सिद्धान्त।

शिक्षण पद्धति के उपर्युक्त आधारभूत सिद्धान्तों के बाद यह भी जानना आवश्यक है कि पाठ्य सामग्री किस क्रम से कक्षा में प्रस्तुत की जाय। इसके लिए शिक्षण विशेषज्ञों ने निम्नांकित सूत्रों का प्रतिपादन किया है (१) विश्लेषण से संश्लेषण की ओर, (२) स्थूल से सूक्ष्म की ओर, (३) ज्ञात से अज्ञात की ओर, (४) प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की ओर, (५) सरल से जटिल की ओर, (६) प्रकृति का अनुसरण (७) मनोवैज्ञानिकता से तार्किकता की ओर, (८) पूर्ण से अंश की ओर, (९) विशिष्ट से सामान्य की ओर, (१०) अनिश्चित से निश्चित की ओर, (११) अनुभव से तर्क की ओर।

शिक्षण के सामान्य सिद्धान्तों एवं सूत्रों के पश्चात् पाठ्य सामग्री के सुव्यवस्थित क्रमायोजन को जिसे हम 'विधि' कहते हैं, जानना भी आवश्यक है। इस दृष्टि से निम्नांकित विधियों का विशेष महत्त्व है—(१) आगमन विधि, (२) निगमन विधि, (३) सुकराती विधि, (४) प्रयोगात्मक विधि, (५) निरीक्षण विधि, (६) अन्वेषण विधि, (७) निर्दिष्ट कार्य विधि, (८) निरीक्षित स्वाध्याय विधि।

शिक्षण सिद्धान्तों, शिक्षण सूत्रों और शिक्षण विधियों के सम्यक् प्रयोग पर ही शिक्षण की सफलता निर्भर है। शिक्षक को सदा ही विषय सामग्री एवं परिस्थितियों के अनुकूल इनका प्रयोग करना चाहिये। शिक्षक इनका दास न बनकर इनका स्वामी ही बने अन्यथा वह विषय वस्तु को न पढ़ाकर पद्धति का ही अन्धानुवर्ती बन जाता है। इनके प्रयोग में अनेक विभिन्नताओं को ध्यान में रखना पड़ता है जैसे बालकों की शैक्षिक विभिन्नता, पाठ्य विभिन्नता, वातावरण की विभिन्नता, विद्यालय एवं कक्षा के साधनों की विभिन्नता, स्वयं शिक्षक की विभिन्नता। अतः शिक्षक की कुशलता इस बात में है कि अवसर एवं परिस्थिति के अनुकूल शिक्षण पद्धति का निर्वाचन कर ले।

प्रश्न

१—"शिक्षण पद्धति का कोई एक स्थिर, निश्चित एवं सार्वभौम स्वरूप नहीं हो सकता क्योंकि उसका निर्धारण कक्षा की स्थिति पर निर्भर है जो सदा एक समान नहीं हो सकती। इस कथन की सम्यक् समीक्षा कीजिए।

२—शिक्षण विधियों एवं युक्तियों की अपेक्षा शिक्षण के सामान्य सिद्धान्तों का अध्यापन क्यों अधिक आवश्यक माना जाता है ?

३—शिक्षण के कुछ प्रमुख सामान्य सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए ।

४—शिक्षण सूत्रों से क्या तात्पर्य है ? कुछ प्रमुख शिक्षण सूत्रों को सोदाहरण स्पष्ट कीजिए ।

५—"आगमन एवं निगमन विधि परस्पर विपरीत न होकर पूरक विधियाँ हैं ।" उदाहरण देकर इस कथन की सार्थकता सिद्ध कीजिये ।

६—'अन्वेषण विधि' से आप क्या समझते हैं और उसका प्रयोग किस प्रकार के विषयों में अधिक उपयोगी सिद्ध होता है ? उदाहरण सहित लिखिये और उसकी सीमाओं का भी उल्लेख कीजिये ।

७—आधुनिक शिक्षण विधियाँ, क्रिया द्वारा सीखने के सिद्धान्त पर बल देती हैं, क्यों ? कुछ विषयों के उदाहरण लेकर समझाइये कि आप इस सिद्धान्त का पालन किस प्रकार करेंगे ।

———

अध्याय ६

शिक्षण की युक्तियाँ[1]

"The teacher who deals too much in words and allows the mind to be carried away by the force of words looses the spirit. It is the knowledge of the spirit of the scriptures alone that constitutes the true teacher."

Swami Vevekanand.

पिछले अध्याय में शिक्षण के सामान्य सिद्धान्तों, सूत्रों एवं विधियों पर प्रकाश डाला गया है किन्तु केवल इन्हीं के ज्ञान से शिक्षण का कार्य भली भाँति सम्पन्न नहीं हो सकता जब तक कि शिक्षक को शिक्षण की युक्तियों का भी समुचित ज्ञान न हो जाय। इस अध्याय में हम इन युक्तियों पर ही विचार करेंगे।

इस प्रसंग में सर्वप्रथम हमें यह जान लेना चाहिए कि शिक्षण युक्तियों से हमारा क्या तात्पर्य है और शिक्षण विधियों से उसकी क्या भिन्नता है? कभी-कभी शिक्षण-विधि एवं शिक्षण-युक्ति दोनों का एक ही तात्पर्य मान लिया जाता है और इसी कारण शिक्षण-युक्तियों को हम शिक्षण-विधियों की ही सूची में शामिल पाते हैं। टी० रेमाण्ट ने अपनी पुस्तक 'दि प्रिंसिपुल्स आफ एजुकेशन' में इसका संकेत किया है[2] कि भ्रम से युक्तियों एवं विधियों को एक ही मानकर एक साथ लिखा जाता है जैसे प्रश्नोत्तर विधि, साक्रेटिक विधि, विकासात्मक विधि, अगमन, निगमन, व्याख्यात्मक, वर्णनात्मक, ह्यूरिस्टिक, निरीक्षण, प्रयोगात्मक विधि आदि। किन्तु ये सभी विधियाँ नहीं हैं। जैसे प्रश्नोत्तर, व्याख्यात्मक या वर्णनात्मक विधियाँ नहीं, युक्तियाँ हैं। इन्हें अगमन, निगमन आदि पूर्व अध्याय में वर्णित विधियों के साथ नहीं मिलाना चाहिए। हम लिख चुके हैं कि शिक्षण विधि का सम्बन्ध विषय सामग्री के सुव्यवस्थित क्रमायोजन से रहता है जैसे इतिहास शिक्षण में पाठ्य-सामग्री को क्रमबद्ध करने की एक विधि कान्सेण्ट्रिक विधि है। इस परिभाषा के स्पष्ट न रहने से ही हम शिक्षण-युक्तियों

1. Devices of teaching.

२. पृष्ठ संख्या २४०

एवं उपकरणों को भी विधियों के साथ मिला देते हैं। वस्तुतः शिक्षण-युक्ति उस प्रक्रिया का नाम है जिसका प्रयोग विषय सामग्री को कक्षा के सम्मुख प्रस्तुत करने या व्यक्त करने के लिए किया जाता है। अतः विषय सामग्री की क्रमबद्ध व्यवस्था[1] को शिक्षण विधि तथा विषय सामग्री के प्रस्तुतीकरण या प्रकटीकरण के ढंग[2] को शिक्षण-युक्ति कहते हैं। यदि हम किसी विषय या प्रकरण-सामग्री को छात्रों के सम्मुख प्रश्नोत्तर रूप में करते हैं तो इस ढंग या प्रणाली को शिक्षण विधि न कहकर शिक्षण-युक्ति कहना उचित होगा। इसी प्रकार विषय-सामग्री को कथन या व्याख्या द्वारा प्रस्तुत करना एक युक्ति है विधि नहीं। अतः यह अन्तर स्पष्ट रहना चाहिए कि विषय सामग्री को किसी विशेष क्रम से व्यवस्थित या संगठित करने की क्रिया 'शिक्षण-विधि' है और उस सामग्री को छात्रों के सम्मुख व्यक्त या प्रस्तुत करने की क्रिया शिक्षण-युक्ति है।

उपर्युक्त आधार पर कक्षा शिक्षण की दृष्टि से सामान्य रूप से दो युक्तियों का विशेष महत्त्व है। हम विषय सामग्री या तो छात्रों की सहायता से प्रश्नोत्तर रूप में विकसित करते हैं अथवा अध्यापक स्वयं ही सारी बातें बता देता है। पहली युक्ति को हम प्रश्नोत्तर युक्ति[3] कहते हैं और दूसरी युक्ति को वर्णनात्मक युक्ति कह सकते हैं। वर्णन के अनेक प्रकार या रूप होने से विद्वानों ने इससे सम्बन्धित अनेक युक्तियों का उल्लेख किया है जैसे कथन[4] वर्णन[5] या विवरण, व्याख्या[6] एवं निदर्शन[7]। इनके अतिरिक्त व्याख्यान युक्ति[8] का भी उल्लेख किया जाता है। प्रश्नोत्तर तथा वर्णन के अतिरिक्त यदि पाठ्य पुस्तक को ही पढ़कर विषय-सामग्री प्रस्तुत करते हैं तो इसे पाठ्य पुस्तक युक्ति[9] की संज्ञा दी गई है। विषय सामग्री के प्रस्तुतीकरण में कुछ सहायक युक्तियों को भी स्थान दिया गया है जैसे पुनरावृत्ति, अभ्यास कार्य एवं गृहकार्य आदि। अतः इनके सम्बन्ध में भी हम इसी अध्याय में विचार करेंगे। क्रम से इन युक्तियों का उल्लेख आगे किया जा रहा है :—

---

1. Orderly arrangement of subject matter.
2. Mode of presentation of subject matter.
3. Question-answer.
4. Narration.
5. Description.
6. Explanation.
7. Exposition.
8. Lecturing.
9. Book reading.

प्रश्नोत्तर युक्ति

आधुनिक शिक्षा मनोविज्ञान एवं शिक्षण कला के विकास के साथ-साथ प्रश्नोत्तर युक्ति का महत्त्व भी बढ़ता गया है। अब सभी स्वीकार करते हैं कि शिक्षण द्विमुखी प्रकिया है जो शिक्षक एवं शिक्षार्थी दोनों के सक्रिय योग से सम्पन्न होती है। बालक निष्क्रिय स्रोता नहीं है, बल्कि पाठ के विकास में उसका सक्रिय योगदान रहता है और तभी वह सच्चे रूप में सीख पाता है। इस दृष्टि से प्रश्नोत्तर युक्ति बहुत ही उत्तम युक्ति है। यदि बालक को आत्माभिव्यक्ति एवं स्वयं मानसिक विकास का अवसर प्रदान करना है। उसकी जिज्ञासा को बढ़ाने और सही माने में तृप्त करने का प्रयत्न करना है और उसे स्वयं शिक्षा प्राप्त करने के मार्ग पर अग्रसर करना है तो प्रश्नोत्तर युक्ति बहुत ही उपयोगी सिद्ध होती है। आधुनिक शिक्षण कला इस बात पर बल देती है कि बालकों को कक्षा में अधिकाधिक सक्रिय रहने, विचार-विमर्श में भाग लेने का अवसर प्रदान करना चाहिए। अध्यापक द्वारा ही व्याख्यान देते रहना शिक्षण नहीं है। इस दृष्टि से प्रश्नोत्तर युक्ति की सार्थकता स्वयं सिद्ध है। कोलविन महोदय का यह कथन कितना सत्य है कि विद्यार्थियों को सक्रिय बनाने के लिए प्रश्न सर्वोत्तम उत्तेजक है जो अध्यापक को सहज ही उपलब्ध है। पार्कर महोदय ने लिखा है कि प्रश्न सम्पूर्ण शैक्षिक क्रिया की कुंजी है। "सभी प्रकार के उत्तम शिक्षण के लिए प्रश्न सार्वभौम साधन हैं।"[1]

आज के शिक्षक की कुशलता उत्तम प्रश्नों की रचना करने, उन्हें कक्षा में उचित एवं उपयुक्त ढंग से पूछने तथा बालकों से वांछित उत्तर निकलवा लेने की क्षमता पर निर्भर है। यदि अध्यापक के पास यह क्षमता नहीं है तो वह सफल अध्यापक नहीं हो सकता। इसी दृष्टि से रेमण्ट का कथन है कि शिक्षक की निश्चित ही यह एक आवश्यक आकांक्षा होनी चाहिये कि प्रश्न करने की उत्तम शैली की जानकारी उसे अवश्य हो जाय। इस कथन का यह भी तात्पर्य नहीं है कि केवल प्रश्न पूछने और उत्तर प्राप्त करने का नाम ही कक्षा शिक्षण है। प्रश्नोत्तर के साथ-साथ शिक्षक जब यह देखता है कि कोई सर्वथा नवीन सूचना देनी है और बालकों से उसे प्रकाशित नहीं कराया जा सकता तो वह स्वयं कथन या वर्णन द्वारा बालकों के सम्मुख रखता है। सफल शिक्षण के लिये प्रश्नोत्तर एवं व्याख्यात्मक दोनों युक्तियों का समुचित एवं संतुलित प्रयोग आवश्यक है।

---

1. "The question is the universal instrument of all good teaching.

प्रश्नोत्तर युक्ति में दो कुशलताएँ शामिल हैं—(१) प्रश्न अर्थात् उत्तम प्रश्नों की रचना और उन्हें उचित रीति से पूछना तथा (२) उत्तर अर्थात् बालकों से उचित उत्तर प्राप्त करना एवं उन्हें सही उत्तर देने के लिए सक्षम बनाना। इन दोनों का हम अलग-अलग वर्णन करेंगे। पहले हम प्रश्नों के संबंध में ज्ञातव्य बातें प्रस्तुत कर रहे हैं :—

प्रश्न

प्रश्न की आवश्यकता एवं उपयोगिता—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि शिक्षण में प्रश्न की कितनी आवश्यकता है। प्रश्न अध्यापक के हाथ में एक ऐसा अस्त्र है जो विद्यार्थी के ज्ञानग्रहण, परीक्षण एवं स्वयं शिक्षण सम्बन्धी समस्त क्रियायों में सहायक सिद्ध होता है। संक्षेप में प्रश्न पूछने की निम्नलिखित आवश्यकताएँ हैं :—

(१) बालक के पूर्व ज्ञान का पता लगाने तथा उसके आधार पर नवीन पाठ की ओर बालक को प्रवृत्त करने के लिए प्रश्नों की आवश्यकता एवं उपयोगिता स्वयं सिद्ध है।

(२) पाठ में बालक की रुचि बनाए रखने और ध्यान केन्द्रित किए रहने के लिए भाव तथा विचार प्रेरक प्रश्नों की बहुत आवश्यकता पड़ती है।

(३) पाठ के विकास में बालक का सक्रिय सहयोग प्राप्त करने, उसकी उत्सुकता एवं जिज्ञासा को जागरित बनाए रखने के लिए भी प्रश्न आवश्यक युक्ति है। ये प्रश्न शिक्षण प्रश्न कहे जाते हैं।

(४) बालक पाठ की बातें ग्रहण करता चल रहा है या नहीं, इसकी जाँच के लिए प्रश्न ही एक मात्र साधन हैं। ऐसे ही प्रश्नों को परीक्षण प्रश्न कहा जाता है।

(५) प्रश्नों के द्वारा पढ़ाये हुए पाठों की आवृत्ति कर लेने से पाठ संबंधी नवीन तथ्य एवं ज्ञान बालकों की स्थायी स्मृति में घर कर जाते हैं और वे शीघ्र विस्मृत नहीं होते।

कहने का तात्पर्य यह है कि प्रश्नों की आवश्यकता पाठ प्रारम्भ करने से लेकर अन्त तक और पुनः परीक्षण तक पड़ती रहती है। आधुनिक शिक्षण एवं परीक्षण का वह एक अनिवार्य एवं अपरिहार्य साधन है।

प्रश्नों के उद्देश्य—शिक्षण की दृष्टि से प्रश्न की जो आवश्यकताएँ ऊपर लिखी गई हैं, वे प्रश्न के उद्देश्यों में भी शामिल हैं। किन्तु कभी-कभी यह देखा जाता है कि प्रश्न के लिए ही प्रश्न पूछे जाते हैं और प्रश्न एक

औपचारिक साधन मान लिए जाते हैं तथा उसी पाठ को अच्छा समझा जाता है जिसमें शिक्षक आद्यंत प्रश्नों की झड़ी लगा दे। पर यह एक भ्रामक धारणा है। प्रत्येक प्रश्न का एक प्रयोजन अथवा उद्देश्य होता है। निरुद्देश्य ही प्रश्न पूछना उसका दुरुपयोग करना है। सार्थक प्रश्न बालकों की शिक्षा में साधक होते हैं और निरर्थक प्रश्न बाधक। अतः सोद्देश्य प्रश्न पूछना ही शिक्षक का कर्त्तव्य है। ये उद्देश्य निम्नलिखित हैं :—

१—बालकों के पूर्वज्ञान को जागरित कर वांछित एवं सम्बन्धित तथ्यों को उनके स्मृति पटल पर ले आना।

२—पूर्व ज्ञात तथ्यों से प्रस्तुत पाठ या प्रकरण का सम्बन्ध स्थापित करते हुए नवीन पाठ के लिए बालकों में रुचि जागरित करना।

३—नवीन ज्ञानार्जन के लिए प्रेरणा प्रदान करना।

४—पाठ के विकास में छात्रों का सक्रिय सहयोग प्राप्त करना, पाठ के प्रति उनका अवधान बनाए रखना और नवीन तथ्यों, निष्कर्षों एवं परिणामों को छात्रों से प्रकाशित कराना।

५—बालकों की कल्पना एवं विचार शक्ति का विकास करना, उन्हें स्वयं सोचने का अवसर प्रदान करना तथा अन्वेषण एवं अनुसन्धान की दिशा में अग्रसर करना। इस प्रकार बालकों के मस्तिष्क को सचेत, जागरूक एवं क्रियाशील बनाए रखना।

६—बालकों की अभिरुचि एवं प्रवणता का पता लगाना।

७—बालकों के अर्जित ज्ञान का पता लगाना।

८—विद्यार्थियों की वैयक्तिक समस्याओं और पाठ्य विषय के ज्ञान सम्बन्धी कमजोरियों का पता लगाना।

९—विद्यार्थियों की ग्रहण शक्ति का पता लगाना और यह देखना कि पाठ विकास के साथ-साथ वे पाठ को ग्रहण करते चल रहे हैं या नहीं। पाठ के किस अंश में किस बालक को क्या कठिनाई है, उसे जानना और उसके कारण का पता लगाना तथा उसके निराकरण का अवसर प्रदान करना।

१०—अर्जित ज्ञान को नवीन परिस्थितियों में प्रयुक्त करने के लिए बालकों को प्रेरणा देना और प्रोत्साहित करना।

११—पाठ की पुनरावृत्ति कराना।

१२—निर्दिष्ट कार्य के रूप में छात्रों को अर्जित ज्ञान के प्रयोग का अवसर देना, अभ्यास कराना तथा अगले नवीन पाठों के लिए आधार भूमि तैयार करना।

अच्छे प्रश्नों की रचना एवं लक्षण—प्रश्नों के उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति उसी समय सम्भव हो सकती है जब अध्यापक अच्छे प्रश्नों की रचना कर सकने में सक्षम हो। उसके लिए यह जानना आवश्यक है कि अच्छे प्रश्न किसे कहते हैं, उसके क्या लक्षण हैं और प्रश्नों की रचना एवं प्रयोग में किन बातों का ध्यान रखना चाहिए ? इनका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है :—

१—प्रश्न की शब्दावली उपयुक्त एवं निश्चित हो। अनावश्यक शब्दों का प्रयोग न हो और भाषा स्पष्ट हो।

२—स्पष्टता के साथ सरलता का भी ध्यान रखना चाहिए। बालकों की भाषा-योग्यता के अनुसार ही प्रश्न की भाषा होनी चाहिए।

३—प्रश्न यथासम्भव संक्षिप्त वाक्य में हो। मिश्रित या संयुक्त वाक्यों की अपेक्षा साधारण वाक्य सदा ही उपयुक्त और उपयोगी सिद्ध होते हैं। वे सीधे बालकों की समझ में आ जाते हैं और उनसे उत्तर भी सरलता से मिल जाता है।

४—प्रश्नों के वाक्य एक ही प्रकार के न होने चाहिए, उनकी रचना-शैली बदल देनी चाहिए अन्यथा उनका एक-सा सिलसिला अरुचिकर हो जाता है। उदाहरणतः पाठ में कभी-कभी यह देखा जाता है कि प्रत्येक कठिन शब्द के लिए यह पूछा जाता है "इस शब्द का क्या अर्थ है ?" लगातार ऐसे प्रश्न बोझिल हो उठते हैं। शब्दों की प्रकृति के अनुसार उनके अर्थ, खण्ड, रचना, व्युत्पत्ति-प्रयोग आदि अनेक रूपों में प्रश्न बनाकर पूछना चाहिये जिससे रोचकता, विविधता और उत्सुकता बनी रहे। अन्य विषयों में भी प्रश्नों की भाषा की विभिन्नता पर ध्यान रखना चाहिये।

५—पाठ्य पुस्तक की शब्दावली में ही प्रश्न नहीं पूछना चाहिए क्योंकि बालक पुस्तक की ही रटी हुई भाषा में उत्तर दे देते हैं और उन्हें सोच-विचार भी नहीं करना पड़ता। प्रश्न की भाषा बदल देने पर ही बालक समझकर उत्तर देते हैं और उत्तर की भाषा भी उनको अपनी बनानी पड़ती है।

६—प्रश्न के वाक्य में शब्दों के उचित क्रम पर भी ध्यान रखना चाहिए। वाक्य रचना शुद्ध एवं व्याकरण सम्मत हो। प्रश्न के मुख्य अथवा उस शब्द पर जोर देने के लिए उसे यथासम्भव अन्त में रखना चाहिये क्योंकि उसी पर प्रश्न का उत्तर निर्भर करता है।

७—प्रश्नों की शृंखला पाठ-विकास की दृष्टि से उपयुक्त हो, उनमें क्रम-बद्धता बनी रहे। इससे प्रश्न पूछने का उद्देश्य पूरा हो जाता है क्योंकि पाठ

बालकों की समझ में आ जाता है। प्रश्नों का क्रम ठीक रहने से उत्तर अपने-आप निकलता जाता है। विज्ञान के पाठों में तो इस क्रमबद्धता के बिना उत्तर निकाल सकना ही कठिन है क्योंकि उसमें कार्य-कारण सम्बन्ध इस प्रकार बना रहता है कि प्रश्नों का क्रम ठीक न रहने से निष्कर्ष या परिणाम-प्राप्ति सम्भव ही नहीं। पहले प्रश्न का उत्तर ही दूसरे प्रश्न का आधार होता है और दूसरे प्रश्न का उत्तर तीसरे प्रश्न के लिए आधार देता है। इस प्रकार स्वाभाविक रूप से अनुबन्धित प्रश्नों द्वारा पाठ अपनेआप विकसित होता जाता है।

८—प्रश्न ऐसे होने चाहिए कि उनका उत्तर निश्चित और एक ही हो। अनेक उत्तर वाले प्रश्न अस्पष्ट तथा बालकों को उलझन में डालने वाले होते हैं। "शहर में तुमने क्या देखा" प्रश्न के अनेक उत्तर हो सकते हैं। इसके बदले किसी निश्चित स्थान अथवा प्रमुख दर्शनीय वस्तु को लक्ष्य कर प्रश्न पूछा जा सकता है।

९—प्रश्न इतने कठिन न बना दिये जायँ कि बालक उत्तर ही न दे सके। इससे बालक निराश हो जाते हैं। पाठ की प्रस्तावना के लिए भी एक उचित भूमिका बताकर अथवा ज्ञात बातों का उल्लेख कराकर ही नये प्रश्न पूछना चाहिए।

१०—प्रश्न बालकों की मानसिक योग्यता के अनुसार ही पूछने चाहिए। छोटी आयु के बालकों से किसी वस्तु का स्थूल परिचय पूछना ही पर्याप्त है, उससे सूक्ष्म कलात्मक परिचय या सौन्दर्यानुभूति सम्बन्धी प्रश्न नहीं पूछ सकते।

११—प्रश्न की रचना ऐसी होनी चाहिए कि उससे एक विचार या तथ्य का ही सम्बन्ध हो। अनेक तथ्यों या विचारों को व्यक्त कराने वाले प्रश्न बालकों को उलझन में डाल देते हैं जैसे "अकबर की धार्मिक नीति क्या थी और उससे उसके राज्य-प्रसार में क्या सहायता मिली ? अशोक के बारे में क्या जानते हो ?" इन प्रश्नों में अनेक बातें शामिल हैं। अतः इन्हें कई सीधे एवं संक्षिप्त उत्तर वाले प्रश्नों के रूप में पूछ सकते हैं।

१२—प्रश्न सोद्देश्य हों। प्रश्न के लिए प्रश्न न पूछा जाय। बहुत ही साधारण बातों को प्रश्न द्वारा निकलवाने में कोई सार्थकता नहीं।

१३—प्रश्न विचार प्रेरक[1] हों जिससे बालकों को कल्पना, तर्क, स्मरण, चिन्तन एवं अनुमान शक्ति के प्रयोग का अवसर मिले। ऐसे प्रश्न जिनका उत्तर

1. Thought provoking.

बालक यांत्रिक रूप से दे देते हैं, उपयुक्त नहीं हैं। अध्यापक प्रायः पूछ देते हैं "मेरे हाथ में क्या देखते हो?", "इसका रंग क्या है?" आदि प्रश्न विचार प्रेरक प्रश्न नहीं।

१४—प्रश्न ऐसे पैने[1] हों कि बालकों की मानसिक शक्ति उद्बुद्ध हो सके और वे किसी निश्चित वस्तु, विचार या निष्कर्ष पर पहुँच सकें। अस्पष्ट, उलझनपूर्ण तथा अनेक सम्भावित उत्तर वाले प्रश्नों से छात्र ठीक उत्तर नहीं सोच पाते और पाठ-विकास की दिशा भी निर्धारित नहीं हो पाती।

अवांछित प्रश्न—प्रश्नों द्वारा पाठ विकसित करने में शिक्षक को अच्छे प्रश्नों की रचना का ही ध्यान रखना चाहिए और उस प्रकार के प्रश्नों का प्रयोग यथासम्भव नहीं करना चाहिए जो अवांछित या अनुचित माने जाते हैं। अवांछित प्रश्नों के कुछ रूप निम्नलिखित हैं :—

१—निर्देशात्मक अथवा सांकेतिक प्रश्न[2]—ऐसे प्रश्न नहीं पूछने चाहिए जिसमें उत्तर भी निहित हो क्योंकि वैसे प्रश्नों का उत्तर बालकों को सोचना नहीं पड़ता और प्रश्न के ही आधार पर बालक उत्तर दे देते हैं। 'इसे आवर्त्तन कहते हैं या परावर्तन?', 'शाहजहाँ के बाद क्या औरंगजेब गद्दी पर बैठा?' प्रश्नों में बालकों के सम्मुख एक सकेत या सुझाव आ जाता है। ऐसे प्रश्न नहीं पूछने चाहिए।

२—द्विविधासूचक अथवा हाँ या नहीं उत्तर वाले प्रश्न[3]—ऐसे प्रश्न नहीं पूछने चाहिए जिनका उत्तर हाँ या नहीं में आता है। 'इन वस्तुओं के क्या दोनों सिरे एक से हैं?', 'सन् १९४७ में क्या भारत का बँटवारा हो गया?', 'क्या कलकत्ता बंगाल की राजधानी है?' इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर केवल हाँ या नहीं में आता है और बालकों को द्विविधा में भी डाल देता है। वे अनुमान के बल पर हाँ या नहीं कह देते हैं। यदि एक बालक ने 'हाँ' में उत्तर दिया है और अध्यापक ने उसे स्वीकार नहीं किया तो दूसरा बालक स्वभावतः 'नहीं' में उत्तर दे देता है। ऐसे प्रश्न में बालकों को सोचने या अपनी भाषा में कुछ वर्णन करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। कभी-कभी अध्यापक के सामने यदि ऐसी परिस्थिति आ जाय कि उसे ऐसा प्रश्न करना ही पड़े तो उसे उत्तर के बाद हाँ या नहीं का कारण पूछ लेना चाहिये।

---

1. Pointed.
2. Suggestive questions.
3. Yes or No type questions.

३—एलिप्टिकल प्रश्न[1]—इस प्रकार के प्रश्न नहीं पूछने चाहिए जिसमें केवल अन्तिम उत्तर वाला शब्द छिपा हो जैसे 'अकबर हुमायूँ का क्या था ?' इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर बालक तत्काल ही रिक्त पूर्त्ति की भाँति कर देते हैं। बालकों को केवल एक शब्द मात्र जोड़ना पड़ता है। वस्तुतः प्रश्न ऐसा पूछना चाहिए कि बालकों को पूरा वाक्य बोलना पड़े या वर्णन करना पड़े। या एक शब्द के उत्तर वाले प्रश्न अच्छे नहीं समझे जाते।

४—प्रतिध्वन्यात्मक प्रश्न[2]—कोई सूचना बताकर तत्काल ही उस पर प्रश्न पूछ देना प्रतिध्वनि प्रश्न कहलाता है। 'अशोक विन्दुसार का लड़का था।' इस कथन के बाद ही प्रश्न पूछना कि 'विन्दुसार का लड़का कौन था ?' प्रतिध्वनित प्रश्न कहा जायगा। ऐसे प्रश्नों के उत्तर में बालक पहले तुरन्त सुनी हुई बात ज्यों की त्यों दुहरा देते हैं। कभी-कभी बालकों का ध्यान आकर्षित करने के लिए या ध्यान बनाये रखने के लिए ऐसे प्रश्न कभी-कभी पूछे भी जा सकते हैं पर इनका प्रयोग बहुत ही कम होना चाहिए।

५—स्वीकारोक्ति या पुष्टिकारक प्रश्न[3]—कोई कथन प्रस्तुत करके या कोई भी बात बताकर जब अध्यापक छात्रों से उसकी शुद्धता या औचित्य स्वीकार कराने के लिए प्रश्न पूछता है कि 'यह ठीक है न ?' 'यह ठीक है या गलत ?' 'क्या तुमने इसे समझ लिया ?' 'क्या ऐसा नहीं है ?' इस प्रकार के प्रश्नों द्वारा शिक्षक बालकों से अपनी बात का समर्थन या पुष्टि कराना चाहता है। यह वांछित नहीं।

६—आलंकारिक प्रश्न[4]—कभी-कभी अध्यापक अपने कथन को प्रभावपूर्ण बनाने के लिये उसे साहित्यिक एवं आलंकारिक रूप देना चाहते हैं और उस कथन को प्रश्न रूप में प्रस्तुत करते हैं। वस्तुतः ये प्रश्न होते भी नहीं और न छात्रों से किसी उत्तर की आशा ही की जाती है। 'चीनी आक्रमण के कारण अपनी सीमा पर सैनिक शक्ति बढ़ाना क्या आवश्यक नहीं हो गया है ?' इस प्रकार के प्रश्न छात्रों से सहयोग के लिये नहीं बल्कि अपने कथन की प्रभविष्णुता के लिये ही है।

इन प्रश्नों के अतिरिक्त और भी ऐसे प्रश्न होते हैं जिनका पूछना

---

1. Elliptical questions.
2. Echo questions.
3. Corroborative questions.
4. Rhetorical questions.

अवांछित माना जाता है। अच्छे प्रश्नों की रचना के सिलसिले में यह संकेत किया जा चुका है कि अस्पष्ट, अनिश्चित, संदिग्ध और असम्बद्ध प्रश्न नहीं पूछने चाहिये। अनेक उत्तर वाले प्रश्न भी ठीक नहीं। ऐसे प्रश्न भी अच्छे नहीं होते जिनके पूछने के पहले अध्यापक को कोई कथन, व्याख्या या स्पष्टीकरण प्रस्तुत करना पड़े। बहुत लम्बे उत्तर वाले प्रश्न भी अवांछित प्रश्न हैं, जैसे 'अकबर के बारे में क्या जानते हो ?' ऐसे प्रश्नों से कक्षा शिक्षण का उद्देश्य नहीं पूरा होता और छात्र समझ नहीं पाते कि क्या-क्या कहा जाय।

कक्षा में प्रश्न पूछने का ढंग—अच्छे प्रश्नों की रचना तथा अवांछित प्रश्नों के सम्बन्ध में जान लेने के बाद शिक्षक के लिये यह भी जानना आवश्यक है कि कक्षा में प्रश्न किस प्रकार पूछे जायँ जिससे अपेक्षित प्रभाव पड़ सके और पाठ-विकास में अधिकाधिक सफलता प्राप्त हो सके। निम्नांकित बातें इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य हैं :—

१—प्रश्न पहले पूरी कक्षा से पूछना चाहिए फिर किसी बालक को उत्तर देने के लिए संबोधित करना चाहिये। प्रायः किसी एक बालक को संबोधित करते हुए प्रश्न पूछ दिया जाता है जैसे 'अशोक तुम बताओ, भारत कब स्वतन्त्र हुआ ?' इस ढंग से प्रश्न पूछना गलत है क्योंकि केवल उसी बालक का ध्यान प्रश्न पर रहता है और कक्षा के अन्य बालक उदासीन से रहते हैं। पूरी कक्षा के सम्मुख प्रश्न प्रस्तुत करने से सभी बालकों का ध्यान उस ओर केन्द्रित हो जाता है, सभी बालक उसका उत्तर सोचने लगते हैं और जब एक बालक उत्तर देता है तो सभी यह ध्यान रखते हैं कि यह उत्तर गलत है या सही। इस प्रकार शिक्षण कार्य में पूरी कक्षा का योग बना रहता है, सभी बालक सक्रिय रहते हैं।

२—प्रश्नों का वितरण समान हो अर्थात् कक्षा के समस्त बालकों को प्रश्न का उत्तर देने का अवसर प्रदान किया जाय। कुछ ही तेज बुद्धि वाले बालकों से प्रश्न करते रहने से शेष विद्यार्थी उपेक्षित अनुभव करने लगते हैं और पाठ से उदासीन हो जाते हैं। पीछे बैठे हुए विद्यार्थियों, पिछड़े हुए विद्यार्थियों एवं मन्द बुद्धि के विद्यार्थियों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता रहती है।

३—बैठे हुए विद्यार्थियों के क्रम से प्रश्न पूछने की आवश्यकता नहीं। इससे विद्यार्थी सजग हो जाते हैं और अपनी बारी के प्रश्न के लिए विशेष सचेत रहते हैं। कभी यहाँ, कभी वहाँ पूछने से सारी कक्षा सावधान रहती

है और बालक यह अनुमान नहीं कर पाते कि प्रश्न का उत्तर किससे पूछा जायेगा।

४—प्रश्न पूछकर बालकों को उत्तर सोचने के लिए थोड़ा समय अवश्य देना चाहिये। प्रश्न पूछते ही तुरन्त छात्रों को उत्तर के लिए कहने से वे घबड़ा जाते हैं और ठीक उत्तर नहीं दे पाते।

५—प्रश्न को प्रभावपूर्ण ढंग से पूछना चाहिये। प्रश्न के वाक्य का प्रत्येक शब्द स्पष्ट होना चाहिये। तथा उत्तर की दृष्टि से जो शब्द मुख्य हो उस पर ज़ोर देना चाहिये। 'मुहम्मद गोरी का सबसे प्रसिद्ध आक्रमण कौन था?' इस प्रश्न में 'सबसे प्रसिद्ध' पर बल देने की आवश्यकता होगी।

६—प्रश्न एक उत्साह एवं विश्वास के साथ पूछना चाहिये तभी उसका उचित प्रभाव पड़ता है। अनावश्यक विराम देते हुए, अटक या हिचक के साथ प्रश्न नहीं पूछना चाहिये। स्वाभाविक एवं मृदुल स्वर में एक प्रवाह के साथ प्रश्न पूछना चाहिये। डाँट-डपट कर या कर्कश ध्वनि में प्रश्न नहीं पूछना चाहिये। हँसते हुए भी प्रश्न पूछने से कक्षा पर वांछित प्रभाव नहीं पड़ता। गाने वाली ध्वनि में या चीखकर प्रश्न पूछना बालकों के उपहास का पात्र बनना है, अतः इससे भी बचना चाहिये।

७—प्रश्नों का क्रम सतत बना रहना चाहिये। एक प्रश्न का उत्तर मिलते ही दूसरा प्रश्न पूछ देना चाहिये जिससे पाठ की ओर बालकों का ध्यान केन्द्रित रहता है। विलम्ब से प्रश्न पूछने पर पाठ-विकास का क्रम भंग-सा हो जाता है और कक्षा की संजीवता भी जाती रहती है। यह आभास नहीं मिलना चाहिये कि अध्यापक अभी नहीं सोच पा रहा है कि क्या प्रश्न पूछे। पहले से ही प्रश्न तैयार रहने चाहिये और यदि आवश्यकता एवं परिस्थितिवश उसमें परिवर्तन करना है तो उसे शीघ्र ही कर लेना चाहिये। तत्काल उचित प्रश्न की रचना कर लेना अध्यापक का आवश्यक गुण है।

८—प्रश्न इस प्रकार की ध्वनि या संकेत के रूप में नहीं पूछना चाहिये कि बालक उत्तर का अनुमान कर लें।

९—प्रश्न के पहले अनावश्यक शब्दों या वाक्यांशों का प्रयोग नहीं करना चाहिये जैसे 'अच्छा तुम बताओ', 'अच्छा बताओ' आदि। किसी चेतावनी की भी आवश्यकता नहीं जैसे 'कौन बतायगा?' 'कौन बता सकता है?' 'क्या तुम जानते हो?' आदि। ये सभी अनावश्यक एवं निरर्थक वाक्य हैं। कक्षा के सम्मुख सीधे प्रश्न को ही रखना चाहिये।

१०—प्रश्न को दोहराना नहीं चाहिये। उत्तर पाने का प्रयास किये बिना ही प्रश्न को दोहराना आत्मविश्वास के अभाव का द्योतक है। पहली बार में ही प्रश्न इस प्रकार के ओजपूर्ण ढंग से पूछना चाहिये कि पूरी कक्षा उसे सुन ले। स्वयं प्रश्न दोहराने से बालक भी प्रश्न न सुनने के आदी बन जाते हैं और उपेक्षा करने लगते हैं।

अध्यापक को प्रश्न पूछने के बाद यदि विश्वास हो जाय कि बालकों ने प्रश्न नहीं समझा है तो वह किसी बालक से प्रश्न कहने के लिए कह सकता है। यदि इस पर भी कक्षा निरुत्तर हो तो प्रश्न का रूप बदलना चाहिये, उसे सरल बनाकर अथवा दो-तीन खण्डों में प्रश्न बनाकर पूछना चाहिये।

११—जिस विद्यार्थी का ध्यान पाठ की ओर न प्रतीत हो उससे अवश्य प्रश्न पूछना चाहिये। इससे उसका ध्यान पाठ की ओर लगा रहेगा।

१२—विद्यार्थियों की योग्यता का ध्यान रखकर प्रश्न पूछना चाहिये। कठिन प्रश्न तेज विद्यार्थियों से और सरल प्रश्न कमजोर बालकों से पूछना चाहिये। प्रश्न बहुत कठिन बनाने ही नहीं चाहिये अन्यथा विद्यार्थी निरुत्साहित हो जाते हैं। प्रश्न इतने सरल भी न हों कि विद्यार्थियों पर कोई प्रभाव ही न पड़े और वे उपेक्षा करने लगें।

१३—यदि कोई विद्यार्थी प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाता है तो उसकी असमर्थता पर विश्वास कर दूसरे से पूछना चाहिये। उसी से उत्तर पाने का आग्रह नहीं करना चाहिये। अध्यापक कभी-कभी प्रश्न को दूसरे ढङ्ग से अथवा सरल बनाकर पूछ सकता है और उसी छात्र से उत्तर निकलवाने का प्रयत्न भी कर सकता है किन्तु इस बात का ध्यान रखे कि इसमें अनावश्यक समय न लगे और पाठ-विकास की सुचारुता भी बनी रहे।

१४—प्रश्न पूछने के बाद यदि पहली ही बार ठीक उत्तर प्राप्त हो जाता है तो भी बिना यह संकेत किए कि उत्तर सही है, दूसरे बालक से पूछ लेना चाहिये। इससे पूरी कक्षा का ध्यान उत्तर की ओर बना रहता है और बालक अनुमान से काम लेना छोड़कर सही उत्तर जानने का प्रयत्न करते हैं।

१५—विद्यार्थियों को उत्तर देने के लिए प्रोत्साहित करते रहना चाहिये। अध्यापक के प्रश्न करने की कुशलता इस बात में है कि विद्यार्थी प्रश्नों से भयभीत न हों बल्कि नये प्रश्नों की प्रतीक्षा करें और उसके लिए उनमें आतुरता तथा उत्साह बना रहे।

प्रश्नों के प्रकार

प्रश्न पूछने के विविध उद्देश्यों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। किन्तु उन उद्देश्यों की पूर्ति इस बात पर निर्भर है कि हम किस प्रकार के प्रश्न पूछते हैं। अतः प्रश्नों के विविध रूप या भेद से परिचित होना आवश्यक है।

प्रश्नों के भेद का एक आधार तो यह हो सकता है कि किस प्रकार के प्रश्नसूचक शब्द प्रयोग किया गया है जैसे क्यों, कैसे, कौन, कब, कहाँ, किसको, किस प्रकार। इन शब्दों का प्रयोग प्रश्न-रचना के लिए आवश्यकतानुसार करना ही पड़ता है और शिक्षक को अवश्य ही यह ध्यान रखना चाहिए कि किस प्रश्नसूचक शब्द का प्रयोग किस स्थिति में उपर्युक्त है।

प्रश्नों के प्रकार का वास्तविक आधार-पाठ्य सामग्री का स्वरूप और पाठ्य-विकास की विविध अवस्थाएँ एवं आवश्यकताएँ हैं।

इस दृष्टि से प्रश्नों के दो भेद किये जा सकते हैं :—

१—शिक्षण प्रश्न[1]

२—परीक्षण प्रश्न[2]

शिक्षण प्रश्न—जिन प्रश्नों के द्वारा पाठ का विकास करने और नवीन ज्ञान प्रदान करने में सहायता ली जाती है, वे प्रश्न शिक्षण प्रश्न कहलाते हैं। पाठ पढ़ाते समय बालकों को विचार करने, विवेचना करने, निरीक्षण करने, तुलना करने, प्रस्तुत सामग्री के आधार पर निष्कर्ष निकालने आदि मानसिक क्रियाओं को प्रेरित एवं प्रोत्साहित करने के लिए शिक्षण प्रश्न पूछे जाते हैं। ये प्रश्न भाव एवं विचार प्रेरक होते हैं। इनसे छात्रों की तर्क एवं अन्वेषण शक्ति का विकास होता है और स्वयं शिक्षा के लिए प्रयत्नशील होते हैं। उनमें आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता एवं अनुसन्धान की प्रवृत्ति बढ़ती है।

परीक्षण प्रश्न—जिन प्रश्नों से बच्चों के पूर्वज्ञान और योग्यता का पता लगाया जाता है और पाठ-विकसित करते समय यह पता लगाते चलते हैं कि बालक कहाँ तक पाठ ग्रहण करते चल रहे हैं। पठित अंश कहाँ तक बालकों को ग्रहण हुआ है इसके लिए परीक्षण प्रश्न पूछे जाते हैं। पाठ की आवृत्ति के लिए भी परीक्षण प्रश्न पूछे जाते हैं।

शिक्षण प्रश्न जहाँ बालकों को नवीन ज्ञान प्राप्त करने और नयी सूचना ग्रहण करने के लिये अग्रसर करते हैं वहाँ परीक्षण प्रश्न उनके द्वारा गृहीत ज्ञान

---

1. Teaching questions
2. Testing questions

की जाँच के लिए पूछे जाते हैं। परीक्षण प्रश्नों से बालकों की स्मरण शक्ति तीव्र होती है और गृहीत ज्ञान अच्छी तरह दृढ़ हो जाता है। बालक पाठ में सदा ध्यानमग्न रहते हैं ताकि इन प्रश्नों का उत्तर देने में समर्थ रहें। इस प्रकार शिक्षण एवं परीक्षण प्रश्न परस्पर पूरक से हैं।

पाठ-विकास के क्रम में प्रयोग की दृष्टि से परीक्षण प्रश्नों के तीन उपभेद किये जा सकते हैं :--

१—प्रारम्भिक प्रश्न
२—अन्वेषण प्रश्न
३—पुनरावलोकन प्रश्न

प्रारम्भिक प्रश्न—पाठ के प्रारम्भ में बच्चों के पूर्वज्ञान तथा पाठ विषय सम्बन्धी ज्ञान का पता लगाने के लिए ये प्रश्न पूछे जाते हैं। इन प्रश्नों द्वारा बालकों को नये पाठ के लिए प्रेरणा मिलती है क्योंकि पूर्व ज्ञान उनकी स्मृति पटल पर आते ही उसे और आगे बढ़ाने के लिए वे प्रोत्साहित हो जाते हैं।

अन्वेषण प्रश्न--पाठ के बीच में यह पता लगाने के लिए कि बालकों को पाठ के सम्बन्ध में क्या कठिनाइयाँ हैं और पठित अंश वे कहाँ तक ग्रहण कर रहे हैं, ये प्रश्न पूछे जाते हैं। इसे जानकर अध्यापक अपनी पाठ-योजना में वांछित परिवर्तन या व्यवस्था कर लेता है, पाठ की गति पर नियन्त्रण रखता है और विद्यार्थियों के अनुसार आगे बढ़ता है। पाठ की ओर ध्यान केन्द्रित किए रहने के लिए ये प्रश्न बहुत आवश्यक एवं उपयोगी हैं।

पुनरावलोकन प्रश्न—पाठ के अन्त में सम्पूर्ण पाठ को पुनरावृत्ति करने के लिए ये प्रश्न पूछे जाते हैं। इनके द्वारा पाठ की विशेष बातें, सारांश एवं पूरे पाठ की रूप-रेखा बालक के सामने स्पष्ट हो जाती है और शिक्षक को यह पता चल जाता है कि बालकों ने पाठ कहाँ तक हृदयंगम किया है। इन प्रश्नों का उत्तर प्राप्त हो जाना शिक्षक की सफलता का द्योतक है।

मानसिक प्रक्रिया के अनुसार भी प्रश्नों के दो भेद किए जा सकते हैं —

१—स्मृति प्रश्न—जिनके द्वारा पूर्व पठित एवं ज्ञात बातें पुनः स्मरण करायी जाती हैं वे प्रश्न स्मृति प्रश्न कहलाते हैं।

२—विचार प्रश्न—जिन प्रश्नों के द्वारा बालकों को सोचने-विचारने की प्रेरणा मिलती है वे विचार प्रश्न कहलाते हैं। इनके द्वारा बालकों की तर्क, अनुमान एवं कल्पना-शक्ति जागरित होती है और वे नई बातें सोचते हैं।

विद्यार्थियों द्वारा प्रश्न तथा उसके प्रति शिक्षक का कर्त्तव्य

बालक प्रकृत्या ही जिज्ञासु होता है और इस जिज्ञासा की तृप्ति के लिए वह प्रारम्भिक अवस्था में अपने माता-पिता तथा अन्य पारिवारिक सदस्यों से अनेक प्रश्न करता है एवं नई बातें सीखने के लिए वह आतुर रहता है। विद्यालय में प्रविष्ट होने पर बालक अपनी जिज्ञासा-तृप्ति के लिए शिक्षकों से प्रश्न पूछते हैं। यह प्रश्न पूछना उनके द्वारा पाठ में रुचि लेने तथा सीखने की प्रवृत्ति का द्योतक है। यह देखा जाता है कि जिस पाठ में बालकों की रुचि अधिक होती है उसमें वे अधिक उत्साह प्रदर्शित करते हैं और अनेक प्रश्न पूछते हैं। जहाँ कुछ भी शंका होती है वे उसके समाधान के लिए तथा अधिक से अधिक बातें जानने के लिए प्रश्न पूछते हैं। बालकों की यह रुचि, उत्साह एवं अधिकाधिक सीखने और जानने की प्रवृत्ति अच्छे शिक्षण का लक्षण है। इससे कक्षा का वातावरण भी सजीव बना रहता है। शिक्षक को बालकों की इस प्रवृत्ति का स्वागत करना चाहिये और उसके प्रति उचित मनोवृत्ति अपनानी चाहिए। बालकों के प्रश्नों की उपेक्षा करना अथवा उनकी इस प्रवृत्ति को निरुत्साहित करना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बहुत ही घातक है। अतः विद्यार्थियों के प्रश्नों के प्रति अध्यापक को निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए :—

१—प्रश्न करने के लिए बालकों को प्रोत्साहित करना चाहिए। प्रायः नये शिक्षक बालकों को यह अवसर नहीं देना चाहते क्योंकि इससे उनके पूर्व नियोजित पाठ-योजना में शायद बाधा पड़ने का भय रहता है। प्रश्न पूछने से कक्षा में नई स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसका सामना करने के लिए वे सदा तत्पर नहीं रहते। पर यह मनोवृत्ति उचित नहीं है। विद्यालय के नये वातावरण में बालक स्वतः ही संकोच से काम लेते हैं और यदि शिक्षक ने उन्हें निर्भीक एवं निःसंकोच होकर कक्षा में जिज्ञासा-तृप्ति एवं शंका समाधान के लिए प्रश्न प्रोत्साहित नहीं किया तो उनका उचित ज्ञानवर्द्धन नहीं हो सकता तथा कक्षा का वातावरण भी घर जैसा स्वाभाविक एवं सजीव नहीं बन सकता।

विद्यार्थियों के प्रश्न पूछने तथा उनका उत्तर देने से अध्यापक में भी धीरे-धीरे आत्मविश्वास उत्पन्न हो जाता है और वह कक्षा में उत्पन्न होने वाली जटिल से जटिल परिस्थिति का ठीक सामना करने में समर्थ हो जाता है। उसकी पाठ-तैयारी का दृष्टिकोण भी व्यापक हो जाता है क्योंकि वह विद्यार्थियों द्वारा पूछे जाने वाले प्रश्नों का भी पहले ही बहुत कुछ अनुमान कर लेता है और उनके उत्तर के लिए तैयार रहता है। इससे अपने विषय पर उसका पूर्ण अधिकार भी बना रहता है।

प्रश्न पूछने के लिए प्रोत्साहित करने का अवसर प्रोजेक्ट प्रणाली तथा अन्य प्रकार के क्रियात्मक पाठों में विशेष रूप से दिया जा सकता है।

२—प्रश्न पूछने के लिए प्रोत्साहन देने का तात्पर्य यह नहीं है कि बालक जिस भी प्रकार के चाहें प्रश्न पूछ सकते हैं। बालकों को प्रारम्भ से ही ऐसे प्रश्न पूछने की प्रेरणा देनी चाहिए जो पाठ सम्बन्धी प्रसंग के अनुकूल हों। प्रसंग से असंबद्ध प्रश्न अथवा प्रश्न के लिए प्रश्न पूछने की प्रवृत्ति विद्यार्थियों में नहीं आने देनी चाहिये।

३—पाठ से सम्बन्धित विचारप्रेरक प्रश्न पूछने वाले बालकों को प्रशंसा सूचक शब्दों से कभी-कभी सम्मानित भी करना चाहिए जिससे और बालकों को भी अच्छे प्रश्न पूछने के लिए प्रेरणा एवं प्रोत्साहन मिलता रहे।

४—शिक्षक को सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बालक प्रश्न पूछने की शिष्टता का पालन अवश्य करें। एक साथ कई बालक प्रश्न पूछने के लिए न खड़े हों। एक समय एक ही छात्र प्रश्न पूछे और उसके प्रश्न का जब पूर्ण समाधान हो जाय तभी दूसरे बालक को प्रश्न पूछने का अवसर देना चाहिए। बालक द्वारा पूछे गए प्रश्न का उत्तर इस प्रकार देना चाहिए कि पूरी कक्षा उसे सुने और लाभान्वित हो क्योंकि बहुत सम्भव है कि वही प्रश्न अनेक बालकों के मस्तिष्क में उठा हो।

५—बालक द्वारा पूछे गये प्रश्न का उत्तर यदि उस समय अध्यापक नहीं दे सके तो उसे निःसंकोच बता देना चाहिए कि वह इस समय उत्तर नहीं दे सकता और ठीक उत्तर बाद में बता देगा।

६—यदि प्रश्न बहुत सरल है तो उसका उत्तर कक्षा के तेज़ विद्यार्थियों द्वारा निकलवाने का प्रयत्न अच्छा होगा। यदि प्रश्न कठिन है और कक्षा से उसका उत्तर पा सकने की आशा नहीं है तो शिक्षक को स्वयं ही उत्तर बता देना चाहिए।

७—यदि शिक्षक के उत्तर से प्रश्न पूछने वाला बालक संतुष्ट नहीं हो रहा है, तो भी अध्यापक को धैर्य नहीं खोना चाहिए और तर्क के आधार पर उसे सहमत करने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि बालक सचमुच जिज्ञासु है और सही बात जानने की उत्कण्ठा से ही उसने प्रश्न पूछा है तो उसके प्रति शिक्षक के मन में कोई दुराव नहीं होना चाहिए क्योंकि ऐसे बालक व्यर्थ के प्रश्न नहीं पूछते। जो बालक प्रश्न पूछने की स्वतन्त्रता का अनुचित लाभ उठाकर मनमाने प्रश्न पूछते हैं, उन्हें यह स्वतन्त्रता नहीं देनी चाहिए और शिक्षक को अपने

विवेक द्वारा ऐसे बालकों का उचित मार्ग-प्रदर्शन करना चाहिए। कुशल शिक्षक शीघ्र ही यह पहचान कर लेता है कि कौन बालक सच्ची जिज्ञासा से प्रश्न पूछ रहा है और कौन बालक व्यर्थ का प्रश्न पूछ रहा है।

उत्तर—यह लिखा जा चुका है कि प्रश्नोत्तर युक्ति में प्रश्न एवं उत्तर दो कुशलताएँ शामिल हैं। जिस प्रकार अच्छे प्रश्न करना एक कला एवं योग्यता है उसी प्रकार छात्रों से वांछित उत्तर प्राप्त कर लेना भी एक कला एवं योग्यता है। इन दोनों कलाओं में पारंगत शिक्षक अपने शिक्षण-कार्य में अवश्य ही सफल होता है।

उत्तर का महत्त्व—पाठ के विकास में प्रश्न के ही समान उत्तर का भी महत्त्व है। छात्रों से प्राप्त उत्तर पर ही पाठ का विकास निर्भर है। उनके उत्तर से ही यह ज्ञात होता है कि वे प्रस्तुत पाठ सम्बन्धी ज्ञान कहाँ तक ग्रहण कर रहे हैं और पाठ का ठीक प्रकार से अनुसरण कर रहे हैं या नहीं। छात्रों की मानसिक शक्ति, ग्रहण शक्ति और उनकी बौद्धिक उपलब्धि का पता भी उत्तर द्वारा चलता है। अध्यापक उत्तर के आधार पर यह जान लेता है कि कक्षा में विद्यार्थियों का क्या बौद्धिक स्तर है, कौन तीव्र बुद्धि वाले बालक हैं और कौन मंदबुद्धि वाले बालक। कक्षा के सामान्य बौद्धिक स्तर को दृष्टि में रखकर ही वह अपनी प्रश्नावली भी तैयार करता है। अतः प्रश्नों की सफलता भी उत्तर पर ही निर्भर है तथा प्रश्न एवं उत्तर दोनों की अनुकूलता पर ही पाठ-शिक्षण की सफलता निर्भर है।

शिक्षक ने छात्रों की जिस पूर्व योग्यता के अनुमान पर अपनी पाठ-योजना में जिन प्रश्नों की रचना की है यदि छात्र उन प्रश्नों के उत्तर देने में असमर्थ हैं तो शिक्षक को अपनी पाठ-योजना में भी परिवर्तन करना पड़ता है। इस प्रकार छात्रों के उत्तर ही पाठ-योजना की सफलता और असफलता के परिचायक हैं तथा वे शिक्षक को पाठ-योजना में उचित परिवर्तन करने के लिए संकेत-चिह्न का कार्य करते हैं।

शिक्षण कार्य में दो क्रियाएँ शामिल हैं—शिक्षक द्वारा सिखाने का कार्य और शिक्षार्थी द्वारा सीखने का कार्य। वस्तुतः ये दोनों कार्य व्यावहारिक दृष्टि से प्रश्न एवं उत्तर के रूप में संचरित होते हैं। शिक्षक सिखाने का बहुत कुछ कार्य प्रश्नों द्वारा संपादित करता है और छात्र सीखने का कार्य अपने उत्तर द्वारा प्रकट करता है। अतः प्रश्न और उत्तर शिक्षण कार्य के अनिवार्य साधन हैं और इनके अभाव में आधुनिक शिक्षण की कल्पना ही नहीं की जा सकती। केवल प्रश्न

पूछना पाठ विकास की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं रखता जब तक कि उसके उचित उत्तर न मिलते जायँ। 'प्रश्न' शब्द यदि शिक्षक का रूप सामने आता है तो 'उत्तर' शब्द से शिक्षार्थी का, और इन दोनों के परस्पर सहयोग से ही पाठ का विकास आज के शिक्षण का वास्तविक रूप माना जाता है। कभी-कभी पाठ विकास में छात्रों के सक्रिय सहयोग का अर्थ प्रश्नों द्वारा छात्रों को उत्तेजित करना ही लगा लिया जाता है और उचित उत्तर की चिन्ता नहीं की जाती। यह एक भ्रम है। छात्रों का सक्रिय सहयोग उनके द्वारा व्यक्त उचित उत्तर द्वारा ही सफल एवं सार्थक मानना चाहिये।

शिक्षार्थियों के मानसिक विकास की दृष्टि से 'उत्तर' का महत्त्व स्वयं सिद्ध है। उत्तर देने से बालकों की भावाभिव्यंजन की क्षमता बढ़ती है। भाषा पर अधिकार प्राप्त होता है और सही ढंग से अपने विचारों को प्रकाशित करने की योग्यता आती है। यदि प्रारम्भिक अवस्था में भाषा एवं शैली की त्रुटियाँ होती भी हैं तो शिक्षक के निर्देशन से उसमें सुधार हो जाता है। उत्तर देने के प्रयत्न द्वारा बालकों में निर्भीकता, साहस एवं आत्मविश्वास की भावना उत्पन्न होती है, कल्पना एवं तर्क शक्ति का विकास होता है और स्मरण शक्ति तीव्र होती है।

उत्तर निकलवाना तथा उत्तर के प्रति शिक्षक की मनोवृत्ति

उत्तम प्रश्न रचना के ही समान वांछित उत्तर प्राप्त करने की कला भी बड़े प्रयत्न एवं अभ्यास से आती है। प्रायः नये अध्यापकों एवं छात्राध्यापकों के सामने यह समस्या आती है कि वे किस प्रकार वांछित उत्तर छात्रों से निकलवा लें। वे परिश्रम से पाठ-योजना तैयार करते हैं, अच्छे से अच्छे प्रश्न बनाकर ले जाते हैं पर जब छात्रों से उचित एवं अनुकूल उत्तर नहीं पाते तो वे व्यग्र हो उठते हैं, आत्मविश्वास खो बैठते हैं और उनका सारा प्रयास विफल हो जाता है। अच्छे एवं वांछित उत्तर न मिलना कोई अनहोनी और अप्रत्याशित बात नहीं है क्योंकि शिक्षार्थी भी तो मानव हैं जिनमें चिन्तन, तर्क, विवेक और कल्पना करने की शक्ति है और वैयक्तिक विभिन्नता के कारण उनकी प्रतिक्रियाएँ भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। अतः शिक्षक को अवांछित एवं प्रतिकूल उत्तर पर धीरज एवं आत्मविश्वास न खोकर शांतिपूर्ण एवं स्वाभाविक ढंग से उसका सामना करना चाहिए। उसे तत्काल ही निर्णय कर लेना चाहिए कि क्या उचित तरीका हो सकता है। अतः उचित उत्तर निकलवाने के सम्बन्ध में कुछ बातें बहुत ही ध्यान देने योग्य हैं जिनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है :—

१—विद्यार्थियों को पहले ही इस शिष्टाचार से अवगत करा दिया जाय कि प्रश्न का उत्तर वही बालक देगा जिसे शिक्षक संबोधित करेगा। यह लिखा

जा चुका है कि प्रश्न पहले पूरी कक्षा के सम्मुख प्रस्तुत किया जाय और फिर किसी एक बालक को उत्तर के लिये सम्बोधित किया जाय। इस नियम के पालने से कक्षा का अनुशासन ठीक बना रहता है। प्रश्न सुनते ही अनेक बालक उत्तर देने के लिए उतावले हो उठते हैं, हाथ उठाकर जोर से हिलाने लगते हैं और कभी-कभी कोई बालक खड़ा हो जाता है। बालकों को बता देना चहिये कि ये आदतें अशोभनीय हैं, प्रत्येक को उत्तर का अवसर मिलेगा अतः अधीर होने की आवश्यकता नहीं। वे खड़े न हों, हाथ संयत ढंग से उठाएँ और शिक्षक जिसे संबोधित या इंगित करे वही उत्तर दे। इस शिष्टाचार से कक्षा का वातावरण शांत, संयत एवं स्वाभाविक बना रहता है और शिक्षक को सही उत्तर निकलवाने में सुलभता होती है।

कुछ धृष्ट या उच्छृंखल बालक यदि इस शिष्टाचार का यथावत् पालन न करें और हाथ हिलाने या चंचलता-प्रदर्शन से बाज न आयें तो उन्हें यह स्पष्ट बता देना चाहिये कि उनसे उस समय तक उत्तर नहीं लिया जायगा जब तक कि वे ठीक आचरण नहीं करेंगे।

छात्रों को यह शिष्टाचार भी बता देना चाहिये कि वे ठीक ढङ्ग से खड़े होकर उत्तर दें। मनमाने ढङ्ग से, झुके हुए, बैठे हुए अथवा हाथ हिलाते हुए उत्तर नहीं दें। खड़े होने के ठीक ढंग पर आग्रह अवश्य करना चाहिये साथ ही प्रसन्न, उत्साहपूर्ण मुद्रा से उत्तर देने के लिये भी कहना चाहिये।

२—कक्षा के सभी बालकों को उत्तर देने का अवसर प्रदान करना चाहिये। इससे पूरी कक्षा सजग, सजीव और सचेत बनी रहती है। जो मन्द बुद्धि वाले बालक हैं वे भी उत्तर देने के लिये तैयार रहते हैं। ऐसा न करने से उपेक्षित बालकों को जब कभी एकाध अवसर दिया जाता है तो वे ठीक से बोल नहीं पाते। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी यही उचित है कि पाठ-विकास में पूरी कक्षा का सक्रिय सहयोग लिया जाय। सही उत्तर प्राप्त करने के लिये भी यह आवश्यक है।

३—मन्द बुद्धि, भीरु अथवा संकोची बालक के प्रति विशेष प्रेम एवं सहानुभूति की आवश्यकता पड़ती है। उन्हें उत्तर देने के लिये प्रेरित एवं प्रोत्साहित करते रहना चाहिये। उनके गलत उत्तर पर भी क्षुब्ध न होकर सहानुभूतिपूर्वक भूल-सुधार का प्रयत्न करना चाहिये। इससे उत्तर प्राप्त करने में सुविधा होगी।

४—प्रश्न करने के बाद बालकों को सोचने के लिए कुछ समय अवश्य देना चाहिए अन्यथा वे जल्दीबाजी में ठीक उत्तर नहीं दे पाते।

५—अपूर्ण, अशुद्ध या अप्रासंगिक उत्तर स्वीकार नहीं करना चाहिए और छात्रों को पहले ही बता देना चाहिए कि वे सोच कर शांत एवं स्थिर चित्त से सही, पूर्ण एवं प्रसंगानुकूल उत्तर ही दें। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि किसी भी स्थिति में अशुद्ध उत्तर पर छात्र का उपहास नहीं करना चाहिये। क्रोध या क्षोभ नहीं प्रकट करना चाहिए और शान्तिपूर्वक भूल-सुधार के लिए उचित प्रयत्न करना चाहिए।

६—सामूहिक उत्तर देने के लिए कक्षा को मना कर देना चाहिए। सम्मिलित स्वर में उत्तर देने से कक्षा का अनुशासन तो भंग होता ही है, पिछड़े हुए और उत्तर न जानने वाले विद्यार्थी और भी हानि में रहते हैं क्योंकि वे उत्तर देने से वंचित रह जाते हैं।

७—प्रायः पूर्ण वाक्य में ही उत्तर ग्रहण करना चाहिये। कभी-कभी विज्ञान एवं गणित जैसे विषयों में वाक्यांशों में भी उत्तर अभीष्ट हो सकता है पर इसे प्रोत्साहन नहीं देना चाहिये। पूर्ण वाक्य में उत्तर देने से विषय के साथ-साथ बालक की भावाभिव्यक्ति की शक्ति तथा भाषा की शुद्धता एवं प्रांजलता भी विकसित होती है।

अशुद्ध उत्तर देने वाले बालक को शुद्ध उत्तर मिलने पर दोहराने का अवसर प्रदान करना चाहिए।

८—यदि कोई बालक उत्तर देने में असमर्थ है तो उसी से उत्तर प्राप्त करने का आग्रह नहीं करना चाहिये। इससे समय का अपव्यय होता है। ऐसी स्थिति में किसी अच्छे बालक से उत्तर निकलवाकर उस बालक को पुनः उत्तर देने का अवसर देना उचित होगा। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि उस बालक ने ठीक समझ लिया है, केवल उत्तर के शब्दों को नहीं दोहरा रहा है। इस बात की जाँच भी कभी-कभी कर लेनी चाहिए।

९—यदि किसी प्रश्न का उत्तर दो-तीन छात्रों से लेना है तो पहले जो उत्तर प्राप्त हो, उसपर सही या गलत किसी प्रकार का संकेत नहीं देना चाहिए और दूसरे तथा तीसरे बालक से उत्तर माँगना चाहिये। सही का संकेत देने से बाद वाले बालक उसे ज्यों का त्यों दोहरा देते हैं और अपने विचार नहीं व्यक्त कर पाते। गलत कह देने पर भी वे अनुमान से ही काम लेते हैं। प्रयत्न होना चाहिए कि प्रश्न को सुनकर बालक जो कुछ अपनी जानकारी के आधार पर उत्तर देना चाहता है वही उत्तर वह दे, किसी अनुमान से काम न ले।

१०—छात्रों के उत्तर को कभी भी नहीं दोहराना चाहिए। इससे समय

नष्ट होता है, साथ ही विद्यार्थी भी पहले उत्तर की ओर ध्यान केन्द्रित नहीं करते और अध्यापक द्वारा दोहराये जाने वाले उत्तर सुनने के अभ्यस्त हो जाते हैं। उत्तर का दोहराना अध्यापक के आत्मविश्वास की कमी का द्योतक है। यदि किसी उत्तर पर बल देने के लिये उसे पुनः कक्षा के सम्मुख रखना आवश्यक हो तो उसे स्वयं न दोहराकर किसी बालक द्वारा प्रस्तुत करा ले।

११—छात्रों के उत्तर में यदि कुछ अंश सही है और कुछ अंश गलत तो ठीक अंश को स्वीकार करते हुए गलत अंश को ठीक करने के लिये बालक को प्रोत्साहित करना चाहिये।

१२—सामान्यतः बालकों से उत्तर निकलवाने में उनकी कोई सहायता नहीं करनी चाहिए। इससे बालक आत्मनिर्भर नहीं हो पाते और उन्हें पूर्ण रूप से सही उत्तर देने का अभ्यास नहीं हो पाता। यदि कोई बालक उत्तर देने में अटक रहा है या अधूरा उत्तर दे रहा है तो स्वयं पूरा न करके उसी से उत्तर को शुद्ध एवं पूरा कराने का प्रयत्न करना चाहिए।

१३—उत्तर न मिलने या गलत उत्तर मिलने पर छात्र के प्रति क्रुद्ध नहीं होना चाहिए और न डाँट-फटकार कर उसे भयभीत ही करना चाहिए। हर स्थिति में अध्यापक को धैर्य एवं आत्मविश्वास से ही काम लेना चाहिये। संत्रस्त करने से बालक का मानसिक एवं भावात्मक दमन होता है और उससे सही उत्तर पाना और भी कठिन हो जाता है।

१४—अच्छे उत्तर मिलने पर प्रशंसासूचक शब्दों 'शाबास', 'बहुत अच्छा' का कभी-कभी प्रयोग बालकों को प्रोत्साहित करने की दृष्टि से अच्छा रहता है किन्तु इसका बहुत अधिक प्रयोग अनुचित है। बहुत अच्छे उत्तर की ही सराहना, करनी चाहिए।

उत्तर किस रूप में हों ?

ऊपर बार-बार यह लिखा गया है कि अच्छे एवं शुद्ध उत्तर ही स्वीकार किये जायँ। इससे हमारा क्या तात्पर्य है और अच्छे उत्तर का स्वरूप क्या है, इसे भी समझ लेना आवश्यक है—

१—भाषा की दृष्टि से शुद्ध उत्तर—उत्तर की भाषा सर्वदा शुद्ध होनी चाहिये। वाक्य रचना व्याकरणसम्मत हो। मनमाने ढंग से शब्दों का क्रम वाक्य में नहीं होना चाहिये। भाषा और विचार का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि अशुद्ध भाषा से विचार की शुद्धता भी जाती रहती है। भाव एवं विचार के

अनुसार उपयुक्त शब्दों के प्रयोग पर बल देना चाहिये और यथावश्यक सुधार कराते चलना चाहिए।

भाषा की शुद्धता में इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि हिन्दी बोलते समय हिन्दी शब्दों का ही प्रयोग वांछित है। हिन्दी और अंग्रेजी दोनों शब्दों की मिली-जुली भाषा का प्रयोग अनुचित है।

भाषा सरल तथा स्पष्ट हो। उलझनपूर्ण भाषा में उत्तर नहीं स्वीकार करना चाहिये।

भाषा के प्रयोग में स्थानीय भाषा का प्रभाव प्रायः परिलक्षित होता है। बालक स्वभावतः घरेलू बोली के शब्दों का प्रयोग करते हैं। वाक्य रचना में भी स्थानीय प्रभाव देखा जाता है। इसे दूर करना चाहिये और परिनिष्ठित एवं शिष्टजनोचित शब्दों के प्रयोग पर ही आग्रह करना चाहिये। भद्दे एवं ग्रामीण दोष वाले शब्दों के स्थान पर शुद्ध एवं सुसंस्कृत शब्दों के प्रयोग पर बल देना चाहिये और आवश्यकतानुसार स्वयं ऐसे उचित शब्दों के उदाहरण द्वारा बालकों को इस दिशा में प्रेरित करना चाहिये। स्थानीय प्रभाव उच्चारण में विशेष रूप से देखा जाता है अतः शुद्ध उच्चारण के लिये उत्साहित करना चाहिये।

पूर्ण वाक्यों में ही उत्तर स्वीकार करना चाहिये। इससे बालक स्वतः शुद्ध वाक्य रचना एवं सुरुचिपूर्ण भाषा का व्यवहार करने के लिये प्रयत्नशील रहेंगे।

२—तथ्य तथा भाव एवं विचार की दृष्टि से उत्तर की शुद्धता—उत्तर ऐसा होना चाहिये कि अपेक्षित भाव एवं विचार पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाय। स्पष्टता का जो सम्बन्ध भाषा से है उसे ऊपर लिखा जा चुका है। यहाँ हमारा तात्पर्य तथ्यों एवं विचारों से है। अधूरे विचार या तथ्य उत्तर में न स्वीकार किये जायँ। बालक को पूरी बात कहने के लिये प्रोत्साहित करना चाहिये।

उत्तर सदा ही प्रसंगानुकूल हो और जितना अपेक्षित है उतना ही होना चाहिये। विषय से असम्बद्ध उत्तर तो नहीं ही स्वीकार करना चाहिये और बालक को यह अनुभूति करा देना चाहिये कि जो पूछा गया है उसी से सम्बन्धित उत्तर देना ठीक है।

कुछ बालक अपने उत्तर में अनपेक्षित और अनावश्यक बातें भी जोड़ देते हैं। अर्थात् उत्तर का विस्तार उतना ही हो जितना प्रश्न द्वारा अपेक्षित है।

'शाहजहाँ के बाद कौन गद्दी पर बैठा ?' प्रश्न का उत्तर इतना ही अपेक्षित है कि 'औरंगजेब गद्दी पर बैठा ।' पर कुछ बालक पूरा इतिहास बताने लगते हैं कि शाहजहाँ के चार पुत्र थे और उनमें सभी को अलग-अलग धोखे से परास्त कर औरंगजेब ने शाहजहाँ को कैद कर लिया और गद्दी पर बैठ गया । ये सारी बातें यहाँ पर असंगत है । अतः प्रश्न की सीमा का ध्यान रखते हुए ही उत्तर देने पर बल देना चाहिये ।

कम से कम शब्दों में पूरी बात कहने की क्षमता भी अच्छे उत्तर के लिए आवश्यक है । अतः व्यर्थ ही बढ़ाकर उसी बात को कहने की आदत छात्रों में नहीं पैदा होनी चाहिये और शिक्षक को ऐसी जगह छात्रों को उचित निर्देश दे देना चाहिये ।

छात्रों से यह आग्रह करना चाहिये कि उन्हें जो बात कहनी है वह एक बार में स्पष्ट रूप से कहें, बार-बार एक ही बात न दोहरायें ।

यदि एक प्रश्न के उत्तर में दो-तीन अथवा अनेक बातें कहनी हैं तो उन्हें क्रम से बालक कहें जिससे विचारों में सुसम्बद्धता बनी रहे । बिना क्रम से कहने पर वास्तविक विचार भी धूमिल पड़ जाता है ।

अशुद्ध उत्तरों को शुद्ध करना

शिक्षक के सम्मुख यह समस्या प्रायः आती है कि अशुद्ध उत्तर को शुद्ध किस प्रकार कराया जाय । ये अशुद्ध उत्तर दोनों प्रकार के होते हैं—(१) भाषा की दृष्टि से और (२) तथ्य एवं विचार की दृष्टि से । अशुद्ध उत्तरों को ठीक कराने के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं :—

१—यदि उत्तर अंशतः शुद्ध है और अंशतः अशुद्ध है तो शुद्ध अंश को स्वीकार करते हुए अशुद्ध अंश की ओर बालक का ध्यान आकृष्ट करना चाहिये और तर्क संगत विधि से शुद्ध कराने का प्रयत्न करना चाहिये । यदि एक बार के संकेत में वह बालक अपना उत्तर शुद्ध नहीं कर लेता है तो अच्छे बालक से शुद्ध उत्तर प्राप्त कराकर उसे पुनः अवसर देना चाहिये । यदि अच्छे विद्यार्थियों से भी शुद्ध उत्तर न मिले तो शिक्षक को स्वयं ही शुद्ध उत्तर बता देना चाहिये ।

अशुद्ध उत्तर को शुद्ध कराने का तरीका शिक्षक को परिस्थिति के अनुसार ही अपनाना चाहिये । कोई एक तरीका सभी परिस्थितियों में लागू करना ठीक नहीं । कहाँ पर वह उसी बालक से शुद्ध कराये, कहाँ पर दूसरे बालकों के सहयोग से और कब स्वयं बताये, ये बातें शिक्षक के ही विवेक एवं निर्णय पर निर्भर है ।

२—अशुद्धता यदि भाषा और तथ्यात्मक दोनों दृष्टि से है तो भाषा की अशुद्धता ठीक कराते हुए तथ्यात्मक अशुद्धता को ठीक कराने का प्रयत्न होना चाहिये।

३—अशुद्ध उत्तर मिलने पर भी शिक्षक को क्षोभ या रोष नहीं प्रकट करना चाहिये बल्कि सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार से ही शुद्ध उत्तर की ओर उन्हें प्रोत्साहित करना चाहिये।

४—उत्तर की अशुद्धता का कारण भी छात्रों को स्पष्ट हो जाना चाहिये। इससे वे भविष्य में शुद्ध उत्तर देने के लिये विशेष सजग हो जाते हैं।

५—पूर्ण अशुद्ध उत्तर कभी भी स्वीकार नहीं करना चाहिये और न ऐसा उत्तर देने वाले बालक की उपेक्षा ही होनी चाहिये। यदि दो-एक प्रयत्न में वह ठीक उत्तर नहीं दे पाता तो अन्य बालकों से शुद्ध उत्तर पूछकर उसे शुद्ध उत्तर देने का अवसर देना चाहिये। किन्तु शिक्षक को समय, पाठ-विकास की सुचारुता, विषय की गहनता और महत्ता आदि का ध्यान रखते हुए ही इस प्रक्रिया को अपनाना चाहिये। ऐसा न हो कि इसी में समय व्यतीत हो जाय, पाठ अधूरा रह जाय या मुख्य बातें छूट जायँ।

६—यदि शिक्षक को यह आभास मिले या अनुभव हो कि उसके प्रश्न की जटिलता के कारण शुद्ध उत्तर मिलने में कठिनाई हो रही है तो उसे तत्काल ही उसमें सुधार कर ले, सरल रूप दे दे अथवा दो-तीन सरल प्रश्नों में विभक्त करके क्रम से शुद्ध उत्तर प्राप्त करने का प्रयत्न करे।

यदि गलत शब्दों के प्रयोग के कारण प्रश्नों में दुरूहता आ गई है तो शब्द को सुधार लेना चाहिये।

७—यदि उत्तर की अशुद्धता बहुत ही साधारण किस्म की है, तथ्य या विचार ठीक हैं और कक्षा ने आशय ग्रहण कर लिया है तो शिक्षक उसे छोड़ सकता है। इसका निर्णायक भी शिक्षक ही है कि इस अशुद्धता पर वह समय दे या न दे। कुछ अशुद्धियाँ आगे चलकर स्वयं ही ठीक हो जा सकती हैं।

८—अशुद्ध उत्तर को शुद्ध कराने में कभी-कभी कक्षा के शिष्टाचार एवं अनुशासन की समस्या भी सामने आ जाती है। उदाहरणतः अशुद्ध उत्तर मिलने पर शिक्षक अन्य बालकों से शुद्ध उत्तर चाहता है और इस प्रयास में पाँच-छः विद्यार्थी कक्षा में खड़े कर दिये जाते हैं। पर यह दृश्य शोभनीय नहीं होता।

दो-एक बालक यदि उत्तर नहीं दें तो सबसे तेज विद्यार्थी से पूछना चाहिये। यदि वह भी समर्थ नहीं है तो स्वयं बता देना चाहिये अथवा शिक्षण युक्ति में वांछित परिवर्तन करना चाहिये।

६—कभी-कभी यह भी समस्या आ जाती है कि अशुद्ध उत्तर इसी समय ठीक करा लिया जाय या बाद में। इसका निर्णायक भी शिक्षक ही है। कोई निश्चित नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता। महत्त्वपूर्ण उत्तर तो तत्काल ही शुद्ध करा लेने चाहिये क्योंकि उसी उत्तर के आधार पर पाठ का विकास निर्भर करता है।

वर्णनात्मक युक्तियाँ

जैसा पहले लिखा जा चुका है कि पाठ विकास के लिये प्रश्नोत्तर के साथ-साथ शिक्षक द्वारा प्रस्तुत वर्णन का भी बहुत महत्त्व है जिसके अनेक रूप हैं जैसे—

१—कथन, कहानी कहना
२—वर्णन या विवरण
३—व्याख्या
४—निर्दर्शन
५—व्याख्यान देना

वस्तुतः ये युक्तियाँ परस्पर सर्वथा भिन्न नहीं हैं और अनेक बातें ऐसी हैं जो इन सभी के बारे में लागू होती हैं क्योंकि ये वर्णन के ही विभिन्न रूप हैं। फिर भी शिक्षण में स्पष्टता एवं सुगमता की दृष्टि से इनका पृथक्-पृथक् वर्णन किया जा रहा है।

कथन

वस्तु सामग्री या घटना या विचार का मौखिक उल्लेख करना ही कथन कहलाता है। शिक्षक को कक्षा में अनेक विचार, तथ्य या घटना यथातथ्य रूप में सुनानी पड़ती है जिससे बालक परिचित हो जायँ और हृदयंगम कर लें। उद्देश्य यह रहता है कि जो विचार, तथ्य या घटना छात्रों के सम्मुख मौखिक रूप से प्रस्तुत की जाय उसका स्पष्ट चित्र बालकों के मानस पटल पर खिंच जाय। अतः कथन को अधिक से अधिक रोचक एवं ग्राह्य बनाने की आवश्यकता पड़ती है।

कथन का उपयोग—कक्षा-शिक्षण में कथन की उपयोगिता स्वयं सिद्ध है। इसके बिना हम पाठ का विकास कर ही नहीं सकते। ऐसे पाठों में भी,

जिनमें अधिकांशतः प्रश्न और उत्तर द्वारा बालकों से ही विषय सामग्री प्रकाशित एवं विकसित कराई जाती है, बीच-बीच में कथन का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। समाज-अध्ययन सम्बन्धी एवं सूचना प्रधान विषयों—भूगोल, इतिहास, नागरिकशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि—में इसका उपयोग विशेष रूप से होता है। भाषा के पाठों में भी इसका प्रयोग आवश्यक-सा है। वैज्ञानिक एवं प्राविधिक विषयों में भी जहाँ सूचना प्रदान आवश्यक होता है, कथन का आश्रय लेना पड़ता है।

प्रारम्भिक एवं पूर्व माध्यमिक कक्षाओं में तो सामाजिक विषयों की शिक्षा में कहानी का प्रायः आश्रय लेना पड़ता है जो कथन का ही एक सरल एवं रोचक रूप है। प्रारम्भिक एवं पूर्व माध्यमिक स्तर पर यह एक बहुत ही प्रमुख शिक्षण-युक्ति है। अतः इसका वर्णन आगे एक पृथक् युक्ति के रूप में किया गया है।

कथन के प्रयोग में शिक्षक को विशेष सावधानी रखनी पड़ती है क्योंकि इसके प्रयोग में शिक्षक तो सक्रिय रहता है और बालक निष्क्रिय श्रोता। ऐसी स्थिति में यदि कथन लम्बा हो जाता है तो पाठ बोझिल हो जाता है और बालक ठीक से ग्रहण नहीं कर पाते। कथन प्रस्तुत करना एक कला है। यदि स्वर, ध्वनि एवं वाणी के उचित प्रयोग द्वारा कथन सजीव एव रोचक बना सकने में शिक्षक सफल नहीं हो पाता तो भी पाठ नीरस हो जाता है और बालक ऊब-से जाते हैं। जिन शिक्षकों के पास यह कला है और वे सजीव एवं रोचक कथन प्रस्तुत करने में दक्ष हैं, उन्हें भी कथन के प्रयोग में सावधानी रखनी चाहिये और जहाँ उसका प्रयोग आवश्यक हो जाय, वहीं उसका सहारा लेना चाहिये अन्यथा छात्रों को सक्रिय रखना और पाठ-विकास में उनका सहयोग लेते रहना ही मुख्य युक्ति समझना चाहिये।

कथन को प्रभावपूर्ण कैसे बनाया जाय—जैसे-तैसे अपनी बातों को प्रकट कर देना कथन नहीं कहलाता। शिक्षक को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि कथन प्रभावपूर्ण होना चाहिये जिससे बालक ध्यानमग्न हो सकें और व्यक्त भावों, विचारों एवं तथ्यों को ग्रहण कर सकें। कथन में प्रभविष्णुता लाने के लिये निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना आवश्यक है—

१—कथन में शुद्ध, सरल, स्पष्ट एवं सजीव भाषा का प्रयोग करना चाहिये जिससे छात्र सरलतापूर्वक समझ सकें और आत्मसात कर सकें। उच्चारण सदा स्पष्ट और शुद्ध होना चाहिये।

२—कथन प्रस्तुत करने में छात्रों की मानसिक योग्यता, ग्रहण शक्ति एवं रुचि का ध्यान रखना चाहिये, अन्यथा छात्रों का ध्यान कथन की ओर एकाग्र नहीं हो सकेगा। कुछ शिक्षक छात्रों के शैक्षिक स्तर का ध्यान रखे बिना ही क्लिष्ट भाव एवं भाषा के द्वारा अपनी योग्यता प्रदर्शन में लग जाते हैं जिसका कोई लाभ नहीं होता। शिक्षक को सदा इस प्रवृत्ति से दूर रहना चाहिये।

३—कथन की गति न तो बहुत तेज होनी चाहिये और न धीमी। एक सामान्य गति रखनी चाहिये। रुक-रुककर अनावश्यक विराम देते हुए बोलने से कथन का प्रभाव नष्ट हो जाता है। कथन में स्वर की अनुकूलता का भी ध्यान रखना चाहिये। कक्षा की संख्या देखते हुये स्वर (pitch) अधिक या कम बना लेना चाहिये।

४—कथन को रोचक बनाना चाहिये जिससे छात्रों की उत्सुकता बनी रहे और वे ध्यानमग्न होकर सुन सकें। कहानी में हम इस गुण को विशेष रूप से पाते हैं कि बालक सदा उसे सुनने के लिये लालायित रहते हैं।

५—कथन को सजीव एवं सुग्राह्य बनाने के लिये उदाहरण, दृष्टांत, चित्र, नमूना, मानचित्र, रेखाचित्र, चार्ट आदि उचित सहायक सामग्रियों का प्रयोग करना चाहिये जिससे सूक्ष्म एवं अमूर्त्त भाव तथा विचार भी स्पष्ट एवं मूर्त्त होते चलें।

६—कथन की सजीवता के लिये भाषा के प्रयोग में भी कुछ बातों का ध्यान रखना पड़ता है जैसे लोकोक्तियों एवं मुहाविरों का प्रयोग। उचित शब्द चयन एवं चुटकुलों के प्रयोग से कथन में सरसता आ जाती है।

७—कथन में सुसम्बद्धता का ध्यान रखना चाहिये। भावों, विचारों एवं तथ्यों के पूर्वापर सम्बन्ध को ध्यान में रखने से ही यह सुसम्बद्धता रहती है। पहली बात का अगली बात से सम्बन्ध होना ही चाहिये। असम्बद्ध बातों को बालक न तो ग्रहण कर पाते हैं और न सुनना ही चाहते हैं। अतः जो कुछ कहना हो उसे पहले से क्रमायोजित कर लेना चाहिए।

८—कथन की सामग्री पहले उचित खण्डों एवं सोपानों में विभक्त कर लेना चाहिये और उन्हें क्रमबद्ध कर लेना चाहिये। ये खण्ड या सोपान न तो बहुत बड़े-बड़े हों और न बहुत छोटे ही। एक खण्ड या सोपान में एक मुख्य विचार होना चाहिये जिससे समझने में उलझन न हो। प्रत्येक सोपान के पश्चात् बालकों से सारांश अथवा आवृत्ति करा लेनी चाहिये। फिर उससे सम्बन्धित अगला खण्ड प्रारम्भ करना चाहिये। इस प्रकार बालकों की रुचि बनी रहती है।

९—कथन लगातार इस प्रकार नहीं प्रस्तुत करना चाहिये कि वह आवश्यकता से अधिक बड़ा हो जाय। बीच-बीच में छात्रों से प्रश्न करके उनके द्वारा भी कथन सम्बन्धी अनेक बातें निकलवायी जा सकती हैं। इससे भी छात्रों की रुचि बनी रहती है। कथन द्वारा सारा पाठ बता देना आधुनिक शिक्षण युक्ति के विरुद्ध बात है। कभी-कभी सुझाव अथवा आधार देकर छात्रों से ही कथन सम्बन्धी बात प्रकाशित करा लेने से छात्रों की कल्पनाशीलता जग जाती है और वे कथन के प्रति विशेष सजग हो उठते हैं।

१०—कथन में अनावश्यक एवं अप्रासंगिक बातें या घटनाएँ नहीं लानी चाहिये और न अनावश्यक विस्तार होने देना चाहिये। समय का भी ध्यान रखना चाहिये जिससे पाठ निश्चित समय में समाप्त हो जाय।

११—कथन उपदेशात्मक नहीं होना चाहिये। कथन में व्यर्थ के उपदेश देने से बालक उदासीन हो जाते हैं और शिक्षक की नकल भी करने लगते हैं।

१२—कथन में उत्तरोत्तर उत्कर्ष लाना चाहिये। प्रारम्भ में ही बड़े बल से उच्च स्वर से कथन प्रस्तुत करने और फिर धीमापन आ जाने पर कथन प्रभावहीन हो जाता है। घटनाओं, भावों एवं विचारों के महत्त्व एवं उत्कर्ष का ध्यान रखते हुए कथन में भी इस उत्कर्ष को लाने का प्रयत्न करना चाहिए।

१३—कथन प्रस्तुत करने में उचित हाव-भाव, मुद्रा एवं भंगिमा का ध्यान रखना चाहिये। इससे कथन में थोड़ी अभिनयता आ जाती है और कथन सरस, सजीव और प्रभावपूर्ण हो जाता है। पर शिक्षक को यह ध्यान रखना चाहिये कि यह नाटकीयता अधिक न हो जाय। वाणी का चढ़ाव-उतार स्वर की विविधता का ध्यान रखना चाहिये पर भाव-भंगिमा की अतिशयता नहीं होनी चाहिये।

कहानी कहना

कथन का एक सबसे सरल, रोचक एवं बालकों के लिए प्रिय रूप कहानी कहना है। पूर्व माध्यमिक स्तर तक सामाजिक विषयों के शिक्षण में इनका विशेष प्रयोग होता है। भाषा में द्रुतपाठों की दृष्टि से कहानियाँ सबसे अधिक उपयोगी होती हैं। वैज्ञानिक कहानियों द्वारा बालकों में विज्ञान के प्रति रुचि जागरित करने में सहायता मिलती है। कहानी का सबसे बड़ा गुण उसका मनोरंजनात्मक पक्ष है। कहानियाँ मानव-सभ्यता के आदि काल से ही मनोरंजन एवं आनन्द का मुख्य साधन रही है। विद्वान्-मूर्ख, शिक्षित-अशिक्षित, बालक एवं वृद्ध

सभी को समान रूप से कहानी मंत्रमुग्ध कर लेती है। कहानी केवल मनोरंजन का ही साधन नहीं है बल्कि सूचना एवं शिक्षा प्रदान करने, नीति एवं सदाचार बताने की भी अच्छी युक्ति है। हमारे देश में मनोरंजन के लिए जहाँ बृहत्कथा-मंजरी और कथासरित्सागर सदृश रोचक कहानी-ग्रन्थ मिलते हैं वहाँ मानव व्यवहार सम्बन्धी नीति भरी उपदेशात्मक कहानियों के लिए पंचतंत्र एवं हितोपदेश जैसी रचनाएँ भी मिलती हैं। साथ ही जीवन एवं जगत के गूढ़ रहस्यों की मीमांसा करने वाली उपनिषदों की कहानियाँ भी हैं जिनके द्वारा सहज ही दार्शनिक रहस्यों को भी समझने में हम प्रवृत्त हो जाते हैं। इस प्रकार कहानी वह रोचक, प्रिय एवं सरल तथा सुबोधपूर्ण माध्यम है जिसके द्वारा हम ऊँची से ऊँची बात प्रकट कर सकते हैं।

कहानी का सबसे प्रमुख गुण है जिज्ञासा को जागरित किये रहना। बालक स्वभावतः जिज्ञासाप्रिय होता है और वह उस वृत्ति की तृप्ति चाहता है। इसलिए वह कहानी सुनने में तल्लीन हो जाता है और एकाग्रचित्त बना रहता है। कहानी में आगे की बात जानने के लिए बालक उत्सुक, आतुर और लालायित रहता है। इससे वह स्वयं जानने के लिए सक्रिय एवं सचेत मनःस्थिति बनाये रखता है।

बालक के पास प्रारम्भिक अवस्था में शब्द भण्डार का अभाव रहता है, सामान्य ज्ञान तथा अनुभवों का अभाव रहता है और मनोगत भावों, विचारों एवं अनुभूतियों के प्रकाशन की शक्ति का भी अभाव रहता है। इस अभाव को दूर करने के लिए सबसे उपयुक्त साधन कहानी है। कहानी द्वारा भाषा की शक्ति (भाव ग्रहण करने एवं भाव व्यक्त करने की शक्ति) अपने आप सहज रूप में विकसित हो जाती है।

कहानी-शिक्षण की उपयोगिता संक्षेप में निम्नलिखित हैं :—

१—सामान्य ज्ञान की वृद्धि—कहानी द्वारा मनोरंजनात्मक ढंग से ही बालक संसार के अनेक जीव-जन्तुओं के नाम तथा गुण-अवगुण से परिचित हो जाता है। सिंह हिंस्र पशु है, कुत्ता स्वामिभक्त होता है, लोमड़ी चालाक जानवर है, हिरन बहुत तेज दौड़ता है आदि बातें कितनी सरलता से उसे ज्ञात हो जाती हैं।

मानव-व्यवहार, सदाचार, शिष्टाचार, विविध परिस्थितियों में व्यावहारिक कुशलता एवं आचरण की रीति का ज्ञान बड़े ही सरल रूप से कहानी द्वारा प्राप्त हो जाता है।

२—तर्क, विवेक, संकल्प एवं कल्पनाशक्ति की अभिवृद्धि कहानियों द्वारा यथेष्ट मात्रा में होती है। बालकों में स्वयं रचना करने की शक्ति का उद्भव एवं विकास होता है। चित्रों एवं संकेतों के आधार पर वे घटना सूत्रों को समझने तथा नई कहानी रचने लगते हैं।

३—अवलोकन एवं निरीक्षण शक्ति का विकास होता है। कहानियों के कथानक विकास द्वारा बालकों में भी सूक्ष्मदर्शिता एवं अन्तर्दर्शिता का विकास होता है। बालकों में नवीन कल्पनाशक्ति जागरित हो जाती है।

४—भावों एवं विचारों को प्रभावपूर्ण ढंग से व्यक्त करने की क्षमता प्राप्त होती है। झिझक और संकोच की भावना दूर होती है। बोलने में स्वाभाविकता, सरसता एवं प्रवाह आ जाता है।

५—भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से उचित शब्दों और मुहावरों का ज्ञान होता है।

६—वक्ता और श्रोता के बीच घनिष्ठता एवं आत्मीयता की स्थापना का जितना अच्छा साधन कहानी है उतना और कोई साहित्यिक रूप नहीं है। अध्यापक अन्य प्रकार के वर्णन में छात्रों का आत्मीय नहीं बन पाता, परन्तु कहानी द्वारा वह उनमें घुल-मिल जाता है। कक्षा का वातावरण घर जैसा बन जाता है।

७—बच्चों में कहानी सुनने की उत्कण्ठा यदि पैदा हो जाती है तो वे पाठशाला आने के लिए सदा उत्सुक एवं तत्पर बने रहते हैं। कहानियों द्वारा पठन रुचि का विस्तार होता है और बालक पढ़ने में आनन्द लेने लगते हैं।

८—कहानियों से स्मरणशक्ति का विकास होता है। कहानी तो अपने आप स्मरण हो जाती है और उसके आनन्ददायक तत्वों के कारण बालक कहानी को स्मरण रखने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं जिससे वे दूसरों को वह कहानी सुना सकें। इससे स्मरणशक्ति से कार्य लेने का अभ्यास बढ़ता है।

कहानी कहने में ध्यान देने योग्य बातें—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो गया होगा कि शिक्षक के लिए कहानी कहने की कला में प्रवीण होना कितना आवश्यक है। कुछ शिक्षकों में तो यह गुण जन्मना होता है और वे इसके द्वारा कक्षा का मन मोह लेते हैं। किन्तु अन्य शिक्षकों को भी इस कला से परिचित होना चाहिये। कुछ बातों पर ध्यान देने से यह कला सीखी जा सकती है। ये बातें निम्नलिखित हैं :—

१—कहानी का चुनाव, उसकी भाषा एवं कथन का ढंग बालकों की

आयु, योग्यता, ज्ञान एवं अभिरुचि के अनुकूल हो जैसे प्रारम्भिक स्तर पर पशु-पक्षी सम्बन्धी काल्पनिक कहानियाँ, फिर आगे पौराणिक कहानियाँ, लोक-कथाएँ, साहसी यात्रा सम्बन्धी कहानियाँ, आविष्कार एवं अनुसंधान सम्बन्धी कहानियाँ, सामाजिक, पारिवारिक एवं मनोवैज्ञानिक कहानियाँ आदि उत्तरोत्तर क्रमिक रूप से कही जा सकती हैं।

२—कहानी सदा कही जाय, पढ़ी न जाय। यदि कहानी पढ़कर सुनाई जाती है तो बालकों की उत्कण्ठा, रुचि और लालसा समाप्त हो जाती है।

३—शिक्षक को कहानी अच्छी तरह ज्ञात होनी चाहिए और अपनी भाषा में कहानी सुनानी चाहिए। इससे कहानी में एक नवीनता आ जाती है।

कहानी के क्रमिक विकास एवं प्रत्येक घटना का ज्ञान होना चाहिये और पूरी तैयारी के बाद कहानी सुनना चाहिए। कक्षा में यह कहना कि 'अरे मैं यह कहना भूल गया' और फिर पीछे की बात सुनाना कहानी की रोचकता को नष्ट कर देता है। अतः कहानी आद्यंत क्रम से ज्ञात होनी चाहिए तभी कथा-प्रवाह सुसंबद्ध हो सकता है। कहीं भी बीच में असंबद्धता या रिक्तता नहीं आनी चाहिये।

४—शिक्षक को कहानी कहने में स्वयं आनन्द की अनुभव करना चाहिए। कहानी कहने वाला जब स्वयं कहानी में तन्मय हो जाता है तभी श्रोता भी उसमें तन्मय हो पाते हैं। शिक्षक के कथन के ढंग पर ही कहानी की रोचकता निर्भर करती है।

५—कहानी में कुछ स्थल बड़े ही मार्मिक होते हैं। ऐसे स्थल के वाक्य अपने मूल रूप में दोहराए जा सकते हैं, पर दोहराने में शब्दों को बदलना नहीं चाहिए।

६—कहानी में घटनात्मक स्थलों को जहाँ तक संभव हो अधिक से अधिक स्पष्ट रूप में चित्रित किया जाय। भाषा सरल एवं शुद्ध हो तथा बात-चीत के रूप में ही कहानी प्रस्तुत की जाय। भाषा के प्रवाह तथा ध्वनि के आरोह-अवरोह द्वारा कथन प्रभावपूर्ण बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

७—कहानी का वर्णन स्वाभाविक हो। जानबूझ कर नाटकीयता नहीं लानी चाहिए। उचित भाव-भंगिमा अवश्य अपनानी चाहिए। शिक्षक को स्वयं प्रफुल्ल मुद्रा में कहानी सुनानी चाहिए।

कहानी के भावात्मक स्थान, विनोदात्मक अथवा हसनात्मक स्थल को तदनुरूप प्रभावपूर्ण बनाने का प्रयत्न आवश्यक है। कथन में एकरसता नहीं

होनी चाहिए। हास्यरस की कहानी में छात्रों को हँसने का उचित अवसर देना चाहिए पर शिक्षक को स्वयं अट्टहास नहीं करना चाहिए। उसके लिए स्मित हास ही यथेष्ट है।

मध्यम गति से कहानी कहनी चाहिए। श्रोताओं के अनुसार ही अध्यापक को अपनी ध्वनि एवं गति निरूपित करना चाहिए।

८—कहानी कहते समय शिक्षक को इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि घटनाचित्र बालकों के मानसपटल पर खिंच जायँ। इसके लिए उसे अपनी कल्पनाशक्ति का प्रयोग करना चाहिए। वह अपने मनःचित्रों को जितना ही प्रेषणीय बना सकेगा उतना ही अपने उद्देश्य में सफल होगा।

९—कहानी सोद्देश्य होनी चाहिए और शिक्षक को यह ध्यान रखना चाहिए कि बालक उस उद्देश्य को समझ भी लें। विशुद्ध मनोरंजन ही कहानी का उद्देश्य नहीं होना चाहिए। कोई न कोई नैतिक, व्यावहारिक एवं सामाजिक कुशलता संबंधी अभिप्राय प्रकट होना चाहिए।

१०—कहानी कक्षा के स्तर को देखते हुए निरूपित कर लेनी चाहिए। एक ही कहानी यदि हमें विभिन्न कक्षा में सुनानी है तो उसका रूप एवं उसकी भाषा तदनुकूल बना लेनी चाहिए।

११—यदि कहानी बहुत प्रसिद्ध और बालकों के लिए परिचित है तो उसके कथन का ढंग बदल देना चाहिए। उदाहरणतः कहानी के ही किसी प्रमुख पात्र की आत्मकथा के रूप में कहानी कही जा सकती है। इससे कहानी में एक नवीनता आ जाती है।

१२—कहानी इस रूप में प्रस्तुत की जाय कि वह छात्रों को कार्य के लिए प्रेरित एवं स्फुरित करे। कहानी द्वारा प्रस्तुत आदर्शों एवं उद्देश्यों के लिए छात्र क्रियाशील हो उठे।

१३—कहानी में आवश्यकतानुसार सरल पद्यों का भी समावेश किया जा सकता है। पद्य के सुपाठ का प्रभाव छात्रों पर पड़ता है और कहानी के प्रति रुचि बढ़ जाती है।

१४—चित्रों के प्रयोग से कहानी में आकर्षण पैदा हो जाता है, क्योंकि चित्र कल्पना को जगाने में सहायक सिद्ध होते हैं। जो कथासूत्र केवल कथन द्वारा छात्रों के मनस्पटल पर चित्रित नहीं हो पाते, वे चित्रों द्वारा आसानी से चित्रित हो जाते हैं। नवीन कल्पनाओं की उद्भावना में भी वे सहायक होते हैं।

१५—कहानी अधिक लम्बी न होनी चाहिए, अन्यथा बालक आनन्द की जगह बोझिलता का अनुभव करने लगते हैं। यदि कहानी कुछ बड़ी है तो उसे कुछ खण्डों में विभाजित कर लेना चाहिए, किन्तु यह विभाजन ऐसा न हो कि सरसता भंग हो जाय। एक खण्ड या सोपान वर्णन कर लेने पर दो-एक प्रश्न भी पूछे जा सकते हैं और उसके द्वारा कथासूत्र को आगे बढ़ाने के लिए छात्रों को उत्प्रेरित किया जा सकता है।

वर्णन या विवरण

कथन के सदृश ही वर्णन या विवरण भी मौखिक रूप से किसी बात को कहने की एक विशेष युक्ति और इसका अपना महत्त्व है। वस्तुतः किसी व्यक्ति, वस्तु या घटना के शाब्दिक चित्रण को ही वर्णन की संज्ञा प्रदान की गई है। यह शाब्दिक चित्रण इस प्रकार होना चाहिए कि वर्णित वस्तु का स्वरूप, आकार-प्रकार बालकों के मनस्पटल पर अंकित हो जाय। वर्णन द्वारा शिक्षक बालक को इस रूप में कल्पनाप्रवण बना देता है कि बालक स्वयं ही सुने हुए शब्दों द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझ लेता है। यही वर्णन की विशेषता है। यदि शिक्षक के शब्दचित्र में इतनी शक्ति एवं सामर्थ्य नहीं है तो उसके वर्णन की कोई उपयोगिता नहीं है। नीरस एवं शिथिल वर्णन से छात्र भी शिथिलता का अनुभव करने लगते हैं और वे निष्क्रिय श्रोता मात्र रह जाते हैं। उनमें कोई प्रेरणा या कल्पना नहीं जगती और न वे सुने हुए शब्दों द्वारा भावों एवं विचारों का कोई मानसिक चित्र ही बना पाते हैं।

वर्णन का प्रयोग—पाठ्यक्रम में कोई भी ऐसा विषय नहीं है जिसके शिक्षण में वर्णन की आवश्यकता न पड़ती हो। यह एक ऐसी युक्ति है जो अनेकानेक परिस्थितियों में शिक्षक के लिए बहुत सहायक सिद्ध होता है। इतिहास का अध्यापक अतीत के घटनाचित्र को बालक के मन में साकार करना चाहता है, भूगोल का अध्यापक विश्व के किसी सुदूरवर्ती प्रदेश के जीवन का विवरण प्रस्तुत करना चाहता है, साहित्य का शिक्षक किसी प्राकृतिक सुषमा का मनोहर चित्रण करना चाहता है, विज्ञान का शिक्षक वैज्ञानिक उपकरणों का ठीक-ठीक स्वरूप अंकित करना चाहता है। ये सभी बातें शिक्षक की वर्णन-पटुता पर निर्भर है। यदि वह वर्णन को रोचक और सजीव बना सकता है तभी वह शिक्षार्थियों के मनस्पटल पर इनका वास्तविक चित्र अंकित कर सकता है। टी० रेमाण्ट का यह कथन ठीक ही है कि सभी अवस्थाओं में मूलभूत अभिप्राय यह रहता है कि शिक्षार्थी अनुभव का एक निश्चित मानसिक चित्र बना लेने में

सफल हो जायँ[1]। यदि यह मानसिक चित्र नहीं बन पाता है तो वर्णन सफल नहीं कहा जायगा। जिस प्रकार संगीतज्ञ के लिए श्रवण मानसिक चित्र की शक्ति आवश्यक है उसी प्रकार शिक्षार्थी के लिए दृश्य मानसिक चित्र की शक्ति। शिक्षक के वर्णन में इस शक्ति को प्रदान करने की क्षमता होनी चाहिए।

वर्णन में कुछ ध्यान देने योग्य बातें—वर्णन करते समय शिक्षक का यह उद्देश्य रहता है कि वह वस्तु या घटना का शब्द चित्र इस प्रकार प्रस्तुत करे कि छात्र उसका मानसिक चित्र स्मरण रखें। इसके लिए शिक्षक को निम्नलिखित बातें अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए :—

१—वर्णन में सबसे पहली आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षक के मन में वर्णन की जाने वाली वस्तुओं, घटनाओं अथवा स्थानों का स्पष्ट चित्र रहना चाहिए। तभी वह इनका स्पष्ट एवं शुद्ध चित्र छात्रों के मन में अंकित कर सकेगा।

२–वर्णन की सबसे बड़ी विशेषता है संप्रेषणीयता[2] अर्थात् अपनी अनुभूति को छात्रों तक इस रूप में पहुँचाना कि वे उसे आत्मसात कर लें और वही अनुभूति उन्हें हो जाय। बालक अपने अनुभवों के प्रकाश में ही वर्णन का तात्पर्य ग्रहण करता है, अतः शिक्षक को इस संप्रेषणीयता का सदा ध्यान रखना चाहिए।

संप्रेषणीयता की दृष्टि से भाषा का सबसे अधिक महत्त्व है। सरल, शुद्ध एवं उपयुक्त शब्द चयन द्वारा ऐसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए कि बालक उसे अच्छी तरह समझ सकें और वस्तु का यथार्थ चित्र ग्रहण कर सकें।

३—वर्णन में अज्ञात वस्तुओं का चित्र ज्ञात वस्तुओं के प्रकाश में अथवा सादृश्य द्वारा स्पष्ट करना चाहिए। किन्तु ज्ञात का चुनाव इस सावधानी से होना चाहिए कि बालक सरलतापूर्वक अज्ञात वस्तु का सम्बन्ध जोड़ सकें और अज्ञात का सही अनुमान कर लें। उदाहरणतः पृथ्वी नारंगी के सदृश है, पर्वत चट्टान की बहुत ऊँची दीवाल के सदृश है।

४—वर्णन बहुत विस्तृत नहीं होना चाहिए। विस्तृत वर्णन से बालकों का ध्यान भंग हो जाता है और एकाग्रचित्त से वे शिक्षक की सभी बातें ग्रहण नहीं कर पाते, उन्हें अरुचि हो जाती है और पाठ के प्रति तन्मयता समाप्त हो

---

1. In each case the underlying motive is to ensure that learners get a definite mental picture of a certain experience."
2. Communicability.

जाती है। अतः अनावश्यक, अनुपयुक्त एवं अप्रासंगिक बातों तथा भाषा का कलेवर हटाकर वांछित बातों का ही वर्णन करना चाहिए। इससे मुख्य विषय ओझल नहीं हो पाता, अर्थात् वर्णन संक्षिप्त होना चाहिए।

वर्णन की संक्षिप्तता पर भी शिक्षक को विचार कर लेना चाहिए। वह इतना छोटा नहीं होना चाहिए कि उसका बालकों के ऊपर कोई प्रभाव ही न पड़े और महत्त्वपूर्ण बातें छूट जायँ अथवा जो विचार प्रस्तुत करना चाहते हैं वह अच्छी तरह स्पष्ट न हो। अतः स्पष्टता, शुद्धता और ग्राह्यता का ध्यान रखते हुए ही वर्णन का कलेवर निश्चित करना चाहिए। इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि बालक वर्णन सुनने की आवश्यकता अवश्य ही अनुभव करें।

५—जब केवल भाषा द्वारा ही वस्तु या विचार का स्पष्ट मानसिक चित्र अंकित करना सम्भव न हो तो सहायक शिक्षण सामग्री का प्रयोग अवश्य करना चाहिए। वर्णन में नमूना, रेखाचित्र, मानचित्र, चार्ट, श्यामपट्ट आदि के प्रयोग द्वारा हम अधिक स्पष्ट एवं सही चित्र दे सकते हैं। तुलना और उदाहरण द्वारा भी वर्णन को सजीव रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

६—वर्णन बालकों के बौद्धिक स्तर के अनुकूल होना चाहिए। अपने बौद्धिक स्तर से ऊँची बातें बालक ग्रहण नहीं कर पाते अतः ऐसा वर्णन बोझिल हो उठता है। यदि वर्णन बौद्धिक स्तर से निम्नकोटि का होता है तो बालक उसमें रुचि नहीं रखते और उनका ध्यान इधर-उधर बँटा रहता है।

पाठ-योजना तैयार करते समय ही शिक्षक को यह निश्चय कर लेना चाहिए कि किस स्थान पर वर्णन करना उपयुक्त होगा। जब तक बालकों के योग से प्रश्नोत्तर द्वारा पाठ विकसित हो रहा है तब तक वर्णन नहीं करना चाहिए।

८—वर्णन में वस्तु का पूर्ण चित्र प्रस्तुत करके उसके विविध अवयवों या अंगों का चित्र प्रस्तुत करना चाहिए। इससे बालक किसी भी वस्तु का विस्तृत वर्णन सुनना पसन्द करते हैं। यदि पहले अवयवों से ही वर्णन प्रारम्भ किया जाता है तो बालक उस वस्तु के पूर्ण स्वरूप का चित्र नहीं बना पाते।

९—क्रमयुक्तता एवं सुसम्बद्धता वर्णन की आवश्यक विशेषता है। शिक्षक को पूर्व तैयारी में ही सभी बातें क्रमायोजित कर लेनी चाहिए और फिर सुसम्बद्ध रूप से उन्हें प्रस्तुत करनी चाहिए।

१०—यह बात सदा स्मरण रखनी चाहिए कि वर्णन स्वतः साध्य नहीं है अपितु वह नूतन ज्ञान प्रदान करने का साधन है। अतः मनोरंजन के लिए

ही वर्णन नहीं होना चाहिए। बालक नई बातें सीख लें, इसे ध्यान में रखकर वर्णन करना चाहिए।

व्याख्या

भाषा एवं अर्थ की दृष्टि से किसी कठिन बात को सरल करके समझाना ही व्याख्या है। पाठ में आए हुए प्रत्येक कठिनाई या जटिलता को इस रूप में स्पष्ट करना कि बालक उसे तत्काल ग्रहण कर लें, व्याख्या का उद्देश्य है। वर्णनात्मक पाठों, उदाहरणतः सामाजिक विषयों में व्याख्या की आवश्यकता कम पड़ती है किन्तु भाषा के शिक्षण में इसका प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक होता है। विज्ञान एवं गणित के पाठों में सिद्धान्तों, सूत्रों एवं नियमों को समझाने के लिए व्याख्या की आवश्यकता पड़ती है। सूत्रों को समझाने के लिए प्रतीकात्मक भाषा को सरल, सुबोधपूर्ण और विश्लेषणात्मक रूप में प्रस्तुत करना पड़ता है। इसी प्रकार नियमों या सिद्धान्तों को भी उदाहरण द्वारा स्पष्ट करके समझाना पड़ता है। भाषा के पाठों में शाब्दिक कठिनाइयों को समझाने के साथ-साथ भावों एवं विचारों की कठिनाइयाँ भी सुलझानी पड़ती हैं। अतः व्याख्या एक ऐसी युक्ति है जिसके बिना हमारा शिक्षण बालकों के लिए सुग्राह्य एवं सफल नहीं हो सकता।

व्याख्या करने में वही शिक्षक सफल हो सकता है जिसका भाषा पर अधिकार हो और शब्द-भण्डार प्रचुर एवं व्यापक हो। उसे अपने विषय का अच्छा ज्ञान हो और अन्य विषयों का भी सामान्य ज्ञान हो जिससे समय पर उनका उपयोग कर सके। शिक्षक में यह क्षमता भी होनी चाहिए कि वह यथा प्रसंग आवश्यक उदाहरणों का प्रयोग कर सके।

व्याख्या करने में ध्यान देने योग्य बातें—व्याख्या करते समय शिक्षक को निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए :—

१—व्याख्या में शुद्ध एवं सरल से सरल भाषा का प्रयोग करना चाहिए अन्यथा व्याख्या का उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। कुछ शिक्षकों में व्याख्या करते समय भी क्लिष्ट शब्दावली के प्रयोग का मोह बना रहता है। यह दृष्टिकोण सर्वथा त्याज्य है। सरल एवं छोटे-छोटे वाक्यों में व्याख्या प्रस्तुत करने से बालक आसानी से विचारों एवं भावों को ग्रहण कर लेते हैं।

२—व्याख्या का उद्देश्य सदा ही गुत्थियों एवं जटिलताओं को स्पष्ट करना होता है। अतः शिक्षक को यह ध्यान रखना चाहिए कि उसकी व्याख्या स्पष्ट हुई है या नहीं। व्याख्या में क्रमयुक्तता एवं सुसम्बद्धता आवश्यक है, तभी

विषय की स्पष्टता बनी र ी है। शिक्षक को स्पष्टता का तात्पर्य बालक की योग्यता एवं ग्रहण शक्ति के अनुसार ही लेना चाहिए, अपनी दृष्टि से नहीं। कभी-कभी शिक्षक अनेक बातों को इसलिए सरल रूप से स्पष्ट नहीं करते कि उन्हें अपनी दृष्टि से कोई कठिनाई नहीं प्रतीत होती।

३—व्याख्या इतनी अधिक लम्बी नहीं होनी चाहिए कि बालक उससे ऊब जायँ और न इतनी कम ही होनी चाहिए कि विषय की गुत्थी ही न सुलझ सके। व्याख्या में व्यर्थ कलेवर वृद्धि का प्रयास अरुचिकर हो जाता है। प्रसंगानुकूल उचित मात्रा में ही व्याख्या होनी चाहिए।

४—कठिनाई उपस्थित होने पर ही व्याख्या करनी चाहिए। जो बातें बालक स्वयं ही समझ सकते हैं, उन्हें बढ़ा-चढ़ाकर दूसरे शब्दों में प्रस्तुत करना व्याख्या का दुरुपयोग करना है। शिक्षक कुछ प्रश्नों द्वारा समझ सकता है कि बालक कहाँ समझ रहे हैं और कहाँ नहीं समझ रहे हैं। अतः कठिनाई उपस्थित होने पर उसे स्पष्ट करना चाहिए। व्याख्या आगे के लिए कभी स्थगित नहीं करना चाहिए। प्रसंग उपस्थित होते ही स्पष्टीकरण कर देना चाहिए अन्यथा आगे की बात भी बालक नहीं समझ पाते।

५—व्याख्या करने के पहले विचार-प्रेरक प्रश्नों द्वारा छात्रों को स्वयं अर्थ एवं भाव ग्रहण के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। यदि वे स्वयं ही अर्थ निकाल लेते हैं तो उन्हें बहुत आनन्द आता है। इस पर यदि वे पूरी बात न समझ सकें तो शिक्षक को अवश्य ही स्पष्ट व्याख्या कर देनी चाहिए।

६—व्याख्या को रोचक एवं सजीव बनाने के लिए आवश्यक उदाहरणों, दृष्टांतों एवं अन्य शिक्षण सामग्रियों का प्रयोग करना चाहिए।

७—व्याख्या के बीच में छात्रों को प्रश्न पूछने अथवा अपनी कठिनाई प्रस्तुत करने का अवसर देना चाहिए। विद्यार्थियों की शंकाओं का निराकरण करने से व्याख्या अधिक सुबोधपूर्ण हो जाती है।

८—व्याख्या आरम्भ करते समय मुख्य विषय की ओर बालकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहिए जिससे वे अच्छी प्रकार समझ लें कि किस स्थल या प्रसंग की व्याख्या की जा रही है।

९—व्याख्या उपदेशात्मक नहीं होनी चाहिए। वह विषय को स्पष्ट करने का एक साधन या युक्ति मात्र है, स्वतः कोई साध्य नहीं है।

१०—व्याख्या के अन्त में प्रश्नों द्वारा यह जाँच कर लेनी चाहिए कि

छात्रों ने ग्रहण कर लिया है। यदि कुछ कमी प्रतीत हों तो पुनः समझा देना चाहिए।

भाषा शिक्षण में व्याख्या करने की विधियाँ—यह लिखा जा चुका है कि भाषा शिक्षण में व्याख्या का विशेष रूप से अधिक प्रयोग करना पड़ता है। शब्दों की क्लिष्टता, भावों एवं विचारों की दुरूहता दूर करने के लिए व्याख्या आवश्यक युक्ति है।

कठिन शब्दों के अर्थ बताने की अनेक विधियाँ हैं जैसे—

१—पर्यात अथवा समानार्थी शब्दों द्वारा—अर्थ बताने की परम्परागत विधि यही है कि हम कठिन शब्द का कोई सरल पर्यायवाची शब्द बता देते हैं; वसुन्धरा-पृथ्वी, भास्कर-सूर्य आदि। इससे बच्चों का शब्द-भण्डार बढ़ता है और वे एक अर्थ वाले अनेक शब्दों से परिचित हो जाते हैं।

२—विलोम द्वारा जैसे अनुराग, विराग, मन्द, तीव्र, हर्ष, विषाद आदि।

३—सहचर शब्दों के उदाहरण—सहचर शब्द कभी तो विपरीतार्थक होते हैं जैसे स्वर्ग-नरक, राग-द्वेष; कभी मिलते-जुलते अर्थ वाले जैसे ईर्ष्या-द्वेष, अन्वेषण, आविष्कार; कभी भिन्न अर्थ वाले पर उच्चारण में मिलते-जुलते जैसे अनल-अनिल, वसन-व्यसन आदि।

४—अनेकार्थी शब्दों का ज्ञान—जहाँ एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं वहाँ प्रस्तुत प्रसंग का अर्थ विशेष रूप से बताना चाहिए और आवश्यकतानुसार अन्य अर्थ भी स्पष्ट कर देना चाहिए।

५—वाक्य प्रयोग द्वारा—शब्द का वाक्य में प्रयोग करने से भी कभी-कभी अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

६—परिभाषा या व्याख्या द्वारा—कभी-कभी कठिन शब्द का पर्याय न मिलने पर उसकी परिभाषा या विशेष स्पष्टीकरण द्वारा अर्थ बताना पड़ता है जैसे अध्यात्म, पुरुषार्थ आदि।

७—प्रतीकात्मक शब्दों का अर्थ समझाना—किसी विशेष वस्तु या भाव के लिए प्रयुक्त शब्द का अर्थ मूल वस्तु या भाव को ही प्रस्तुत करके बता दिया जाय जैसे ऊषा का अर्थ प्रसन्नता या प्रफुल्लता से, रात्रि का अर्थ दुख से, अंधकार का अर्थ अज्ञान से, प्रकाश का अर्थ सुख या ज्ञान से आदि।

यदि कोई शब्द किसी मूर्त्तमान वस्तु का प्रतीक बनकर आया है तो उस

वस्तु का परिचय देना उपयुक्त होगा। यदि प्रत्यक्ष वस्तु का परिचय संभव न हो तो श्यामपट्ट पर उसके रेखाचित्र द्वारा उसका स्वरूप बताया जा सकता है।

यदि कठिन शब्द क्रियार्थक है तो उचित भाव-भंगिमा या अभिनय द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

८—व्युत्पत्ति द्वारा—कुछ कठिन शब्दों का अर्थ उनके मूल रूप को जिनसे वे निकले हैं सामने रखकर स्पष्ट किया जा सकता है।

९—खण्ड द्वारा—दो शब्दों से बने हुए शब्दों को विग्रह द्वारा अलग-अलग कर देने से अर्थ अपने आप स्पष्ट हो जाता है। खण्ड द्वारा शब्दार्थ स्पष्ट करने में अनेक उपायों से काम लेना पड़ता है जैसे समास-विग्रह, संधि-विच्छेद उपसर्ग एवं प्रत्ययों को पृथक् करके समझाना आवश्यकतानुसार संधि-विच्छेद, समास-विग्रह, अथवा उपसर्ग और प्रत्यय अलग कर देने से अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

१०—भाषान्तर द्वारा—किसी दूसरी भाषा के कठिन शब्द को मातृ-भाषा के समानार्थी शब्द द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

११—शाब्दिक उदाहरण—किसी घटना सादृश्य, अन्तःकथा, कहानी, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि की सहायता से भी कठिन भावों की व्याख्या सरल हो जाती है। शाब्दिक कठिनाइयों को उपर्युक्त विधियों से दूर करने के अतिरिक्त भावों एवं विचारों की दुरूहता को स्पष्ट करने की भी विधि शिक्षक को ज्ञात रहनी चाहिए। इसके लिए प्रायः वर्णन का आश्रय लेना पड़ता है। यह क्लिष्ट भावों एवं विचारों को क्रम से अलग-अलग रखकर समझाता है। इस स्पष्टी-करण में भाषा की सरलता एवं छोटे-छोटे वाक्यों की रचना आवश्यक होती है। इसके अतिरिक्त कहानी, घटना-विवरण, अन्तःकथा, सादृश्य, सूक्तियों एवं कहावतों के प्रयोग से कठिन भावों एवं विचारों की व्याख्या में विशेष सहायता मिलती है। शिक्षक को इन विधियों द्वारा अपनी व्याख्या सुग्राह्य, सजीव एवं रोचक बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

निर्दर्शन

पाठ विकास में नवीन ज्ञान एवं सूचनाएँ प्रदान करने के लिए निर्दर्शन एक आवश्यक युक्ति है। निर्दर्शन वस्तुतः कथन एवं वर्णन के ही समान विषय-प्रतिपादन के लिए मौखिक अभिव्यक्ति का साधन है। एक रोचक, सजीव, स्पष्ट एवं सुबोधपूर्ण वर्णन को ही निर्दर्शन की संज्ञा दी गई है। भाषा एवं भाव-ग्रहण की कठिनाई तो दूर करने के लिए अध्यापक व्याख्या की युक्ति

अपनाता है, किन्तु विषय को भली भाँति प्रतिपादित करने और क्रमबद्ध एवं तर्कयुक्त ढंग से प्रस्तुत करने के लिए निर्दर्शन युक्ति को अपनाता है। विज्ञान के पाठों में निर्दर्शन-युक्ति का विशेष प्रयोग होता है क्योंकि इस विषय में कार्य-कारण सम्बन्ध को अच्छी तरह समझकर ही सिद्धान्तों को समझा जा सकता है। निर्दर्शन की दृष्टि से निम्नांकित बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है :—

१—पाठ का उद्देश्य अच्छी तरह कक्षा के सम्मुख स्पष्ट कर देना चाहिए।

२—इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए विषय का निर्दर्शन होना चाहिए जिससे उद्देश्य की प्राप्ति हो सके। जिस ज्ञान, कुशलता क्षमता या अभ्यास को देना हमारा उद्देश्य है, वह उद्देश्य निर्दर्शन के अन्त में यदि प्राप्त हो जाता है तो निर्दर्शन सफल माना जायगा।

३—निर्दर्शन तर्कयुक्त एवं क्रमबद्ध होना चाहिये। भाषा सरल एवं बालकों के मानसिक स्तर के अनुकूल हो।

४—गति सामान्य हो। छात्रों की योग्यता के अनुसार ही मन्द या तीव्र गति अपनाई जाय।

५—पाठ का केन्द्रीय भाव मुख्य रूप से स्पष्ट करना चाहिए और फिर उससे संबंधित अन्य प्रासंगिक बातें समझानी चाहिये।

६—विषय को स्पष्ट करने के लिए श्यामपट्ट पर प्रमुख तथ्यों या संकेतों का उल्लेख करना चाहिये।

७—निर्दर्शन पाठ के मुख्य भावों एवं तथ्यों पर ही आधारित होना चाहिये। विषयांतर से शिक्षक को सदा ही बचना चाहिये। प्रसंगानुकूल निर्दर्शन ही पाठ-विकास की दृष्टि से वांछित और अपेक्षित है। निर्दर्शन इस रूप में होना चाहिए कि बालकों को भी तर्क एवं चिन्तन करने की प्रेरणा मिले।

८—निर्दर्शन को स्पष्ट, रोचक एवं सुग्राह्य बनाने के लिये शैक्षिक उपकरणों, दृष्टान्तों एवं उदाहरणों का भली भाँति प्रयोग करना चाहिये।

९—निर्दर्शन करते समय यथाप्रसंग प्रश्न पूछकर छात्रों को विषय के प्रति उद्बुद्ध करते रहने का प्रयत्न आवश्यक है। प्रश्नों द्वारा शिक्षक को यह पता चल जाता है कि बालक कहाँ तक उसका अनुसरण कर रहे हैं। इसी आधार पर शिक्षक निर्दर्शन की प्रकिया आगे बढ़ाता है। अंत में भी प्रश्नों द्वारा पाठ की आवृति करा लेनी चाहिये।

व्याख्यान

व्याख्यान भी वर्णनात्मक युक्ति का ही एक रूप है किन्तु उपर्युक्त

चारों रूपों—कथन, वर्णन, व्याख्या एवं निर्दर्शन में शिक्षक छात्रों का सक्रिय सहयोग प्राप्त करने के लिये भी प्रयत्नशील रहता है और सदा इस बात का ध्यान रखता है कि विषय सामग्री छात्र अवश्य ग्रहण करते चलें। माध्यमिक कक्षाओं के शिक्षण में यही चारों रूप अपनाए जाते हैं। किन्तु जब शिक्षक स्वयं ही विषय सामग्री भाषण के रूप में प्रस्तुत करता है, छात्र निष्क्रिय श्रोता बने रहते हैं तो यह वर्णन व्याख्यान-प्रणाली बन जाती है। विश्वविद्यालयों में इस प्रणाली का अनुसरण विशेष रूप से किया जाता है। पर हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि माध्यमिक स्तर पर शिक्षार्थी का बौद्धिक विकास ऐसा नहीं रहता कि वह शिक्षक के इस प्रवाहपूर्ण भाषण को ग्रहण करता चले।

व्याख्यान प्रणाली में सबसे बड़ा दोष यह है कि पाठ विकास में छात्रों का कोई सक्रिय सहयोग नहीं रहता और इसी कारण वे ठीक से उस ज्ञान को नहीं प्राप्त कर पाते। शिक्षण (teaching) एवं अधिगम (learning) दोनों एक साथ होने चाहिए अर्थात् शिक्षक जो कुछ कहे, बालक उसे सीखते चलें किन्तु व्याख्यान प्रणाली में केवल शिक्षक ही सक्रिय रहता है, शिक्षार्थी निष्क्रिय रहते हैं। इस प्रणाली में बालकों की रुचि, जिज्ञासा, ग्रहणशक्ति एवं मानसिक प्रगति का कोई ध्यान नहीं रहता। परिणामतः बालकों को स्वानुभव एवं क्रियात्मक ज्ञान का अवसर नहीं मिलता। स्वयं सीखने (self learning) का अवकाश इस प्रणाली में बिलकुल ही नहीं रहता। पाठ बोझिल हो जाता है और बालक अपने स्थानों पर ऊँघते रहते हैं। जो थोड़ा-बहुत शब्द ज्ञान बालकों को प्राप्त होता है वह भी शीघ्र ही विस्मृत हो जाता है क्योंकि इस प्रणाली में उन्हें कुछ जानने के लिए आत्म प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

माध्यमिक स्तर पर शिक्षण युक्ति की दृष्टि से व्याख्यान प्रणाली उपयुक्त प्रणाली नहीं है। सरलता के कारण कुछ शिक्षक इसका प्रयोग करते रहते हैं पर उन्हें यथाशीघ्र ही इसे छोड़कर अन्य वर्णनात्मक युक्तियों-कथन, वर्णन, व्याख्या एवं निर्दर्शन में से ही आवश्यकतानुसार किसी का प्रयोग करना चाहिए।

पाठ्य पुस्तक युक्ति

पाठ्य पुस्तक प्रणाली एक परम्परागत प्रणाली है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक शिक्षण प्रणालियों के प्रवर्तन के पहले पाठ्य पुस्तकों को कक्षा में पढ़ा देना ही शिक्षण कहा जाता था। शिक्षक न तो प्रश्न और उत्तर की झंझट में पड़ते हैं और न वर्णनात्मक युक्तियों के ही। वे कक्षा में कभी तो स्वयं ही पुस्तक पढ़कर समझाते जाते हैं अथवा कुछ छात्रों द्वारा पुस्तक पढ़ाकर कठिन अंशों को स्पष्ट करते जाते हैं। यह युक्ति बहुत ही दोषपूर्ण है। इसमें बालकों का अवधान पाठ की ओर केन्द्रित नहीं हो पाता। बालकों की रुचि और प्रवृत्ति का भी

कोई ध्यान नहीं रखा जाता और शिक्षक पाठ्य पुस्तक को समझा देने में ही अपना कर्त्तव्य पूरा मान लेते हैं। बालकों के लिए पुस्तक भारस्वरूप बन जाती है और उसे आद्योपान्त रटने में ही वे अपनी सफलता मानते हैं। यह युक्ति अमनोवैज्ञानिक है और आधुनिक शिक्षण सिद्धान्तों के विरुद्ध पड़ती है। कक्षा का वातावरण नीरस एवं निर्जीव-सा रहता है।

इस युक्ति का सबसे बड़ा दोष यह है कि बालक पुस्तकीय कीड़ा बन जाता है और उसके ज्ञानार्जन की सीमा पुस्तक तक ही रह जाती है। विचार एवं तर्कशक्ति का विकास नहीं हो पाता और न वे स्वयं निरीक्षण, अनुभव एवं क्रियाशीलता के आधार पर नवीन ज्ञानार्जन के लिए प्रयत्नशील हो पाते हैं। अतः पाठ्य पुस्तक युक्ति के लिए आधुनिक शिक्षण में कोई स्थान नहीं है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त युक्तियों—प्रश्नोत्तर, वर्णनात्मक, व्याख्यानात्मक, पाठ्य पुस्तक प्रणाली के विचारपूर्ण अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अध्यापक को कक्षा की स्थिति, बालकों के मानसिक एवं बौद्धिक स्तर, पाठ के प्रकार एवं आवश्यकता के अनुसार इन युक्तियों का उचित प्रयोग करना चाहिए। एक ही पाठ में प्रश्नोत्तर एवं वर्णनात्मक दोनों की आवश्यकता पड़ सकती है और कभी-कभी पाठ्य पुस्तक का भी सहारा लेना पड़ता है। भाषा के पाठों में पाठ्य पुस्तक की बहुत आवश्यकता पड़ती है। अतः इन विविध युक्तियों का सापेक्षिक महत्त्व समझते हुए एक अथवा एकाधिक का प्रयोग करना चाहिए। वस्तुतः शिक्षक ही इसका उपयुक्त निर्णायक है कि किस अवसर पर किस युक्ति का प्रयोग किया जाय।

धारणा सहायक युक्तियाँ

उपर्युक्त युक्तियों का विशेष महत्त्व मुख्यतः पाठ का विकास करने एवं नूतन ज्ञान प्रदान करने की दृष्टि से अधिक है। किन्तु पाठ अथवा नवीन ज्ञान को बालकों के मस्तिष्क में अच्छी तरह जमाने के लिए शिक्षक को कुछ और युक्तियों का भी सहारा लेना पड़ता है। इनके प्रयोग से कक्षा में बालकों द्वारा सीखा हुआ ज्ञान या कौशल स्थायी सुदृढ़ एवं पक्का हो जाता है। ये युक्तियाँ मुख्यतः निम्नलिखित हैं :—

१ –पुनरावृत्ति,[1] २—अभ्यास कार्य,[2] ३—गृहकार्य,[3] ४—समीक्षा[4]।

---

1. Recapitulation
2. Exercises
3. Home task
4. Review.

इन युक्तियों का प्रयोग पाठों के प्रकार पर निर्भर है। किस पाठ में इनमें से किस युक्ति का प्रयोग आवश्यक होगा, इसे हम विभिन्न पाठों के रूप को समझकर निर्धारित कर सकते हैं। आगे पाठों के प्रकार एवं कक्षा में पाठ-शिक्षण का उल्लेख करते समय इन युक्तियों का भी विवेचन किया जायगा। फिर भी यहाँ इनका संक्षिप्त अवलोकन आवश्यक है।

पुनरावृत्ति

कक्षा में पाठ-शिक्षण के पश्चात् पुनरावृत्ति आवश्यक है क्योंकि इसके द्वारा नया सीखा हुआ ज्ञान अच्छी तरह जम जाता है। पुनरावृत्ति से यह ज्ञात हो जाता है कि छात्रों ने पाठ कहाँ तक ग्रहण किया है और किस अंश को ग्रहण करने में वे असफल रहे हैं। जो अंश बालकों की समझ के नहीं आया है, उसे शिक्षक पुनः प्रश्नों द्वारा अथवा वर्णन द्वारा अथवा उदाहरणों द्वारा समझा सकता है। इस प्रकार पाठ का सम्पूर्ण अंश अच्छी तरह सभी विद्यार्थियों की समझ में आ जाता है। पुनरावृत्ति के अभाव में शिक्षक यह नहीं समझ पाता कि वस्तुतः बालकों ने प्रस्तुत पाठ सीख लिया या नहीं।

पुनरावृत्ति का तात्पर्य यह नहीं है कि सम्पूर्ण पाठ ज्यों का त्यों दोहरा दिया जाय। शिक्षक को ऐसे विचारप्रेरक एवं भावप्रेरक प्रश्न पूछने चाहिए कि बालकों को सोच-समझ कर उत्तर देना पड़े और यह पता चल जाय कि जिन विशिष्ट उद्देश्यों को दृष्टि में रखकर पाठ पढ़ाया गया है, उनकी पूर्ति हो गई है या नहीं। यदि पाठ द्वारा किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है तो उसके व्यावहारिक एवं प्रयोगात्मक पक्ष पर पुनरावृत्ति में प्रश्न पूछे जा सकते हैं। पढ़ाते समय जिन प्रश्नों द्वारा पाठ का विकास किया जाता है, उन प्रश्नों को पुनरावृत्ति में कदापि नहीं पूछना चाहिए। इससे छात्र ज्यों का त्यों पढ़ा हुआ उत्तर दोहरा देते हैं। पुनरावृत्ति में बालकों को ऐसा कार्य दिया जा सकता है जिससे यह जाँच हो सके कि बालकों ने पाठ समझ लिया है।

अभ्यास कार्य

अभ्यास कार्य का भी उद्देश्य शिक्षण द्वारा प्रदत्त ज्ञान अथवा कौशल को पक्का करना और स्थायी बनाना रहता है। इसके द्वारा बालक अर्जित ज्ञान का प्रयोग करना सीख जाता है और नई-नई परिस्थितियों में भी उसका प्रयोग करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है।

अभ्यास कार्य देते समय यह सावधानी रखनी चाहिए कि जो ज्ञान बालक अर्जित कर चुका है और विषय-वस्तु अच्छी तरह समझ चुका है, उसी

पर अभ्यासकार्य दिया जाय अन्यथा बालक के लिए उलझन उत्पन्न हो जाती है और वह कार्य अरुचिकर हो उठता है।

अभ्यासकार्य बालक के वास्तविक एवं व्यावहारिक जीवन से सम्बन्धित होना चाहिए। ऐसे अभ्यासकार्य जिनका सम्बन्ध बालक के जीवन तथा वातावरण से नहीं होता, शैक्षिक दृष्टि से उपयोगी नहीं सिद्ध होते। अभ्यासकार्य खानापूर्ति के लिए नहीं होना चाहिए बल्कि सोद्देश्य होना चाहिए और उसके द्वारा बालकों को अपने अर्जित ज्ञान के समुचित प्रयोग का अवसर मिलना चाहिए।

गृहकार्य

अभ्यासकार्य की ही भाँति गृहीत ज्ञान को स्थायी और सुदृढ़ बनाने का एक मुख्य साधन गृहकार्य भी है। प्रत्येक प्रकार के पाठ में इसकी आवश्यकता पड़ती है। शिक्षक पढ़ाए हुए पाठ के आधार पर बालकों को घर से काम करके ले आने के लिए कहता है और दूसरे दिन उसे देखता है। इससे बालकों को अर्जित ज्ञान के प्रयोग का अवसर मिलता है और उसका अभ्यास हो जाता है। गृहकार्य एवं अभ्यासकार्य में अन्तर यह होता है कि अभ्यासकार्य कक्षा में ही दिया जाता है और इसका संशोधन भी वहीं हो जाता है जब कि गृहकार्य में बालक घर से काम करके दूसरे दिन ले आते हैं और तब शिक्षक उसका संशोधन करता है।

इधर यह विषय विवादग्रस्त हो गया है कि बालकों को गृहकार्य दिया जाय या नहीं। कुछ विचारकों का कथन है कि दिन के ५-६ घन्टे कार्य करने के बाद बच्चों को गृहकार्य के लिए विवश करना अनुचित और भारतुल्य है। प्रसिद्ध शिक्षा विशारद ब्रे का कहना है कि गृहकार्य, परीक्षा में सफलता प्राप्त करने की दृष्टि से भले ही कुछ लाभ प्रद हो, अन्यथा इससे हानि ही हानि होती है। किन्तु इसके विपरीत अनेक विचारकों का यह कथन है कि गृहकार्य के बिना बालक के ज्ञान में परिपक्वता नहीं आ सकती। व्यावहारिक दृष्टि से गृहकार्य की उपयोगिता को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। गृहकार्य के पक्ष में मुख्यतः निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं :—

क—कक्षा में बालक प्रतिदिन अनेक विषय की शिक्षा ग्रहण करता है और नई-नई बातें सीखता है। पर उन्हें वह एक बार में ही भली भाँति आत्मसात नहीं कर पाता और यदि उसे दुहरा न ले तो भूल जाने की सम्भावना बनी रहती है। अतः आवश्यक है कि कक्षा में पढ़ी हुई बातों को वह दोहरा ले। यह गृहकार्य द्वारा ही हो सकता है।

ख—कुछ विषय ऐसे हैं जिनका प्रयोग बार-बार न किया जाय तो निपुणता नहीं आ सकती जैसे गणित, भाषा आदि। कक्षा में गणित का एक नियम या एक ढंग का प्रश्न बता दिया जाता है पर उस प्रकार के अनेक प्रश्न जब तक न हल किये जायँ, वह ढंग अच्छी तरह नहीं आ सकता। ऐसा अवसर गृहकार्य द्वारा मिल जाता है।

ग—गृहकार्य द्वारा बच्चों को अपना कार्य ठीक से आयोजित करने और पूरा करने का अवसर मिलता है और इससे उनमें स्वयं शिक्षा, आत्मनिर्भरता और अग्रगामिता (इनिशिएटिव्ह) की शक्ति उत्पन्न होती है।

घ—प्रतिदिन गृहकार्य करने से बालकों में नियमित अध्यवसाय एवं समय परायणता की आदत पड़ती है।

ङ—गृहकार्य से माता-पिता को भी बालक के कार्य को देखने का अवसर मिलता है और वे आवश्यकतानुसार उसकी सहायता कर सकते हैं। इससे वे बालक की दैनिक प्रगति से परिचित होते रहते हैं। इस प्रकार गृहकार्य शिक्षक तथा अभिभावक के परस्पर सहयोग स्थापन की एक कड़ी है।

इस प्रकार गृहकार्य अवश्य ही एक उपयोगी युक्ति है। पर इसकी भी सीमाएँ हैं जिसके आगे फिर हानि होने की सम्भावना रहती है जैसे :—

क—अधिक गृहकार्य में व्यस्त रहने के कारण बालक को खेल एवं मनोरंजनों से वंचित रहना पड़ता है। इसके अतिरिक्त वह पाठ्य विषयों के बाहर का सामान्य पठन कार्य भी नहीं कर सकता। इस युग में बालक के सर्वांगीण विकास एवं व्यक्तित्व निर्माण की दृष्टि से सामान्य पठन कार्य बहुत ही आवश्यक है।

ख—गृह जीवन का आनन्द लेने तथा सामाजिक कार्यों में भाग लेने का अवसर नहीं मिलता। गृहकार्य की व्यस्तता से बालक आवश्यकता पड़ने पर भी माता-पिता के कार्यों में सहायक नहीं हो पाते। निर्धन माता-पिता तो उसकी शिक्षा को बाधक समझने लगते हैं।

निर्धनता के कारण अनेक बालक अस्वास्थ्यकर घरों में निवास करते हैं और उन्हें उस वायु-प्रकाशहीन, नम एवं गन्दे घर में ही लिखने पढ़ने का काम करना पड़ता है जिससे उनका स्वास्थ्य खराब हो जाता है। इस प्रकार शारीरिक विकास को हानि पहुँचती है।

ग--बालक जब गृहकार्य पूरा करने में असमर्थ होते हैं तो वे तेज छात्रों से नकल करके काम चला लेते हैं अथवा झूठ बोलने, बहाने बनाने और धोखा देने की आदत बना लेते हैं।

कैसा गृहकार्य दिया जाय

गृहकार्य के पक्ष एवं विपक्ष में विचार करने से यही उपयुक्त जान पड़ता है कि गृहकार्य थोड़ा होना चाहिए और हर दृष्टि से विचार करके गृहकार्य का रूप और उसकी मात्रा निर्धारित हो। इस दृष्टि से शिक्षा विचारकों ने निम्नांकित सुझाव प्रस्तुत किए हैं :—

क—बालकों की आयु एवं स्वास्थ्य—गृहकार्य कितना दिया जाय, यह इस बात पर निर्भर करता है कि बालकों की आयु क्या है और उनका स्वास्थ्य कैसा है। प्राइमरी कक्षाओं में १ घन्टे का गृहकार्य ही पर्याप्त समझा जा सकता है। जूनियर हाई स्कूल स्तर पर १½-२ घन्टे तक का और हाई स्कूल स्तर पर २-२½ घंटे तक का गृहकार्य उचित माना जा सकता है। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि गृहकार्य उनके ऊपर भार न सिद्ध हो और वे उसे पूरा करके भी अपने मनोरंजन एवं विश्राम के लिए अवसर पा सकें।

पाठ्य विषयों के अतिरिक्त सामान्य पठन कार्य के लिए छात्रों को अवकाश मिलना चाहिए। अतः गृहकार्य अधिक नहीं होना चाहिए। प्रधानाध्यापक को इस सम्बन्ध में अध्यापकों से परामर्श करके गृहकार्य की मात्रा निर्धारित कर देनी चाहिए और अध्यापकों को तत्सम्बन्धी निर्देश दे देना चाहिए।

ख—गृहकार्य देते समय पारिवारिक वातावरण का भी ध्यान रखना चाहिए। गाँवों के स्कूलों में इस पर अवश्य विचार करना चाहिए क्योंकि वहाँ अधिकांश परिवार ऐसे होते हैं जिनके पास पठन-पाठन की सुविधा नहीं रहती। फलतः बालक अपना गृहकार्य पूरा नहीं कर पाते और कक्षा में उन्हें डाँट-फटकार सुननी पड़ती है। इससे उनमें शिक्षा के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाती है।

ग—गृहकार्य देते समय उसकी मात्रा पर ही विचार नहीं करना है, बल्कि यह भी विचार करना है कि गृहकार्य किस प्रकार का हो। ऐसा कार्य नहीं देना चाहिए जो बहुत ही कठिन हो अथवा नये ढङ्ग का हो। अति सरल गृहकार्य देने से भी बालक उसके प्रति तत्पर एवं संलग्नशील नहीं हो पाते। कक्षा का बौद्धिक सामान्य स्तर देखते हुए गृहकार्य देना चाहिए। यदि कक्षा के विद्यार्थियों को प्रतिभाशाली, मंद एवं औसत श्रेणियों में विभक्त किया गया हो तो प्रत्येक

दल का उसके अनुसार गृहकार्य कठिन, सरल एवं सामान्य दिया जा सकता है।

घ—गृहकार्य कक्षा में पढ़ाये हुए प्रकरण पर ही देना चाहिये जिसे बालक स्वयं ही बिना किसी की सहायता के पूरा कर सकें।

ङ—आजकल यह साधारण बात हो गई है कि सभी अध्यापक अपने-अपने विषय पर गृहकार्य दे देते हैं और उसे सर्वोपरि महत्त्व भी दे देते हैं। इससे छात्रों के ऊपर बहुत भार पड़ जाता है। अतः यह नियम बन जाना चाहिए कि एक दिन ३-४ विषयों से अधिक पर गृहकार्य न दिया जाय।

च—गृहकार्य प्रेरणाप्रद होना चाहिए जिससे बालकों को अपनी बौद्धिक कुशलता एवं क्षमता के प्रयोग का अवसर मिले। उदाहरणतः किसी पाठ, लेख या नोट की कापी करना कोई गृहकार्य नहीं है।

ऐसा गृहकार्य नहीं होना चाहिये जो केवल रटने पर ही जोर देता है। प्रायः परिभाषा, सिद्धान्त, उद्धरण, कविता आदि रटने का गृहकार्य दे दिया जाता है। पर यह उचित नहीं। विचार प्रेरक एवं स्वतन्त्र लेख, पाठों का सारांश, गणित के अभ्यास, सामाजिक एवं साहित्यिक विषयों में आलोचनात्मक कार्य, विज्ञान में प्रयोगात्मक कार्य देना अच्छा रहता है।

छ—छोटी कक्षाओं में पढ़ाये हुए पाठों के अभ्यास गृहकार्य में दिये जायँ, पर ऊँची कक्षाओं में नये पाठ की भी तैयारी सम्बन्धी कार्य दिये जा सकते हैं। भाषा, इतिहास-भूगोल ऐसे विषय हैं जिन्हें पहले से ही पढ़कर आने पर कक्षा में उसे ग्रहण करने में सरलता होती है।

ज—गृहकार्य में विविधता लानी आवश्यक है। एक ही प्रकार का गृहकार्य प्रतिदिन रहने से बालक ऊब जाते हैं। सभी बालकों को एक ही गृहकार्य देने की आवश्यकता भी नहीं। बौद्धिक स्तर, रुचि तथा प्रवृत्ति देखते हुए विभिन्न गृहकार्य दिए जा सकते हैं। इस दृष्टि से बालकों को कुछ समूहों में विभक्त कर लेना चाहिए।

झ—गृहकार्य ऐसे होने चाहिए जिनसे बालकों की पठन-रुचि उत्पन्न हो और वह व्यापक एवं विस्तृत होती चले।

ञ—गृहकार्य के लिए भी समय-विभाग निर्धारित होना चाहिए और उसकी एक प्रतिलिपि कक्षा में रहनी चाहिए। एक प्रतिलिपि माता-पिता के पास भी रहनी चाहिए जिससे वे देख सकें कि आज बालक को क्या करना है और वह उसे पूरा कर रहा है या नहीं।

ट—गृहकार्य की जाँच अवश्य करनी चाहिए। यदि गृहकार्य देकर ही शिक्षक संतोष कर लेता है तो उससे गृहकार्य न देना ही अच्छा है। जाँच न करना और संशोधन सम्बन्धी सुझाव न देना छात्रों को लापरवाह और कर्त्तव्य-हीन बना देता है।

समीक्षा

किसी भी सीखे हुए ज्ञान अथवा कौशल के सम्बन्ध में बालकों को अर्न्तदृष्टि (Insight), सूझ एवं विवेचनात्मक शक्ति प्रदान करने के लिये पाठ-शिक्षण में 'समीक्षा' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। समीक्षा पाठ की पुनरावृत्ति नहीं है। छात्रों से पाठ के तथ्यों एवं सिद्धान्तों को पुनः पूछ लेना पुनरावृत्ति है किन्तु उन तथ्यों एवं सिद्धान्तों की आलोचना एवं विवेचना करना समीक्षा है। समीक्षा का सबसे बड़ा लाभ है—बालकों को अपने ज्ञान का प्रयोग करने और वास्तविक जीवन तथा परिस्थितियों में उनका मूल्यांकन करने की क्षमता प्रदान करना।

शिक्षक को स्वयं ही पाठ की समीक्षा कभी प्रस्तुत नहीं करनी चाहिए। उचित प्रश्नों द्वारा छात्रों को समीक्षा करने के लिए प्रेरित करना चाहिए और उचित निर्देशन द्वारा समीक्षा करने की विधियों से अवगत करा देना चाहिए। धीरे-धीरे छात्रों में स्वतः आलोचनात्मक दृष्टि पैदा हो जाती है और वे किसी भी पाठ की आलोचना करने में सक्षम हो जाते हैं।

समीक्षात्मक पाठों में 'समीक्षा' की युक्ति का विशेष महत्त्व है। 'पाठों के प्रकार' पर विचार करते समय इसके सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया गया है।

सारांश

शिक्षण विधियाँ एवं युक्तियाँ एक नहीं हैं। शिक्षण विधियों का सम्बन्ध विषय सामग्री के सुव्यवस्थित क्रमायोजन से होता है जिससे सीखने की दृष्टि से शिक्षार्थी पर सर्वोत्तम प्रभाव पड़ सके, जबकि शिक्षण युक्तियों का सम्बन्ध विषय सामग्री को कक्षा के सम्मुख प्रस्तुत करने या प्रकट करने की प्रक्रिया से है। विषय सामग्री की क्रमबद्ध व्यवस्था को शिक्षण विधि तथा विषय सामग्री के प्रस्तुतीकरण या प्रकटीकरण के ढंग को शिक्षण-युक्ति कहते हैं। युक्तियाँ मुख्यतः निम्नलिखित हैं—

(१) प्रश्नोत्तर युक्ति, (२) वर्णनात्मक युक्ति—कथन, वर्णन, व्याख्या, एवं निर्दर्शन, (३) व्याख्यान, (४) पुस्तक-पठन (५) धारणा सहायक युक्तियाँ—पुनरावृत्ति, अभ्यास-कार्य, गृहकार्य, एवं समीक्षा।

प्रश्नोत्तर युक्ति

विद्यार्थियों को सक्रिय बनाने एवं स्वयं शिक्षा के मार्ग पर अग्रसर करने की दृष्टि से प्रश्नोत्तर युक्ति सर्वोत्तम युक्ति है। पार्कर महोदय का कथन है कि प्रश्न संपूर्ण शैक्षिक क्रिया की कुंजी है। प्रश्नोत्तर युक्ति में दो कुशलताएँ शामिल हैं—प्रश्न और उत्तर।

प्रश्न—बालक के पूर्वज्ञान को जगाकर उससे सम्बन्धित करते हुए प्रस्तुत पाठ की ओर बालक को उन्मुख करना प्रश्न की सबसे बड़ी उपयोगिता है। पाठ के प्रति ध्यान बनाए रखने, पाठ के विकास में सक्रिय सहयोग प्राप्त करने, नवीन ज्ञानार्जन के लिए जिज्ञासा बनाये रखने और विषय की सुग्राह्यता की दृष्टि से भी प्रश्नों का महत्त्व है।

प्रश्न रचना एक कला है। प्रत्येक शिक्षक को इससे अभिज्ञ होना चाहिये। प्रश्न सरल, संक्षिप्त, सीधे, स्पष्ट एवं निश्चित उत्तर वाले होने चाहिये। उनमें विविधता लानी चाहिये। प्रश्न सोद्देश्य एवं विचारप्रेरक हों और बालकों के शैक्षिक स्तर के अनुकूल हों, प्रश्नों का क्रमायोजन ऐसा हो कि पाठ का क्रमिक एवं सुसम्बद्ध विकास स्वतः स्वाभाविक रूप में होता चले। निर्देशात्मक, द्विविधासूचक, एलिप्टिकल, प्रतिध्वन्यात्मक, पुष्टिकारक एवं आलंकारिक प्रश्न नहीं पूछने चाहिये। प्रश्न पूरी कक्षा से पूछकर किसी एक बालक से उत्तर के लिए कहना चाहिये। प्रश्नों का वितरण समान हो। प्रभावपूर्ण ढंग से प्रश्न पूछना चाहिये। प्रश्न दोहराना नहीं चाहिये। असावधान एवं पाठ-विमुख छात्रों से प्रश्न अवश्य पूछना चाहिये। अधिकाधिक छात्रों को उत्तर का अवसर देना चाहिये।

प्रश्नों के प्रकार—पाठ के स्वरूप एवं विकास की दृष्टि से—(१) शिक्षण प्रश्न एवं परीक्षण प्रश्न

पाठ विकास के क्रम को देखते हुए—(१) प्रारम्भिक प्रश्न, (२) अन्वेषण प्रश्न, (३) पुनरावलोकन प्रश्न

मानसिक प्रक्रिया की दृष्टि से—(१) स्मृति प्रश्न, (२) विचार प्रश्न

बालकों को स्वयं भी प्रश्न पूछने की स्वतन्त्रता देनी चाहिये और उन्हें प्रोत्साहित भी करना चाहिये।

उत्तर—प्रश्न रचना की भाँति वांछित उत्तर प्राप्त कर लेना भी एक कला एवं योग्यता है। शिक्षक को यह योग्यता अवश्य ही अर्जित कर लेनी चाहिये। उत्तर ही पाठ-योजना की सफलता या असफलता के परिचायक हैं।

प्रश्न एवं उत्तर दोनों की अनुकूलता एवं परस्पर पूरकता पर ही पाठ-शिक्षण सफल हो पाता है। छात्रों के आत्म-प्रकाशन की शक्ति को बढ़ाने, स्वतन्त्र रूप से सोचने एवं भावाभिव्यंजन की क्षमता प्रदान करने की दृष्टि से उत्तर का बहुत बड़ा महत्त्व है।

उत्तर प्राप्त करने के लिये शिक्षक में आत्मविश्वास, धैर्य, सहानुभूति एवं छात्रों के प्रति व्यवहार करने की कुशलता होनी चाहिये। परिस्थिति, प्रसंग एवं आवश्यकता के अनुसार उसमें उपयुक्त भाषा-व्यवहार की क्षमता होनी चाहिये। छात्रों में अनुशासन, शिष्टाचार एवं मर्यादा-पालन की आदत भी उत्पन्न करनी चाहिये। दो-चार अच्छे छात्रों पर ही जोर न देकर पूरी कक्षा को और विशेषतः पिछड़े हुए बालकों को भी उत्तर का अवसर प्रदान करना चाहिये।

उत्तर प्रसंगानुकूल, स्पष्ट, शुद्ध, निश्चित और संक्षिप्त होना चाहिये। छात्रों से ऐसे ही उत्तर के लिये शिक्षक को आग्रह करना चाहिये। अशुद्ध उत्तरों को शुद्ध करने का ढंग भी शिक्षक को जानना चाहिये।

वर्णनात्मक युक्ति

पाठ-विकास के लिये प्रश्नोत्तर के साथ-साथ शिक्षक द्वारा प्रस्तुत वर्णन का भी बहुत महत्त्व है। वस्तुतः दोनों युक्तियों के मेल से ही पाठ का विकास होता है। शिक्षक को यह जानना चाहिये कि किस अवसर पर प्रश्नोत्तर का प्रयोग करें और किस अवसर पर वर्णनात्मक युक्ति का। वर्णनात्मक के कई रूप हैं—कथन, कहानी कहना, वर्णन या विवरण, व्याख्या, निर्दर्शन।

कथन—वस्तु सामग्री, घटना या विचार का मौखिक उल्लेख कथन कहलाता है। कथन को अधिक से अधिक रोचक बनाने का प्रयत्न आवश्यक है। कथन संक्षिप्त, सरल, स्पष्ट एवं सजीव होना चाहिए। गति सामान्य हो, न अधिक तीव्र और न मन्द। उदाहरण, चित्र, नमूना, दृष्टांत आदि द्वारा इसे रोचक बनाना चाहिये। कथन में अनावश्यक एवं अप्रासंगिक बातें न हों। उचित हाव-भाव का भी ध्यान रखना चाहिए।

कहानी कहना कथन का सबसे सरल एवं रोचक रूप है। शिक्षक को स्वयं कहानी में रुचि रखनी और प्रदर्शित करनी चाहिए। घटनाओं का क्रमबद्ध वर्णन होना चाहिये। मार्मिक स्थलों का वर्णन भाव प्रवणता के साथ होना चाहिये। कहानी सोद्देश्य होनी चाहिये।

वर्णन—किसी वस्तु, व्यक्ति या घटना के शाब्दिक चित्रण को वर्णन

कहते हैं । इसके लिये शिक्षक के पास उपयुक्त शब्द-भण्डार एवं उनके उचित प्रयोग की क्षमता होनी चाहिये । वर्णन का प्रयोग प्रत्येक विषय में होता है । वर्णन में संप्रेषणीयता का गुण अवश्य होना चाहिये । वर्णन भी संक्षिप्त, सरल, प्रसंगानुकूल, सचित्र, सजीव, क्रमबद्ध और सोद्देश्य होना चाहिये ।

व्याख्या—भाषा एवं अर्थ की दृष्टि से किसी कठिन बात को सरल करके समझाना ही व्याख्या है । भाषा एवं साहित्य शिक्षण में इसका विशेष महत्त्व है । भाषा की कठिनाई हल करने की विधियों से शिक्षक को अवगत होनी चाहिये ।

निर्देशन—वर्णन का सर्वोत्कृष्ट रूप निर्देशन में मिलता है । नवीन ज्ञान या सूचना प्रदान करने के लिये यह आवश्यक युक्ति है । पाठ की समीक्षा, स्पष्टता तथा नवीन तथ्यों एवं तर्कों का प्रतिपादन निर्देशन की कुशलता पर निर्भर है ।

व्याख्यान—शिक्षक द्वारा प्रस्तुत भाषण जिसमें छात्रों के सहयोग का कोई ध्यान नहीं रखा जाता, व्याख्यान है । माध्यमिक स्तर पर यह उपयुक्त युक्ति नहीं है । विश्वविद्यालय स्तर पर ही इसका प्रयोग होना चाहिये ।

पाठ्य-पुस्तक पठन युक्ति एक पिछड़ी हुई एवं अमनोवैज्ञानिक युक्ति है । आज का शिक्षित शिक्षक इसका प्रयोग नहीं करता ।

उपर्युक्त युक्तियों को सर्वथा पृथक् न मानकर परस्पर पूरक मानना चाहिये और पाठ-शिक्षण में प्रसंग एवं आवश्यकता के अनुकूल इनका प्रयोग करना चाहिये । केवल एक युक्ति अपनाने से कोई भी पाठ नहीं पढ़ाया जा सकता ।

धारणा सहायक युक्तियों में पुनरावृत्ति, अभ्यासकार्य, गृहकार्य एवं समीक्षा का विशेष महत्त्व है । इनसे छात्रों से गृहीत ज्ञान को और भी पक्का एवं स्थायी बनाने का प्रयत्न अपेक्षित है ।

प्रश्न

१—शिक्षण विधि से शिक्षण-युक्ति को आप किस प्रकार पृथक् मानते हैं ? सोदाहरण स्पष्ट कीजिये ।

२—उत्तर प्रश्नों की रचना के लक्षण लिखिए और बताइये कि सफल अध्यापन के लिये प्रश्न रचना की योग्यता क्यों आवश्यक है ?

३—'प्रश्न रचना की ही भाँति उत्तर प्राप्त करने की कुशलता भी महत्त्व-पूर्ण है ।' इस कथन पर सम्यक् प्रकाश डालिये ।

४—पाठ शिक्षण में प्रश्नोत्तर एवं वर्णनात्मक युक्तियों का सापेक्षिक महत्त्व एवं स्थान निर्धारित कीजिए।

५—विद्यार्थियों से किस प्रकार वांछित उत्तर प्राप्त किये जा सकते हैं और विद्यार्थियों के प्रति इस दृष्टि से शिक्षक का क्या कर्त्तव्य है, समझाकर लिखिये।

६—कथन एवं वर्णन में क्या अन्तर है? दोनों युक्तियों पर प्रकाश डालिये।

७—'व्याख्या' का महत्त्व किस विषय में सबसे अधिक है और क्यों? व्याख्या की विधियों पर भी संक्षिप्त प्रकाश डालिये।

८—धारणा सहायक युक्तियों का क्या तात्पर्य है। इनके कुछ मुख्य रूपों का उल्लेख कीजिए।

९—गृहकार्य में किन सावधानियों को ध्यान में रखना चाहिए? इसके विरुद्ध चर्चा आजकल क्यों चलाई जाती है और आप उनसे कहाँ तक सहमत हैं?

१०—पुनरावृत्ति और समीक्षा में क्या अन्तर है? दोनों में महत्त्व एवं उपयोगिता पर प्रकाश डालिये।

अध्याय ७

पाठ-योजना[1] तथा कक्षा-प्रबन्ध

"Of course it is necessary for any teacher to be orderly in planning his work and precise in his dealing with facts. But that does not make his teaching scientific. Teaching involves emotions, which can not be systematically appraised and employed, and human values, which are quite out side the group of science."

Gilbert Highet.

पूर्व अध्यायों में उल्लिखित शिक्षण सूत्रों एवं शिक्षण युक्तियों के यथोचित प्रयोग पर शिक्षण की सफलता निर्भर है किन्तु इन सूत्रों एवं युक्तियों के समुचित प्रयोग के लिए पाठ की योजना एवं तैयारी नितान्त आवश्यक है। शिक्षण उस समय तक सफल नहीं हो सकता जब तक कि शिक्षक कक्षा में जाने के पूर्व भली-भाँति यह न विचार कर ले कि उसे कक्षा में क्या सामग्री पढ़ानी है, शिक्षण के उद्देश्य क्या हैं, शिक्षण के लिए कितना समय है, बालक का पूर्वार्जित ज्ञान क्या है और इन सब को देखते हुए पाठ्य सामग्री को किस क्रम से और किस प्रकार प्रस्तुत किया जाय, किस अवसर पर किस विधि एवं सूत्र का प्रयोग किया जाय, बालकों का पथ-प्रदर्शन किस दिशा में किया जाय, किन शैक्षणिक उपकरणों से पाठ को सरल, स्पष्ट, रोचक एवं सुग्राह्य बनाया जाय, आदि आदि।

अतः कक्षा में जाने के पूर्व पाठ की योजना तैयार कर लेना बहुत आवश्यक है। पाठ-योजना के अभाव में शिक्षक उपयुक्त बातों पर सही प्रकार से नहीं सोच सकेगा। इसीलिए डेविस ने लिखा है कि पाठ की तैयारी नितांत आवश्यक है क्योंकि तैयारी की कमी शिक्षक की प्रगति के लिए सबसे अधिक घातक है। बॉसिंग महोदय के अनुसार अर्जित की जाने वाली उपलब्धियों एवं कक्षा में संलग्न क्रियाओं के फलस्वरूप जिन आवश्यक साधनों द्वारा ये उपलब्धियाँ अर्जित की जाती हैं, उन्हें एक शीर्षक प्रदान करना ही पाठ-योजना है।

पाठ-योजना की आवश्यकता एवं महत्त्व—पाठ-योजना के स्वरूप एवं विधि के संबंध में मतभेद हो सकता है पर उसकी आवश्यकता तो

1. Lesson Planning.

असंदिग्ध रूप से स्वीकार की जाती है। पाठ-योजना तैयार कर लेने से शिक्षक में आत्मविश्वास आ जाता है, वह कक्षा में धैर्य एवं विश्वास के साथ पढ़ाने के लिये तत्पर हो जाता है। इसके द्वारा पाठ्य सामग्री का चयन, क्रमायोजन एवं संगठन हो जाने से शिक्षक का ध्यान विषय पर ही केन्द्रित रहता है और वह अनावश्यक विषयांतर से बच जाता है। उसके कार्य में एक व्यवस्था एवं नियमितता आ जाती है और समय के अनुसार वह अपना पाठ निरूपित कर लेता है। अतः पाठ-योजना की आवश्यकता एवं महत्ता स्वयं सिद्ध है। इसके लाभ एवं मूल्य निम्नलिखित रूप में हम देख सकते हैं :—

१—पाठ का उद्देश्य सुनिर्दिष्ट एवं स्पष्ट हो जाता है।

२—पूर्व पाठ अथवा बालक के पूर्वार्जित ज्ञान से समुचित संबंध स्थापित हो जाता है जिससे बालकों के लिये पाठ ग्राह्य बन जाता है।

३—पाठ्य सामग्री का वर्गीकरण एवं क्रमायोजन हो जाने से पाठ-विकास में एक सुव्यवस्था एवं तर्क संगति आ जाती है।

४—कक्षा की स्थिति का पूर्व अनुमान संभव हो जाता है जिससे पाठ्य सामग्री के आधार पर छात्रों द्वारा की जाने वाली क्रियाओं की व्यवस्था करने में सरलता हो जाती है।

५—उचित शिक्षण विधि अपनाने एवं युक्तियों तथा उपकरणों के चयन में सहायता मिलती है।

६—पाठ-योजना के आधार पर इस मूल्यांकन में सहायता मिलती है कि कक्षा शिक्षण सफल हुआ अथवा नहीं और यदि असफल हुआ तो क्या कारण थे और उनमें किस प्रकार सुधार किया जा सकता है।

७—सुविचारित प्रेरणादायक प्रश्नों की रचना का अवसर मिलता है।

८—शैक्षणिक उपकरणों के आयोजन में सहायता मिलती है। यदि प्रयोगशाला में अपेक्षित उपकरण नहीं हैं तो उसकी जगह अन्य पूरक उपकरणों की व्यवस्था करता है।

९—पाठ के विकास में क्रम, नियम एवं सुचारुता आ जाती है।

१०—अधिकाधिक छात्रों का सक्रिय सहयोग प्राप्त करने और पाठ-विकास में उन्हें संलग्न बनाए रहने का अवसर मिलता है। विभिन्न योग्यता वाले छात्रों के अनुसार प्रश्नों की रचना एवं क्रियाओं का निर्देशन सम्भव हो जाता है।

११—बालकों के लिए कक्षा के कार्यों एवं गृहकार्यों की उचित योजना का अवसर मिलता है।

१२—पाठ सम्बन्धी सहायक पठन सामग्री पर विचार करने और उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करने का अवसर मिलता है।

१३—शिक्षक कक्षा में आत्मविश्वास के साथ पढ़ा पाता है जिससे पाठ महत्त्वपूर्ण होता है और कक्षा का अनुशासन बना रहता है।

लिखित पाठ-योजना की आवश्यकता—पाठ-योजना के सम्बन्ध में मन में ही विचार कर लेना, क्रम निर्धारित कर लेना और पाठ-विकास का एक चित्र बना लेना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि पाठ-योजना लिखित रूप में तैयार करना आवश्यक है जिससे किसी बात के भूलने की गुंजाइश न रहे। ऊपर जो लाभ लिखे गये हैं वे लिखित पाठ-योजना रहने पर ही सही रूप से लागू होते हैं। संक्षेप में लिखित पाठ-योजना के निम्नांकित लाभ हैं—

१—विचार क्रम में एक सुनिश्चय एवं स्पष्टता रहती है और पाठ-विकास का एक रूप मन में पक्का हो जाता है।

२—विषयान्तर नहीं होता है और तथ्यों की सुसंबद्धता बनी रहती है। विस्मरण का अवसर नहीं रहता।

३—लिखित पाठ-योजना के आधार पर पुरानी भूलों एवं दोषों को दूर करते रहने का अवसर मिलता है और इस प्रयत्न से पाठ-योजना तैयार करने में उत्तरोत्तर दक्षता प्राप्त होती जाती है। अलिखित पाठ-योजना में त्रुटियाँ एवं दोष भी भूल जाते हैं क्योंकि उनका कोई विवरण पास में नहीं रहता।

४—कक्षा की परिस्थितियों के अनुसार पाठ-योजना में उचित परिवर्तन करने की सुविधा रहती है।

पाठ-योजना तैयार करने के पूर्व की आवश्यक बातें[1]—पाठ-योजना का लाभ और महत्त्व समझ लेने से ही अच्छी पाठ-योजना नहीं बन सकती, बल्कि शिक्षक के लिए कुछ और बातों का जानना आवश्यक है। ये निम्न-लिखित हैं—

१—पाठ-योजना तैयार करने के लिए पाठ्य सामग्री का पूर्ण, स्पष्ट एवं सुनिश्चित ज्ञान होना चाहिए और उससे सम्बन्धित ज्ञातव्य प्रसंगों, सूचनाओं एवं अनुमानतः कक्षा में उठने वाली समस्याओं के समाधान सम्बन्धी बातें ज्ञात रहनी चाहिए।

२—अपने छात्रों की प्रकृति, शैक्षिक स्तर, मानसिक योग्यता, ग्रहण

---

1. Pre-requisites of Lesson Planning.

शक्ति, रुचि मनोवृत्ति का भी ज्ञान होना चाहिए। छात्रों के सम्बन्ध में अधिकाधिक जानकारी रहने से शिक्षक उसी के अनुसार पाठ-योजना तैयार करने में सफल हो सकता है।

३—शिक्षा-विज्ञान, शिक्षण मनोविज्ञान विशेषतः सीखने का मनोविज्ञान, एवं शिक्षण विधियों का भी सम्यक् ज्ञान होना चाहिये। इनके आधार पर शिक्षक पाठ्य सामग्री एवं पाठ-विकास का क्रम-निर्धारण अधिक स्वाभाविक, तर्कयुक्त एवं ग्राह्य बना सकता है।

४—शिक्षा के उद्देश्यों का ज्ञान रहना चाहिये विशेषतः वर्तमान देश काल एवं परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में यह ज्ञान आवश्यक है क्योंकि तभी शिक्षक पाठ्य सामग्री का सम्बन्ध बालक के जीवन की आवश्यकताओं एवं अनुभवों से स्थापित कर सकता है।

५—शिक्षक को सदा यह स्मरण रखना चाहिये कि वह पाठ-योजना का निर्माता है, दास नहीं। वास्तविक कक्षा-शिक्षण के समय परिस्थितियों के अनुसार उचित परिवर्तन की आवश्यकता पड़ सकती है। कुछ निश्चित सूत्रों के अनुसरण मात्र से ही अच्छी पाठ-योजना न तो तैयार हो सकती है और न उसके अनुसार कक्षा-शिक्षण ही उत्तम हो सकता है। शिक्षक का मनोयोग ही सबसे आवश्यक पूँजी है। यदि शिक्षण कार्य में उसका पूर्ण मनोयोग नहीं है तो उसे सफलता नहीं मिलेगी। शिक्षण चित्रकला या संगीत कला के सदृश है अथवा निम्न धरातल पर सोचें तो बाग लगाने या स्नेहपूर्ण पत्र लिखने की भाँति है। शिक्षक को शिक्षण कार्य में अपना हृदय उड़ेल देना है, उसे समझ लेना है कि यह केवल सूत्रों द्वारा नहीं सम्पन्न होता। अन्यथा वह अपने कार्य को अपने शिष्यों को और स्वयं अपने को बरबाद कर देगा।[1]

कभी-कभी पढ़ाते समय पूर्व अनुमान के विपरीत ऐसी समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती और समाधान करना ही पड़ता है। ऐसे समय शिक्षक की तत्काल-बुद्धि, प्रत्युत्पन्नमति एवं साधनसम्पन्नता ही काम आती है, कोई रटा-रटाया सूत्र काम नहीं देता।

---

1. "Teaching is not like inducing a chemical reaction. It is much more like pointing a picture or making a piece of music, or on a lower level like planting a garden or writing a friendly letter. You must throw your heart into it. You must realise that it can not all be done by formulas, or you will spoil your work, and your pupils, and yourself." Gilbert Highet.

पाठ-योजना सम्बन्धी हरबार्ट के पाँच पद[1]

पाठ-योजना की दृष्टि से पाठ्य-सामग्री को संगठित करने, उसे क्रम से प्रस्तुत करने एवं कक्षा में उसे विकसित करने की एक पद्धति प्रसिद्ध शिक्षा वैज्ञानिक हरबार्ट ने प्रतिपादित की है। वस्तुत: शिक्षण के इतिहास में पाठ-योजना का एक ठोस आधार प्रस्तुत करने का यह प्रथम वैज्ञानिक प्रयास था। हरबार्ट ने पाठ-योजना के लिये चार पदों अथवा सोपानों का उल्लेख किया और फिर उसके शिष्यों ने उन पदों को सुव्यवस्थित करके पाँच पदों का प्रतिपादन किया जो हरबार्ट के 'पंचपदी सूत्र' के नाम से प्रसिद्ध है। पाठ-योजना की यह व्यवस्था शिक्षण-जगत में इतनी उपयोगी एवं प्रिय सिद्ध हुई कि आज भी प्रशिक्षण महाविद्यालयों में उसके आधार पर पाठ-संकेतों[2] का निर्माण किया जाता है। यद्यपि उस 'पंचपदी सूत्र' की आलोचना भी बहुत हुई है और उसकी रीतिबद्धता पर आधुनिक शिक्षा शास्त्रियों ने कटु प्रहार किए हैं किन्तु उसका परित्याग नहीं हुआ और कुछ हेर-फेर के साथ उसका प्रयोग प्रचलित है।

यह पंचपदी सूत्र हरबार्ट के शिक्षा मनोविज्ञान पर आधारित है। हरबार्ट एक प्रसिद्ध शिक्षा दार्शनिक एवं शिक्षा मनोवैज्ञानिक था। शिक्षा दर्शन के क्षेत्र में तो हम उसके पूर्व भी शिक्षा विचारकों की एक लम्बी परम्परा पाते हैं किन्तु मनोविज्ञान के क्षेत्र में हरबार्ट प्रथम शिक्षाशास्त्री है जिसे शिक्षण प्रक्रिया को मनोविज्ञान पर आधारित करने का श्रेय दिया जा सकता है। यद्यपि हरबार्ट द्वारा प्रतिपादित मनोवैज्ञानिक विचारों में आज काफी परिवर्तन हो गये हैं फिर भी उसके द्वारा प्रतिपादित शिक्षण विधि एवं पंचपदीय व्यवस्था को समझने के लिये उसके मनोवैज्ञानिक विचारों का एक संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक है।

हरबार्ट का शिक्षण मनोविज्ञान—हरबार्ट ने अपने समय के प्रचलित सामर्थ्य मनोविज्ञान[3] का विरोध किया और बताया कि मानव मन विभिन्न शक्तियों जैसे स्मरण शक्ति, तर्क शक्ति, कल्पना शक्ति आदि का पुंजमात्र नहीं है और न वह इन विभिन्न शक्तियों में विभक्त हो सकता है। वह तो एक इकाई है। मानसिक प्रक्रिया की तीन अवस्थाओं—ज्ञान[4], इच्छा,[5] क्रिया[6] का भी

---

1. Notes of lesson.
2. Five formal steps of Herbart.
3. Faculty Psychology.
4. Knowing.
5. Feeling.
6. Willing

पृथक्-पृथक् एक दूसरे से स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है बल्कि ये परस्पर सम्बद्ध क्रियाएँ हैं। ज्ञान में इच्छा और क्रिया अन्तर्भूत है तो इच्छा में ज्ञान और क्रिया; इसी प्रकार क्रिया में ज्ञान और इच्छा अन्तर्हित है। अतः मानसिक प्रक्रिया एक है, उसमें अलग-अलग शक्तियों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।[1]

हरबार्ट ने जान लॉक के इस सिद्धान्त का प्रबल समर्थन किया कि शिशु का मन जन्मना रिक्त होता है, वह एक कोरी पटिया के समान होता है, वह कोई संस्कार लेकर उत्पन्न नहीं होता। मन की रचना इस दृश्य जगत के प्रत्यक्ष प्रभावों से ही होती है। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बालक अनुभव प्राप्त करता है। स्नायु-तंत्र द्वारा बाह्य जगत से सम्बन्ध स्थापित होता है और इनके द्वारा वातावरण से सम्पर्क स्थापित होने पर ही हमारे मन की रचना होती है। अनुभवों द्वारा एकत्र प्रत्यक्षीकरण एवं विचारों से ही मस्तिष्क का निर्माण और विकास होता है। मन और वातावरण के सम्पर्क से ही विचार अथवा प्रत्यय[2] बनते हैं। हमारा मन इन विचारों को पहले स्वीकार या ग्रहण[3] करता है और फिर उसे आत्मसात करता[4] है।

हरबार्ट का कहना था कि हमारे मन के दो भाग हैं—चेतन मन[5] और अचेतन मन।[6] विचार पहले इस चेतन मन में ही प्रविष्ट होता है और फिर अचेतन मन में चला जाता है और वहाँ सुषुप्तावस्था में पड़ा रहता है। यह क्रम चलता रहता है अर्थात् जो भी विचार चेतन मन में आते हैं वे वहाँ स्थायी न रहकर अचेतन मन में प्रविष्ट होते जाते हैं। इस प्रकार अचेतन मन में अनेक प्रकार के विचार एकत्र होते रहते हैं। इन्हें हम पूर्व संचित विचार या प्रत्यय कह सकते हैं। जब भी कोई नया विचार आता है तो उससे मिलता-जुलता अचेतन मन में पड़ा हुआ विचार उभर कर चेतन मन में आ जाता है और नए विचार को ग्रहण कर लेता है और दोनों मिलकर सम्बद्ध हो जाते हैं। विचारों के ग्रहण एवं आत्मसात होने की यह क्रिया निरन्तर चलती रहती है। हमें यहाँ समझ लेना चाहिये कि नया आने वाला विचार यदि पूर्व संचित विचार के समान अथवा मिलता-जुलता रहता है तो उससे मिलकर स्थिरता प्राप्त कर लेता

1. The soul has no innate tendencies nor faculties. It is an error indeed to look upon the human soul as an aggregate of all sorts of faculties.
2. Ideas.
3. Absorption.
4. Assimilation.
5. Conscious mind.
6. Unconscious mind.

है। हम कह सकते हैं कि सरलता से हमें वही विचार ग्राह्य होते हैं जो हमारे पूर्व संचित विचार से किसी न किसी प्रकार सम्बन्धित होते हैं ।[1] तभी हमारा ज्ञान पक्का होता है। यदि नया विचार पूर्व संचित विचार का विरोधी है तो वह ग्राह्य नहीं होता। अनुकूल विचार ग्रहण होता है और असमान विचार ग्रहण नहीं हो पाता। यदि नया विचार न तो समान है और न असमान, तब ऐसी स्थिति में दोनों तटस्थ रूप से स्थिर बने रहते हैं।

विचारों अथवा प्रत्ययों को इस प्रकार ग्रहण करने की मानसिक क्रिया को प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री बन महोदय ने 'पूर्वानुवर्तन'[2] और पूर्व संचित विचारों के समूह को पूर्वानुवर्ती ज्ञान[3] की संज्ञा प्रदान की है। नये अनुभव या विचार पूर्वानुवर्ती ज्ञान से सम्बद्ध होकर ही गृहीत होते हैं और परिपक्व बनते हैं।

इस मनोवैज्ञानिक तथ्य पर हरबार्ट ने अपने शैक्षणिक विचारधारा का प्रतिपादन किया है। उसका कहना था कि शिक्षक को शिक्षण में नये विचारों को इस प्रकार प्रस्तुत करना चाहिये कि बालक के मस्तिष्क में संचित पुराने विचारों से उसका सम्बन्ध स्थापित हो जाय। इससे नवीन ज्ञान एवं विचार ग्रहण करने के प्रति बालक में रुचि उत्पन्न होगी और वह सरलता से ग्रहण कर सकेगा। असमान तथा विरोधी विचार ग्रहण करने में बहुत कठिनाई होती है और बालक के मन में विरोधी विचारों का संघर्ष चलता रहता है। अतः शिक्षक को ऐसी स्थिति नहीं उत्पन्न होने देनी चाहिये तथा बालक के पूर्वार्जित ज्ञान या विचार को जागरित एवं उससे सम्बन्धित करके नये विचारों को प्रस्तुत करना चाहिये।

इस प्रकार हरबार्ट ने यह प्रतिपादित किया कि बालक की मानसिक रचना पूर्णतः शिक्षक के हाथ में है। समुचित शिक्षण द्वारा ही बालक का ठीक विकास हो सकता है। बालक के विकास की दृष्टि से इस मनोवैज्ञानिक आधार पर हरबार्ट शिक्षण को बहुत अधिक महत्त्व प्रदान किया। बालक की जन्मजात योग्यता अथवा सामर्थ्य की विचारधारा का खण्डन करते हुए शिक्षण द्वारा बालक का निर्माण करने का मत उसने प्रतिपादित किया। उसका कहना था कि बिना शिक्षा के भी बालक विचारों को ग्रहण करते हैं पर उनमें क्रमहीनता, अव्यवस्था एवं संकीर्णता रहती है। शिक्षण द्वारा उन्हें सुव्यवस्थित एवं क्रमबद्ध किया जाता है।

---

1. "Every new idea is learned to the degree that it is assimilated to other ideas already in mind." Herbart.
2. Apperception.
3. Apperceptive mass.

शिक्षण का अर्थ ही 'मन की रचना' से है।[1] इसी सिद्धान्त के आधार पर हरबार्ट ने कक्षा में पाठ-शिक्षण के लिये कुछ पदों का प्रतिपादन किया जो आगे चलकर पंचपदी सूत्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इन पदों का उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

हरबार्टीय पद

हरबाट ने उपर्युक्त पूर्वानुवर्तन के सिद्धान्त के आधार पर शिक्षण की एक सामान्य विधि का प्रतिपादन किया। उसका कहना था कि मानसिक एकता प्राप्त करने के लिये विचार ग्रहण संबंधी दो प्रकार की मानसिक क्रियाएँ होती हैं। पहले तो मन में एक-एक करके अलग-अलग विचार ग्रहण होते हैं और फिर ये विचार एक चक्र के रूप में सुसम्बद्ध हो जाते हैं। पहली क्रिया को विश्लेषण[2] और दूसरी क्रिया को तुलना एवं सामान्यीकरण[3] कह सकते हैं। इसे और स्पष्ट करने के लिए हरबार्ट ने चारों पदों अथवा सोपानों का उल्लेख किया :—

१—स्पष्टता[4] २—संबंध[5] ३—प्रणाली[6] ४—विधि[7]

१—स्पष्टता–शिक्षक को पाठ्य सामग्री स्पष्ट रूप से ज्ञात होनी चाहिए। उसे सामग्री के प्रत्येक अवयव को इस रूप में प्रस्तुत करना चाहिए कि शिक्षार्थी उन अवयवों की ओर अलग-अलग भली भाँति ध्यान दे सके। यह पद उपयुक्त विश्लेषण की प्रकिया का ही एक रूप है। आगे चलकर हरबार्ट के शिष्य जिलर ने इस पद को दो भागों में विभक्त किया (क) प्रस्तावना[8] और (ख) प्रस्तुतीकरण[9]।

प्रस्तावना का अर्थ है अचेतन मन में स्थित या सुषुप्त उन विचारों को जगाना अथवा स्मरण करा देना जो प्रदान किये जाने वाले नए पाठ या ज्ञान से संबंधित हों और उन्हें इस प्रकार व्यवस्थित करना कि उनके प्रकाश में नया ज्ञान सरलता से ग्रहण किया जा सके।

प्रस्तुतीकरण का अर्थ है नया ज्ञान या पाठ बालकों के सम्मुख वास्तविक रूप में प्रस्तुत करना। हरबार्ट के एक अन्य शिष्य राइन ने 'स्पष्टता' के अंतर्गत इन दोपदों के साथ एक और पद उद्देश्य कथन[10] का भी उल्लेख किया। इस प्रकार

1. To instruct the mind is to construct it.
2. Analysis.
3. Comparision and generalisation.
4. Clearness.
5. Association.
6. System.
7. Method.
8. Introduction or Preparation.
9. Presentation.
10. Statement of aim.

(१) प्रस्तावना, (२) उद्देश्य कथन और (३) प्रस्तुतीकरण तीन पद हो गये। इन तीनों पदों का हम कुछ विस्तार से यहाँ उल्लेख करेंगे।

प्रस्तावना--प्रस्तावना का आधार बालक का पूर्वज्ञान है। पाठ संबंधी जो ज्ञान बालक के मस्तिष्क में है, उसे जागरित करके उसके चेतन मन में लाने का प्रयास शिक्षण की दृष्टि से आवश्यक है। बालक के पूर्व ज्ञान को कई प्रकार से उद्बुद्ध करके नए पाठ से संबंधित किया जा सकता है जैसे उपयुक्त प्रश्नों द्वारा, किसी घटना या कहानी के उल्लेख द्वारा, चित्र द्वारा, अन्य शैक्षिक उपकरणों द्वारा आदि। कभी-कभी शिक्षक नए पाठ की ही किसी बात की व्याख्या द्वारा बालक की तत्संबंधी स्मृति जगाकर उसे नए पाठ की ओर प्रवृत्त कर सकता है।

वस्तुतः पूर्वज्ञान को चेतन मन में उभारना और उससे नए पाठ को संबंधित करते हुए पाठ सीखने के लिए बालक को प्रेरित करना ही प्रस्तावना का लक्ष्य होता है। उदाहरणतः यदि बालक ने गणित में ऐकिक राशि का प्रश्न सीख लिया है तो उसके आधार पर त्रिराशिक प्रश्नों का पाठ प्रस्तावित किया जा सकता है। इतिहास में बाबर का पाठ पढ़ाने के लिये युद्ध में तोपों के प्रयोग को आधार बनाया जा सकता है, भूगोल में मलाया का पाठ पढ़ाने के लिए 'रबड़' का आधार लेकर कुछ प्रश्नों द्वारा पाठ प्रस्तावित किया जा सकता है।

प्रस्तावना सदा संक्षिप्त होनी चाहिए। लम्बी प्रस्तावना से बालक ऊब जाते हैं और नए पाठ के संबंध में भ्रमित हो जाते हैं। प्रश्न २-३ से अधिक न हों। वे क्रम से आयोजित हों और स्वाभाविक रूप में नए पाठ की ओर बालकों को प्रवृत्त करें। अंतिम प्रश्न का तो सीधा सम्बन्ध नए पाठ से ही होना चाहिए। प्रश्नों की जगह यदि कथन, कहानी, उदाहरण, चित्र आदि का प्रयोग किया जाय तो वह क्रिया भी संक्षिप्त ही होनी चाहिए।

उद्देश्य कथन—प्रस्तावना के बाद ही उद्देश्य कथन का पद आता है। प्रस्तावना द्वारा बालकों को नए पाठ की ओर ले आते हैं और नया पाठ क्या है, यह जानते ही उसे स्पष्ट रूप से बालकों के सम्मुख रखा जाता है। इससे बालकों को ज्ञात हो जाता है कि उन्हें क्या सीखना है। इससे नए पाठ के प्रति रुचि उत्पन्न हो जाती है। वस्तुतः उद्देश्य कथन का अभिप्रायः नए पाठ के सीखने का उद्देश्य स्पष्ट करना, सीखने के लिए बालकों को उत्सुक एवं जिज्ञासु बना देना, प्रेरित करना, रुचि उत्पन्न करना और सीखने के लिए कार्य-प्रवृत्त कर देना है। उद्देश्य कथन की सफलता इस बात में है कि बालक यह अनुभव

करने लगें कि प्रस्तुत पाठ पढ़ने से ही उनकी जगी हुई जिज्ञासा तृप्त होगी अथवा प्रस्तावना द्वारा उनके सम्मुख जो समस्या उठी है उसका समाधान इस पाठ के पढ़ने से ही हो सकेगा। उद्देश्य कथन के ठीक निर्वाह से पाठ में स्पष्टता एवं सुचारुता आ जाती है। पर इसमें उलझन रहने से पाठ के अंत तक बालक भी उलझन में पड़े रहते हैं, पाठ वे ठीक समझ नहीं पाते और शिक्षक का उद्देश्य पूरा नहीं होता। जिस ज्ञान अथवा कौशल को सीखने की आशा उस पाठ से की जाती है, वह पूरा नहीं हो पाता यदि उद्देश्य कथन स्पष्ट नहीं है। जो पाठ पढ़ाना है, जो नवीन ज्ञान अथवा सूचना देनी है, जो समस्या हल करनी है, जो नया प्रयोग करना है, उसे स्पष्ट रूप से बालकों को बताना ही उद्देश्य कथन का अभिप्राय है।

प्रस्तुतीकरण—यह पद वास्तविक पाठ-शिक्षण का होता है। इसमें बालकों को नया ज्ञान प्रदान किया जाता है। बालक उसका पुराने ज्ञान से सम्बन्ध स्थापित करते हुए नए ज्ञान को सीखते चलते हैं। शिक्षक बालकों द्वारा सीखने की सुविधा को ध्यान में रखकर और शिक्षण प्रक्रिया को भी ध्यान में रखते हुए पाठ्य सामग्री को कुछ भागों में विभक्त कर क्रम से प्रस्तुत करता है।

नये पाठ के शिक्षण में शिक्षक को सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि पाठ का प्रत्येक भाग, अंग या अवयव क्रम से बालकों को स्पष्ट होता चले और वे अंत में पूरा पाठ अच्छी तरह समझ लें। बालकों के पूर्वार्जित ज्ञान एवं अनुभव का लाभ उठाकर नया ज्ञान एवं अनुभव इस प्रकार प्रस्तुत करना चाहिए कि बालक स्वयं इनका संबंध स्थापित करते चलें और उत्तरोत्तर उनके ज्ञान में वृद्धि होती जाय। यह तभी संभव हो सकता है जब पाठ के प्रस्तुतीकरण में एवं उसके क्रमिक विकास में छात्रों का सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहे और छात्रों से—पाठ सम्बन्धी अधिकाधिक बातें प्रकाशित कराने का प्रयत्न किया जाय। जहाँ आवश्यकता पड़े शिक्षक स्वयंकथन, वर्णन या व्याख्या का आश्रय ले सकता है पर यथासंभव छात्रों की विचारशक्ति को उत्तेजित एवं उत्प्रेरित करते हुए पाठ को उनके सहयोग से ही आगे बढ़ाना चाहिए।

पाठ-विकास की क्रिया में तुलना एवं निरीक्षण द्वारा बालकों को नवीन ज्ञान ग्रहण करने का अवसर मिलना चाहिये। उदाहरणों एवं प्रयोगों द्वारा तथ्यों की तुलना करने में छात्रों को सहायता प्रदान करनी चाहिए। इससे उन्हें नए ज्ञान का बोध सरलता से होता जाता है। इसी कारण 'तुलना एवं सम्बन्ध'[1] का

---

1. Comparision and Association.

पद जिसे हरबार्ट ने दूसरे पद 'सम्बन्ध' में रखा था अब इसी पद 'प्रस्तुतीकरण' में ही शामिल मान लिया जाता है।

पाठ को रोचक, सजीव एवं सुग्राह्य बनाने के लिए इस पद में नमूने, उदाहरण, चित्र, रेखाचित्र, मानसिक आदि शैक्षणिक उपकरणों का आवश्यकतानुसार प्रयोग करना चाहिए। इससे बालकों का क्रियात्मक सहयोग प्राप्त करने में सहायता मिलती है, उनकी रुचि पाठ में बनी रहती है और उन्हें स्वयं प्रयोग एवं स्वानुभव द्वारा सीखने का अवसर मिलता है। इस आधार पर उन्हें नियम, सिद्धांत या निष्कर्ष निकालने में भी सफलता प्राप्त होती है।

(२) सम्बन्ध—हरबार्ट ने 'स्पष्टता' के बाद 'सम्बन्ध' नामक पद का उल्लेख किया था जिसका तात्पर्य था पुराने ज्ञान से नवीन ज्ञान का सम्बन्ध स्थापित करते हुए आगे बढ़ना। ऊपर लिखा जा चुका है कि यह क्रिया अब प्रस्तुतीकरण में ही सम्पन्न होती जाती है अर्थात् बालक जो कुछ सीखता चलता है उसे मन में पूर्व ज्ञान से सम्बन्ध करता जाता है। अतः इस पद का अब पृथक् कोई महत्त्व नहीं है।

(३) प्रणाली—हरबार्ट के अनुसार इस पद में विशिष्ट से सामान्य को अलग करके किसी सिद्धान्त या नियम के सामान्यीकरण[1] का प्रयास किया जाता है। इस पद में तथ्यों का उचित क्रम एवं उनका परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है और कार्य-कारण संबंध के आधार पर तर्कपूर्ण ढंग से बालक निश्चित सिद्धान्त, नियम या निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। इस पद में पूर्वानुवर्तन की प्रक्रिया पूरी हो जाती है किन्तु स्पष्टता के लिये इस पद को बाद में अलग से 'सामान्यीकरण' का नाम दिया गया है।

(४) विधि—हरबार्ट के अनुसार यह अन्तिम पद था जिसमें बालकों को अपने सीखे हुए ज्ञान, विचार या कौशल के प्रयोग एवं अभ्यास का अवसर मिलना चाहिये। इस पद को शायद इसीलिए हरबार्ट के शिष्यों ने 'प्रयोग' की संज्ञा प्रदान की है। इस पद में अर्जित ज्ञान, सिद्धान्त अथवा नियम की पुष्टि अनेक उदाहरणों एवं प्रयोगों द्वारा की जाती है जिससे बालक अपने ज्ञान को नई परिस्थितियों में अथवा नये अवसरों पर प्रयोग में ला सकें। यही पद पाठ की परिणति है और इसी बिन्दु पर वस्तुतः ज्ञान की दृष्टि से मानसिक एकता स्थापित हो जाती है।

---

[1] Generalisation

प्रचलित हरबार्टीय पद

यदि उपर्युक्त पदों पर विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि हरबार्ट द्वारा प्रतिपादित पूर्वानुवर्तन के सिद्धान्त पर ही आधारित शिक्षण की यह सामान्य विधि है। उस पूर्वानुवर्तन की प्रक्रिया को पूरा करने के लिये ही इन चारों पदों का प्रतिपादन किया गया है किन्तु कालान्तर में सुविधानुसार उनके नये भेद एवं नाम बढ़ते गये। पाठ-योजना एवं पाठ-सूत्र-निर्माण में इस समय उस बढ़े हुए रूप का ही प्रयोग किया जाता है। कोई तात्त्विक भेद न रहते हुए भी विशदता एवं स्पष्टता की दृष्टि से इन नये पदों का जानना आवश्यक है। ये पद निम्नलिखित हैं :—

१—प्रस्तावना
२—उद्देश्य कथन या विषय प्रवेश
३—प्रस्तुतीकरण या मूलपाठ
४—सामान्यीकरण
५—पुनरावृत्ति
६—प्रयोग

अथवा

१—(अ) प्रस्तावना
(ब) उद्देश्य कथन
२—प्रस्तुतीकरण
३—तुलना
४—सामान्यीकरण
५—प्रयोग

वस्तुतः पदों के इन विभिन्न नामों का महत्त्व नहीं है बल्कि उनमें निहित शैक्षणिक क्रियाओं का महत्त्व है। उदाहरण के लिये प्रस्तावना के अन्तर्गत मुख्य क्रिया है—बालकों के पूर्व ज्ञान को उभार कर उससे सम्बन्धित करते हुए नये पाठ की ओर छात्रों को उन्मुख एवं प्रेरित करना। इसी कारण कुछ लोग 'उद्देश्य कथन' को अलग न मानकर प्रस्तावना का ही एक अंग मान लेते हैं क्योंकि वह प्रस्तावना का ही परिणति है।

इसी प्रकार कुछ विचारक 'प्रस्तुतीकरण' के बाद 'तुलना' का एक अलग पद मानते हैं किन्तु 'प्रस्तुतीकरण' के सिलसिले में हम लिख चुके हैं कि 'तुलना' उसी का एक अंग है। प्रस्तुतीकरण में विषय-सामग्री को प्रस्तुत एवं विकसित

किया जाता है और विकास में ही तथ्यों की परस्पर तुलना, समानता, असमानता, निरीक्षण आदि क्रियाएँ शामिल हैं। 'सामान्यीकरण' भी प्रस्तुतीकरण का ही अंग है। हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार 'प्रस्तावना' की परिणति 'उद्देश्य कथन' है उसी प्रकार 'प्रस्तुतीकरण' की 'परिणति सामान्यीकरण' है क्योंकि विशिष्ट तथ्यों के आधार पर सामान्य की ओर अग्रसर होने की क्रिया प्रस्तुतीकरण में चलती रहती है और एक ऐसी स्थिति आ जाती है जहाँ स्पष्ट रूप से कोई नियम, निष्कर्ष या सिद्धांत निकल आता है।

पुनरावृत्ति का पद पाठ के अंत में आता है जिसमें हम पाठ की प्रमुख बातों का पुनः अवलोकन करते हैं। शिक्षण की युक्तियों में पुनारावृत्ति का उल्लेख किया जा चुका है। यह एक साधन है जिससे अर्जित ज्ञान को बालक के मस्तिष्क में सुदृढ़ किया जाता है और शिक्षक को इसके द्वारा यह पता भी चल जाता है कि बालकों ने पाठ को कहाँ तक और कितना समझ लिया है। पाठ-शिक्षण की सफलता की जाँच इस पद द्वारा हो जाती है। यदि इस पद में पूछे गए प्रश्नों का उत्तर बालकों ने शुद्ध, निश्चित एवं स्पष्ट रूप से दे दिया तो समझना चाहिए कि शिक्षण सफल रहा है।

'प्रयोग' के बारे में भी 'विधि' नामक पद के सिलसिले में लिखा जा चुका है। प्राप्त सिद्धांत, निष्कर्ष या नियम को नये उदाहरणों एवं परिस्थितियों में प्रयोग द्वारा पुष्ट करना ही इस पद का प्रयोजन है।

हरबार्टीय पंचपदी प्रणाली की उपयोगिता

यह लिखा जा चुका है कि पाठ-योजना की एक सुव्यवस्थित प्रणाली को जन्म देने का प्रथम श्रेय हरबार्ट को ही है। वह प्रणाली शिक्षा के क्षेत्र में आज तक प्रचलित है, यह उसकी उपयोगिता एवं लोकप्रियता का सबसे बड़ा प्रमाण है। वस्तुतः हरबार्टीय पंचपद थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ आज भी सभी प्रशिक्षण महा विद्यालयों में प्रचलित हैं क्योंकि इनसे पाठ्य सामग्री की तैयारी करने, उसे क्रमायोजित करने, छात्रों को पाठ की ओर प्रवृत्त करने और युक्तिसंगत ढंग से पाठ का विकास करने, छात्रों को सक्रिय बनाए रखने, तथ्यों के आधार पर नियम या सिद्धान्त निकालने, ज्ञान को छात्रों के मन में सुदृढ़ करने और प्रयोग द्वारा उन्हें स्थायी बनाने के लिए एक व्यवस्थित पद्धति का आधार शिक्षकों को मिल जाता है। ज्ञान एवं सूचना प्रधान विषयों में तो इस प्रणाली की उपयोगिता सभी स्वीकार करते हैं।

पंच पद प्रणाली के अनुसरण में अगमन एवं निगमन विधियों का अपने

आप सामंजस्य हो जाता है। प्रस्तावना, उद्देश्य कथन, प्रस्तुतीकरण एवं नियमीकरण में तो विविध तथ्यों एवं कारणों द्वारा किसी सिद्धान्त या निष्कर्ष को प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है अर्थात् अगमन विधि का अनुसरण होता है। अंतिम पद 'प्रयोग' में उस नियम या सिद्धान्त के आधार पर अनेक प्रयोग किए जाते हैं जिससे सिद्धान्त की पुष्टि हो जाती है और ज्ञान पक्का हो जाता है। यह क्रिया निगमन विधि का अनुसरण है। इस प्रकार दोनों विधियों का सामंजस्य हो जाता है और दोनों का यह मिश्रण एक उत्तम विधि मानी जाती है।

विज्ञान, गणित, व्याकरण आदि ज्ञानात्मक पाठों में अगमन-निगमन विधि का अनुसरण विशेष रूप से वांछित है। व्याकरण के एक पाठ को लें। 'विशेषण' पढ़ाना है। बालक संज्ञा के बारे में पढ़ चुके हैं। शिक्षक बालकों के पूर्वज्ञान 'संज्ञा' का आधार लेता है। उसी पर आधारित प्रश्नों के द्वारा 'विशेषण' जानने के लिए प्रेरित करता है। यह पाठ की तैयारी और प्रस्तावना है। अब कुछ विशेषणों से युक्त वाक्य छात्रों के सामने रखे जाते हैं जैसे 'काला घोड़ा', 'लाल गाय' 'सुन्दर फूल'। यहीं पाठ का 'प्रस्तुतीकरण' प्रारम्भ हो जाता है। अध्यापक काला, लाल, सुन्दर आदि शब्दों की विशेषता बताता है और इसी प्रकार के अन्य उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं। यही व्याख्या और तुलना है। इसके बाद वह ऐसे शब्दों के लिए 'विशेषण' का नियम निकलवाता है। परिभाषा एवं उदाहरण बालक स्वयं निकाल लेते हैं। यह निष्कर्ष या नियमीकरण या सामान्यीकरण हुआ। अंत में बच्चों को नए वाक्यों में विशेषणों के प्रयोग के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। यह प्रयोग एवं अभ्यास ही अंतिम पद या सोपान होता है।

हरबार्टीय पदों की आलोचना

हरबार्टीय पदों की उपयोगिता मानते हुए भी उसके दोषों की ओर अनेक शिक्षा शास्त्रियों ने संकेत किया है और उनकी आलोचनाएँ कई दृष्टि से उचित प्रतीत होती हैं। ग्लोवर का कहना है कि हरबार्टीय पदों के कारण पाठ-शिक्षण में रुढ़िबद्धता आ जाती है, शिक्षक एवं शिक्षार्थी की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है, शिक्षार्थी निष्क्रिय से हो जाते हैं। इसमें बालकों के सीखने की अपेक्षा शिक्षण पर अधिक बल दिया जाता है। इनके प्रयोग से सभी बालक एक ही अभीष्ट निष्कर्ष पर पहुँच जायँ, यह भी संभव नहीं है।

हरबार्टीय पदों की आलोचना संक्षेप में निम्नलिखित हैं—

१—हरबार्टीय पद बौद्धिक एवं ज्ञानात्मक पाठों में तो उपयोगी सिद्ध होते हैं पर कौशल-प्रधान तथा क्रियात्मक पाठों में ये नहीं लागू होते। क्रियात्मक

पाठों में पाँच सोपान नहीं प्रयुक्त हो सकते। इन पाठों में किसी सुन्दर नमूने या उदाहरण द्वारा बच्चों को कार्य के लिए प्रेरित करना ही प्रस्तावना है। विविध सामग्रियों के प्रयोग तथा वस्तु-निर्माण की विधि का प्रदर्शन और निरीक्षण ही मूल पाठ एवं प्रस्तुतीकरण है। बालक स्वयं निरीक्षण एवं अनुकरण द्वारा उसे सीखते हैं अतः व्याख्या एवं निष्कर्ष का भी महत्त्व नहीं। अन्त में बालक अभ्यास के लिए भिन्न-भिन्न नमूने तैयार करते हैं, अतः 'प्रयोग' का महत्त्व इन पाठों में अवश्य रहता है।

भाव प्रधान एवं रसानुभूति सम्बन्धी पाठों में पंचपद प्रणाली उसी रूप में नहीं प्रयुक्त की जा सकती। उदाहरणतः प्राकृतिक छटा सम्बन्धी कोई कविता पढ़ानी है। शिक्षक पहले भावपूर्ण भाषा में कविता सम्बन्धी सार और सौन्दर्य के सम्बन्ध में एक वातावरण की सृष्टि करता है और बच्चों के भावों का उद्रेक करता है जिससे वे रसास्वादन करने की स्थिति में आ सकें। फिर बच्चों के सम्मुख कविता का सस्वर पाठ प्रस्तुत करता है। यही पाठ की तैयारी एवं प्रस्तावना है। तत्पश्चात् दो-एक प्रश्नों द्वारा बच्चों से केन्द्रीय भाव ग्रहण की जाँच की जाती है फिर बालक को कविता के भाव-सौन्दर्य की अनुभूति कराने का प्रयत्न किया जाता है। कविता के नाद-सौन्दर्य, अलंकार एवं रसात्मक तत्त्वों का भी आस्वादन साथ-साथ चलता रहता है। यही पाठ-प्रदर्शन अथवा प्रस्तुतीकरण है। इस प्रकार भावपोषक पाठों की तैयारी, प्रस्तावना और पाठ-प्रदर्शन बिल्कुल दूसरे प्रकार का हुआ क्योंकि इनमें बच्चों के पूर्व ज्ञान तथा उन पर आधारित प्रश्नों का उतना महत्त्व नहीं। कविता के पाठ में तुलना और नियमन या सामान्यीकरण का भी महत्त्व नहीं और न हम किसी सिद्धान्त या निष्कर्ष पर ही पहुँचते हैं। प्रयोग और अभ्यास भी नहीं है। बालक समान भाव की कविता अवश्य कंठस्थ करते हैं और उनका सुपाठ करते हैं क्योंकि भावों का उद्बोधन और रसास्वादन ही उद्देश्य रहता है।

इस प्रकार हरबार्ट द्वारा निर्दिष्ट पंचपद प्रणाली सभी प्रकार के पाठों में प्रयुक्त नहीं हो सकती। भावात्मक पाठों में अन्तिम तीनों सोपान नहीं प्रयुक्त हैं। कौशल अथवा क्रियात्मक पाठों में तृतीय एवं चतुर्थ पद नहीं हैं।

२—इन पदों के अनुसरण पर बल देने से शिक्षण में रीतिबद्धता आ जाती है। एक बँधी-बधाई प्रणाली सभी पाठों में अपनाने की प्रवृत्ति शिक्षक में पैदा हो जाती है जिससे पाठों में सजीवता और विविधता नहीं रह जाती। ये पद या सोपान ही साध्य बन जाते हैं और विषयवस्तु का ज्ञान या शिक्षण गौण हो

जाता है। शिक्षक को सदा स्मरण रखना चाहिए कि ये पद या सोपान विषय-वस्तु की स्पष्टता एवं बालकों के सीखने की सुविधा के लिए हैं न कि अपने में ही वे लक्ष्य बन जायँ। इन पदों की नियमबद्धता में बँधकर शिक्षक स्वतन्त्र विचार से कार्य करना छोड़ देता है फलतः शिक्षण में यांत्रिकता आ जाती है और शिक्षक की मौलिकता समाप्त हो जाती है।

३—क—हरबार्टीय पदों के अनुसरण से शिक्षक को अधिक सक्रिय रहना पड़ता है क्योंकि उसे तर्क एवं निर्दर्शन पर बल देना पड़ता है पर बालक अधिक सक्रिय नहीं हो पाते जो आज के शिक्षण का सबसे बड़ा आधार है।[1] बालकों को स्वयं प्रश्न करने एवं जिज्ञासा प्रकट करने का भी अवसर नहीं मिलता।

ख—बालकों को स्वयं शिक्षण का अवसर भी कम मिलता है। अध्यापक जिन बातों को आवश्यक समझता है, उन्हीं पर अपनी दृष्टि रखता है; बालकों की क्या आवश्यकता है, इस पर वह ध्यान नहीं रख पाता। परिणामतः बालकों के मानसिक स्तर, अवधान, रुचि एवं मनोवृत्ति की अवहेलना होती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस प्रणाली में यह दोष है।

ग—बच्चों की व्यक्तिगत विशिष्टता पर ध्यान देने का अवसर नहीं रहता। सभी के लिए एक ही प्रकार का विधान बन जाता है जो सर्वथा अनुचित है।

घ—इन पदों के अनुसरण में क्रिया की प्रधानता नहीं रहती, वर्णनात्मकता की प्रधानता हो जाती है अतः पाठ-शिक्षण सैद्धांतिक एवं नीरस हो जाता है।

४—शिक्षक पाठ्यवस्तु पर अधिक बल देता है पर उसे यह ध्यान नहीं रह पाता कि बालक उसे कितना ग्रहण कर रहे हैं। शिक्षण की सफलता बालकों के सीखने में है, शिक्षक के पढ़ा देने मात्र में नहीं।

५—इन पदों का प्रतिपादन जिस मनोवैज्ञानिक आधार पर किया गया वह आधार भी आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से सही नहीं है। हरबार्ट इस मत का प्रतिपादक था कि बालक जन्मना कोई संस्कार लेकर नहीं उत्पन्न होता उसका मन कोरी पटिया के सदृश होता है और उसका मनोनुकूल निर्माण किया जा सकता है। पर आधुनिक मनोविज्ञान कुछ जन्मजात प्रवृत्तियों एवं आनुवंशिकता को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करता है। अतः हम बालक की इन

---

1. "A student learns through his own activities, not being sprayed with ideas."

शक्तियों को ओझल नहीं कर सकते और बालक की शिक्षा में उनका ध्यान रखना ही पड़ता है।

६—हरबार्टीय पदों में तुलना एवं व्याख्या को एक अलग पद का स्थान दिया गया है जो निरर्थक-सा है क्योंकि तुलना एवं व्याख्या तो प्रस्तुतीकरण में पाठ-विकास के साथ-साथ चलती ही रहती है। अतः इन पदों का अलग कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है।

७—पाठ-योजना बहुत अधिक बौद्धिक या जटिल सी हो जाती है। कभी-कभी पूर्वज्ञान की कल्पना मिथ्या सिद्ध होती है और पाठ की प्रस्तावना कृत्रिम एवं हास्यास्पद हो जाता है। प्रस्तावना एक प्रकार की आवश्यक औपचारिकता एवं कर्त्तव्य पूर्ति का स्थान ले लेती है और शिक्षक कल्पना कर लेता है कि बालकों के पूर्वज्ञान से नवीन पाठ का सम्बन्ध जुट गया है और वे नए पाठ के लिए उत्सुक हो गये हैं।

८—मनोवैज्ञानिक आधार की ही भाँति हरबार्टीय पदों की आलोचना सैद्धान्तिक आधार पर भी की जाती है। हरबार्ट का कहना था कि इस प्रणाली के अनुसरण से मानसिक एकता स्थापित होती है। मन एक इकाई है अतः विभिन्न विषयों का शिक्षण इस प्रकार होना चाहिये कि वे मिलकर एक ज्ञान बन सकें। पर विभिन्न विषयों की एकता स्थापन द्वारा मानसिक एकता की स्थापना एक रहस्य बन जाता है। हमारे जीवन में विभिन्न विषयों को पृथक्-पृथक् ज्ञान का अस्तित्व प्रत्यक्ष है। जीवन और मन एक होते हुए भी विषयों की विभिन्नता बनी हुई है। उनमें जो परस्पर सम्बन्ध है, उसे उस सीमा तक नहीं खींचा जा सकता जहाँ वे अपना स्वतन्त्र अस्तित्व खोकर एक हो जायँ। अतः जिस सीमा तक वास्तविक सम्बन्ध है हम उसकी एकता समन्वय प्रणाली द्वारा स्थापित कर सकते हैं पर उसका अतिक्रमण अनावश्यक एवं व्यर्थ है।

इन आलोचनाओं के बावजूद हरबार्टीय पद अब भी प्रशिक्षण महाविद्यालयों में प्रचलित हैं क्योंकि उन पदों में आवश्यकतानुसार कुछ परिवर्तन करके हम विभिन्न पाठों का शिक्षण व्यवस्थित बना सकते हैं। शिक्षक यदि कक्षा की परिस्थितियों का ध्यान रखते हुए अपनी विचार-स्वतन्त्रता का उचित प्रयोग कर इन पदों में वांछित परिवर्तन कर ले, इनकी नियमबद्धता एवं रुढ़िबद्धता में न फँसे तो ये पद निस्संदेह ही शिक्षण में सहायक सिद्ध होते हैं।

उत्तम पाठ-योजना की विशेषताएँ

पाठ्य-योजना की आवश्यकता एवं हरबार्ट पंचपद प्रणाली के गुणों-

अवगुणों पर विचार करने के पश्चात् हम अब यह निश्चय कर सकते हैं कि एक उत्तम पाठ-योजना के लिये कौन सी विशेषताएँ अपेक्षित हैं—

१—पाठ-योजना मनोकल्पित न होकर निश्चयात्मक एवं लिखित होनी चाहिये।

२—पाठ्य-विषय, इकाई, प्रकरण एवं शिक्षण के बीच होने वाली क्रियाओं का पूर्ण ध्यान रखकर पाठ-योजना बनानी चाहिए।

३—पढ़ाये जाने वाले पाठ के उद्देश्य स्पष्ट रूप से निर्धारित कर लेने चाहिए और पाठ-योजना बनाते समय इन उद्देश्यों की पूर्ति का ध्यान रखना चाहिए।

४—पाठ-योजना में इस बात का भी अवसर रहना चाहिए जिससे यह जाँच हो सके कि निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति कहाँ तक हो सकी है। अर्थात् बालकों द्वारा प्राप्त ज्ञान अथवा कौशल के मूल्यांकन का अवसर अवश्य रहना चाहिये।

५—प्रस्तुत पाठ-योजना पूर्व पाठ से सम्बन्धित होनी चाहिए अन्यथा एक विषय अथवा उस इकाई का क्रमबद्ध ज्ञान बालकों को नहीं हो पाता। यदि प्रस्तावना किसी अन्य पूर्व ज्ञान पर आधारित हो तो भी पूर्व पाठ से यथावसर सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है।

६—पाठ-योजना में शिक्षक के कार्यों एवं प्रयोग में लाई जाने वाली शिक्षण विधि का भी उल्लेख होना चाहिए।

७—बालकों को विशेष रूप से प्रेरणा देने वाली युक्तियों का भी उल्लेख रखना चाहिये।

८—बालकों द्वारा की जाने वाली क्रियाओं का उल्लेख भी पाठ-योजना में आवश्यक है।

९—आवश्यक उपकरण, उदाहरण एवं उनके प्रयोग, प्रदर्शन विधि का उल्लेख रहना चाहिए।

१०—पाठ-योजना में बालक के अनुभवों, दैनिक जीवन की आवश्यकताओं एवं वातावरण की क्रियाओं से पाठ का यदि स्वाभाविक एवं उचित संबंध स्थापित किया जा सके तो बहुत उत्तम है।

११—पाठ-योजना में छात्रों की वैयक्तिक विभिन्नता का ध्यान रखकर प्रश्नों एवं क्रियाओं का समावेश करना चाहिए।

१२—मुख्य, प्रेरक एवं उद्भावक प्रश्नों का उल्लेख पाठ-योजना में अवश्य रहना चाहिए। पूरक प्रश्न कक्षा में स्थिति के अनुसार बनाये जा सकते हैं।

१३—पाठ-योजना विस्तृत नहीं होनी चाहिये पर वह अपने में पूर्ण अवश्य हो अर्थात् पढ़ाई जाने वाली पाठ्य सामग्री का पूर्ण रूप परिलक्षित हो जाय।

१४—पाठ-योजना में शिक्षण की सहायक सामग्री का उल्लेख किया जाय और उनके प्रयोग सम्बन्धी संकेत भी दिये जायँ।

१५—पाठ-योजना में पाठ-विकास को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक पद या अंश के लिये समय निश्चित कर लेना चाहिये जिससे पाठ सम्बन्धी कोई अंग उपेक्षित न रह जाय और सम्पूर्ण पाठ समय पर समाप्त हो जाय।

१६—कक्षा में प्रयोग एवं अभ्यास के साथ-साथ गृहकार्य का भी उल्लेख होना चाहिए।

१७—पाठ-योजना बनाते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रस्तुत पाठ उस विषय या इकाई के अगले पाठ का आधार अथवा सहायक बन सके।

पाठ-योजना सम्बन्धी कुछ सावधानियाँ

पाठ-योजना तैयार करते समय शिक्षक को कुछ सावधानियाँ बरतने की आवश्यकता पड़ती है जिससे पाठ-योजना स्वाभाविक, व्यावहारिक एवं मनोवैज्ञानिक हो सके।

१—पाठ-योजना को अन्तिम रूप से पूर्ण नहीं मान लेना चाहिए। वह कक्षा-स्थिति के अनुकूल सदा परिवर्तनशील है। शिक्षक पाठ-योजना का निर्माता है, दास नहीं। अतः पाठ-योजना में लचीलापन आवश्यक है। वेस्टवे का यह कथन सही है कि पाठन-विधि कोई पूर्ण अपरिवर्तनशील प्रतिमा नहीं है बल्कि परिवर्तनशील वस्तु है।

२—पाठ-योजना में पाठ के विभिन्न भागों एवं सोपानों में सुसम्बद्धता एवं क्रमबद्धता होनी चाहिए। कहीं भी सिलसिला या क्रम भंग नहीं प्रतीत होना चाहिए।

३—पाठों के प्रकार एवं विभिन्नता का ध्यान रखते हुए तदनुकूल पाठ-योजना तैयार करनी चाहिए। सभी पाठों में एक ही नियम न लागू कर पाठ के अनुसार उचित परिवर्तन कर लेना चाहिए।

४—पाठ्य सामग्री की शुद्धता, प्रामाणिकता एवं उपयुक्तता पर ध्यान

रखना चाहिए। पाठ्य पुस्तक में दिए गए पाठ को ही सदा आधार मानकर योजना बनाने की आवश्यकता नहीं।

५—पाठ्य सामग्री, कक्षा की स्थिति, बालकों की योग्यता, समय, शिक्षण साधन और उपकरण आदि को देखते हुए निश्चित करनी चाहिए। कुछ अध्यापक अधिकाधिक सामग्री देने का लोभ संवरण नहीं कर पाते और यह ध्यान नहीं रखते कि इतनी सामग्री बालकों के लिए बोझिल, भार एवं अग्राह्य है। उन्हें विशेष सावधानी की आवश्यकता है।

पाठ-संकेत निर्माण[1]

पाठ-योजना के लिखित रूप को ही पाठ संकेत या पाठ सूत्र कहा जाता है। शिक्षक को कक्षा में जाने के पहले पाठ-योजना का यह लिखित रूप 'पाठ-संकेत' अवश्य तैयार कर लेना चाहिए। इससे पाठ की तैयारी अच्छी हो जाती है और पाठ-योजना सम्बन्धी जो लाभ एवं महत्त्व इस अध्याय के प्रारम्भ में लिखे गये हैं उनकी सार्थकता और भी बढ़ जाती है। सामान्यतः पाठ-संकेतों के जो रूप इस समय प्रचलित है, वह इस प्रकार है :—

१—पाठ संकेत सं० २—कक्षा ३—दिनांक ४-घंटा तथा उसकी अवधि
५—विषय ६—प्रकरण[2]
७—सामान्य उद्देश्य[3]
८—विशिष्ट उद्देश्य[4]
९—शैक्षणिक सामग्री[5]
१०—पूर्वज्ञान[6]
११—प्रस्तावना[7]
१२—उद्देश्य कथन[8]
१३—प्रणाली[9]

---

1. Preparation of Notes of lesson.
2. Topic.
3. General aims.
4. Specific aims.
5. Teaching aids.
6. Previous knowledge.
7. Introduction.
8. Statement of aim.
9. Procedure.

१४—प्रस्तुतीकरण[1]
१५—सामान्यीकरण[2]
१६—पुनावृत्ति[3]
१७—श्यामपट्ट सारांश[4]
१८—अपे

इनमें प्रथम ५ बातें तो केवल सूचना मात्र हैं। अतः इनके बाद के शीर्षकों पर क्रम से लिखा जा रहा है :—

६—प्रकरण या शीर्षक—विषय के बाद प्रकरण (पाठ का नाम) लिखना आवश्यक होता है। यह कोई आवश्यक नहीं कि शिक्षक पाठ्य-पुस्तक में दिए हुए अध्याय या पाठ का ही नाम शीर्षक के रूप में लिखें। पाठ का नाम पाठ के केन्द्रीय भाव का द्योतक या परिचायक होना चाहिए, पर वह लम्बा नहीं होना चाहिए। इतिहास, भूगोल, सामाजिक विषय के प्रकरण जीवन के व्यावहारिक महत्त्व को देखते हुए आकर्षक बनाए जा सकते हैं। विज्ञान के पाठों में भी व्यावहारिक पक्ष परिलक्षित होना चाहिए। भाषा में तो प्रायः पाठ्य-पुस्तक का पाठ ही प्रकरण या शीर्षक होता है।

एक प्रकरण में इतनी ही सामग्री चुननी चाहिए कि उसी घण्टे में पढ़ाया जा सके। उससे कम या अधिक सामग्री रखने से कक्षा में कड़ी कठिनाई उत्पन्न हो जाती है और पाठों का क्रम भी बिगड़ जाता है। प्रकरण तथा उसके अंतर्गत पाठ्य सामग्री के आधार पर ही विशिष्ट उद्देश्यों को निर्धारित किया जाता है। अतः पाठ्य सामग्री का चयन सावधानी से करना चाहिए।

७—सामान्य उद्देश्य—इसके अन्तर्गत पाठ्य विषय के शिक्षण के सामान्य उद्देश्यों का उल्लेख किया जाता है, उदाहरणतः यदि हम इतिहास पढ़ा रहे हैं तो सामान्य उद्देश्य में इतिहास की शिक्षा के उद्देश्य लिखे जायँगे न कि उस दिन पढ़ाये जाने वाले प्रकरण का उद्देश्य। ये सामान्य उद्देश्य स्पष्ट होने चाहिए जिससे उचित शिक्षण प्रणाली का चुनाव किया जा सके और शिक्षक ध्यान दे सके कि पढ़ाते समय उन उद्देश्यों की ओर वह अग्रसर हो रहा है या नहीं। ये सामान्य उद्देश्य उस विषय के सभी पाठों या प्रकरणों में एक समान रहते हैं।

---

1. Presentation.
2. Generalisation.
3. Recapitulation.
4. Black board Summary.

८—विशिष्ट उद्देश्य—ये उद्देश्य पढ़ाए जाने वाले पाठ से सम्बन्धित होते हैं और इसी कारण प्रतिदिन के पाठ के अनुसार निर्धारित करने पड़ते हैं। पाठ्य सामग्री के आधार पर ही इन उद्देश्यों का निर्धारण होता है। ये उद्देश्य भी निश्चित एवं स्पष्ट होने चाहिए जिससे पढ़ाते समय एवं पाठ के अन्त में शिक्षक यह जाँच कर सके कि इन उद्देश्यों की पूर्ति कहाँ तक हो सकी है।

९—शैक्षणिक सामग्री—पाठ शिक्षण के लिए आवश्यक सहायक सामग्री का उल्लेख पाठ संकेत में अवश्य करना चाहिए। सामग्रियों का नामोल्लेख ही पर्याप्त है।

शिक्षक को यह सामग्री कक्षा में जाने से पहले ही एकत्र कर लेनी चाहिए और प्रयोग की दृष्टि से कक्षा में उनके रखने एवं प्रयोग करने की सारी व्यवस्था भी कर लेनी चाहिए जैसे कौन चित्र कहाँ लटकाना है, लटकाने का प्रबन्ध है या नहीं आदि। विज्ञान के पाठों में प्रयोग सम्बन्धी सामग्री एवं यंत्रों की जाँच भी कर लेनी चाहिए कि उचित एवं उपयुक्त प्रकार से कार्य कर रहे हैं। जो शिक्षक इन बातों में असावधानी करते हैं उन्हें शिक्षण के समय बहुत कठिनाई होती है, प्रयोग एवं प्रदर्शन असफल हो जाते हैं और पूरा पाठ निरुद्देश्य सा सिद्ध होता है।

१०—पूर्वज्ञान—इसके अन्तर्गत बालकों के उस अर्जित ज्ञान का उल्लेख होता है जिसके आधार पर पाठ को प्रस्तावित करना है। पूर्व ज्ञान का तात्पर्य कक्षा में पढ़ाये गये पाठों के ज्ञान से ही नहीं बल्कि बालकों के समस्त ज्ञान एवं अनुभवों से लेना चाहिए चाहे वे उन्हें कहीं से भी प्राप्त हुए हों। पूर्वज्ञान का महत्त्व हरबार्ट के शिक्षण मनोविज्ञान के सिलसिले में पहले लिखा जा चुका है। पूर्वज्ञान के ही आधार पर प्रस्तावना के प्रश्नों की रचना होती है। अतः पाठ के सफल प्रारम्भ के लिए पूर्वज्ञान का सही होना आवश्यक है।

११—प्रस्तावना—प्रस्तावना का उद्देश्य बालकों को प्रस्तुत पाठ के लिए तैयार करना है। इस सम्बन्ध में विस्तृत प्रकाश डाला जा चुका है। सभी प्रकार के पाठों में प्रस्तावना का विशेष महत्त्व है क्योंकि इसी के द्वारा बालकों को पाठ की ओर प्रेरित करते हैं। आकर्षक, रोचक एवं प्रेरणादायक प्रस्तावना से पाठ में बालकों की रुचि उत्पन्न हो जाती है और अन्त तक उनमें सक्रियता एवं तन्मयता बनी रहती है।

प्रस्तावना द्वारा बालकों के पूर्व ज्ञान को जागरित करके नये पाठ से उसका सम्बन्ध जोड़ा जाता है। अतः प्रस्तावना के अनेक रूप हो सकते हैं। पाठ से सम्बन्धित किसी वस्तु, वातावरणजन्य अनुभव, वास्तविक पदार्थ, शैक्षिक

सामग्री अथवा किसी प्रयोग द्वारा प्रस्तावना हो सकती है पर यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि प्रस्तावना इस रूप में हो कि बालक ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ें तथा पाठ में उनकी रुचि बढ़ती जाय। कहानी चित्र अथवा किसी कथन द्वारा भी प्रस्तावना हो सकती है। प्रस्तावना सदा ही स्वाभाविक, सरल, सुबोध-पूर्ण होनी चाहिए।

प्रस्तावना का चाहे जो भी रूप अपनाया जाय, वह संक्षिप्त एवं रोचक हो। जैसे यदि पूर्वज्ञान पर आधारित प्रश्नों द्वारा प्रस्तावना की जाय तो दो-तीन प्रश्न पर्याप्त हैं। इन्हीं प्रश्नों का उल्लेख प्रस्तावना में कर देना चाहिए। इन प्रश्नों का क्रम ठीक हो और अन्तिम प्रश्न का सीधा सम्बन्ध प्रस्तुत पाठ से अवश्य स्थापित होना चाहिए और छात्रों के सामने कोई ऐसी समस्या उत्पन्न हो जानी चाहिए जिसके समाधान के लिए प्रस्तुत पाठ का अध्ययन बालक आवश्यक समझने लगे। वस्तुतः बालकों के प्रस्तुत पाठ के अध्ययन की आवश्यकता का अनुभव करा देना प्रस्तावना का एक मुख्य प्रयोजन है।

१२—उद्देश्य कथन—प्रस्तावना के बाद ही पाठ-शिक्षण के उद्देश्य का उल्लेख पाठ-संकेत में कर देना चाहिए। ये उद्देश्य ऊपर लिखे 'विशिष्ट उद्देश्य' नहीं हैं, बल्कि इस अवसर पर अध्यापक छात्रों को यह स्पष्ट करता है कि वे इस पाठ के द्वारा क्या सीखने जा रहे हैं।

१३—प्रणाली एवं युक्ति—इसके अन्तर्गत यह उल्लेख होता है कि पाठ शिक्षण में किन प्रणालियों एवं युक्तियों का प्रयोग करना है जैसे प्रश्नोत्तर, कथन, निदर्शन, प्रदर्शन एवं प्रयोग, वार्तालाप, विचार-विमर्श आदि। यह उल्लेख भी संक्षिप्त अथवा केवल नामोल्लेख के रूप में ही होता है। शिक्षक को पाठ-योजना में प्रस्तुतीकरण के पूर्व यह निश्चित कर लेना चाहिए कि इस पाठ को पढ़ाने के लिए कौन सी प्रणाली या युक्ति ठीक होगी।

१४—प्रस्तुतीकरण—यहीं से मूल पाठ की शिक्षा प्रारम्भ होती है। प्रत्येक प्रकार के पाठ में यह पद होता है पर उसके स्वरूप एवं प्रणाली में भिन्नता हो सकती है। अगले अध्याय में विभिन्न प्रकार के पाठों के वर्णन में यह विभिन्नता हम देखेंगे। विविध विषयों की पाठन-प्रणाली के अध्ययन से इसे भली भाँति समझा जा सकता है।

प्रस्तुतीकरण के अन्तर्गत पाठ-विकास की पूरी रूपरेखा लिखनी चाहिए। पाठ्य सामग्री को क्रम से व्यवस्थित करके आवश्यकतानुसार दो या तीन भागों में विभक्त कर लेना चाहिए जो अपने आप पूर्ण रहते हुए भी सुसम्बद्ध हों और मिलकर पूरे एक पाठ का रूप दे सकें। प्रत्येक भाग के विकास की रूपरेखा—

प्रश्न, कथन, उदाहरण, निर्दर्शन, प्रदर्शन, प्रयोग आदि में से जिनका जितना प्रयोग किया गया हो उनके सहित--लिखनी चाहिए। कहीं-कहीं बालकों से अपेक्षित उत्तर एवं उनके सहयोग का भी संक्षित उल्लेख रहना चाहिए। पर इसमें विस्तार की आवश्यकता नहीं है और न प्रत्येक प्रश्न का उत्तर लिखना ही अपेक्षित है।

प्रस्तुतीकरण में प्रत्येक भाग के अन्तर्गत पाठ-विकास के अन्य अंगों के लिए भी उचित शीर्षक दे देने से स्पष्टता आ जाती है जैसे बोध प्रश्न, वस्तु-विस्तार, भाव ग्रहण, शब्दार्थ या व्याख्या, उदाहरण, निष्कर्ष या नियम, मौन पाठ, सस्वर पाठ, प्रयोग, प्रदर्शन आदि। ये विविध अंग और उपांग भिन्न-भिन्न पाठों जैसे भाषा-गद्य, पद्य; विज्ञान, गणित, आदि में भिन्न-भिन्न होंगे। अत: उनकी पूरी जानकारी कर लेनी चाहिये और केवल आवश्यक अंगों का ही उल्लेख करना चाहिये।

जब पाठ्य सामग्री का एक भाग समाप्त हो जाय तो उसकी आवृत्ति कुछ प्रश्नों द्वारा होनी चाहिये और उन्हीं पर आधारित प्रश्नों द्वारा दूसरा भाग प्रारम्भ करना चाहिये जिससे क्रम बना रहे।

१५—सामान्यीकरण—यह पद केवल विज्ञान, गणित, व्याकरण जैसे ज्ञान प्रधान विषयों में होता है जिनमें उदाहरणों एवं प्रयोगों के आधार पर सिद्धान्त या निष्कर्ष निकाला जाता है। जिन विषयों में सिद्धान्त निरूपण का प्रश्न नहीं है, उनमें यह पद नहीं होता।

१६—पुनरावृत्ति—यह पद भी प्रत्येक प्रकार के पाठ में आवश्यक सा है क्योंकि पूरा पाठ पढ़ाने के बाद उस पर प्रश्न पूछना या प्रयोगात्मक पाठों में प्रयोग कराना आवश्यक है जिससे बालकों द्वारा गृहीत ज्ञान या कौशल की परीक्षा हो जाय।

पुनरावृत्ति का ढंग विभिन्न विषयों में विभिन्न होगा। वर्णन प्रधान विषयों में तो कुछ प्रश्नों द्वारा ज्ञात कर लेते हैं कि बालकों ने मुख्य-मुख्य बातें कहाँ तक ग्रहण कर लीं पर विज्ञान में प्रश्न पूछने के साथ-साथ प्रयोग भी कराये जा सकते हैं, गणित में कुछ प्रश्न हल करने के लिये दिये जाते हैं, कौशल-पाठों में कुछ कार्य दिये जाते हैं और इस प्रकार सीखे हुए ज्ञान की आवृत्ति हो जाती है।

पुनरावृत्ति द्वारा पाठ को छात्रों के मस्तिष्क में दृढ़ करने में सहायता मिलती है अतः इस पद को 'स्थायीकरण' का नाम भी दिया जाता है।

पुनरावृत्ति के महत्त्व एवं उसकी प्रश्न रचना के बारे में पहले काफी लिखा जा चुका है।

१७—श्यामपट्ट सारांश—पाठ-विकास के साथ-साथ जिन मुख्य तथ्यों एवं सिद्धान्तों की ओर विशेष रूप से बालकों का ध्यान आकृष्ट करना होता है उनका उल्लेख श्यामपट्ट पर करना आवश्यक होता है। अतः पाठ-संकेत में इन्हें अवश्य लिखना चाहिये।

कक्षा में श्यामपट्ट सारांश दो प्रकार से विकसित किये जा सकते हैं—(१) पाठ-विकास के साथ-साथ और (२) पुनरावृत्ति के साथ। इतिहास, भूगोल, नागरिक शास्त्र, सामाजिक विषय आदि जैसे वर्णन-प्रधान विषयों में तो प्रत्येक भाग के अन्त में परीक्षात्मक प्रश्नों के उत्तर द्वारा श्यामपट्ट सारांश विकसित किया जा सकता है अथवा अन्त में पुनरावृत्ति के प्रश्नों के उत्तर के रूप में भी। पर विज्ञान, गणित आदि विषयों में पाठ-विकास के साथ-साथ श्यामपट्ट सारांश का विकास अच्छा होता है। भाषा में तो शब्दार्थ एवं व्याख्या के साथ-साथ श्यामपट्ट पर भी उनका उल्लेख होते चलता है।

श्यामपट्ट सारांश बालकों के सहयोग से अर्थात् छात्रों से मिले हुए उत्तर के रूप में विकसित किया जाय तो अच्छा है। शब्दों में या वाक्य रचना में सुधार या परिवर्तन करने के लिये शिक्षक स्वतन्त्र है। पूरे वाक्य की जगह वाक्यांशों में श्यामपट्ट सारांश लिखने से समय एवं श्रम दोनों की बचत होती है। श्यामपट्ट सारांश इस प्रकार क्रमबद्ध हो कि पाठ-विकास का परिचय अपने आप हो जाय और पाठ्य सामग्री का संक्षिप्त रूप भी प्रस्तुत हो जाय।

प्रयोग एवं गृहकार्य—पाठ-संकेत में यह स्पष्ट उल्लेख रहना चाहिये कि किस प्रकार के प्रयोग एवं अभ्यास-कार्य कक्षा में करने के लिये दिये जायँगे और कौन से कार्य घर से करके लाने के लिये दिये जायँगे।

जो नये पाठ कक्षा में पढ़ाये जाते हैं उनका ज्ञान स्थायी बनाने के लिये कक्षा में लिखित या प्रयोग का कार्य देना पड़ता है। पर कक्षा में लिखित कार्य के लिये अवसर बहुत कम मिलता अतः गृह कार्य देना आवश्यक हो जाता है। भाषा, इतिहास, भूगोल, विज्ञान और गणित आदि विषयों का शिक्षण पूरा नहीं हो सकता जब तक बालक उनके सम्बन्ध में शिक्षक के निर्देशानुसार घर पर न पढ़े-लिखे। गृहकार्य के रूप में अध्यापक कभी-कभी अगले पाठ को पढ़कर आने का भी निर्देश देता है। इससे अगले दिन के पाठ की पृष्ठभूमि बालकों के मस्तिष्क में बन जाती है और कक्षा में पाठ को हृदयंगम कर लेना सरल हो जाता है।

गृहकार्य से बालक घर पर कार्य करने के अभ्यस्त होते हैं और उत्तर-दायित्व का भी अनुभव करते हैं। गृहकार्य की सफलता इस बात में है कि अध्यापक बच्चों के काम अवश्य देखें और संशोधन करें। गृहकार्य देते समय ही इस बात का ध्यान रखा जाय कि वे कार्य बच्चों के परिचय से बाहर के न हों। जो सामान्य त्रुटियाँ उनके कार्य में पायी जायँ, उन्हें तो कक्षा में ही बता दिया जाय और जो विशेष तथा व्यक्तिगत हों उन्हें व्यक्तिगत रूप से सुधारा जाय।

पाठ-संकेत सम्बन्धी उपर्युक्त पदों का यह तात्पर्य नहीं है कि शिक्षक इनका अक्षरशः पालन करें। शिक्षक के लिये ये एक आधार एवं मार्ग-निर्देश का काम अवश्य करते हैं पर शिक्षक इनमें उचित एवं आवश्यक परिवर्तन कर सकता है और पाठों के प्रकार को देखते हुए केवल आवश्यक पदों का ही प्रयोग करना उसके लिये उचित माना जाता है। पाठों के प्रकार एवं उनके शिक्षण पर अगले अध्याय में लिखा जा रहा है।

सफल शिक्षण के लिए कक्षा की व्यवस्था का बड़ा महत्व है। उत्तम कक्षा व्यवस्था से शिक्षण कार्य प्रभावपूर्ण होता है, कक्षा की अन्य क्रियाएँ भी सुगमतापूर्वक होती हैं तथा कक्षा-शिक्षण रोचक और सुखद बन जाता है।

निस्संदेह ही कक्षा की व्यवस्था एवं कक्षा के कार्यों का उत्तरदायित्व शिक्षक पर है। पर इस व्यवस्था के संबंध में कोई निश्चित सर्वमान्य सिद्धान्त स्थिर नहीं हो पाया है। अध्यापक किस सिद्धान्त या विचार का अनुसरण करे, क्या सामग्री प्रदान करे, शिक्षक एवं शिक्षार्थियों का परस्पर क्या संबंध हो, विद्यार्थियों में अनुशासन की भावना कैसे विकसित हो आदि समस्याएँ उसके सम्मुख उपस्थित होती हैं। पुराने समय में तो शिक्षक का विश्वास था कि आज्ञा ही प्रथम ईश्वरीय विश्वास विधान है तथा दण्ड के अभाव में बालक पथभ्रष्ट हो जाता है[1] किन्तु आज का शिक्षक इसे नहीं मान सकता। अतः वर्तमान शिक्षण सिद्धान्तों की दृष्टि से कक्षा की व्यवस्था किस प्रकार की जाय?

कुछ और भी समस्याएँ है जिनका प्रभाव कक्षा की व्यवस्था पर पड़ता है जैसे—

शैक्षणिक उपकरणों की तैयारी, श्रव्य-दृश्य सामग्री का प्रयोग, पाठ योजना, विद्यार्थियों के विकास एवं प्रगति का लेखा रखना और उसका उचित उपयोग आदि। अतः इन सभी को ध्यान में रखते हुए कक्षा की व्यवस्था पर विचार करना आवश्यक हो जाता है।

---

1. "Order is Heaven's first law" and "Spare the rod and spoil the child".

कक्षा की उचित व्यवस्था के लिए निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक हो जाता है—

१—शारीरिक एवं स्वास्थ्य संबंधी स्थिति का ध्यान रखना—प्रकाश, वायु, तापक्रम, बैठने का प्रबन्ध।

इनमें से कुछ तो शिक्षक के वश की बात नहीं है जैसे कक्षा की दृष्टि से अच्छे कमरों का निर्माण, उसमें आमने-सामने वातायनों की व्यवस्था जिससे हवा मिल सके, प्रकाश की व्यवस्था और तापक्रम आदि। किन्तु शिक्षक हाथ पर हाथ धरे बैठा रहे, यह भी उचित नहीं। जो कुछ उपलब्ध है उसी में उसे अच्छी से अच्छी व्यवस्था करनी चाहिए और जो उपलब्ध नहीं है उसके लिए प्रधानाचार्य तथा अधिकारियों से अनुरोध करते रहना चाहिए। इस संबंध में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं :—

(i) प्रत्येक पीरियड के शिक्षण को प्रकाश, वायु आदि का ध्यान रखकर कक्षा की उचित व्यवस्था करनी चाहिए जिससे काम में इस कारण बाधा न पड़े तथा संतोषजनक ढंग से बालक काम में लगे रहें। पढ़ाते समय भी इसका ध्यान रखना चाहिए और पूर्व व्यवस्था में आवश्यकता पड़ने पर उचित परिवर्तन कर लेना चाहिए।

(ii) बैठने की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जिससे प्रत्येक बालक को प्रकाश मिले, वे श्यामपट्ट, मानचित्र तथा अन्य सामग्री देख सकें। कभी-कभी प्रकाश की चमक से श्यामपट्ट कार्य दिखाई नहीं पड़ता। अतः अध्यापक को पहले ही विचार करके व्यवस्था करनी चाहिए। शिक्षक को तेज प्रकाश आने वाली खिड़की के पास नहीं खड़ा होना चाहिए, अन्यथा बालकों को उस तेज रोशनी की ओर मुख करना पड़ता है। इसी प्रकार सामग्री के प्रदर्शन के लिए भी उचित स्थान का चुनाव करना चाहिए। मौसम के अनुसार भी उचित प्रकाश एवं वायु के लिए उचित व्यवस्था आवश्यक हो जाती है।

(iii) बालकों की आवश्यकता को देखकर बैठने की व्यवस्था करनी चाहिए। कला, ड्राइंग अथवा प्रयोगात्मक कार्य वाली कक्षाओं में बैठने की उचित व्यवस्था आवश्यक हो जाती है। बैठने की व्यवस्था यथासंभव सुन्दर, आकर्षक एवं सुव्यवस्थित होनी चाहिए।

बालकों को वर्ण क्रम से बैठाना एक अच्छा नियम है किन्तु इसमें कुछ अपवादों का ध्यान भी आवश्यक है .जैसे कम सुनने वाले अथवा निर्बल दृष्टि वाले विद्यार्थियों को आगे स्थान देना।

(iv) इस बात का भी प्रबन्ध रहना चाहिए कि कक्षा की सामग्री,

पुस्तकें, मानचित्र, यन्त्र एवं अन्य साधनों का प्रदर्शन एवं प्रयोग उचित प्रकार से हो सके।

डिमांस्ट्रेशन टेबुल ऐसी जगह रहे कि उस पर के प्रयोग सभी छात्र ठीक से देख सकें। टेबुल के चारों ओर भीड़ लगाने का तरीका अनुचित है और अनुशासन की समस्या भी खड़ी हो जाती है।

(v) बुलेटिन बोर्ड पर सामग्री ठीक प्रकार से प्रदर्शित किया जाय, उसकी कलात्मक साज-सज्जा का ध्यान रखा जाय और समय पर उसे बदल दिया जाय। इस कार्य में छात्रों का सक्रिय सहयोग लिया जाय।

(vi) छात्रों को प्रोत्साहित करना चाहिए कि वे सदा उचित रीति एवं स्वास्थ्यप्रद ढंग से उठें, बैठें और खड़े रहें। शिक्षक के स्वयं कक्षा में खड़े होने और बैठने का उदाहरण प्रस्तुत करना चाहिये।

(vii) शिक्षक को कार्य करने में स्वच्छता एवं सुचारुता का आदर्श बनाये रखना चाहिये। कक्षा का कलेवर भव्य एवं प्रभावपूर्ण हो। इस सम्बन्ध में विद्यार्थियों में उचित मनोवृत्ति पैदा करनी चाहिये जिससे वे अपनी कक्षा को सुव्यवस्थित एवं आकर्षक बनाये रखने में गर्व का अनुभव करें और कमरे की सुन्दर साज-सज्जा, किताबें, मानचित्र, श्यामपट्ट आदि की स्वच्छता उनके स्वभाव का अभिन्न अंग बन जाय।

२—उपस्थिति का नियम—यह भी बहुत कुछ विद्यालयों में निश्चित-सा है। अतः उसका उचित रूप से अनुसरण करना चाहिए जिससे कि अनुशासन में किसी प्रकार का व्यवधान न उत्पन्न हो। इस संबंध में जो भी नियम हो, उसका पालन निश्चित दिनचर्या के रूप में होना चाहिए।

उपस्थिति कभी कक्षा प्रारम्भ होने के पहले और कभी अंत में लेना ठीक नहीं। शिक्षण के प्रारम्भ में ही उपस्थिति ले लेनी चाहिए।

शिक्षक को उन कार्यों के संबंध में जिन्हें प्रतिदिन करना है, एक निश्चित दिनचर्या बना लेनी चाहिए। ऐसे कार्यों को यदि एक दिन किसी और प्रकार से तथा दूसरे दिन किसी और प्रकार से किया जाय तो विद्यार्थी निश्चित नहीं हो पाते कि आज इस कार्य को किस प्रकार करें और प्रतिदिन शिक्षक के ही मुहताज बने रहते हैं। कुछ विद्यार्थी इसका लाभ उठाकर समय का अपव्यय करते हैं और अनुशासन संबंधी समस्या उठ खड़ी होती है।

निश्चित दिनचर्या का लोग इसलिए विरोध करते हैं कि इससे कक्षा

की व्यवस्था में औपचारिकता एवं यांत्रिकता आ जायगी, कोई स्वतन्त्रता नहीं रह जायगी, किन्तु यह बात सही नहीं है। यदि हम निश्चित दिनचर्या का प्रयोग समय एवं श्रम बचाकर शिक्षण कार्यों में करते हैं तो उससे लाभ होगा और बच्चों के अध्ययन की आदतें अच्छी बनेगीं। प्रश्न एक निश्चित व्यवस्था का है, स्वतंत्रता और निश्चित दिनचर्या का नहीं है।

३—कक्षा की स्थिति के अनुसार दिनचर्या निश्चित करना—कक्षा की स्थिति के अनुसार ही प्रतिदिन होने वाले कार्यों के संबंध में निश्चित दैनिक कार्य-प्रणाली अपनानी चाहिए जैसे प्रतिदिन काम आने वाली शिक्षण-सामग्री की व्यवस्था। कक्षा का कमरा कितना बड़ा है? उसमें फर्नीचर की क्या व्यवस्था है? क्या-क्या शिक्षण-सामग्री है और विद्यार्थियों की संख्या कितनी है? यदि विद्यार्थियों की संख्या बहुत कम है तो बैठने की किसी विशेष निश्चित व्यवस्था की आवश्यकता नहीं पड़ती पर यदि छात्रों की संख्या अधिक है तो प्रतिदिन बैठने की व्यवस्था परिवर्तन करते रहने से बड़ी उलझन पैदा हो जाती है। उपस्थिति लेने, किताब-कागज सामग्री वितरित करने और प्रयोगात्मक कार्यों में बड़ी बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं। अतः कक्षा की स्थिति, साज-सज्जा देखते हुए इन कार्यों के संबंध में एक निश्चित रीति रुटीन बना लेनी चाहिए।

इसी प्रकार उपस्थिति लेने का भी नियम होना चाहिये। उपस्थिति की दृष्टि से अच्छा होता है कि विद्यार्थियों की सीट निश्चित कर दी जाय। यदि कक्षा बहुत छोटी है तब इसकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी। शिक्षण के प्रारम्भ में ही हाजिरी ले ली जाय जिससे शिक्षण-कार्य शीघ्रातिशीघ्र प्रारम्भ हो जाय। समय से कार्य प्रारम्भ कर देने की आदत छात्रों में भी डालनी चाहिये। समय पर सभी छात्र कक्षा में अवश्य ही अपनी सीट पर बैठ जायँ जिससे नियम उल्लंघन अथवा अनुपस्थिति संबंधी उलझन पैदा ही न हो।

४—शिक्षण सामग्री की उचित व्यवस्था—कक्षा की व्यवस्था की दृष्टि से इसका बहुत महत्व है। इस संबंध में निम्नलिखित बातें ध्यान रखने योग्य हैं—

(i) कागज, किताबें तथा शैक्षणिक उपकरणों के वितरण की उचित विधि अपनानी चाहिये और यदि कुछ सामग्रियों का प्रयोग प्रायः प्रतिदिन होता हो तो उसकी एक नियमित विधि अपनानी चाहिये जिससे समय की बचत हो और कार्य में सुगमता भी हो।

(ii) विद्यार्थियों से कागज, कापी अथवा पूरा किया गया कार्य एकत्र करने की विधि भी निर्धारित कर लेनी चाहिए। छात्रों द्वारा एक-दूसरे को

अपनी सामग्री बढ़ाते जाने और एक जगह एकत्र कर लेने की विधि भी ठीक होती है। बालकों को इस प्रकार प्रशिक्षित किया जाय कि वे इन कार्यों में नियम, अनुशासन एवं शांति से काम लें।

(iii) भारी सामान, कोश, संदर्भ पुस्तकों आदि के वितरण के लिये कुशल एवं स्वस्थ बालकों को चुनना चाहिये।

(iv) शिक्षक को जिन सामग्रियों का प्रयोग करना है, उन्हें कक्षा प्रारम्भ करने के पहले ही ठीक कर लेना चाहिए और ऐसे स्थान पर रखना चाहिए जहाँ से आवश्यकतानुसार लिया जा सके और प्रयोग किया जा सके।

(v) कार्य-सुगमता की दृष्टि से यह अच्छा रहता है कि विद्यार्थियों की कापी, कागज एक समान रहे। उस पर नाम, विद्यालय, कक्षा, विषय आदि के उल्लेख के लिए शीर्षक मुद्रित रहें। इससे एकरूपता आ जाती है।

(vi) ऐसी कक्षाओं के शिक्षण में जहाँ अभ्यास के लिए अधिक सामग्री की बार-बार आवश्यकता पड़ती है वहाँ मिमियोग्राफ्ड अथवा डुप्लिकेट प्रतियाँ तैयार रखनी चाहिए क्योंकि डिक्टेशन देने या श्यामपट्ट पर लिखकर छात्रों द्वारा नकल कराने में समय बहुत लगता है। यथासंभव श्यामपट्ट पर लिखे जाने वाले अभ्यास कक्षा के पूर्व ही लिखकर तैयार रखना चाहिए और आवश्यकता पड़ने पर उसे प्रस्तुत करना चाहिए।

(vii) सभी सामग्री इस प्रकार मेज पर रखी जाय कि बालक उन्हें आसानी से देख सकें और उनके प्रयोग की सारी प्रक्रिया भी देख सकें। यदि पहले से की गई बैठने की व्यवस्था प्रयोगात्मक कार्य के निरीक्षण में बाधक सिद्ध हो रही हो तो उसमें अवश्य परिवर्तन कर लेना चाहिए।

(viii) विद्यार्थियों को शुरू से ही सामग्री सँभाल कर रखने और उचित रीति से प्रयुक्त करने के लिए प्रशिक्षित करना चाहिए। उनमें सहयोग से काम करने और सामूहिक कार्य में अपना-अपना हिस्सा ठीक प्रकार से पूरा करने के लिए भी प्रेरित एवं प्रोत्साहित किया जाय।

५—कक्षा कार्य की व्यवस्था—कक्षा के कार्यों के संचालन में एक सामान्य सा सिद्धान्त है कि बालकों को कार्य संपन्न करने की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये और जो भी विधि या नियम अपनाया जाय उसमें विद्यार्थियों की कार्य कुशलता को बढ़ाने का ध्यान अवश्य रखा जाय। कार्य संपन्न करने की प्रक्रिया निश्चित हो सकती है पर उनसे छात्रों की स्वयं कार्य करने की प्रवृत्ति, रचनात्मक शक्ति, सामाजिक गुणों का विकास, आत्म नियन्त्रण आदि में कोई

बाधा नहीं पड़नी चाहिए। इस सम्बन्ध में निम्नांकित नियमों का अनुसरण उत्तम माना जाता है :—

(i) कक्षा में कार्य तुरन्त प्रारम्भ होना चाहिये। घन्टा बजते ही बालक अपनी सीट पर बैठ जायँ। यदि शिक्षक तुरन्त कार्य प्रारम्भ करने का आदी नहीं है तो बालकों में भी दीर्घसूत्रता घर कर जाती है और अनुशासन सम्बन्धी समस्या उत्पन्न हो जाती है। अतः अध्यापक को और कार्यों की अपेक्षा इस ओर अवश्य ध्यान देना चाहिए कि कार्य ठीक समय से प्रारम्भ हो।

(ii) शिक्षक को इस बात का आग्रह करना चाहिए कि कक्षा के विचार-विमर्श में सभी बालक मनोयोगपूर्वक भाग लें। बालक खड़े होकर या बैठकर अपने विचार प्रकट करें, यह कक्षा की स्थिति के अनुसार तै किया जा सकता है। यही बात बोलने के लिए हाथ उठाने के सम्बन्ध में भी है। हाथ उठाने से शिक्षक को यह सुविधा रहती है कि उन विद्यार्थियों को भाग लेने के लिए संचालित करता है। पर इसे कोई निश्चित नियम नहीं मानना चाहिए। शिक्षक को तो मुख्य बात यह देखनी है कि केवल कुछ विद्यार्थियों को ही उत्तर देने, बोलने, विचार-विमर्श में भाग लेने का एकाधिकार न मिल जाय। सभी बालकों को पाठ-विकास में उचित भाग लेने का अवसर मिलना चाहिए।

(iii) अभ्यासात्मक कार्यों में एक निश्चित नियम बता देना चाहिए एवं तत्सम्बन्धी निश्चित निर्देश दे देना चाहिए जिससे एक ही बात पुनः-पुनः न कहना पड़े, जैसे पूरे पन्ने का प्रयोग करो, एक ही ओर लिखो, कागज इस प्रकार मोड़ो, पन्ने के ऊपर विषय, नाम, प्रकरण लिखो आदि-आदि। इस सम्बन्ध में एक निश्चित रुटीन बना लेनी चाहिए।

जिस कक्षा में श्यामपट्ट का बहुत अधिक प्रयोग हो या अभ्यास कार्य अधिक होते हों, उसमें छात्रों को कक्षा में निश्चित स्थान प्रदान करना चाहिए। बालकों को एक प्रकार से अभ्यास होना चाहिए कि उन्हें कहाँ जाना है, किस ओर से जाना है और कहाँ खड़ा होकर लिखना है या कार्य करना है।

(iv) विशेष प्रकार की क्रियात्मक या कौशल प्रधान कक्षाओं में भी नियमानुसार कार्य करने की आदत बालकों में डालनी चाहिये। उदाहरणतः पाक-विज्ञान की कक्षा में छात्राओं को कार्य प्रारम्भ करने के लिए सामग्री लेने का नियम और कार्य करने की विधि स्पष्ट रहे और वे सुचारुता से कार्य करने के अभ्यासी हो जायँ। इससे कक्षा में कोई उलझन नहीं होती।

(v) प्रत्येक विद्यार्थी की दृष्टि से कार्य की स्वतन्त्रता और उसके व्यक्तिगत

कार्य संपादन की प्रभावपूर्णता आवश्यक है। इससे सभी छात्र कार्य में व्यस्त रहते हैं और अनुशासन की समस्या नहीं उठती।

(vi) दर्शकों या निरीक्षकों द्वारा छात्रों के कार्य में बाधा नहीं पड़नी चाहिये। विद्यार्थियों का कार्य इस प्रकार चलते रहना चाहिये जैसे उनकी कक्षा में कोई आया ही नहीं है।

६—कार्य करने की स्थिति में सुधार—दैनिक कार्यों के सम्पादन में व्यवस्था, तत्परता एवं शीघ्रता की दृष्टि से निम्नांकित बातों की ओर ध्यान देना चाहिये—

(i) बालक कक्षा में पंक्तिबद्ध होकर आएँ।

(ii) कमरे में प्रवृष्ट होने पर अपनी-अपनी सीट पर उचित आसन में बैठ जायँ। शिक्षक तत्काल ही कार्य प्रारम्भ कर दे।

(iii) प्रयत्न करना चाहिये कि समाप्ति का घन्टा बजते ही शिक्षण समाप्त कर दें। देर से प्रारम्भ करना और देर से समाप्त करना दोनों ही बुरी आदतें हैं। समय पर समाप्ति का अर्थ यह नहीं है कि बालक यदि किसी कार्य में संलग्न हों तो २-१ मिनट का विलम्ब न किया जाय। प्रत्येक स्थिति में औचित्य का निर्णय शिक्षक ही कर सकता है।

(iv) छात्रों को अनावश्यक किताबें या कापी लाने की आवश्यकता नहीं, इससे कक्षा में बाधा पड़ती है। यदि वे ऐसी सामग्री ले आते हैं तो उन्हें पृथक् रखने की व्यवस्था रहनी चाहिये।

(v) धीरे-धीरे बातें करना, काना-फूसी, दाँत किटकिटाना या पीसना, किताब, कागज पर पेन्सिल से खेलना अथवा अन्य किसी प्रकार की आवाज करना बिल्कुल ही मना कर देना चाहिये। जोर से हाथ हिलाने, अँगुली पटकाने अथवा और अन्य तरीकों से ध्वनि करने का अवसर नहीं प्रदान करना चाहिये।

(vi) छात्रों को अपनी कठिनाइयाँ प्रस्तुत करने, कोई अनुरोध करने अथवा सुझाव देने की अनुमति देनी चाहिये।

(vii) छात्रों को कक्षा में शिष्टाचार पालन के लिए प्रेरित करते रहना चाहिये।

७—कक्षा में शिक्षक का व्यवहार एवं उसकी सजगता—उपर्युक्त व्यवस्थाओं के अतिरिक्त शिक्षक को कक्षा में अपने व्यवहार के प्रति भी सजग

रहना आवश्यक है और प्रति समय शिक्षण को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए उसे प्रयत्न करते रहना चाहिये । इस सम्बन्ध में निम्नांकित बातें ध्यान देने योग्य हैं—

(i) लम्बे-लम्बे व्याख्यानों से बचना और पाठ-विकास में छात्रों का अधिकाधिक सक्रिय सहयोग प्राप्त करते हुए अग्रसर होना ।

(ii) सप्रसन्न, सोत्साह एवं रुचि के साथ पढ़ाना, अनावश्यक वार्तालापों में न फँसना, धैर्य एवं सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार, आवेश अथवा आक्रोश पर नियंत्रण ।

(iii) स्पष्ट एवं निश्चित आदेश देना और छात्रों द्वारा उनके पालन पर दृढ़ रहना, दण्ड के औचित्य को समझ कर दण्ड देना, क्षणिक आवेश में दण्ड नहीं देना ।

(iv) उच्छृंखल बालकों के प्रति विशेष सचेष्ट एवं सजग रहना ।

(v) पूरी कक्षा पर दृष्टि रखना । यथासंभव तेज बालकों से कठिन प्रश्न और मन्द बुद्धि के बालकों से सरल प्रश्न पूछना ।

(vi) अवसर एवं परिस्थिति के अनुकूल अपनी पाठ योजना में परिवर्तन करने के लिए प्रस्तुत रहना । अचानक जटिल परिस्थिति या समस्या उत्पन्न हो जाने पर भी स्थिर चित्त होकर समाधान ढूँढ़ना ।

(vii) तत्परता एवं संलग्नशीलता का परिचय देना । सदा स्वच्छ एवं संभ्रांत वेश-भूषा बनाये रखना ।

(viii) अपने लिए कक्षा के सामने मध्य में एक निश्चित स्थान रखना और आवश्यकता पड़ने पर ही इधर-उधर जाना ।

(ix) किसी आदत या स्वभाव के वशवर्ती होकर कक्षा का ध्यान न भंग करना, जैसे खड़िया उछालना, बाल खुजलाना, बटन खोलते रहना, हाथों को मलना या पीठ पर बाँधे रहना, कमर पर हाथ रखकर पढ़ाना, टेबुल या कुर्सी पर झुके हुए अथवा अधलेटे स्थितिं में पढ़ाना, कृत्रिम हाव-भाव, उछल-कूद के साथ पढ़ाना आदि । ये आदतें शिक्षक को उपहास का पात्र बना देती हैं ।

(x) निरीक्षण कार्य में तत्परता एवं सावधानी रखना, छात्रों की यथावश्यक सहायता के लिए सदा प्रस्तुत रहना, उनकी रुचि बनाये रखना और प्रत्येक बालक को अनुभव कराते रहना कि शिक्षक को उसका विशेष ध्यान है ।

सारांश

कक्षा में पाठ-शिक्षण के लिए जाने से पूर्व पाठ की तैयारी एवं पढ़ाने की

योजना बना लेना बहुत आवश्यक एवं उपयोगी होता है। इससे पाठ-शिक्षण का उद्देश्य स्पष्ट रहता है, पाठ्य सामग्री के चयन, वर्गीकरण एवं क्रमायोजन में सहायता मिलती है, बालकों के शैक्षिक स्तर का ध्यान रहता है, पाठ-विकास में तार्किकता एवं सुव्यवस्था आ जाती है, शिक्षण विधि, युक्तियों एवं उपकरणों के चयन में सहायता मिलती है, शिक्षण का मूल्यांकन संभव होता है, अपनी सफलता-असफलता के आधार पर भावी शिक्षण योजना में सुधार करने की प्रेरणा मिलती है और शिक्षक में आत्मविश्वास का भाव पैदा होता है।

पाठ-योजना लिखित होनी चाहिए जिससे पाठ्य-सामग्री एवं उसे प्रस्तुत करने के विचार क्रम में स्पष्टता एवं निश्चयात्मकता बनी रहती है। पाठ-योजना तैयार करने के पूर्व शिक्षक को पाठ्य-सामग्री का, छात्रों के शैक्षिक स्तर का, शिक्षण विधि का, एवं कक्षा की परिस्थितियों का सम्पक ज्ञान अवश्य रहना चाहिए।

पाठ-योजना की दृष्टि से हरबार्ट ने चार पदों का उल्लेख किया था पर उसके शिष्यों ने उन्हें सुव्यवस्थित करके पाँच पदों का प्रतिपादन किया जिसे पंचपद प्रणाली अथवा पंचपदी सूत्र का नाम दिया गया है। उसके चार पद थे—स्पष्टता, सम्बन्ध, प्रणाली एवं विधि। आगे चलकर स्पष्टता के अन्तर्गत तीन पद बन गये—प्रस्तावना, उद्देश्य कथन एवं प्रस्तुतीकरण। इस समय हरबार्टीय पदों के रूप इस प्रकार हैं—प्रस्तावना, उद्देश्य कथन या विषय प्रवेश, प्रस्तुतीकरण अथवा मूल पाठ, सामान्यीकरण, पुनरावृत्ति एवं प्रयोग। इन पदों के महत्त्व और उनके अन्तर्गत क्या उल्लेख होना चाहिए इससे शिक्षक को परिचित रहना चाहिए।

हरबार्टीय पदों की सबसे बड़ी उपयोगिता यह है कि इनसे पाठ्य सामग्री की तैयारी करने, उसे क्रमायोजित करने, छात्रों को पाठ की ओर प्रवृत्त करने और युक्तिपूर्वक पाठ को विकसित करने, छात्रों को सक्रिय बनाये रखने, तथ्यों के आधार पर नियम या सिद्धान्त निकालने, अर्जित ज्ञान को सुदृढ़ और प्रयोग द्वारा स्थायी बनाने की एक व्यवस्थित प्रणाली का आधार मिल जाता है। लेकिन इस उपयोगिता के साथ-साथ इस प्रणाली की आलोचना भी की जाती है :—यह प्रणाली सभी प्रकार के पाठों में एक समान उपयोगी नहीं सिद्ध होती, शिक्षण में रीतिबद्धता आ जाती है, शिक्षक अधिक सक्रिय रहता है, बालक कम। बालकों को स्वयं शिक्षा का अवसर कम मिलता है, पाठ्य वस्तु के शिक्षण पर अधिक बल रहता है—बालकों के सीखने पर कम, मनोवैज्ञानिक एवं सैद्धान्तिक आधार पर भी प्रणाली यह खरी नहीं उतरती आदि।

पाठ-योजना स्पष्ट ह इसके लिए पाठ्य सामग्री का स्पष्ट एवं निश्चित ज्ञान आवश्यक है। पाठ-योजना को उत्तम शिक्षण के लिए एक साधन ही मानना चाहिए, साध्य नहीं और पाठ्य सामग्री, छात्रों के शैक्षिक स्तर तथा कक्षा की परिस्थितियों के अनुकूल उचित परिवर्तन करने के लिए तत्पर रहना चाहिए।

पाठ-योजना का लिखित रूप पाठ-संकेत या पाठ-सूत्र कहा जाता है। सामान्यतः पाठ-संकेत निम्नांकित शीर्षकों में तैयार किये जाते हैं—पाठ-संकेत संख्या, कक्षा, दिनांक, घंटा, विषय एवं प्रकरण ऊपर सूचनार्थ लिख दिये जाते हैं। फिर सामान्य उद्देश्य, विशिष्ट उद्देश्य, शिक्षण सामग्री, पूर्व ज्ञान, प्रस्तावना, उद्देश्यकथन, प्रणाली, शिक्षक मूल पाठ के प्रति बालकों को तैयार करता है। प्रस्तुतीकरण के अन्तर्गत मूल पाठ का विकास दिखाया जाता है। सामान्यीकरण में निष्कर्ष या नियम निकलवाते हैं। पुनरावृत्ति द्वारा पढ़ाये गये पाठ की जाँच होती है, श्यामपट्ट सारांश में पाठ के मुख्य तथ्यों का उल्लेख होता है, प्रयोग एवं गृहकार्यों में बालकों को कक्षा में तथा घर से करके ले आने वाले कार्यों का उल्लेख किया जाता है।

प्रश्न

१—पाठ-योजना तैयार करने के लिए शिक्षक को किन-किन बातों पर विचार कर लेना चाहिए?

२—पाठ-योजना की आवश्यकता एवं उपयोगिता पर संक्षिप्त प्रकाश डालिए।

३—पाठ-योजना सम्बन्धी हरबार्टीय पदों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कीजिए और बताइये कि उनका मनोवैज्ञानिक आधार क्या था?

४—हरबार्टीय पंच पद प्रणाली के गुण-अवगुण पर प्रकाश डालिए और अपने विचार प्रकट कीजिए।

५—उत्तम पाठ-योजना के लिए कौन सी विशेषताएँ आवश्यक हैं?

६—प्रशिक्षण महा विद्यालयों में पाठ-संकेत-निर्माण के प्रचलित रूप बताइए और उसके सम्बन्ध में अपनी सम्मति प्रकट कीजिए।

७—कक्षा प्रबन्ध की दृष्टि से शिक्षक को किन-किन बातों की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है?

अध्याय ८

पाठों के प्रकार एवं उनका विकास

"Teaching is in large measure the right guidance of the learning process. Planning activiities through assignments, questions, demonstrations, experiments, problems, units and other procedures must be based upon the type or types of learning most effective in promoting the growth of pupils. This planning is the responsibility of the best educational psychologist in the classroom, the teacher".

Butler, F. A.

विगत अध्याय में हमने सामान्य रूप से पाठ-योजना पर प्रकाश डाला है जो सभी प्रकार के पाठों के लिए किसी न किसी रूप में थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ उपयोगी है। अब इस अध्याय में हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि पाठों के प्रकार एवं उनकी पाठ-शिक्षण योजना क्या है और पूर्व अध्याय में वर्जित सामान्य पाठ-योजना तथा हरबार्टीय पदों में विभिन्न पाठों के अनुसार क्या परिवर्तन करना वांछित है।

पाठों के प्रकार

सीखना एक मानसिक क्रिया है। स्वस्थ, उचित एवं उपयुक्त मानसिक क्रिया की सम्पन्नता पर ही सीखने की सफलता निर्भर करती है। सरल, स्पष्ट एवं सुचारू रूप से सीखने के लिए ही सम्पूर्ण ज्ञान एवं शिक्षण सामग्री को विभिन्न पाठ्य विषयों में विभाजित करके एक क्रम से बालकों के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। पाठ्य विषयों का यह विभाजन इसी दृष्टि से किया जाता है कि बालक की सीखने की मानसिक क्रिया ठीक प्रकार से हो सके और वह आसानी से ज्ञान या कौशल प्राप्त कर सके। अतः इस मानसिक क्रिया के स्वरूप के अनुसार ही विभिन्न पाठ्य विषयों अर्थात् पाठों के प्रकार भी निर्धारित किये जाते हैं। मानसिक क्रिया के तीन प्रमुख पक्ष हैं—

(१) ज्ञानात्मक[1], (२) क्रियात्मक[2] और (३) भावात्मक अथवा रागात्मक।[3]

1. Cognitive.
2. Conetive.
3. Affective.

ज्ञानात्मक पक्ष का तात्पर्य उस मानसिक क्रिया से है जब किसी वस्तु या पदार्थ से हमारी ज्ञानेन्द्रियों का सम्पर्क स्थापित होता है और हमें उसका ज्ञान[1] प्राप्त होता है।

क्रियात्मक पक्ष का तात्पर्य उस मानसिक क्रिया से है जब हम उस पदार्थ के सम्बन्ध में कोई परिवर्तन लाने की दृष्टि से अथवा उसे ज्यों का त्यों बनाये रहने की दृष्टि से किसी प्रकार का प्रयत्न करते हैं। इस प्रयत्न को ही क्रिया[2] कहते हैं।

भावात्मक अथवा रागात्मक पक्ष का तात्पर्य उस मानसिक क्रिया से है जब हमारे मन पर पदार्थ का अच्छा या बुरा प्रभाव पड़ता है अर्थात् पदार्थ के सम्बन्ध में हमारे मन में कोई अनुभूति पैदा होती है। इस अनुभूति को हम राग[3] कहते हैं।

इन तीनों के पक्षों के आधार पर शिक्षा शास्त्रियों ने पाठों को भी तीन प्रकारों में विभाजित किया है—

१—ज्ञानात्मक पाठ[4] (ज्ञानात्मक मानसिक पक्ष के आधार पर)
२—कौशल पाठ[5] (क्रियात्मक मानसिक पक्ष के आधार पर)
३—भावात्मक पाठ[6] (रागात्मक मानसिक पक्ष के आधार पर)

उपर्युक्त विभाजन का यह तात्पर्य नहीं है कि मानसिक क्रिया के ये तीनों पक्ष एक दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र एवं पृथक् अस्तित्व रखते हैं। वस्तुतः यह विभाजन किसी एक पक्ष की प्रधानता के कारण समझने की सुविधा के लिए किये जाते हैं। उदाहरणतः ज्ञानात्मक पक्ष का तात्पर्य इतना ही है कि उसमें ज्ञान का पक्ष अधिक है और क्रिया एवं रागपक्ष गौण। इसी प्रकार क्रियात्मक पक्ष में क्रिया की प्रधानता है, ज्ञान एवं भाव पक्ष गौण है। रागात्मक पक्ष में राग की प्रधानता है और ज्ञान एवं क्रिया पक्ष गौण। अतः इन तीनों पक्षों के अनुसार पाठों के जो तीन विभाजन किए गए हैं उन्हें एक दूसरे से बिल्कुल पृथक् नहीं मानना चाहिए। प्रत्येक प्रकार के पाठ में शेष दोनों के तत्त्व थोड़े-

---

1. Cognition.
2. Conation.
3. Affection.
4. Knowledge lessons.
5. Skill lessons.
6. Appreciation lessons.

बहुत विद्यमान हो सकते हैं। ज्ञानात्मक पाठों में ज्ञान की प्रधानता, क्रिया एवं राग के तत्त्व गौण; रागात्मक पाठों में राग की प्रधानता, ज्ञान एवं क्रिया के तत्त्व गौण; कौशल पाठों में क्रिया की प्रधानता, ज्ञान एवं राग के तत्त्व गौण। अतः इनमें से किसी भी पाठ को पढ़ाते समय उसके प्रधान तत्त्व के साथ-साथ गौण तत्त्वों का भी उचित ध्यान रखना चाहिए जिससे उसकी उपेक्षा न हो जाय।

इन तीनों प्रकार के पाठों का हम पृथक्-पृथक वर्णन करेंगे।

ज्ञानात्मक पाठ

ज्ञानात्मक पाठों का उद्देश्य बालकों को नवीन ज्ञान प्राप्त कराना एवं ज्ञान की वृद्धि कराना है। इन पाठों में तथ्यों एवं सिद्धान्तों के ज्ञान पर विशेष बल दिया जाता है और उनकी स्पष्ट व्याख्या की जाती है। विज्ञान, गणित, सामाजिक विषय (इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र आदि), भाषा के अन्तर्गत आने वाले कुछ पाठ जैसे व्याकरण, अलंकार, छंद-शास्त्र, रस सिद्धान्त आदि ज्ञानात्मक पाठों में आते हैं।

विषय सामग्री के आधार पर ज्ञानात्मक पाठों के भी दो विभाग किए जाते हैं—

(१) विकासात्मक पाठ जिनमें तथ्यों एवं सिद्धान्तों के सीखने की प्रधानता होती है और शिक्षक स्वयं सक्रिय रहकर ज्ञान प्रदान करता है।

(२) दृढ़ात्मक पाठ जिनमें ज्ञान को मस्तिष्क में दृढ़ता से स्थिर करना होता है। कुछ विचारकों ने विकासात्मक पाठों के भी दो भेद किए हैं—

(१) आगमन पाठ और (२) निगमन पाठ

इसी प्रकार दृढ़ात्मक पाठों के भी दो प्रकार किए गए हैं—

(१) अभ्यास पाठ[1] (२) पुनरीक्षण पाठ[2]

विकासात्मक पाठों का शिक्षण—इस प्रकार के पाठों में आगमन एवं निगमन विधियों का प्रयोग किया जाता है और इसी कारण ऐसे पाठों के दो भेद आगमन एवं निगमन लिखे गए हैं। आगमन विधि उन पाठों में उपयोगी सिद्ध होती है जिनमें तथ्यों, उदाहरणों एवं स्थितियों की तुलना तथा व्याख्या द्वारा नियमों, सिद्धान्तों अथवा परिभाषाओं का निर्धारण किया जाता है। विज्ञान, गणित, व्याकरण आदि विषयों में अधिकांश पाठ इसके अन्तर्गत आते हैं। ऐसे पाठों में हरबार्टीय पंचपदी प्रणाली विशेष रूप से उपयुक्त सिद्ध होती है अर्थात् इन पाठों में पाठ-विकास का क्रम यह होता है—

---

1. Drill lessons.
2. Review lessons

(१) प्रस्तावना, उद्देश्य कथन (२) प्रस्तुतीकरण (३) तुलना एवं व्याख्या (४) सामान्यीकरण और (५) प्रयोग (अभ्यास कार्य एवं गृहकार्य)।

इन पाठों में अगमन विधि के प्रयोग का यह तात्पर्य नहीं है कि निगमन विधि का प्रयोग होता ही नहीं। इन विधियों के वर्णन में लिखा जा चुका है कि वस्तुतः ऐसे पाठों में अगमन-निगमन विधि का प्रयोग होता है अर्थात् पाठ का प्रारम्भ एवं नियमीकरण तक अगमन विधि प्रयुक्त होती है और अन्त में प्राप्त सिद्धान्तों के उदाहरण, प्रयोग एवं अभ्यास के रूप में निगमन विधि प्रयुक्त होती है पर प्रधानता अगमन विधि की रहने से ये पाठ अगमन पाठ ही कहे जाते हैं और प्रारम्भिक चार पदों तक अगमन का ही प्रयोग होता भी है।

विकासात्मक पाठों का दूसरा भेद है निगमन पाठ। ऐसे पाठों में किसी सिद्धान्त या नियम की खोज नहीं की जाती बल्कि स्वीकृत सिद्धान्तों अथवा नियमों को बताकर उनकी परीक्षा एवं पुष्टि की जाती है। नियम या सिद्धान्त कक्षा में बता दिए जाते हैं और फिर उनके उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं। ऐसे पाठों में हरबार्टीय पदों में से केवल तीन पदों का प्रयोग होता है—

(१) प्रस्तावना, उद्देश्य कथन, (२) प्रस्तुतीकरण (सिद्धान्त या नियम, विश्लेषण एवं संश्लेषण, सिद्धान्त एवं नियम की पुष्टि) (३) प्रयोग।

जैसे अगमन पाठों में हम अन्त में निगमन विधि का प्रयोग पाते हैं उसी प्रकार निगमन पाठों में भी हम अगमन का प्रयोग देखते हैं क्योंकि सिद्धान्त या नियम प्रस्तुत करने पर उदाहरण, विश्लेषण एवं संश्लेषण करने के पश्चात् सिद्धान्तों की पुष्टि की जाती है। अतः अगमन-निगमन विधियाँ परस्पर पूरक विधियाँ हैं।

विकासात्मक पाठों में सामाजिक विषयों तथा भाषा (गद्य, द्रुतपाठ, अपठित एवं रचना पाठ, कहानी आदि) के पाठों में भी हरबार्टीय पंचपदी का प्रयोग न करके कुछ परिवर्तन कर लिया जाता है और केवल तीन पदों का ही प्रयोग किया जाता है—

(१) प्रस्तावना एवं उद्देश्य कथन, (२) प्रस्तुतीकरण एवं (३) पुनरावृत्ति।

इन पाठों में प्रस्तुतीकरण पद के अन्तर्गत अनेक उपविभाग कर लिए जाते हैं जिससे पाठ का विकास क्रम एवं तर्क युक्त ढंग से किया जा सके। भाषा के गद्य पाठ के प्रस्तुतीकरण में निम्नलिखित शीर्षक अपनाए जाते हैं—

(१) मौनपाठ, (२) बोध परीक्षण, (३) भाषा कार्य एवं व्याख्या, (४) शिक्षक द्वारा आदर्श पाठ छात्रों द्वारा सस्वरपाठ, (५) पुनरावृत्ति (परीक्षण, प्रयोग एवं अभ्यास आदि।)

दृढ़ात्मक पाठों का शिक्षण—ज्ञानात्मक पाठों के दूसरे रूप दृढ़ात्मक पाठ हैं जिनके दो भेद—अभ्यास एवं पुनरीक्षण पाठ लिखे गये हैं।

अभ्यास-पाठ

अभ्यास-पाठ का प्रयोजन बालकों में उचित आदतों को दृढ़ करना होता है। अभ्यास द्वारा किसी वस्तु अथवा बौद्धिक कार्य सम्बन्धी जो प्रतिक्रियाएँ बालक के मन में हैं उन्हें दृढ़ करने का प्रयत्न किया जाता है। इन पाठों के शिक्षण में किसी ज्ञान या योग्यता में कुशलता प्रदान करने के लिए तत्सम्बन्धी प्रयोग एवं अभ्यास बार-बार कराये जाते हैं जिससे वह प्राप्त योग्यता साहजिक एवं आत्म-सिद्ध[1] हो जाय, बालकों में उस कार्य को करने की ऐसी आदत पड़ जाय कि वह उसे अपने आप करने लगे। यही आदत को दृढ़ करना है।

अभ्यास पाठों में आदत-निर्माण के लिए किसी कार्य को इतनी बार दोहराना पड़ता है कि लोग अभ्यास कार्य एवं दोहराना दोनों को समानार्थी अथवा एक ही बात मान लेते हैं। पर ऐसा नहीं है। किसी समझे एवं सीखे हुए कार्यों तथा अर्जित योग्यताओं को समझ-बूझ कर सोद्देश्य अभ्यास करना अलग बात है और किसी कार्य को यान्त्रिक रूप में दोहराना दूसरी बात है। दोहराना तो एक प्रकार का साधन या विधि मात्र है, पर समझ कर सोद्देश्य दोहराना ही अभ्यास कहा जायगा, सभी प्रकार का दोहराना अभ्यास नहीं है। अभ्यास द्वारा अर्जित योग्यता को इतना सुदृढ़ बनाया जाता है कि वह योग्यता एक आदत बन जाती है। इससे उस कार्य के करने में शक्ति, श्रम एवं समय की बचत होती है। जैसे, गणित के प्रश्नों में अभ्यास द्वारा पहाड़ा, जोड़, बाकी, गुणा आदि क्रियाएँ साहजिक बनाई जाती है। जिस बालक में संख्याओं का जोड़, बाकी, पहाड़ा आदि साहजिक हो जाते हैं, वे उन्हें शुद्ध-शुद्ध हल करने में कम समय लेते हैं अन्यथा समय अधिक लगता है। इसी प्रकार भाषा में अक्षरी[2] की शिक्षा में भी अभ्यास का विशेष महत्त्व है। एक बार अच्छी तरह समझ कर अक्षरी सीख लेने पर इस उद्देश्य के साथ इतनी बार उसका अभ्यास होना चाहिये कि बालक को उसका साहजिक ज्ञान हो जाय और बिना सोचे हुए भी वह शुद्ध-शुद्ध लिख सके।

अभ्यास द्वारा साहचार्य[3] इतने दृढ़ हो जाते हैं कि अर्जित ज्ञान या तथ्य को स्मरण करने के लिए मस्तिष्क पर जोर नहीं देना पड़ता और उसके विस्मरण

1, Automatic.
2. Spelling.
3. Association.

का भय नहीं रह जाता । अभ्यास का उद्देश्य ऐसा मानसिक साहचर्य उत्पन्न करना होता है जो कालान्तर में अपने आप स्मरण हो जाता है । पर जैसा पहले कहा जा चुका है कि किसी कार्य का अभ्यास तभी कराना चाहिये जब उसे बालक अच्छी तरह समझ लें । बिना समझे हुए बार-बार दोहराने या रटने से न तो वांछित योग्यता प्राप्त होती है और न उस योग्यता को विभिन्न परिस्थितियों में कार्यान्वित करने की वांछित शक्ति है । परिणामतः ऐसे बालक असफल सिद्ध होते हैं । यह हमें समझ लेना चाहिये कि अभ्यास द्वारा मस्तिष्क में पहले से बने हुए सम्बन्ध ही सुदृढ़ होते हैं कोई नये सम्बन्ध नहीं बनते । कोई भी मानसिक सम्बन्ध बिना समझे हुए नहीं बनता अतः अभ्यास के पहले समझकर मानसिक सम्बन्ध बनाना आवश्यक है ।

वस्तुतः अभ्यास द्वारा किसी अर्जित तथ्य या साहचर्य की याद बनाये रखने का ही प्रयत्न किया जाता है किन्तु याद करने की क्षमता उन परिस्थितियों पर निर्भर है जिन परिस्थितियों में वह साहचर्य स्थापित किया गया हो । ये परिस्थितियाँ निम्नलिखित हैं—

१. प्रथम अनुभव का महत्व[1]—हमारे जीवन में किसी वस्तु के साथ प्रथम अनुभव का बड़ा महत्त्व होता है । यदि किसी काम के सीखने अथवा वस्तु के सम्पर्क में आने का पहला अनुभव उत्तम है तो उस कार्य को हम सरलता से शीघ्र ही सीख लेते हैं । यदि पहला अनुभव रुचिकर एवं सुखद नहीं है तो फिर उस कार्य को समझना और स्मरण करना कठिन हो जाता है । अतः शिक्षक को चाहिये कि किसी भी वस्तु का ज्ञान प्रदान करने के लिए पहली बार ऐसी परिस्थिति का निर्माण करे जिसका बालक का प्रथम अनुभव उत्तम हो और बालक में उस ज्ञान के लिए रुचि एवं आकर्षण पैदा हो जाय ।

नवीन ज्ञान के प्रति बालक का ध्यान आकृष्ट करने के लिए अनुभवों की नवीनता पर भी बल देना पड़ता है । पर इस नवीनता का बालक के पूर्व ज्ञान से उचित सम्बन्ध स्थापित कर लेना चाहिये अन्यथा बालक के लिए वह अनुभव दुरूह हो जायगा और उसकी जिज्ञासा भी दब जायगी । अतः बालक में उचित मानसिक साहचर्य स्थापित करने के लिये विषय सामग्री का ठीक चयन, क्रमायोजन एवं नवीन पृष्ठभूमि में नए ढंग से पाठ को प्रस्तावित करना आवश्यक है ।

---

1. Primacy of experience.

२. प्रभाव की सजीवता[1]—बालक के मस्तिष्क पर अनुभव सम्बन्धी प्रभाव जितना ही सजीव, स्पष्ट एवं गहरा होगा, वह अनुभव उतना ही स्मरणीय बन जाता है। शिक्षण में शिथिलता रहने से बालक पाठ के प्रति विरक्त बन जाते हैं और तथ्यों के प्रति उनका ध्यान एकाग्र नहीं हो पाता। शिक्षण का क्रम ऐसा होना चाहिये कि पाठ के प्रति बालकों की रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती जाय और बालक उत्साहपूर्वक सीखने के कार्य में लग जायँ। इसी कारण शिक्षक को स्वयं प्रसन्नचित्त एवं सोत्साह पढ़ाना चाहिये और विषय सामग्री को सजीव, स्पष्ट एवं प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करना चाहिये। शिक्षण में नवीनता एवं विविधता[2] लानी चाहिये जिससे एकरसता[3] न उत्पन्न होने पाए। ऐसी परिस्थिति में प्रदत्त ज्ञान बालकों को स्मरण रहता है।

३. साहचर्य की बारम्बारता[4]—बार-बार दोहराने से भी अनुभव में परिपक्वता आती है और स्मृति स्थायी बन जाती है। किसी भी क्रिया को सीखने और दृढ़ करने के लिए उसे बार-बार दोहराना आवश्यक साधन है। शिक्षण में हमें आवृत्ति के इस महत्त्व को समझना चाहिये और पाठ के प्रमुख तथ्यों एवं तत्त्वों के यथावश्यक आवृत्ति का अवसर प्रदान करना चाहिये। यह आवृत्ति यन्त्रवत् दोहराना मात्र नहीं है, बल्कि किसी बात को समझकर उसे बार-बार क्रियान्वित करना ही उचित आवृत्ति है।

४. साहचर्य की तात्कालिकता[5]—किसी वस्तु के अनुभव होने पर तत्काल ही उसे स्मरण कर लेना सरल होता है। अनुभव होने के बाद हम जितना ही अधिक समय व्यतीत करेंगे उतना ही उसका विस्मरण होता जायगा। अतः शिक्षण में कोई भी ज्ञान प्रदान करने पर तत्काल ही उसकी आवृत्ति, परीक्षण, पुनरीक्षण[6] अथवा पुनरवलोकन होना चाहिए। इससे स्मृति ताजी बनी रहती है और उसे स्थायी बनाने में सहायता मिलती है। इसीलिए पाठ-शिक्षण की समाप्ति पर पुनरावृत्ति, प्रयोग, अभ्यास एवं समीक्षा आदि का पद रखा जाता है।

५. स्मरण करने में सुखद एवं सफल परिस्थितियों का प्रभाव—यदि किसी बात के सीखने में बालक को संतोष एवं सफलता मिलती है तो वह उसकी

1. Vividness of experience.
2. Variety.
3. Monotony.
4. Frequency of association.
5. Recency of association.
6. Review.

आवृत्ति करना चाहता है और उसे स्मरण रखता है पर यदि उसे सीखने में असंतोष एवं असफलता का अनुभव होता है तो उसे भूलने का प्रयत्न करता है और सीखने में अरुचि भी उत्पन्न होती है।[1] दुखद परिस्थितियों से मानसिक साहचर्य सुदृढ़ नहीं हो सकता। अतः बालकों को सिखाते समय सुखद परिस्थितियों का निर्माण अवश्य करना चाहिए जिससे बालक सीखने में संतोष का अनुभव करें।

अभ्यास-पाठों में प्रयुक्त हरबार्टीय पद

अभ्यास-पाठों में निम्नांकित पदों का प्रयोग होता है—

(१) **प्रस्तावना**—इसके द्वारा शिक्षार्थियों में अभ्यास कार्य करने की आवश्यकता का अनुभव कराया जाता है और अभ्यास के लिए उत्साह एवं तत्परता उत्पन्न की जाती है। अभ्यास की आवश्यकता एवं प्रयोजन जान लेने पर अभ्यास के प्रति शिक्षार्थियों का ध्यान स्वतः केन्द्रित हो जाता है।

२—**प्रस्तुतीकरण**—अभ्यास पाठों में प्रस्तुतीकरण का उद्देश्य छात्रों के सम्मुख कार्य का पूरा विवरण, प्रत्येक अगों-उपांगों का सही ज्ञान एवं कार्य करने की प्रणाली आदि को स्पष्ट करना होता है जिससे शिक्षार्थी प्रारम्भ से ही शुद्ध एवं उपयुक्त कार्य-संपादन कर सकें। प्रारम्भ से ही कार्य संपन्न करने की रीति उचित होनी चाहिए। इस दृष्टि से शिक्षक द्वारा प्रस्तुत आदर्श का विशेष महत्त्व है क्योंकि शिक्षार्थी उसी का अनुकरण करते हैं।

३—**अभ्यास एवं आवृत्ति**—अभ्यास पाठों में यह पद बहुत महत्त्व का है क्योंकि इसमें छात्रों द्वारा अभ्यास कार्य संपादित किए जाते हैं। शिक्षक को यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि अभ्यास की विधि उपयुक्त हो, उसमें शुष्कता भी न हो, विविधता द्वारा उसे सजीव बनाया जाय, छात्रों के अभ्यास-कार्य का ठीक निरीक्षण किया जाय और यथावश्यक मार्ग निर्देशन भी किया जाय। छात्रों की प्रगति का लेखा रखना, शैक्षिक खेलों का आयोजन करना, छात्रों को विभिन्न टोलियों में विभक्त कर कार्य कराना आदि कुछ ऐसे उपाय हैं जिनके द्वारा छात्रों को कार्य के प्रति उत्साहित किया जा सकता है। अभ्यास की विधियों में भी आवश्यक विविधता लानी चाहिए। अभ्यास कार्य जब नीरस प्रतीत होने लगे तो उस समय उसे बन्द कर देना चाहिए। आरम्भ में अभ्यास की अवधि थोड़ी रखें फिर क्रमशः उसे बढ़ाते जायँ।

अभ्यास-पाठों में उपयुक्त तीन पदों के अतिरिक्त गृहकार्य का भी महत्त्व

1. We learn to follow the ways that succeed and give satisfaction and we learn not to follow the ways that fail and give arrogance.

है क्योंकि कक्षा में अभ्यास के लिए उतना समय नहीं मिलता। घर पर बालक उस कार्य को अपनी गति, स्वेच्छा एवं स्वतन्त्रता से करते हैं।

अभ्यास पाठों के शिक्षण में कतिपय सावधानियाँ

१. बालक कार्य को जब अच्छी तरह समझ लें तभी अभ्यास कार्य दिए जायँ। बिना समझे हुए यांत्रिक रूप से किसी कार्य का बार-बार अनुकरण करना अभ्यास नहीं है। अतः बालकों को पाठ सीखने की उचित एवं सक्रिय प्रेरणा देनी चाहिए जिससे वे उत्साह के साथ अभ्यास में लग सकें। ऐसे पाठों में प्रस्तावना ऐसी रुचिकर हो कि बालक अभ्यास करने की आवश्यकता का अनुभव करने लगें और उसका प्रयोजन भी समझ लें।

बालकों को अभ्यास के बीच उनकी प्रगति से परिचित कराते चलें जिससे कार्य के प्रति उत्साह एवं तत्परता बनी रहे।

बालकों को अभ्यास करने की पूरी प्रणाली ज्ञात रहनी चाहिए अथवा बीच में उनका मन कार्य से हट जायगा। अतः आरम्भ से ही अभ्यास करने की अच्छी एवं पूर्ण प्रणाली से बालकों को परिचित कर देना चाहिए।

२. अभ्यास-पाठ में रोचकता लाने का प्रयत्न होना चाहिए। कार्य-संपादन की रीति में भी उचित विविधता लानी चाहिए। अभ्यासों का रूप बदलते रहना चाहिए यद्यपि उसका मूल सिद्धांत या सूत्र एक ही रहेगा। एक ही प्रकार का अभ्यास बोझिल एवं अरुचिकर हो जाता है। कार्य के लिए रुचि अति आवश्यक है।

३. अभ्यास पाठ यथासंभव संक्षिप्त हो जिससे बालकों को मानसिक थकान का अनुभव न हो सके।

४. मानसिक साहचर्यों का ध्यान रखते हुए एकाग्रता के साथ अभ्यास की गति बढ़ानी चाहिये। क्रमशः अभ्यास में शीघ्रता एवं द्रुतता लाने का प्रयत्न होना चाहिए।

५. अभ्यास के लिए मुख्य तथ्यों एवं क्रियाओं को ही चुना जाय, निरर्थक बातें अभ्यास में नहीं आनी चाहिए।

६. अभ्यास का प्रयोजन बालक के मन में उद्‌बुद्ध प्रतिक्रियाओं को सुदृढ़ करना एवं उसे स्वाभाविक तथा साहजिक बनाना होता है, अतः इसका प्रयोग मुख्यतः उन्हीं विषयों में अपेक्षित है जिनमें इस प्रकार की साहजिकता एवं

स्वचालन की संभावना हो, जैसे, गणित में पहाड़ों का ज्ञान; भाषा में अक्षरी, शब्दप्रयोग एवं वाक्य रचना, पढ़ने-लिखने का ज्ञान; ड्राइंग का अभ्यास आदि ।

७. अभ्यास का परिणाम बालकों के लिए संतोषप्रद होना चाहिए ।

८. अभ्यास पाठ में बालकों की व्यक्तिगत कठिनाइयों को विशेष ध्यान में रखना चाहिए और उन्हें उचित निर्देशन देना चाहिए । व्यक्तिगत शिक्षण के अभाव में अनेक बालक पिछड़ते जाते हैं । अतः शिक्षक के लिए अभ्यास कार्यों का निरीक्षण आवश्यक है जिससे वह बालकों की प्रगति से परिचित रहे और पिछड़े हुए बालकों को उचित पथ-प्रदर्शन एवं प्रोत्साहन दे सके ।

९. अभ्यास-पाठों में जो कठिन स्थल हों उनके लिए अतिरिक्त अभ्यास का भी अवसर देना चाहिए और असावधानी के कारण होने वाली भूलों से सदा बचना चाहिए ।

१०. अभ्यास से जब लाभ न दीख पड़े या बालक शिथिलता अथवा थकान का अनुभव करने लगें तो उस समय अभ्यास-कार्य बन्द कर देना चाहिए और फिर किसी अनुकूल अवसर पर प्रारम्भ कराना चाहिए ।

पुनरीक्षण पाठ

दृढ़ात्मक पाठों का दूसरा रूप पुनरीक्षण पाठों का है । पुनरीक्षण का सामान्य अर्थ है पढ़े हुए पाठ के पुनः अवलोकन अर्थात् दूसरी बार देखने की मानसिक प्रक्रिया ।[1] पुनरीक्षण पाठ द्वारा पहली बार के पाठ शिक्षण में सीखे हुए ज्ञान एवं अनुभव को पुनः स्मरण किया जाता है । किसी विषय के कुछ पाठ-शिक्षण हो जाने के बाद ही उन पर पुनरीक्षण पाठ होता है जिससे बालक सीखे हुए पाठों को पुनः देख सकें । पहली बार पढ़े हुए पाठों से बालक नया ज्ञान प्राप्त करता है, नया अनुभव प्राप्त करता है; उसके मस्तिष्क में नए विचार सम्बन्ध अथवा साहचर्य बनते हैं पर पुनरीक्षण द्वारा वे अनुभव एवं ज्ञान सुदृढ़ होने के साथ-साथ एक समग्र रूप से नए परिधान में सामने आते हैं ।

पुनरीक्षण पढ़ी हुई सामग्री का पुनःस्मरण या अभ्यास मात्र नहीं है, बल्कि उससे कहीं उच्चकोटि की सीखने की क्रिया है । पुनरीक्षण द्वारा पढ़ी हुई सामग्री एक नई पृष्ठभूमि में प्रस्तुत होती है । आशय यह है कि जो पाठ पहले पढ़ाए गए हैं वे किसी विषय अथवा विषय खण्ड या इकाई के छोटे-छोटे

---

1. The mental process of "going over" material already studied is ordinarily called "review". Butler—The improvement of teaching in secondary schools.

विभाजन होते हैं। एक पाठ में विषय एक अंश या झलक मात्र सामने आता है और इस प्रकार के अनेक पाठ पढ़ा लेने पर विषय अथवा उसके एक पूरे खण्ड या इकाई का एक स्पष्ट चित्र सामने आ पाता है। पुनरीक्षण पाठ द्वारा विषय के इसी पूर्ण रूप को (जो अनेक पाठों के अलग-अलग पढ़ने के बाद बन पाया है) सामने रखा जाता है।[1] इसी कारण पुनरीक्षण में विषय सामग्री की एक नई पृष्ठभूमि सामने आ जाती है। इस अवलोकन से सामग्री में अन्तर्निहित नए सम्बन्धों का पता चलता है। उदाहरणतः अकबरकालीन भारत का इतिहास पढ़ाना है। इस इकाई में अनेक पाठ हो सकते हैं—अकबर का जन्म, बाल्यावस्था, तत्कालीन भारत की स्थिति, अकबर का सिंहासनासीन होना, अकबर द्वारा साम्राज्य विस्तार, अकबर की राज्य-व्यवस्था, कला शिल्प एवं साहित्य का विकास, उसकी धार्मिक नीति, उसकी सफलता के कारण आदि। अब इन पाठों के पढ़ने के बाद ही अकबर के सम्बन्ध में एक पूरा चित्र बालकों के मन में बन पाता है। इसीलिए अकबर पर पुनरीक्षण के समय एक नई पृष्ठभूमि सामने आ जाती है और अकबर के व्यक्तित्व एवं उसके विविध क्रियाकलापों का सफल मूल्यांकन किया जा सकता है जो पहले के पृथक्-पृथक् विभिन्न पाठों में सम्भव नहीं हो सकता था।

पुनरीक्षण पाठों में हम वस्तुतः पीछे मुड़कर पढ़े हुए अनेक पाठों द्वारा बने हुए सम्पूर्ण मानसिक चित्र पर नवीन दृष्टिपात करते हैं और उनमें आए हुए तथ्यों के परस्पर सम्बन्ध एवं उनका सापेक्षिक महत्त्व समझते हैं। पुनरीक्षण पाठ हमें पाठ्य विषय के अनेक पृथक्-पृथक् पढ़ाए गए पाठों के समवेत रूप का चित्र हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं और उन पर हम नए सिरे से नवीन दृष्टि से विचार करते हैं। इस पूरे चित्र को सामने रखने से ही तथ्यों एवं सामग्री का परस्पर सम्बन्ध, कार्य-कारण शृंखला, सापेक्षिक महत्त्व समझ में आता है और सम्पूर्ण सामग्री पर विवेचनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। सम्पूर्ण सामग्री को हम पुनः व्यवस्थित एवं संगठित करते हैं और उसमें एक सिलसिला या क्रम स्थापित करने में समर्थ होते हैं।[2]

---

1. "A review should be a learning activity with more involved than drill or recall. It should lead to some further understanding of a division or unit of a field of knowledge, or the development growing out of several divisions or units in a field itself."

   Butler—Improvement of teaching in Higher Secondary Schools Page 351

2. Butler—Improvement of teaching in Higher Secondary Schools P. 351.

पुनरीक्षण पाठ के लिए शिक्षा विशेषज्ञ रीब्ज ने एक दृष्टान्त प्रस्तुत किया है जैसे कोई पर्यटक पहाड़ी पर चढ़ते समय मार्ग में अनेक दृश्यों का—पेड़, टीले, झरने तथा अन्य प्राकृतिक छटाओं का आनन्द लेता हुआ ऊपर चलता जाता है किन्तु ऊपर चोटी पर पहुँच कर जब वह मुड़कर पीछे के दृश्यों की ओर देखता है तो मार्ग के वे विभिन्न दृश्य अपनी पृथक्-पृथक् सत्ता छोड़ कर सम्मिलित रूप में एक विराट एवं व्यापक दृश्य बन जाते हैं और उनकी एक नई पृष्ठ भूमि दृष्टिगोचर होने लगती है। इसी प्रकार पुनरीक्षण पाठ पहले पढ़ाए हुए पाठों के सम्मिलित प्रभाव को नवीन भूमिका में प्रस्तुत करते हैं।

पुनरीक्षण एवं अभ्यास पाठों में अन्तर—पुनरीक्षण एवं अभ्यास दोनों ही बालक द्वारा अर्जित ज्ञान को दृढ़ करने के लिए पढ़ाए जाते हैं किन्तु वे एक नहीं हैं। अभ्यास-पाठों में सीखी हुई सामग्री यथातथ्य दोहराए जाते हैं जब कि पुनरीक्षण पाठों में पढ़ी हुई सामग्री को एक नए ढंग से, नई पृष्ठभूमि में देखते हैं। अभ्यास पाठ में आवृत्ति द्वारा सीखे हुए अथवा पढ़े हुए तथ्य को पूर्ववत् रूप में ही आत्मसात करना और स्वचालित बनाना लक्ष्य रहता है किन्तु पुनरीक्षण पाठों में विषय का एक सर्वांग चित्र विवेचनात्मक रूप में सामने आता है। पूर्व प्राप्त ज्ञान अधिक स्पष्ट, व्यापक बनकर प्रस्तुत होता है। इस प्रकार पुनरीक्षण एवं अभ्यास पाठों के प्रयोजन एवं प्रक्रिया दोनों में भिन्नता पाई जाती है।

कुछ लोग पुनरीक्षण को परीक्षण पाठ समझ लेते हैं पर यह एक भ्रम है। परीक्षण में हम अर्जित ज्ञान का उसी रूप में पुनः स्मरण मात्र करते हैं जब कि पुनरीक्षण में अर्जित ज्ञान का नवीन रूप में पुनः स्मरण किया जाता है। परीक्षण का उद्देश्य यह जाँच करना होता है कि बालकों ने कहाँ तक सीखा और ग्रहण किया है पर पुनरीक्षण का उद्देश्य सीखे हुए ज्ञान को व्यापक, विवेचनात्मक और सुदृढ़ बनाना होता है। पुनरीक्षण पाठ को मूल पाठ-शिक्षण के ही समान समझना चाहिए।

पुनरीक्षण के प्रयोजन—पुनरीक्षण के उपर्युक्त अर्थ एवं अभिप्राय के आधार पर हम उसके प्रयोजन पर विचार कर सकते हैं—

१—अनेक पाठों के रूप में पठित विषय सामग्री को पुनः संगठित करके नए ढंग से छात्रों के सम्मुख प्रस्तुत करना।

२—किसी भी विषय की शिक्षा पहले पृथक्-पृथक् विभिन्न पाठों के रूप में प्रदान की जाती है जिससे उन पाठों का परस्पर सम्बन्ध बालकों को स्पष्ट

नही होता और वे सभी पाठ किस प्रकार एक पूर्ण पाठ्य विषय के अभिन्न अंग हैं, यह भी बालक समझ नहीं पाते। अतः विभिन्न पाठों का अंतरंग एवं परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट करना और सम्पूर्ण विषय या उसकी पूर्ण इकाई को समग्र रूप में सामने प्रस्तुत करना पुनरीक्षण पाठों का एक मुख्य प्रयोजन है।

३—पुनरीक्षण पाठ विषय को एक विस्तृत आधार प्रदान करने में सहायक होते हैं क्योंकि बालक छोटे-छोटे पाठों के रूप में विषय से परिचित हो चुके रहते हैं। अलग-अलग पाठों के पढ़ने से विषय के सम्यक् एवं सुसम्बद्ध ज्ञान में जो रिक्तता रह जाती है उसकी पूर्ति पुनरीक्षण पाठों से हो जाती है। पाठ को पहली बार पढ़ने में अनेक सीमाएँ एवं बन्धन रहते हैं, समयाभाव के कारण भी बहुत बातें छूट जाती हैं अतः पुनरीक्षण द्वारा इन अभावों की पूर्ति हो जाती है। पहली बार किसी नए ज्ञान या सूचना के सम्पर्क में आने पर बालक की ग्रहण शक्ति भी परिमित रहती है किन्तु उस ज्ञान को जब पुनरीक्षण पाठ द्वारा एक नई दृष्टि से देखने का अवसर मिलता है तो बालकों की ग्रहण शक्ति अधिक प्रबुद्ध रहती है और बालक एक व्यापक आधार लेकर उस पर विचार करता है।

४—पुनरीक्षण पाठों द्वारा पठित सामग्री को और अधिक सजीव एवं रोचक बनाने का अवसर मिलता है। पहली बार पढ़ाते समय शिक्षक पर पीरियड का बन्धन रहता है पर पुनरीक्षण में यह बन्धन नहीं रहता और शिक्षक नए तथा पूरक तथ्यों द्वारा मूल सामग्री को स्पष्ट एवं रोचक बनाता है। छात्रों में इस कारण विषय के प्रति रुचि उत्पन्न होती है और स्वाध्याय द्वारा उस विषय के व्यापक ज्ञान के लिए वे उत्कंठित हो उठते हैं।

५—पुनरीक्षण पाठों द्वारा शिक्षक को अपने शिक्षण की कमियाँ भी मालूम हो जाती हैं क्योंकि पढ़ाई हुई पाठ्य सामग्री को वह जब एक नई दृष्टि से पढ़ाता है और छात्रों से प्रश्न पूछता है तो ज्ञात हो जाता है कि बालकों ने कहाँ तक और किस रूप में विषय को ग्रहण किया था। इस आधार पर वह अपने शिक्षण की आलोचना स्वयं कर लेता है। उसे स्वयं संशोधन का अवसर मिलता है। शिक्षार्थियों को भी पुनरीक्षण द्वारा अपनी कमी मालूम हो जाती है और वे विषय को ठीक प्रकार से ग्रहण करने के लिए उद्यत होते हैं। वे अनुभव करते हैं कि यदि उन्होंने पहली बार ही पाठ को ठीक से समझ लिया होता तो पुनरीक्षण में वे अधिक सफल रहते। अतः उन्हें भी उचित रीति से अध्ययन करने की प्रेरणा मिलती है।

पुनरीक्षण पाठों का उपयोग—पुनरीक्षण पाठ सभी विषयों में हो सकते हैं किन्तु वर्णनात्मक विषयों जैसे सामाजिक विषय, इतिहास, भूगोल, नागरिक

शास्त्र, अर्थशास्त्र, साहित्य आदि में विशेष उपयोगी सिद्ध होते हैं क्योंकि इन विषयों में अनेक पाठों के पढ़ाने पर विषय सम्बन्धी कोई पूर्ण इकाई बन पाती है और पूरी इकाई का शिक्षण समाप्त कर लेने पर उसके पुनरीक्षण से एक विवेचनात्मक दृष्टि बालकों में पैदा होती है।

पुनरीक्षण में विश्लेषण-संश्लेषण, समालोचना, मूल्यांकन, व्याख्या आदि द्वारा पूर्व अर्जित ज्ञान की उपयोगिता बढ़ जाती है। अतः ऐसे विषयों में भी यह उपयोगी होता है जिनमें आलोचना-प्रत्यालोचना की विशेष आवश्यकता पड़ती है जैसे प्रकृति अध्ययन, जीवन विज्ञान, हस्त शिल्प आदि। पुनरीक्षण द्वारा ऐसे विषयों के अध्ययन में एक व्यापक आधार मिल जाता है।

पाठ्य विषयों की 'इकाई योजना शिक्षण विधि'[1] में पुनरीक्षण अधिक उपयोगी होता है क्योंकि एक विषय को कई इकाइयों में, और एक इकाई को कई पाठों में विभाजित करते हैं और एक इकाई का शिक्षण पूरा कर लेने पर उस इकाई पर पुनरीक्षण पाठ हो जाता है। डाल्टन पद्धति, प्रोजेक्ट पद्धति तथा अन्य समस्यात्मक पद्धतियों में पुनरीक्षण विशेष उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

पुनरीक्षण पाठों के प्रकार—पुनरीक्षण पाठ अनेक प्रकार के हो सकते हैं। मुख्यतः निम्नांकित हैं—

१—विवरण पुनरीक्षण[2]—ऐसे पुनरीक्षण पाठों द्वारा कक्षा में किये गये कार्य का विवरण प्रस्तुत किया जाता है। कक्षा के समस्त छात्रों को कुछ टोलियों में बाँट लेते हैं और प्रत्येक टोली विवरण के कुछ-कुछ अंश तैयार करती है और फिर सभी के विवरण एकत्र करके कोई एक टोली कक्षा के सम्मुख उसे प्रस्तुत करती है। यह विवरण पुनरीक्षण मौखिक या लिखित दोनों सम्भव है। यह निश्चित है कि विभिन्न टोलियों द्वारा प्रस्तुत विवरणों में असमानता होगी। अतः पूरे विवरण को समन्वित करके प्रस्तुत करने वाली टोली अच्छे विद्यार्थियों की होनी चाहिये। इतिहास, भूगोल, नागरिक शास्त्र, प्रकृति-विज्ञान आदि विषयों में विवरण पुनरीक्षण अधिक उपयोगी होता है।

२—सारांश पुनरीक्षण[3]—इस पुनरीक्षण में नया पाठ प्रारम्भ करने के पूर्व विगत दिवस के पढ़ाए हुए पाठ का सारांश कक्षा के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। अच्छा हो कि शिक्षक प्रतिदिन पाठ समाप्त होने पर छात्रों का उसका सारांश घर से लिखकर लाने को कह दे जिससे अगले दिन नया पाठ प्रारम्भ करने के

1. Unit Plan Teaching Technique.
2. Report review.
3. Summary Review.

पहले उसे कक्षा में सुना जा सके अथवा शिक्षक द्वारा प्रस्तुत सारांश से बालक अपने-अपने सारांशों की तुलना करें। शिक्षक के सारांश को सुनकर छात्रों को अपने सारांश में सुधार करने का अवसर मिलेगा और अच्छा सारांश लिखने की आदत पड़ेगी। सारांश लिखने के लिए पाठ के प्रमुख तथ्यों एवं तत्त्वों की ओर ध्यान देना पड़ता है अतः नए पाठ में छात्र इन बातों का ध्यान रखने लगते हैं।

३—प्रकरणात्मक रूपरेखा पुनरीक्षण[1]—ऐसे पाठों में किसी विशेष प्रकरण को चुनकर उस पर विचार-विमर्श किया जाता है और उस प्रकरण सम्बन्धी सभी पाठों की सम्पूर्ण सामग्री पर सामान्य दृष्टि डालते हुए मुख्य-मुख्य बातों पर छात्रों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। उदाहरणतः "प्राचीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति" एक प्रकरण है जिसे कई पाठों में विभक्त करके पढ़ाया गया है। उन्हें पढ़ा लेने पर शिक्षक अब संपूर्ण प्रकरण को एक मानकर उसकी मुख्य-मुख्य बातों पर छात्रों से विचार-विमर्श करता है। ऐसे पाठों को प्रकरणात्मक पुनरीक्षण पाठ कहते हैं। ये पाठ भी सामाजिक विषय और प्रकृति-विज्ञान में अधिक उपयोगी सिद्ध होते हैं। ये पुनरीक्षण पाठ बहुत कुछ इकाईगत पुनरीक्षण[2] की भाँति होते हैं जिनमें पाठ्य सामग्री प्रकरण की जगह इकाई के रूप में मानी जाती है।

४—समस्यात्मक पुनरीक्षण[3]—जब पठित सामग्री के आधार पर कोई समस्या हल करने के लिए छात्रों को दे दी जाती है तो उसे समस्यात्मक पुनरीक्षण कहा जाता है। छात्र अपनी योग्यता, अनुभव एवं स्वाध्याय द्वारा उस समस्या का समाधान ढूँढ़ते हैं। ऐसे पुनरीक्षण पाठों से अर्जित ज्ञान को वास्तविक परिस्थितियों में प्रयुक्त करने का अवसर मिलता है, शिक्षण का यथार्थ जीवन से सम्बन्ध स्थापित होता है और ये पाठ छात्रों के लिए बड़े रोचक एवं उत्साह-बर्द्धक सिद्ध होते हैं। ये पाठ सभी ज्ञानात्मक विषयों में उपयोगी होते हैं। इनसे बालकों की स्वतन्त्र विचार-शक्ति प्रबुद्ध होती है और उन्हें आत्म-प्रकाशन का अवसर मिलता है। पर ऐसे पुनरीक्षण में शिक्षक को समस्याएँ विशेष सावधानी से चुननी चाहिए जिससे वे सैद्धान्तिक या काल्पनिक न होकर व्यावहारिक एवं यथार्थ जीवन से सम्बद्ध हों।

५—सहकारी पुनरीक्षण[4]—इस प्रकार के पुनरीक्षण में शिक्षक एवं

1. Topical outline Review.
2. Unit plan review.
3. Problem review.
4. Co-operative Review.

शिक्षार्थी दोनों के परस्पर सहयोग से पाठों का पुनरवलोकन होता है। शिक्षक विचार प्रेरक प्रश्नों द्वारा कक्षा में किसी विषय पर विवाद आरम्भ कर देता है और फिर कक्षा के सभी विद्यार्थी विचार-विमर्श में भाग लेने लगते हैं। शिक्षक पथप्रदर्शन का कार्य करता है। ऐसे पुनरीक्षण का सबसे बड़ा लाभ यह है कि पूरी कक्षा कार्य संलग्न रहती है। इसमें समस्यात्मक पुनरीक्षण के प्रयोग भी संभव हैं। दैनिक पाठ के पुनरीक्षण में भी सहकारी पुनरीक्षण सहायक हो सकता है।

६—संचयात्मक पुनरीक्षण[1]—इस प्रकार के पुनरीक्षण में पूर्व पठित समस्त पाठों का सारांश लिखा जाता है। अतः प्रतीत होता है कि संचयात्मक पुनरीक्षण सारांश पुनरीक्षण के ही समान हैं। पर ऐसा नहीं है क्योंकि सारांश पुनरीक्षण में केवल पिछले दिन के पाठ का सारांश लिखा जाता है और संचयात्मक पुनरीक्षण में प्रकरण या प्रसंग सम्बन्धी पूर्व पठित सभी पाठों का। अतः इस पुनरीक्षण से प्रकरण का संपूर्ण चित्र छात्रों को स्पष्ट हो जाता है।

७—प्रयोगात्मक पुनरीक्षण[2]—सीखे हुए ज्ञान को नई-नई परिस्थितियों में प्रयोग करना प्रयोगात्मक पुनरीक्षण कहलाता है। इससे अर्जित ज्ञान तो मस्तिष्क में दृढ़ होती ही है पर उसकी व्यावहारिकता भी बढ़ जाती है।

८—दैनिक पाठ पुनरीक्षण[3]—यह पुनरीक्षण प्रतिदिन पाठ पढ़ा लेने पर किया जा सकता है जैसे प्रश्नों द्वारा उस पाठ का सम्बन्ध पहले पढ़े हुए पाठों से स्थापित करना। इससे एक विषय के विभिन्न पाठों का परस्पर सम्बन्ध बनता चलता है, छात्रों में आलोचनात्मक दृष्टिकोण पैदा होता है, अर्जित ज्ञान को नए रूप से संगठित करने का अवसर मिलता है और प्रतिदिन के पाठ का सारांश जान लेने और पूर्व पठित पाठों से सम्बन्ध स्थापित करते रहने से छात्रों को उस विषय का पक्का ज्ञान हो जाता है। शिक्षार्थी पाठ के प्रति सदा सजग और सतर्क बने रहते हैं।

पुनरीक्षण का समय

पुनरीक्षण का प्रयोजन सीखे हुए ज्ञान को मस्तिष्क में दृढ़ करना और विविध परिस्थितियों में उसके प्रयोग की क्षमता प्रदान करना है। अतः पुनरीक्षण पाठों की निश्चित एवं नियमित व्यवस्था होनी चाहिए। पाठ पढ़ाने के बाद इतना समय नहीं व्यतीत होना चाहिए कि छात्र पाठ को बिल्कुल ही भूल जायँ। इतना समय बिताकर पुनरीक्षण कराना व्यर्थ होगा। अतः उचित समय का

---

1. Cumulative Review.
2. Review by application.
3. Review on daily lessons.

ध्यान रखना चाहिए। दूसरी ओर पाठ पढ़ाते ही पुनरीक्षण करना भी उचित नहीं रहता। पाठ पढ़ाने के कुछ समय बाद ही पुनरीक्षण ठीक होता है। पहली बार इसके लिए यथेष्ट समय देना चाहिये और फिर समय कम करते जाना चाहिये। इसके अतिरिक्त विभिन्न पुनरीक्षणों के बीच का समय भी क्रमशः बढ़ाते जाना चाहिए जैसे यदि पहला पुनरीक्षण पाठ के एक दिन पश्चात् हो तो फिर दूसरा दो दिन पश्चात् और उसके बाद तीन दिन का अन्तर। इसी प्रकार बीच की अवधि बढ़ाते जाना चाहिये। यह अवधि पुनरीक्षण के प्रयोजन, पाठ्य सामग्री का परिमाण तथा पूरी इकाई या प्रकरण की विशिष्टता देखकर ही निर्धारित करना चाहिये।

कौशल पाठ

कौशल पाठों का तात्पर्य उन पाठों से है जिनमें ज्ञान की जगह क्रिया की प्रधानता होती है। ज्ञानात्मक पाठों में जहाँ तथ्यों, सिद्धान्तों एवं उनके विवेचन की प्रमुखता रहती है वहाँ कौशल पाठों में तथ्य सिद्धान्त जानना गौण बात है, उन्हें कार्य में परिणत करना प्रमुख बात मानी जाती है। कौशल पाठ कार्य प्रधान होते हैं जिनमें सतत अभ्यास द्वारा ही पटुता प्राप्त होती है, जैसे संगीत, चित्र, नृत्य, सिलाई, कढ़ाई, बढ़ईगिरी, कताई-बुनाई तथा अन्य शिल्प आदि। इन विषयों में केवल सिद्धान्त जान लेना पर्याप्त नहीं है बल्कि सिद्धान्त के साथ-साथ निरन्तर क्रियात्मक अभ्यास भी आवश्यक है। किसी बालक को तरीका बता देने से ही तैरना नहीं आ जाता, साइकिल चलाने का सिद्धान्त बता देने से साइकिल चलाने नहीं आता, उसे तो ये कार्य स्वयं करने पड़ते हैं और तभी वह कौशल सीख पाता है। अतः कौशल पाठों में कार्य का अभ्यास मुख्य बात है जिससे बालक कला या कार्य विशेष में दक्ष हो जाय। अतः कौशल पाठों का उद्देश्य किसी कला, शिल्प या कार्य करने की कुशलता प्रदान करना है।

शिक्षण की दृष्टि से कौशल पाठ अभ्यास पाठ से मिलते-जुलते हैं क्योंकि कौशल पाठों में भी कार्य की निरन्तर आवृत्ति आवश्यक होती है। पर इनमें अन्तर यह है कि अभ्यास पाठों में तथ्यों एवं सिद्धान्तों के अभ्यास की प्रधानता रहती है और कौशल पाठों में शारीरिक अंगों—अंगुलियों, मांस पेशियों एवं विविध अवयवों पर नियन्त्रण का अभ्यास होता है क्योंकि कौशल पाठों की सामग्री अपेक्षाकृत स्थूल होती है, उनमें अंग संचालन की उपयुक्त विधि पर जोर देना पड़ता है। जैसे शुद्ध, सुन्दर एवं सुडौल लेखन, टंकन (टाइप राइटिंग), द्रुतलिपि (स्टेनोग्राफी), मूर्ति एवं चित्रकला आदि ऐसे ही विषय हैं।

शास्त्रीय एवं सैद्धान्तिक ज्ञान को व्यावहारिक एवं प्रायोगिक रूप देने के लिए कौशल पाठों की आवश्यकता पड़ती है जैसे वैज्ञानिक, प्राविधिक एवं तकनीकी विषयों में प्रयोग सम्बन्धी कुशलता प्रदान करने के लिए, वैज्ञानिक यन्त्रों एवं उपकरणों के ठीक और उचित प्रयोग के लिये कौशल पाठों की आवश्यकता पड़ती है।

कौशल पाठों के शिक्षण का महत्त्व

बालकों की स्वाभाविक क्रियाशीलता की शक्ति को उचित रूप से विकसित करने एवं सृजनात्मक प्रवृत्ति पैदा करने के लिये कौशल पाठों का महत्त्व सभी स्वीकार करते हैं। बालक स्वभावतः क्रियाशील होता है और क्रिया द्वारा कुछ न कुछ सीखने में संलग्न रहता है किन्तु कौशल पाठों की शिक्षा द्वारा इस सीखने की क्रियात्मक प्रवृत्ति को अधिक सफल और उपयोगी बनाया जा सकता है। इस शिक्षा बिना अपने आप सीखने में अनेक असफल प्रयास करने पड़ते हैं, समय, शक्ति एवं श्रम का अपव्यय होता है और कार्य में वांछित कुशलता भी नहीं प्राप्त होती। जैसे कोई बालक बढ़ईगिरी सीखने का प्रयत्न करता है और उसे उचित प्रकार से सिखाने की कोई व्यवस्था नहीं है तो उसके प्रयास असफल होंगे। अतः किसी भी शिल्प या कार्य के सीखने में कौशल पाठों का महत्त्व सदा बना रहेगा।

किसी भी कला या शिल्प के सीखने की एक उचित पद्धति होती है और उसके अनुसरण से समय एवं श्रम की बचत होती है और साथ ही कार्य भी सरल एवं सुगम प्रतीत होता है। लिखना-पढ़ना सिखाने का उदाहरण हम ले सकते हैं। प्रारम्भ में बालक लिखने में कितना परिश्रम करता है, अँगुलियों पर कितना जोर डालता है, उसकी भृकुटी तनी सी रहती है, फिर भी अक्षर सीधे, सुन्दर एवं सुडौल नहीं होते पर उचित पद्धति द्वारा सीख लेने पर वह बड़ी सरलता से और शीघ्रतापूर्वक सुन्दर एवं सुडौल अक्षर लिखने लगता है। यह कुशलता उसने कैसे प्राप्त की ? बालक को ठीक प्रकार से कलम पकड़ने, उचित आसन से बैठने, प्रत्येक अक्षर का ठीक आकार बनाने और फिर उन्हें मिलाकर लिखने की शिक्षा तथा उसका अभ्यास लेखन सम्बन्धी कौशल पाठ का एक अच्छा उदाहरण है। बिना इसके लिखने की कुशलता बालक को नहीं प्राप्त हो सकती।

कौशल पाठ द्वारा बालक के सीखने के प्रयत्न में उचित क्रम, उचित व्यवस्था एवं स्पष्टता आ जाती है। इनके अभाव में उन्हें अनेक अनावश्यक एवं

निरर्थक प्रयत्न करने पड़ते हैं। अतः निर्थक प्रयासों से बचने के लिये कौशल पाठों का आयोजन आवश्यक है।

कौशल पाठों की उपादेयता संक्षेप में निम्नलिखित है—

(१) कुशल चेष्टाओं की स्वच्छता[1]—किसी शिल्प या कला को तत्सम्बन्धी कौशल पाठों द्वारा सोद्देश्य सीखने के कारण अनावश्यक प्रयत्न नहीं करने पड़ते, समय, श्रम एवं साधन की बचत होती है क्योंकि शिक्षक यह स्पष्ट कर देते हैं कि कार्य सिद्धि के लिये क्या चेष्टायें आवश्यक हैं।

(२) कुशल चेष्टाओं की सुचारुता[2]—कार्य में कुशलता प्राप्त कर लेने पर कार्य का संचालन सुगम एवं सुचारु हो जाता है। कार्य की संपादन-विधि में उलझन नहीं रहती, कार्य करने वाले अङ्गों पर नियन्त्रण और उनमें सन्तुलन[3] एवं समायोजन[4] स्थापित हो जाता है। उदाहरणतः लिखने या सिलाई करने में पहले अँगुलियों पर नियन्त्रण नहीं रहता और वे सन्तुलित एवं समायोजित ढङ्ग से काम नहीं करतीं। पर उचित शिक्षण द्वारा बालक अपने अङ्गों से काम लेना जान जाता है और धीरे-धीरे उसके कार्य में सुचारुता आ जाती है।

(३) कुशल चेष्टाओं में सुचारुता[5]—कौशल पाठों के शिक्षण से कार्य करने की प्रक्रिया में सुगमता आ जाती है अर्थात् कार्य करने की विधि सरल हो जातीहै, श्रम कम करना पड़ता है। बालक की क्रियायें साहजिक एवं स्वचालित होती जाती हैं और उसे शारीरिक या मानसिक थकान कम अनुभव होता है। इसका उदाहरण हम बालिकाओं द्वारा बुनाई-कढ़ाई के कामों में देख सकते हैं कि एक बार चेष्टाएँ सहज बना लेने पर राह चलते, बातें करते हुए भी उनकी अँगुलियाँ अपने आप काम करती रहती हैं और त्रुटि भी नहीं होती।

कौशल पाठों का शिक्षण

कौशल पाठों के शिक्षण में तीन हरबार्टीय पदों का प्रयोग होता है—

(१) प्रस्तावना, (२) प्रस्तुतीकरण एवं (३) अनुकरण एवं अभ्यास

(१) प्रस्तावना—इस पद में शिक्षक पूर्व ज्ञान के आधार पर नये ज्ञान के लिये बालकों को तैयार करता है। तैयार करने का अर्थ है बालकों को उचित

---

1. Neatness of skilled movements.
2. Smoothness of skilled movements.
3. Balance.
4. Adjustment.
5. The ease in skilled movements.

एवं अनुकूल शारीरिक तथा मानसिक स्थिति में ले आना। यह कई प्रकार से सम्भव है। जिस क्रिया में बालकों को कुशल बनाना है उस क्रिया के प्रति बालकों को प्रेरित एवं प्रवृत्त करने के लिये शिक्षक कार्य सम्बन्धी नया नमूना दिखा सकता है, कोई यन्त्र या उपकरण दिखा कर जिज्ञासा पैदा कर सकता है अथवा किसी कार्य के सम्पादन में कठिनाई का अनुभव कराते हुए पाठ को समस्यात्मक रूप में रख सकता है। इससे विद्यार्थियों में कार्य के प्रति रुचि और उत्साह पैदा होता है। शिक्षक को सदा पाठ के अनुसार ही प्रस्तावना रखनी चाहिए। किसी एक नियम या एक रूप का अन्धानुकरण नहीं करना चाहिए।

प्रस्तावना के बाद ही उद्देश्य कथन के रूप में स्पष्ट कर देना चाहिए कि बालक क्या करने जा रहे हैं और उन्हें किस कार्य में कुशलता प्राप्त करनी है।

(२) प्रस्तुतीकरण—यद्यपि इस पद का प्रयोग विभिन्न कौशल पाठों में भिन्न-भिन्न प्रकार से किया जाता है किन्तु साधारणतः इसका प्रयोग निम्नलिखित रूप में होता है—

(क) प्रदर्शन[1]—पाठ प्रस्तुत करने के लिये प्रस्तावना के बाद ही शिक्षक उस क्रिया का प्रदर्शन करता है। प्रदर्शन में यह ध्यान रखा जाता है कि कार्य के प्रत्येक अंग एवं उन्हें सम्पन्न करने की पूर्ण पद्धति बालकों के लिये अच्छी तरह स्पष्ट हो जाय। अतः शिक्षक को प्रदर्शन में शीघ्रता या आतुरता नहीं दिखानी चाहिये और कार्य करने की प्रणाली धीरे-धीरे इस क्रम से प्रदर्शित करनी चाहिए कि बालक प्रत्येक पद को समझते हुए अनुसरण कर सकें।

प्रदर्शन का उद्देश्य कार्य संपन्न करने की एक आदर्श विधि उपस्थित करना होता है। यह आदर्श जितना शुद्ध एवं परिमार्जित होगा उतना ही अच्छा प्रभाव पड़ेगा। शिक्षक को कक्षा में प्रदर्शन के पहले एक बार स्वयं सारा प्रयोग कर लेना चाहिए जिससे प्रदर्शन सफल सिद्ध हो सके।

प्रदर्शन करते समय शिक्षक को पूरी कक्षा का ध्यान रखना चाहिए विशेषतः मन्द बुद्धि वाले एवं पिछड़े छात्रों का तो अवश्य ही ध्यान रहे जिससे वे भी कार्य पद्धति समझते एवं सीखते चलें।

प्रदर्शन को रोचक एवं आकर्षक बनाने के लिए शिक्षक को चलचित्र तथा अन्य श्रव्य-दृश्य साधनों का प्रयोग करना चाहिए, इससे कार्य के प्रति आकर्षण के साथ-साथ कार्य-प्रणाली के विभिन्न रूपों से परिचित होने का भी अवसर मिलता है।

---

1. Demonstration.

प्रदर्शन में कार्य करने की प्रक्रिया एवं पद्धति दिखाने को ही प्रधानता देनी चाहिए, सिद्धान्त अथवा नियम सम्बन्धी विवाद गौण रहना चाहिए। यदि छात्रों को कार्य के सम्बन्ध में कुछ सैद्धांतिक ज्ञान है तो शिक्षक बीच-बीच में दो-एक प्रश्न पूछते हुए कार्य-संपादन को आगे बढ़ा सकता है। इससे सिद्धान्त एवं प्रयोग दोनों का एक साथ परिचय होता जाता है।

विद्यार्थियों के शैक्षिक स्तर को देखते हुए प्रदर्शन के तीन रूप हो सकते हैं—(१) सामान्य प्रदर्शन, (२) व्याख्या सहित प्रदर्शन, (३) विवाद सहित प्रदर्शन।

सामान्य प्रदर्शन—जिसमें कार्य करके दिखाने की प्रधानता रहती है। यह विधि निपुण विद्यार्थियों के लिए अधिक उपयुक्त है।

व्याख्या सहित प्रदर्शन—जिसमें कार्य-विधि-प्रदर्शन की प्रधानता तो रहती है पर शिक्षक कार्य का स्पष्टीकरण भी वर्णन द्वारा करता चलता है। इस प्रदर्शन में शिक्षक को ध्यान रखना चाहिए कि मौखिक वर्णन अधिक या प्रधान न हो जाय।

विवाद सहित प्रदर्शन—जिसमें क्रिया प्रदर्शन के साथ-साथ शिक्षक एवं शिक्षार्थियों का विचार-विमर्श भी चलता रहता है। विचार-विमर्श के लिए प्रश्नोत्तर युक्ति सर्वोपयुक्त है। प्रदर्शन का यह रूप तभी सफल होता है जब छात्रों को उस कार्य के सम्बन्ध में कुछ ज्ञात हो।

कक्षा की स्थिति देखते हुए प्रदर्शन के इन रूपों में से किसी का भी अनुसरण किया जा सकता है किन्तु प्रधानता सदा ही प्रदर्शन की रहनी चाहिए, सिद्धान्त के व्याख्या की नहीं।

(ख) निरीक्षण—निरीक्षण प्रस्तुतीकरण का कोई पृथक् सोपान या चरण नहीं है बल्कि प्रदर्शन के साथ-साथ शिक्षार्थियों द्वारा होने वाली क्रिया है। जब शिक्षक प्रदर्शन करता है उस समय शिक्षार्थी उसे ध्यानपूर्वक देखते हैं। शिक्षक के प्रदर्शन में होने वाले क्रिया कलाप, कार्य संपन्न करने की विधि, कार्य के प्रत्येक अवयव एवं विभिन्न अवयवों का परस्पर संबंध, उपकरणों का प्रयोग तथा अन्य विधियों का निरीक्षण शिक्षार्थियों द्वारा होना चाहिए। उदाहरणतः विज्ञान के किसी प्रयोग में विद्यार्थियों को यह देखना चाहिए कि उपकरणों का किस प्रकार प्रयोग किया जा रहा है, उनकी साज-सँभाल और प्रयोग-विधि क्या है, इसे ठीक-ठीक देखकर ही शिक्षार्थी कार्य का ठीक अनुकरण कर सकते हैं।

(ग) शिक्षार्थियों द्वारा प्रयोगात्मक प्रयास[1]—निरीक्षण के पश्चात् छात्रों को स्वयं भी उस कार्य को सम्पन्न करने का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रयोग में बालक पहले त्रुटियाँ कर सकते हैं और अनावश्यक चेष्टाएँ भी, पर शिक्षक के उचित पथ-प्रदर्शन में धीरे-धीरे उनके प्रयत्न एवं चेष्टाएँ सफल होती जायँगी। 'प्रयत्न एवं भूल'[2] के नियमानुसार वे सुधार करते हुए ठीक प्रयोग करने लगेंगे। सफलता मिलने पर उन्हें स्वतः सन्तोष का अनुभव होगा। शिक्षक को इस प्रयोगात्मक प्रयास के समय शीघ्रता नहीं करनी चाहिए क्योंकि शिक्षार्थी धीरे-धीरे ही अपने अंगों के नियन्त्रण एवं गति-संचालन में सक्षम होंगे। बालकों के व्यक्तिगत भेद का भी ध्यान रखना चाहिए जिससे मन्द बुद्धि के विद्यार्थी भी सफलता प्राप्त करते चलें।

इस प्रयोगात्मक प्रयत्न में शिक्षक के निर्देशन का भी विशेष महत्त्व है क्योंकि बालकों से प्रारम्भ में त्रुटियों का होना स्वाभाविक है। किन्तु यह निर्देशन प्रयोग प्रारम्भ करने के बाद ही देना चाहिए, प्रयोग के पहले नहीं। इस समय शिक्षक को देखना चाहिए कि बालक प्रयोग की शुद्ध विधि का ठीक-ठीक अनुसरण कर रहे हैं या नहीं और गलती दीख पड़े तो निर्देशन देना चाहिए। प्रयोग के उन स्थलों पर जहाँ अधिकांश छात्र गलती कर रहे हों, सामूहिक निर्देशन होना चाहिए और जहाँ दो-एक छात्र गलती कर रहे हों, वहाँ व्यक्तिगत निर्देशन ही ठीक है। शिक्षक को इस समय विशेष सजग और सतर्क होकर छात्रों के कार्यों का निरीक्षण करना चाहिए जिससे आवश्यकतानुसार निर्देशन दे सके। निर्देशन में कभी भी टालमटोल या अवहेलना नहीं होनी चाहिए, बल्कि तत्काल ही उचित निर्देश देना चाहिए। उचित निर्देशन के अभाव में छात्र भी असावधानी करने लगते हैं। निर्देशन एवं संशोधन सम्बन्धी इस नियम को सदा याद रखना चाहिए—"भूल होने पर संशोधन करने की अपेक्षा भूल न होने देना ही उपयुक्त शिक्षण है।" कौशल पाठों के शिक्षण में यही मूल मन्त्र है। प्रारम्भ से ही यह प्रयत्न होना चाहिए कि छात्र ठीक प्रकार से कार्य करें, उनसे भूल न होने पाए।

(३) अनुकरण एवं अभ्यास[3]—प्रायोगिक प्रयास के बाद (यह देख लेने पर कि छात्र उस कार्य को शुद्ध ढंग से सम्पन्न कर सकते हैं) छात्रों द्वारा उस कार्य का पूरा अनुकरण एवं अभ्यास कराना चाहिए। कार्य की आवृत्ति ही

1. Experimentation.
2. Trial and Error.
3. Imitation and Practice.

अभ्यास है और यह आवृत्ति अनेक बार होनी चाहिए। जितना ही अभ्यास होगा, उतनी ही दक्षता एवं कुशलता प्राप्त होगी। यह अभ्यास इतना होना चाहिए कि कार्य को सही तरीके से पूरा करने की आदत बन जाय। जब तक यह आदत न बन जाय, निरन्तर अभ्यास चलते रहना चाहिए।

अभ्यास को उपयोगी एवं प्रभावपूर्ण बनाने के लिए शिक्षक का यह कर्त्तव्य है कि अभ्यास के लिए आवश्यक सभी उपकरणों की व्यवस्था और उचित वातावरण एवं परिस्थितियों का निर्माण कर ले। पाठ्य सामग्री एवं सहायक सामग्री की व्यवस्था तो कक्षा में जाने से पहले ही होनी चाहिए। अभ्यास के समय सामग्री ढूँढ़ना समय का अपव्यय है और शिक्षण-कार्य में व्यर्थ का व्यवधान उत्पन्न करना है।

अभ्यास के लिये उचित समय-निर्धारण भी आवश्यक है। इतने अधिक समय तक अभ्यास नहीं कराना चाहिये कि बालक में अरुचि उत्पन्न हो जाय और न इतना कम समय होना चाहिये कि कार्य का सम्पादन एक मजाक बन जाय और कोई दक्षता न प्राप्त हो। शिक्षक पाठ्य सामग्री देखते हुए उचित समय का निर्धारण कर ले।

अभ्यास के लिये यह भी आवश्यक है कि उसके पहले शिक्षार्थियों को कार्य-सम्पादन में जो अनेक अनावश्यक चेष्टाएँ करनी पड़ती हैं, वे दूर हो जायँ। प्रारम्भ में तो ये अनावश्यक चेष्टाएँ स्वाभाविक हैं पर प्रयोगात्मक प्रयास में उन्हें दूर हो जानी चाहिये अन्यथा अभ्यास में वे त्रुटियाँ बनी रह जाती हैं और उनका दूर होना कठिन हो जाता है जैसे यदि लिखने में गलत ढंग से कलम पकड़ने, अँगुलियों पर ठीक नियन्त्रण न रखने और अक्षरों के आकार-प्रकार में दोष रह जाने पर फिर सुलेख की आशा करना व्यर्थ है। अतः कार्य करने में अनावश्यक चेष्टाओं का निष्कासन आवश्यक है।

अभ्यास देने में यह ध्यान रखना चाहिए कि कार्य की जटिलता धीरे-धीरे बढ़े अर्थात् 'सरल से कठिन की ओर' का शिक्षण सूत्र याद रखना चाहिये। किसी सरल अभ्यास के बाद ही कोई जटिल अभ्यास नहीं देना चाहिए। कठिनाई क्रमशः बढ़नी चाहिये। उदाहरणार्थ अक्षरी के अभ्यास में यदि 'ऋ' की मात्रा का अभ्यास कराना है तो निम्नलिखित क्रम उचित होगा—

(१) कृपा, गृह, भृग, नृप, अमृत, वृहत्, पृथक्, गृहस्थ आदि।
(२) गृहीत, कृतज्ञ, कृतार्थ, कृषि, कृषक, कृष्ण, दृश्य, दृष्टि, आदि।
(३) पृष्ठ, सृष्टि, नृशंस, कृत् कृत्य, कृतघ्न, गृहिणी आदि।

प्रारम्भ में ही कठिन अभ्यास देने पर बालक निराश से हो जाते हैं अतः कठिनाई धीरे-धीरे आनी चाहिये।

अभ्यास में बालकों की रुचि बनाये रखने के लिये यह भी आवश्यक है कि बालक अपनी प्रगति से परिचित रहें। जब बालक यह जानता है कि वह अभ्यास द्वारा कार्य में सफलता प्राप्त कर रहा है तो उसे और सीखने की प्रेरणा मिलती है, वह संतोष का अनुभव करता है। अपनी प्रगति से अनजान बालक के लिये अभ्यास एक यान्त्रिक कार्य बन जाता है और कार्य की सजीवता तथा कार्य पूरा करने का उत्साह समाप्त हो जाता है। इससे प्रगति भी मन्द पड़ जाती है।

अभ्यास कार्य के समय शिक्षक को दोहरा कार्य करना पड़ता है :—

(१) बालकों द्वारा सम्पादित कार्यों का निरीक्षण और (२) बालकों द्वारा होने वाली त्रुटियों का संशोधन। इन दोनों कार्यों के बारे में ऊपर लिखा जा चुका है। पर फिर त्रुटि-संशोधन सम्बन्धी कुछ बातों पर ध्यान रखना आवश्यक है।

त्रुटि संशोधन एक कला है। इसके लिये उचित अवसर की परख एवं उचित विधि का अनुसरण आवश्यक है। त्रुटि संशोधन की सफलता के लिये शिक्षक में मनोवैज्ञानिक क्षण की पहचान होनी चाहिये अर्थात् शिक्षक को यह आभास हो जाय कि बालक इस समय त्रुटि-संशोधन के लिये तैयार हैं और उचित निर्देशों का पालन करेंगे। यदि इस मनोवैज्ञानिक क्षण का उपयोग नहीं किया गया तो छात्रों में निरोध (इनहिबिशन) की भावना उत्पन्न होगी। त्रुटि संशोधन के लिये बालकों का मानसिक रूप से तैयार रहना बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात है।

त्रुटि पाते ही संशोधन होना चाहिये। तत्काल संशोधन होने से बालक में कार्य को उचित विधि से सम्पन्न करने की लगन पैदा होती है और त्रुटि-संशोधन को वह क्रिया-पद्धति का ही अङ्ग मान लेता है और उसमें त्रुटि के कारण कोई हीन भावना नहीं आती। बालकों में स्वयं भी त्रुटि-संशोधन की भावना उत्पन्न होनी चाहिये। संशोधन-कार्य में उपेक्षा होने से बालक गलती करने की आदत पकड़ लेता है और शिक्षक के विलम्बित निर्देशन से चिढ़ने लगता है। फिर निर्देशों का उचित पालन भी वह नहीं करता।

त्रुटि-संशोधन की एक उचित विधि है—बालकों द्वारा परस्पर आलोचना। एक बालक का काम दूसरा बालक देखता और अपना मत प्रकट करता है। इससे छात्रों में आलोचनात्मक शक्ति पैदा होती है और अपनी त्रुटियों में

सुधार करने की भावना भी। इस पद्धति में यह ध्यान रखना चाहिये कि बालक निरपेक्ष एवं निष्पक्ष ढंग से सही आलोचना करना सीखें अन्यथा छात्रों में परस्पर कटुता पैदा हो जाती है। विशेष भावुक विद्यार्थी कक्षा के सम्मुख अपनी आलोचना से बहुत घबड़ाते हैं अतः ऐसे विद्यार्थियों के प्रति विशेष सतर्कता के साथ व्यवहार होना चाहिये। छात्रों को यह स्पष्ट बता देना चाहिये कि त्रुटि देखना और छिद्रान्वेषण में अन्तर है। यथार्थ आलोचना ही वांछित है। इसी कारण शिक्षक को इस विधि का प्रयोग बहुत सावधानी से करना चाहिये। अधिकांशत: उसे स्वयं ही निरीक्षण एवं संशोधन करना चाहिये।

कौशल पाठों के शिक्षण में ध्यान देने योग्य बातें—कौशल पाठों के सफल एवं प्रभावपूर्ण शिक्षण के लिये निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है—

१—पाठ्य सामग्री तथा शैक्षिक उपकरणों की उचित व्यवस्था एवं वितरण—पाठ प्रारम्भ करने के पूर्व शिक्षक को पाठ्य सामग्री, आवश्यक सभी साधन एवं उपकरण एकत्र कर लेना चाहिए और यह भी देख लेना चाहिए कि शिक्षण सम्बन्धी उपकरण एवं यन्त्र ठीक काम कर रहे हैं। उपकरणों का वितरण भी ठीक प्रकार से होना चाहिए। प्रस्तावना के बाद ही छात्रों के सहयोग से वितरण कर देना चाहिए।

२—कक्षा की उचित स्थिति एवं व्यवस्था—इसके अन्तर्गत प्रकाश, वायु एवं अन्य स्वास्थ्यप्रद स्थिति की व्यवस्था, बालकों के उचित रीति से बैठने की व्यवस्था, कार्य करने के लिए आवश्यक स्थान, फर्नीचर की व्यवस्था आदि शामिल हैं। कक्षा की स्थिति एवं व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि बालक प्रसन्नतापूर्वक कार्य करने के लिए आकृष्ट हो जायँ।

३—शुद्ध एवं सही ढंग से कार्य आरम्भ करने पर बल—कौशल पाठों में इस पर विशेष ध्यान रहना चाहिये कि बालक सही ढंग से कार्य प्रारम्भ करें। इससे उनका सीखना सरल, रुचिकर होगा और प्रगति अच्छी रहेगी। अशुद्ध ढङ्ग से कार्य प्रारम्भ करने पर गलत आदत पड़ेगी और सुधार होना कठिन हो जायगा। प्रारम्भिक लिखावट पर ध्यान न देने से हम देखते हैं कि अनेक छात्रों का लेखन बहुत खराब हो जाता है और आदत पड़ जाने पर सुलेख की आशा व्यर्थ हो जाती है।

४—संक्षिप्त निर्देशन—कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व अधिक निर्देश नहीं देना चाहिए क्योंकि छात्रों में कार्य के प्रति ऊब पैदा हो जाती है। आवश्यक एवं

संक्षिप्त निर्देश ही देना चाहिए और बालक जब कार्य प्रारम्भ कर दें तब निरीक्षण, आवश्यक त्रुटि-सुधार एवं निर्देशन होना चाहिए।

५—अनावश्यक प्रयत्नों को दूर करना—कार्य संपन्न करने के लिए अनावश्यक प्रयत्नों को प्रारम्भ से ही दूर कर देना चाहिए, जैसे, लिखना सीखते समय बालक जोर से कलम पकड़ता है। दबा-दबाकर लिखता है, हाथों और अँगुलियों पर बहुत जोर देता है, उचित आसन एवं मुद्रा में न बैठकर व्यर्थ ही शरीर को मोड़ता और ऐंठता है। ये प्रयत्न शुरू में ही दूर करना चाहिए और बताना चाहिए कि कितनी सुगमता से लिखने का कार्य हो सकता है और समय तथा श्रम की बचत भी होती है।

६—निषेधात्मक निर्देश न दिए जायँ—त्रुटि होने पर कार्य पद्धति का सही रूप प्रदर्शित करना चाहिए और व्यक्तिगत सहायता देनी चाहिए। ऐसा नहीं करते, इस प्रकार मत करो, इसका प्रयोग ऐसे नहीं होता, तुम्हारा तरीका ठीक नहीं आदि निषेधों से बालक का आत्म-विश्वास जाता रहता है। "देखो, इस प्रकार कार्य करने से शीघ्रता होगी और सफलता मिलेगी", यही निर्देशन उपयुक्त है।

७—कार्य की आवृत्ति या अभ्यास—शुद्ध रूप से कार्य संपन्न करना सीख लेने पर ही उसकी आवृत्ति के लिए छात्रों से कहना चाहिए और खूब अभ्यास कराना चाहिए। जब तक कार्य-प्रणाली का सही ज्ञान न हो, अभ्यास कार्य नहीं देना चाहिए।

८—चिन्तन एवं मनन का महत्त्व—कार्य-कुशलता के लिए आवश्यक है कि कार्य-प्रणाली सीख लेने पर उसके अंगों-प्रत्यंगों एवं विविध प्रक्रियाओं पर मनन करने का अवसर दिया जाय। इससे बालक कार्य के सम्बन्ध में विचार शक्ति से काम लेता है और सरल एवं सुगम विधि निकालता है, अनावश्यक प्रयत्न वह स्वयं हटा देता है, विविध उपकरणों के उचित प्रयोग जान लेता है। इससे उसमें स्वयं अन्वेषण एवं अनुसंधान की प्रवृत्ति पैदा होती है।

मनन उसी समय लाभप्रद होगा जब बालक कार्य सम्बन्धी कुछ अनुभव प्राप्त कर चुकें। प्रक्रिया सीखने के दौरान में मनन से तो बाधा ही पड़ती है। कार्य करते समय तो कार्य-सिद्धि पर ध्यान रहना चाहिए। उस समय मनन करने से कार्य से अवधान हट जाता है और सिलसिला भंग हो जाता है। अतः कार्य समाप्त हो जाने के बाद ही अपनी कार्य-प्रणाली एवं प्रयत्नों पर विचार

करना चाहिए तथा आगे अपनी त्रुटियों को परिमार्जित करके उचित विधि अपनानी चाहिए।

९—लय (रिद्म) का महत्त्व—कार्य-कुशलता ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, हमारी कार्य पद्धति में एक मेल और सामंजस्य दिखायी पड़ता है, कार्य के विभिन्न अंगों एवं प्रक्रियाओं में एक संगति पाई जाती है। इस मेल, संगति एवं सामंजस्य को हम 'लय' के समावेश से और भी रुचिकर एवं सुखद बना सकते हैं तथा अपना ध्यान अधिक एकाग्र कर सकते हैं। 'लय' के समावेश का सबसे सरल साधन संगीत है। संगीत का प्रयोग इसीलिए शारीरिक श्रम वाले स्कूल कार्यों से लेकर सूक्ष्म कलाओं तक में किया जाता है। इससे कार्य में तन्मयता आ जाती है और बालक मन लगाकर काम में जुटे रहते हैं। पर उचित आयु, योग्यता एवं शैक्षिक स्तर प्राप्त हो जाने पर ही बालकों के कार्य में 'लय' का समावेश हो सकता है अन्यथा लाभ की जगह हानि की सम्भावना रहती है।

१०—रुचि एवं उत्साह—कौशल पाठों की सफलता इस बात पर निर्भर है कि कार्य में बालकों का आद्यंत रुचि एवं उत्साह बना रहे। शिक्षक को इसके लिए अपना शिक्षण कार्य सजीव, आकर्षक एवं प्रेरणाप्रद बनाये रहना चाहिए।

११—व्यक्ति भेद का महत्त्व – कौशल पाठों में भी बालकों के वैयक्तिक विशेषताओं एवं विभिन्नता का ध्यान रखना चाहिए। विभिन्न बालक की ग्रहण शक्ति एवं सम्पन्नताएँ भिन्न होती हैं, कोई बहुत शीघ्र सीख लेता है तो कोई अधिक समय लेता है, कोई बालक प्रारम्भ से ही सुन्दर एवं सुचारु ढङ्ग से काम करने लगता है तो कोई दूसरा अनेक अनावश्यक प्रयत्न करते हुए अनगढ़ ढङ्ग से काम करता है। शारीरिक दोषों के कारण भी व्यक्तिगत अन्तर पाया जाता है। बौद्धिक अन्तर तो रहता ही है। अतः शिक्षक को बालकों के वैयक्तिक भेदों को ध्यान में रख कर यथायोग्य कार्य देना चाहिये और सभी से एक समान प्रगति की आशा न रखकर व्यक्तिगत रूप से सहायता, प्रेरणा एवं प्रोत्साहन देना चाहिए।

१२—धैर्य एवं स्थिरता से काम लेना—किसी क्रिया में तत्काल ही कुशलता नहीं प्राप्त हो जाती। सीखने में और प्रगति में समय लगता है, अतः शिक्षक को आतुरता एवं व्यग्रता नहीं दिखानी चाहिये, बालक से काम लेते समय धैर्य का परिचय देना चाहिये और यदि किसी बालक की प्रगति नहीं हो रही है तो उसके कारणों का पता लगाकर उसे दूर करना चाहिये और आवश्यक सहायता प्रदान करनी चाहिये।

१३—क्रिया के समग्र रूप एवं परिणाम पर ध्यान—कौशल पाठों में बालकों का ध्यान सम्पूर्ण क्रिया के परिणाम की ओर केन्द्रित रहना चाहिये, उसके अङ्गों-प्रत्यंगों पर नहीं। जैसे लिखने में पूरे शब्द पर ध्यान रहता है, प्रत्येक अक्षर को सोच-सोचकर लिखने पर नहीं और न अँगुलियों की स्थिति या कलम पकड़ने के ढंग पर ही। एक बार कार्य सम्पादन की प्रक्रिया सीख लेने पर अङ्गों-प्रत्यङ्गों पर सोचते हुए कार्य करने का प्रयत्न ठीक नहीं रहता। कार्य का अभ्यास तो इतना हो जाना चाहिये कि वह अचेतन मन की वस्तु हो जाय, वह अपने आप होने लगे। लिखना, पढ़ना, तैरना, साइकिल चलाना, सिलाई, कताई, बुनाई, कढाई या अन्य कौशल यान्त्रिक हो जाने चाहिये। ये कार्य आदतन होने चाहिये। यदि हम बोलते समय एक-एक शब्द सोचकर बोलें तो भाषा में कभी भी प्रवाह नहीं आ सकता, तैरने वाला यदि सोचे कि अब इस हाथ के बाद दूसरा हाथ आगे बढ़ाना है तो तेज तैर नहीं सकता। अतः क्रिया के समग्र रूप एवं परिणाम पर ध्यान केन्द्रित कर कार्य सम्पादित करने की आदत बनानी चाहिये।

१४—उत्तम आदर्श का महत्त्व—कौशल पाठों में शुद्ध एवं सुन्दर नमूनों का अधिक महत्त्व है। अच्छे चित्रों, अच्छी लिखावट अथवा शिल्प के अच्छे उदाहरणों से बालकों को सुन्दर कार्य की प्रेरणा मिलती है और वे वैसा ही प्रयत्न करते हैं।

१५—कार्य पूरा करने की अवधि—इससे बालकों को त्वरित गति से कार्य करने एवं अवधि के भीतर ही पूरा कर लेने की धुन लग जाती है। अतः कार्य पूरा करने की अवधि अवश्य ही निश्चित कर देनो चाहिये।

कौशल पाठों में बालकों की थकावट का भी ध्यान रखना चाहिये। अतः प्रारम्भिक कक्षाओं में यह समय बहुत कम अर्थात् १५-२० मिनट, पूर्व माध्यमिक कक्षाओं में २०-२५ मिनट और माध्यमिक कक्षाओं ३०-४० मिनट से अधिक नहीं होना चाहिये।

१६—कौशल पाठ शिक्षण की सफलता के लिये शिक्षक को भी प्रयत्नशील होना चाहिये जिससे आवश्यक गुण, दक्षता एवं कुशलता प्राप्त कर ले। कार्य के प्रत्येक अङ्गों, प्रत्यङ्गों से तथा उसे सम्पन्न करने की विधिवत् प्रक्रिया से अवगत होना, प्रदर्शन में निपुणता, प्रत्येक चेष्टाओं एवं प्रयत्नों का वैज्ञानिक अध्ययन एवं उनके विश्लेषण की क्षमता, बालकों की त्रुटियों की परख और कारणों को समझना, उचित निर्देशन देना आदि आवश्यक गुण हैं। बालकों में

आत्मविश्वास पैदा करते रहना, उन्हें कार्य करने की स्वतन्त्रता प्रदान करना, कार्य में अनावश्यक हस्तक्षेप न करना, सदा रचनात्मक सुझाव देना, धैर्य के साथ निरीक्षण एवं प्रगति के लिये प्रोत्साहन आदि भी कौशल पाठों के शिक्षण के लिये आवश्यक हैं।

रागात्मक पाठ

ऐसे पाठ, जिनके द्वारा बालक के रागात्मक भावों को तुष्टि मिलती है, सौन्दर्य की परख एवं सौन्दर्यानुभव की शक्ति बढ़ती है और चित्तवृत्तियों का परिष्कार होता है, रागात्मक पाठों की श्रेणी में आते हैं। कविता, कला, संगीत, नृत्य, अभिनय आदि ऐसे ही पाठ हैं। इन पाठों का उद्देश्य भावोन्मेश एवं सौदर्यानुभूति की क्षमता उत्पन्न करना होता है और इसी दृष्टि से इनका शिक्षण भी होता है।

रागात्मक पाठों का महत्त्व एवं उसके शिक्षा के उद्देश्य

मनुष्य ज्ञान, क्रिया एवं इच्छा का पुंज है। जहाँ ज्ञान एवं क्रिया को प्रबुद्ध एवं उन्नत करने के साधन ज्ञानात्मक एवं क्रियात्मक विषय हैं वहाँ हमारी इच्छाओं को उद्रिक्त एवं उन्नत करने के साधन रागात्मक विषय हैं। रागात्मक पाठों द्वारा हमारे भावों का उद्रेक होता है और उनका पोषण भी। इनसे हमारे मनोवेग जागरूक एवं परिष्कृत होते हैं। मानव हृदय में स्थित हर्ष और विषाद, प्रेम और घृणा, क्रोध एवं उत्साह, करुणा एवं निर्वेद आदि भाव ही राग कहलाते हैं। ये राग ही अनुकूल उत्तेजकों एवं उद्दीपकों के कारण उद्रिक्त एवं प्रवल होकर संवेगों का रूप धारण कर लेते हैं और मनुष्य को कार्य की प्रेरणा प्रदान करते हैं। अतः मनुष्य की क्रियाशीलता को स्फुरित करने के लिये रागात्मक प्रवृत्तियों का विकास अति आवश्यक है। इस विकास में रागात्मक पाठों के शिक्षण से यथेष्ट सहायता मिलती है।

रागात्मक पाठों के शिक्षण का मुख्य उद्देश्य साहित्यिक एवं कलात्मक सौन्दर्यानुभूति का विकास करना होता है। साहित्य, सङ्गीत एवं अन्य ललित कलाओं के शिक्षण से बालकों की सौन्दर्यानुभूति की शक्ति जागरित होती है और उसका उत्कर्ष होने पर रसानुभूति होती है।

हमें यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि भाव तथा रस व्यक्ति में बाहर से नहीं आरोपित होते। व्यक्ति के हृदय में भाव या रागतत्त्व विद्यमान रहते हैं पर वे सुप्त रहते हैं। रागात्मक पाठों के शिक्षण से ये राग जागरित होते हैं और रसानुभूति होती है। यही सभी बालकों में सौन्दर्यानुभूति की शक्ति एक समान

नहीं होती, कोई अधिक भावुक होता है कोई कम। अतः शिक्षक को प्रत्येक बालक से समान रूप की रसानुभूति का आग्रह नहीं करना चाहिये।

रागात्मक पाठों द्वारा हम सौन्दर्य के माध्यम से सत्य की अनुभूति करते हैं। मनुष्य सदा से ही सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् का उपासक रहा है और उनकी उपलब्धि के लिए प्रयत्न करता रहा है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की उपलब्धि क्रमशः ज्ञान, क्रिया एवं इच्छा के उन्नयन और परिष्कार का ही परिणाम है और इन तीनों तत्त्वों की दृष्टि से ज्ञानात्मक, क्रियात्मक एवं भावात्मक पाठों का समावेश किया जाता है। इन्हें हम इस रूप में समझ सकते हैं—

मानसिकपक्ष { ज्ञानात्मक → ज्ञान → ज्ञानात्मक पाठ → सत्यम्
क्रियात्मक → क्रिया → कौशल पाठ → शिवम्
भावात्मक → इच्छा → भावात्मक या रागात्मक पाठ → सुन्दरम्

यह लिखा जा चुका है कि मानसिक पक्ष के ये विभाजन केवल प्रधानता की दृष्टि से है अन्यथा प्रत्येक में शेष दो तत्त्व गौण रूप से विधमान हैं। रागात्मक पाठों द्वारा सौन्दर्य की अनुभूति होती है पर वह सौन्दर्यानुभूति सत्य की ओर ले जाती है और कर्म की प्रेरणा भी देती है।

रागात्मक पाठों के शिक्षण का उद्देश्य—

रागात्मक पाठों के शिक्षण का उद्देश्य मानव हृदय को रागात्मक वृत्तियों का संशोधन और संस्कार करना है। इसके द्वारा सात्विक वृत्तियों का उद्बोधन होता है और सत्कर्मों की प्रेरणा मिलती है। काव्य एवं संगीत के अनुशीलन से मनुष्य की बर्बर प्रवृत्तियों का उदात्तीकरण होता है।

हमारी वर्तमान शिक्षा में व्यक्ति के बौद्धिक विकास पर ही अधिक बल दिया जाता है, यहाँ तक कि रागात्मक विषयों—कविता, नाटक, संगीत, चित्रकला आदि की शिक्षा को भी ज्ञान प्रधान बना दिया जाता है। परिणामतः व्यक्ति के भावों का उद्बोधन, विकास एवं परिष्कार नहीं हो पाता। यही कारण है कि बौद्धिक दृष्टि से उन्नत होते हुए भी आज का व्यक्ति भावात्मक एवं चारित्रिक दृष्टि से अविकसित है और इसीलिए आज का मानव सृजन की अपेक्षा संहार की ओर अधिक बढ़ता जा रहा है। प्रो० जेम्स का यह कथन शतशः सत्य है कि "यदि आप का हृदय नैतिकता नहीं चाहता तो आपका मस्तिष्क आपको नैतिकता में विश्वास नहीं करने देगा। इसलिए नैतिक उत्कर्ष भावात्मक विषयों को शिक्षण का प्रमुख उद्देश्य है।

व्यक्ति के जीवन में संवेगों का बहुत बड़ा महत्त्व है क्योंकि व्यक्ति के आचरण, व्यवहार एवं चरित्रनिर्माण में संवेगों का विशेष हाथ होता है। यही नहीं, संवेगों में मनुष्य को क्रियाशील बनाने की असीम शक्ति होती है। संसार के बहुत बड़े-बड़े कार्यों एवं घटनाओं के मूल में संवेगों का हाथ रहा है। संवेगों से उद्वेलित होकर धर्म प्रवर्त्तकों, राजनिर्माताओं, सेनापतियों, क्रान्तिकारियों, राष्ट्र-उद्धारकों और यहाँ तक कि संतों; दार्शनिकों और वैज्ञानिकों ने भी कितने महान् कार्य संपादित किए हैं जो मानव-इतिहास के उज्ज्वल पृष्ठों में अंकित हैं। अतः संवेगों के प्रशिक्षण पर विशेष बल देना है। बुद्धि एवं हृदय दोनों का समन्वित उत्कर्ष रागात्मक पाठों के शिक्षण का उद्देश्य है।

सौन्दर्यानुभव की शक्ति बालक में प्रकृति प्रदत्त होती है। अबोध बालक भी उषा की लाली और चन्द्र-ज्योत्सना देखकर पुलकित हो उठता है। सुन्दर एवं चटकीले खिलौने देख कर उन पर लट्टू हो जाता है, रंग-बिरंगे फूलों को देखकर उसका मन नाच उठता है। सुन्दर एवं मनोहर वस्तुओं के प्रति अनुराग की यह भावना उसकी प्रकृति में है। अतः रागात्मक पाठों के शिक्षण का उद्देश्य बालक के इस प्रकृति प्रदत्त सौन्दर्यानुभव की शक्ति का विकास करना है।

इसी प्रकार हर्ष-विषाद्, प्रेम-घृणा, क्रोध-करुणा आदि रागात्मक प्रवृत्तियाँ उसके स्वभाव में हैं। यदि इनका ठीक विकास नहीं होता तो वे विकृत हो जाती हैं, मन में अनेक प्रतिरोध उत्पन्न होते हैं, रचनात्मक प्रवृत्तियों का स्थान विध्वंसात्मक प्रवृत्तियाँ ग्रहण कर लेती हैं। अत: रागात्मक पाठों द्वारा बालक की रागात्मक प्रवृत्तियों का रचनात्मक एवं विद्यापक बनाने का प्रयत्न होना चाहिए। रागात्मक प्रवृत्तियों के उत्कर्ष से बालक में सृजनात्मक प्रवृत्तियों का उत्कर्ष होता है। बालक किसी वस्तु की रचना में, उसे साज-सँवाकर सुन्दर बनाने में आंतरिक आह्लाद का अनुभव करता है और जीवन के कल्याण के लिए नई-नई वस्तुओं की रचना करने एवं मौलिक अन्वेषण तथा अनुसंधान में प्रवृत्त होता है।

रसानुभूति के प्रकार—रागात्मक पाठों का सर्वप्रमुख उद्देश्य रसानुभूति है पर रसानुभूति की अनेक दशाएँ हो सकती हैं। सृष्टि के नाना रूपात्मक सौन्दर्य के प्रति हमारे मन में जो आकर्षण के भाव और आनन्द की अनुभूति होती है उसके कई रूप हो सकते हैं और इसी कारण रसानुभूति की दशाएँ भिन्न हो जाती हैं :—

सामान्य एवं प्रारम्भिक दशा में आनन्दानुभूति ज्ञानेन्द्रियों द्वारा होती है जैसे श्रवण द्वारा नाद सौन्दर्य अथवा चक्षु द्वारा रूप सौन्दर्य की अनुभूति।

दूसरी स्थिति प्रेम, करुणा, सहानुभूति आदि सामाजिक भावों के उद्बोधन द्वारा होती है। किसी संत के प्रति मन में अपनेआप श्रद्धा का भाव उमड़ पड़ता है, दीन-दुखियों के प्रति हमारे हृदय में करुणा फूट पड़ती है, अत्याचारी के प्रति क्रोध उत्पन्न होता है। इसी प्रकार जन-कल्याण एवं राष्ट्र प्रेम की भावनाएँ भी हैं।

तीसरी दशा वह हो सकती है जब बुद्धि द्वारा भी हमारे हृदय में अनुभूति प्राप्त होती है, जैसे ललितकलाओं में सर्वश्रेष्ठ काव्यकला की अनुभूति बौद्धिक माध्यम से होती है क्योंकि इस अनुभूति के लिए भावुकता के साथ-साथ भाषा एवं साहित्य का अच्छा ज्ञान आवश्यक है। संगीत में भी शास्त्रीय संगीत का रसास्वादन उसी समय संभव होता है जब कि उसका शास्त्रीय ज्ञान स्वयं भी हो। इस प्रकार रागात्मक पाठों के शिक्षण में रसानुभूति की पूर्णता के लिए बालकों की बौद्धिक पृष्ठभूमि को उन्नत बनाने की आवश्यकता पड़ती है।

सत्य एवं यथार्थ की रसानुभूति बौद्धिक रसानुभूति कहलाती है। कल्याण एवं शिवत्व का आधार लेकर जो रसानुभूति होती है वह नैतिक रसानुभूति कहलाती है। "तुलसी संत सुअम्बतरु, फूल फलहिं पर हेत। इतते ये पाहन हनै, उतते वे फल देत।" इस कविता से संतहृदय का जो परिचय मिलता है और उसका हृदय पर जो आह्लादकारी प्रभाव पड़ता है वह नैतिक रसानुभूति ही है, जो रूप और सौन्दर्य पर आधृत है वह सौन्दर्यानुभूति कहलाती है। एक लोकोत्तर आध्यात्मिक अनुभूति भी होती है जो इस सृष्टि से परे आत्मा-परमात्मा संबंधी अध्यात्म तत्त्वों की गहराई में डूबे हुए उच्च दार्शनिकों, संतों एवं भक्तों को प्राप्त होती है।

विद्यालयों में हम जिन रागात्मक तत्त्वों एवं सौन्दर्यानुभूति की बात करते हैं वह प्रारम्भिक स्थिति में मुख्यतः रूप एवं सौन्दर्य पर आधारित है। धीरे-धीरे नैतिक एवं बौद्धिक सौन्दर्य की ओर छात्रों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। रूप और सौन्दर्य का क्षेत्र भी बहुत व्यापक है। वातावरण, परिस्थिति, प्राकृतिक सुषमा, कलात्मक वस्तुएँ सभी रसानुभूति के साधन बनते हैं।

रागात्मक पाठों के शिक्षण के लिए शिक्षक में आवश्यक गुण

रागात्मक पाठों के सफल शिक्षण के लिए पाठ्य विषय का ज्ञान मात्र ही काफी नहीं है, बल्कि शिक्षण कला का यथोचित ज्ञान, सहृदयता एवं कला प्रेम

का होना भी आवश्यक है। संगीत और चित्र कला पढ़ाने में एक निसर्ग सिद्ध कला प्रेमी शिक्षक ही सफल होता है। बालकों को रसास्वादन कराने के लिए पहले उस रसास्वादन की क्षमता शिक्षक में होनी चाहिए। वह स्वयं कविता में रुचि ले और भावमग्न होकर पढ़ाये। यदि वह स्वयं काव्य में रसमग्न नहीं होता तो छात्रों से रसानुभूति की आशा कैसे कर सकता है?

शिक्षक को कविता, संगीत अथवा किसी भी रागात्मक पाठ के शिक्षण में मार्मिक स्थलों की पहचान होनी चाहिए और उस स्थल को इस प्रकार प्रस्तुत करना चाहिए कि बालकों के हृदय को स्पर्श कर सके, उनके आवेगों को स्पंदित कर सके और रसानुभूति हो सके।

इन पाठों में शिक्षक को ज्ञान पक्ष पर उतना ही बल देना चाहिए जितना सांवेगिक स्पंदन के लिए आवश्यक है क्योंकि इन पाठों का उद्देश्य तथ्यात्मक अथवा सूचनात्मक ज्ञान प्रदान करना नहीं अपितु, बालक की अनुमूलात्मक शक्ति को जगाना है ताकि वे किसी कविता को पढ़ कर या नाटक देखकर अथवा संगीत सुनकर रसास्वादन कर सकें।

शिक्षक को यह देखना चाहिए कि रागात्मक पाठों के प्रति बालकों की प्रतिक्रिया में क्या भिन्नता है क्योंकि प्रत्येक बालक की प्रतिक्रिया अपने स्वभाव, दृष्टिकोण के अनुसार ही होती है। इसी कारण रसास्वादन की क्षमता भी भिन्न-भिन्न होती है। अतः बालकों की इस भिन्नता को स्वीकार करते हुए उन्हें सौन्दर्य-दर्शन एवं रसास्वादन के लिये प्रोत्साहित करना चाहिए।

शिक्षक को छात्रों में भावप्रवणता एवं रसास्वादन की क्षमता उत्पन्न करने के लिए धैर्य से काम लेना चाहिए। बालकों पर आतंक जमाने अथवा बहुत उपदेशात्मक प्रवचन सुनाने से बालक भावप्रवण नहीं हो जायँगे। इससे तो शिक्षक के प्रति वे विरोधी धारणा बना लेते हैं। धीरे-धीरे छात्रों को स्वतंत्र भाव प्रकाशन का अवसर दे कर पाठ के मार्मिक स्थलों की पहचान करानी चाहिए।

शिक्षक को बालकों में कलात्मक प्रेम पैदा करने के लिए कक्षा में सम्यक् वातावरण की सृष्टि करनी चाहिए और उनकी नैसर्गिक सौन्दर्यानुभूति की शक्ति को यथासंभव पनपने का अवसर देना चाहिए। अच्छे वातावरण की सृष्टि के लिए शिक्षक को स्वयं उत्तम आचार-विचार, व्यवहार, वाणी, वेश-भूषा का आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए।

सौन्दर्यानुभूति किसी पर थोपी नहीं जा सकती। यदि हम जबर्दस्ती उन्हें भाव प्रवण बनाने और कलात्मक रुचि उन पर लादने का प्रयत्न करेंगे तो उन्हें और अरुचि होगी। बालकों को स्वतंत्र रूप से सौन्दर्य के प्रति विचार व्यक्त करने, सुन्दर तत्त्वों का विश्लेषण करने और उन पर विमुग्ध होने का अवसर देना चाहिए। अपने व्यक्तिगत पूर्वाग्रह उन पर नहीं थोपनी चाहिए और न ऐसी बातें ही कहनी चाहिए जो उन्हें हृदय से स्वीकार न हो सके।

रागात्मक पाठों द्वारा रसानुभूति करने में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि सौन्दर्य का मानदण्ड एक नहीं होता। कोई वस्तु किसी के लिए आकर्षक है तो दूसरे के लिए विकर्षक। यह बहुत कुछ व्यक्ति की प्रकृति एवं जीवन की परिस्थितियों पर निर्भर करता है। कवियों ने संयोग-शृंगार में चन्द्रज्योत्सना का कितना मनोहारी वर्णन किया है और विप्रलंभ-शृंगार में उसी ज्योत्सना का कितना वेदनापूर्ण चित्रण। यह सुख-दुःख परिस्थिति जन्य है। पहली अवस्था व्यक्ति की सुखद परिस्थिति की है और दूसरे में दुःख की परिस्थिति। अतः परिस्थिति जन्य भिन्नता को ध्यान में रखकर रसानुभूति की अपेक्षा रखनी चाहिए।

रसानुभूति का सम्बन्ध विद्यालयी शिक्षा में मुख्यतः साहित्य से रहता है जिसमें भावना पक्ष की प्रधानता होती है और ज्ञान पक्ष गौण। भावना पक्ष का उद्बोधन एवं विश्लेषण इसमें आवश्यक होता है। कविता में शिक्षक इसी बात का ध्यान रखता है। कविता द्वारा भाषा-शब्द भण्डार, वाक्य रचना आदि के ज्ञान पर जोर नहीं दिया जाता और यदि प्रसंग वश भाषा का ज्ञान होता है तो वह अपने आप ही, शिक्षण का वह उद्देश्य नहीं रहता।

भावना पक्ष को अन्य मानसिक क्रियाओं से सर्वथा पृथक् नहीं देखना चाहिए क्योंकि रसानुभूति एक संश्लिष्ट प्रक्रिया है जो मूलतः सांवेगिक होते हुए भी ऐन्द्रिय एवं बौद्धिक तथ्यों को भी लिए रहती है। उदाहरण के लिए यथेष्ट भाषा-ज्ञान एवं साहित्य-अनुशीलन रहने पर काव्य की रसानुभूति स्वतः बढ़ जाती है, संगीत का शास्त्रीय ज्ञान रहने पर उसका आनन्द द्विगुणित हो जाता है, इसी प्रकार वातावरण का भी बहुत प्रभाव पड़ता है। पूनों की चाँदनी में सुरम्य सरिता के तट पर संगीत की स्वर-लहरी हृततंत्री के तारों को अपने आप झंकृत कर देती है। अतः शिक्षक का यह भी कर्त्तव्य है कि किसी भी भाव की रसानुभूति के लिए उचित वातावरण की सृष्टि कक्षा में अवश्य करे।

उचित वातावरण की सृष्टि

रागात्मक पाठों के शिक्षण एवं सफल प्रभाव की दृष्टि से उचित

वातावरण का बहुत महत्त्व है। हम देखते हैं कि कोई बालक इतना भावुक होता है कि सुन्दर दृश्य देखते ही अथवा अच्छी कविता सुनते ही भाव-विभोर हो उठता है और कोई इतना भाव शून्य होता है कि उनपर साहित्य, संगीत एवं कला का प्रभाव ही नहीं पड़ता। एक बालक हर जगह सुव्यवस्था, संजीदगी, सभ्यता एवं सुरुचि का परिचय देता है तो भाव शून्य बालक अव्यवस्था, अस्तव्यस्तता, असभ्यता एवं कुरुचि का परिचय। यह वातावरण का प्रभाव है। अतः बालक के रागात्मक तत्वों के पोषण एवं परिवर्द्धन के लिए विद्यालय का वातावरण सुन्दर, सुव्यवस्थित, कलात्मक एवं सुरुचिपूर्ण बनाना चाहिए। विद्यालय के अधिकारियों एवं शिक्षकों का कर्त्तव्य है कि विद्यालय में रंग-विरंगे पुष्पोद्यान की व्यवस्था करें, विद्यालय के अन्य सामानों एवं साज-सज्जा से सुरुचि टपकती हो, हर वस्तु अपने स्थान पर हो, कक्षा की सजावट ठीक हो, फर्नीचर सुव्यवस्थित हो तथा पूरे विद्यालय का वातावरण कलात्मक हो। इसका छात्रों के मन पर अच्छा प्रभाव पड़ता है और सौन्दर्यानुभूति की शक्ति बढ़ती है।

सुन्दर बाह्य वातावरण के साथ-साथ विद्यालय में इस प्रकार के सांस्कृतिक एवं कलात्मक आयोजन किए जायँ जिनसे बालकों की भावप्रवणता एवं संवेदन शक्ति विकसित हो। नाटक, कहानी, कविता, संगीत, चित्रकला, शिल्प प्रदर्शनी के आयोजन हों और छात्रों को इनमें अधिकाधिक भाग लेने के लिए प्रेरित एवं प्रोत्साहित किया जाय।

रचनात्मक कार्यों द्वारा बालकों की सौन्दर्यानुभव की शक्ति पल्लवित होती है। छात्रों को स्पष्ट बता देना चाहिए कि कोई भी रचना, शिल्प या अन्य सामग्री कलात्मकता के अभाव में विकृत एवं कुरूप बन जाती है। (क्राफ्ट विदाउट आर्ट इज ब्रूटेलिटी)। अतः रचना सुन्दर एवं कलात्मक हो। बालक अपने कमरे को सजाकर रखें, शैक्षणिक उपकरणों को स्वच्छ एवं सुव्यवस्थित बनाएँ और अपने आचरण से शिष्टता एवं सुरुचि का परिचय दें।

रागात्मक पाठों का शिक्षण

रागात्मक पाठों की शिक्षण प्रक्रिया ज्ञानात्मक एवं कौशल पाठों से भिन्न-भिन्न है क्योंकि ज्ञानात्मक एवं कौशल पाठों के शिक्षण का उद्देश्य ज्ञान अथवा कौशल प्रदान करना है पर रागात्मक पाठों का मुख्य उद्देश्य रसानुभूति कराना है पर रसानुभूति उस समय तक सम्भव नहीं जब तक बालक रागात्मक पाठों में निहित मर्म को न पहचान सकें। इस मर्म को पहचानना, उसका मानव-जीवन

में महत्त्व एवं मूल्य समझना तथा उसके साथ तादात्म्य स्थापित करना रसानुभूति के लिए आवश्यक चरण हैं।

मनुष्य का भावात्मक जगत एक सूक्ष्म एवं अमूर्त्त जगत है। अतः उसे बालक के सामने मूर्त्त एवं प्रत्यक्ष करने के लिए बालक की कल्पना शक्ति को जागरित करना होता है। कल्पना द्वारा ही भावात्मक सत्ता को साकार एवं मूर्त्त बनाकर उसके साथ रागात्मक सामंजस्य स्थापित करते हैं और उसमें हम इस प्रकार लीन हो जाते हैं कि हमें अपनी व्यक्तिगत सत्ता का भान नहीं रह जाता। ऐसी ही स्थिति रसानुभूति की स्थिति कहलाती है। अतः रागात्मक पाठों के शिक्षण के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षण स्वयं कल्पनाप्रवण एवं भावप्रवण हो और साथ ही बालकों की भावप्रवणता एवं कल्पनाप्रवणता को जगाने की क्षमता भी हो।

रागात्मक पाठों के अनेक रूप हैं जैसे साहित्य सम्बन्धी—कविता, नाटक, कहानी आदि; कलात्मक—सङ्गीत, चित्रकला, ड्राइंग, मूर्तिकला एवं वास्तुकला आदि। इन पाठों के शिक्षण में कोई एक निश्चित पद्धति नहीं अपनायी जा सकती और न हम इन्हें हरबार्टीय पदों के बन्धन में ही बाँध सकते हैं। पाठ्य सामग्री, कक्षा की स्थिति, बालकों की रुचि एवं शैक्षिक स्तर, सहायक सामग्री एवं उपकरण आदि के आधार शिक्षक को उचित शिक्षण प्रणाली का अनुसरण करना चाहिये। सामान्यतः रागात्मक पाठों के शिक्षण में हरबार्टीय पदों में कुछ हेर-फेर के साथ निम्नांकित का प्रयोग होता है—

(१) प्रस्तावना एवं उद्देश्य कथन, (२) प्रस्तुतीकरण, (३) अनुभूति परीक्षा (पुनरावृत्ति), (४) अभ्यास एवं रचना (सङ्गीत, चित्रकला आदि में।)

हम किसी कविता पाठ को आधार मानकर पदों के प्रयोग को भलीभाँति समझ सकते हैं :—

(१) प्रस्तावना—रागात्मक पाठ की प्रस्तावना का अर्थ है—पाठ्य सामग्री के अनुकूल उचित वातावरण की सृष्टि, पाठ के प्रति बालकों की रुचि एवं चित्तवृत्ति को एकाग्र करना, उनके पूर्व ज्ञान तथा बौद्धिक पृष्ठभूमि के आधार पर उन्हें पाठ सम्बन्धी भाव जगत् की ओर अभिमुख करना। यदि शिक्षक इन तीनों कार्यों में सफल हो गया तो पाठ की प्रस्तावना सफल होगी। किसी कविता के लिये उचित वातावरण की सृष्टि करने, छात्रों को उस ओर प्रवृत्त करने और कविता सम्बन्धी भाव जगत् की ओर उन्हें एकाग्र करने के अनेक तरीके हो सकते हैं जैसे, शिक्षक द्वारा सुपाठ, पृष्ठभूमि अथवा प्रसंग उपस्थित करना, कविता के भाव एवं विचार के प्रति उत्सुकता पैदा करने के

लिए मुख्य भाव सम्बन्धी संक्षिप्त और प्रभावपूर्ण वक्तव्य प्रस्तुत करना, कवि का परिचय अथवा जीवन की कोई मार्मिक घटना, भाव प्रेरक प्रश्न, चित्र अथवा समान भाव वाली कोई सरल कविता आदि ।

सफल प्रस्तावना के लिए शिक्षक को पाठ के पूर्णज्ञान के साथ-साथ बालकों की प्रकृति, रुचि एवं सौन्दर्यानुभव की शक्ति से परिचित होना चाहिये । इससे वह समझ सकता है कि इस पाठ को किस रूप में प्रस्तावित करने पर बालक रसास्वादन कर सकेंगे ।

प्रस्तावना द्वारा उचित वातावरण की सृष्टि उसी समय सम्भव हो सकती है जब शिक्षक शिक्षार्थी के मनोवेगों को पाठ की ओर प्रेरित कर सके । इसके लिए उपदेश या भाषण न देकर उचित प्रश्नों द्वारा उनकी रागात्मक प्रवृत्तियों को उद्बुद्ध करना अधिक प्रभावपूर्ण होता है ।

उद्देश्य कथन—प्रस्तावना के बाद ही उद्देश्य कथन प्रस्तुत होना चाहिए और छात्रों को बताना चाहिए कि इस रचना द्वारा हम इन भावों का रसास्वादन करेंगे ।

(२) प्रस्तुतीकरण—उद्देश्य कथन के पश्चात् भाव एवं विचार सामग्री प्रस्तुत की जाती है । यह प्रस्तुतीकरण सजीव, स्पष्ट एवं प्रभावपूर्ण होना चाहिए । इसी पद में पाठ्य सामग्री का विकास एवं छात्रों को उनका रसास्वादन का प्रयत्न किया जाता है । प्रस्तुतीकरण के अन्तर्गत सामग्री विकास को अनेक उपशीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है जैसे कविता शिक्षण में निम्नांकित पदों का अनुसरण होता है—

(१) प्रथम आदर्श पाठ, (२) केन्द्रीय भाव ग्रहण (३) द्वितीय आदर्श पाठ, (४) व्याख्या एवं सौन्दर्यानुभूति, (५) तृतीय आदर्श पाठ, (६) छात्रों द्वारा सस्वर पाठ ।

प्रथम आदर्श पाठ—शिक्षक द्वारा सम्यक् ध्वनि, स्वर, गति, यति, लय एवं भाव की स्पष्ट अभिव्यञ्जकता का ध्यान रखते हुए प्रभावपूर्ण ढङ्ग से होना चाहिए जिससे बालक कविता के प्रति आकर्षित हो जायँ ।

केन्द्रीय भाव ग्रहण—आदर्श पाठ सुनकर कविता के मुख्य भाव, विषय अथवा प्रसङ्ग को छात्रों ने कहाँ तक ग्रहण किया है, इसकी परीक्षा के लिए कुछ प्रश्न पूछे जायँ ।

द्वितीय आदर्श पाठ—यह आदर्श पाठ शिक्षक के निर्णय पर निर्भर है । यदि वह कविता के विषय एवं भावों की स्पष्टता के लिए आवश्यक समझता है तो वह आदर्श पाठ उचित है ।

व्याख्या एवं सौन्दर्यानुभूति—प्रस्तुतीकरण का यह सर्वप्रमुख अंश है। शिक्षक कविता के भाव, विचार एवं अभिव्यक्ति सौन्दर्य की विस्तृत व्याख्या छात्रों के सहयोग से करता है और उनके रसास्वादन के लिए उचित प्रेरणा देता है। उचित प्रकार के प्रश्नों, व्याख्या, तुलना, विरोधाभास आदि द्वारा कविता के भावों, विचारों, कल्पनाओं और शब्दचित्रों को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जाता है। कविता के नादसौन्दर्य का भी रसास्वादन होना चाहिए जैसे कविता की तुकांत योजना, पंक्ति का मध्यवर्ती अन्त्यानुप्रास, वर्णवृत्तों के गुरु, लघु-क्रम का संगीत आदि। मर्मस्पर्शी स्थलों एवं पंक्तियों की विशेष व्याख्या एवं उनका रसविवेचन होना चाहिए।

व्याख्या एवं सौन्दर्यानुभूति के प्रश्न कविता एवं कक्षा के अनुसार होनी चाहिए। छोटी कक्षाओं में नाद तथा ध्वनिसौन्दर्य पर बल दिया जाता है। चित्रात्मकता एवं संगीत विशेष रूप से बालकों के आकर्षण के विषय होते हैं। पर माध्यमिक कक्षाओं में सरल भाव एवं विचार सौन्दर्य का विवेचन आवश्यक होता है।

इसी प्रकार प्रारम्भिक कक्षाओं में सौन्दर्य बोध के लिए गीत तथा नाट्य प्रणाली का आश्रय लिया जाता है पर माध्यमिक कक्षाओं में व्याख्या प्रणाली उपयुक्त होती है। उपयुक्त प्रश्नावली द्वारा छात्रों से कविता के भावों को प्रकाशित कराने और आवश्यकतानुसार स्वयं भी व्याख्या प्रस्तुत करने से बालक कविता में रुचि लेने लगते हैं। इन कक्षाओं में यथा प्रसंग समीक्षा और तुलना द्वारा भी सौन्दर्य बोध तथा अनुभूति कराई जाती है।

तृतीय आदर्श पाठ—कविता का पूर्ण अर्थ जाने लेने, भाव एवं विचार सौन्दर्य से परिचित हो जाने पर शिक्षक द्वारा इस आदर्श पाठ का एक मात्र प्रयोजन छात्रों को कविता का एक प्रभावपूर्ण चित्र प्रस्तुत करना होता है जिससे बालक तन्मय हो जायँ।

सस्वर पाठ—अब बालकों द्वारा कविता का पाठ कराया जाता है। बालक कविता से भलीभाँति परिचित हो चुके हैं और शिक्षक के आदर्श पाठ सुन चुके हैं और अर्थ एवं भाव सम्बन्धी कोई कठिनाई नहीं है, अतः वे उचित ध्वनि, यति, गति, एवं स्वर से कविता पढ़ सकते हैं।

(३) अनुभूति परीक्षा—इसके अनेक ढंग हैं। छात्रों द्वारा कविता के सुन्दर स्थलों का चुनाव, इन स्थलों के लालित्य का कारण—अलंकार, रस, भाषा या शैली, चमत्कार आदि बताना, लाक्षणिक एवं प्रतीकात्मक प्रयोगों की

विशेषता बताना, शब्द विपर्यय या परिवर्तन द्वारा कविता के सौन्दर्य में होने वाली क्षति का अनुमान कर सकना, भावार्थ लिखना, समान भाव की कविताए चयन करना और तुलना करना आदि ।

कविता के अतिरिक्त अन्य साहित्यिक पाठों द्वारा रसानुभूति

कविता के अतिरिक्त भावात्मक साहित्य की अन्य विधाओं में भी रसानुभूति सम्बन्धी पाठ होते हैं जैसे नाटक, कहानी, गद्यकाव्य अथवा भावात्मक निबन्ध आदि । ये भी बालकों के भावोद्बोधन एवं रसास्वादन के पाठ हैं। इनसे भी सौन्दर्यानुभव की शक्ति बढ़ती है, भावों का उदात्तीकरण होता है और रुचि-परिष्कार होता है । अतः इन रचनाओं के अध्ययन के लिए छात्रों को प्रोत्साहित करना चाहिए पर यह ध्यान रखना चाहिए कि ये रचनाएँ बालकों के शैक्षिक स्तर के अनुकूल हों और चरित्रनिर्माण में सहायक हों ।

नाटक की शिक्षा—नाटक मुख्यतः गद्यात्मक रचना है । यद्यपि कहीं-कहीं पद्यों का भी समावेश होता है किन्तु उसकी शैली गद्य से भिन्न होने के कारण उसमें रागात्मक अंश विशेष रूप से आ जाते हैं । नाटकों द्वारा मानवीय प्रकृति एवं चरित्र से अवगत होने का अवसर मिलता है और विविध परिस्थितियों एवं अवसरों पर मानव-व्यवहार, शिष्टाचार एवं आचरण करने की रीति का परिचय भी प्राप्त होता है । मानवीय भावों का प्रदर्शन नाटक के माध्यम से जितना प्रभावपूर्ण होता है उतना और किसी माध्यम से नहीं और इसी कारण नाटक पढ़ने या देखने से भावों का उद्रेक भी उतना ही तीव्र होता है ।

नाटकों के शिक्षण के लिए कई सुझाव प्रस्तुत किए जाते हैं जैसे—

(१) **नाट्य पद्धति**—अध्यापक कक्षा में पूरा पाठ इस प्रकार भाव-भंगिमा के साथ प्रस्तुत करता है कि पात्रों के भाव एवं चरित्र का पूर्ण प्रकाशन हो जाता है । पर यह पद्धति शैक्षिक नहीं हो पाती क्योंकि इससे छात्रों का ध्यान मुख्यतः अभिनय के ढंग पर ही केन्द्रित रहता है और साहित्यिक उपलब्धि नहीं हो पाती ।

(२) **अभिनय पद्धति**—इसके भी दो रूप है—(क) रंगमंच पर नाटक को विधिपूर्वक खेलना जिससे पाठांतर्गत दृश्यों एवं संवादों से छात्र परिचित हो जायँ । पर यह विधि कक्षा शिक्षण की दृष्टि से व्यावहारिक नहीं हैं । (ख) कक्षा में छात्रों को विविध पात्रों के रूप में मानकर उचित भाव-भंगिमा के साथ पढ़ने के लिए कहना । इस विधि से नाटक की शिक्षा का उद्देश्य कुछ सिद्ध होता है ।

(३) व्याख्या पद्धति—उपयुक्त प्रश्नावली द्वारा कथावस्तु की योजना तथा विकास, पात्रों का चरित्र-चित्रण, विविध भावों एवं अनुभूतियों की विवेचना का प्रयत्न किया जाता है। किन्तु यह शिक्षण गद्यपाठ जैसा हो जाता है।

नाटक के शिक्षण में हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वह गद्यवत् रचना होते हुए भी भावात्मक एवं रागपूर्ण रचना है। उसकी अभिनेयता एवं संवाद शैली छात्रों के लिए बहुत ही प्रिय एवं रोचक वस्तु है। अतः नाटक के शिक्षण में निम्नांकित पदों का अनुसरण वांछित जान पड़ता है—प्रस्तावना, प्रस्तुतीकरण, पाठ्याभिनय।

प्रस्तावना—इसके अन्तर्गत पाठ सम्बन्धी प्रसंग की उद्भावना एवं उसकी ओर छात्रों का ध्यान आकर्षित करना होता है। नाटककार के संक्षिप्त परिचय अथवा नाटक के मुख्य भाव पर आधारित संक्षिप्त वक्तव्य अथवा कुछ भावप्रेरक प्रश्नों द्वारा भी प्रस्तावना हो सकती है। तत्पश्चात् उद्देश्यकथन जिसमें पाठ का उद्देश्य बता दिया जाता है कि इस कृति द्वारा बालक क्या अर्जित करेंगे।

प्रस्तुतीकरण—इसके अन्तर्गत कई चरण हो सकते हैं जैसे—

(१) आदर्श पाठ—अध्यापक द्वारा उचित भावभंगिमा के साथ सम्पूर्ण पाठ्य सामग्री का पाठ। इसमें केवल ध्वनि के आरोह-अवरोह द्वारा भावाभिव्यंजन का प्रयत्न होता है, आंगिक अभिनय द्वारा नहीं।

(२) मुख्य भाव ग्रहण—पूरे पाठ पर आधारित दो-एक प्रश्नों द्वारा पाठ के विषय एवं कथा-वस्तु योजना पर प्रकाश।

(३) व्यक्त पाठ—छात्रों द्वारा विविध पात्रों के रूप में उचित भाव भंगिमा के साथ व्यक्त पाठ। इस व्यक्त पाठ में वाचिक अभिनय का ही स्थान है, आंगिक नहीं।

(४) व्याख्या—उपयुक्त प्रश्नों द्वारा भावार्थ, चरित्र-चित्रण, भावात्मक स्थलों की विशेष व्याख्या, वार्तालाप एवं कथन सम्बन्धी विशेषताओं पर प्रकाश आदि।

पाठ्याभिनय—अन्त में पूरे पाठ का अभिनय छात्रों द्वारा वाचिक रूप से होगा। अध्यापक के निर्देशानुसार किंचित हाव-भाव का भी अवलम्बन लिया जा सकता है। अध्यापक छात्रों को बता देता है कि कौन छात्र किस पात्र का अभिनय करेगा। छात्रों को निर्भीकता के साथ संभाषण या संवाद प्रस्तुत करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।

नाटक के शिक्षण के लिए चाहे हम किसी भी प्रणाली का प्रयोग करें, हमें इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि नाटक एक रागात्मक पाठ है और उसके द्वारा बालकों की सौन्दर्यानुभूति की शक्ति को जगाना है और उनमें कलात्मक रुचि का विकास करना है।

कहानी शिक्षण—कहानी बालकों की कल्पना, एवं भावानुभूति की शक्ति जागरित करने का अच्छा साधन है। इसीलिए इसकी गणना भी रागात्मक पाठों के अन्तर्गत की जाती है। कहानी पढ़ाने के लिए शिक्षक को स्वयं कहानी में रुचि लेनी चाहिए और कहानी कहने की कला का मर्मज्ञ होना चाहिए। कहानी के भावात्मक, विनोदात्मक अथवा प्रहसनात्मक स्थलों की पहचान एवं उन्हें प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करने की क्षमता होनी चाहिए। जहाँ आवश्यकता पड़े, शिक्षक छात्रों को रसास्वादन का अवसर प्रदान करे। कहानी के कहने में आवश्यक नाटकीयता भी अपनाई जा सकती है पर वाचिक रूप में ही। चित्रों के प्रयोग से कहानी में और आकर्षण पैदा हो जाता है।

कहानी के शिक्षण में हम पाठ-योजना की दृष्टि से निम्नांकित पदों का अनुसरण कर सकते हैं—प्रस्तावना, प्रस्तुतीकरण, पुनरावृत्ति।

प्रस्तावना—चित्र द्वारा प्रसंगोद्भावना सम्बन्धी उपयुक्त प्रश्नों द्वारा अथवा किसी कथन द्वारा कहानी के प्रति छात्रों को आकर्षित करना।

प्रस्तुतीकरण—कहानी की आवश्यकतानुसार कुछ सोपानों में बाँट लिया जाय। एक सोपान वर्णन कर लेने पर प्रश्नों द्वारा छात्रों से उसकी संक्षिप्त आवृत्ति करा ली जाय और फिर दो-एक प्रश्नों द्वारा कथा सूत्र को आगे बढ़ाने के लिए छात्रों को प्रेरित किया जाय।

क्रम से सभी सोपान समाप्त कर लेने पर प्रश्नों द्वारा छात्रों के सहयोग से पूरी कहानी का कथानक व्यक्त करा लिया जाय। इस अवसर पर मार्मिक स्थलों की व्याख्या एवं चरित्र-चित्रण सम्बन्धी प्रश्न भी पूछे जायँ।

पुनरावृत्ति—अन्त में पहले किसी तेज विद्यार्थी से पूरी कहानी संक्षेप में सुनाने के लिए कहा जाय और फिर दो-एक और बालकों को भी अवसर दिया जाय। कहानी क्रम से खण्डशः सुनाते जाने पर भी चार-पाँच बालकों को अवसर मिल जायगा। छात्रों को कहानी सुनाने के ढंग के बारे में आवश्यक निर्देश भी दिए जा सकते हैं।

अभिनय योग्य कहानियों का अभिनय छात्रों द्वारा कराया जाय। इससे

छात्रों को भाषा प्रयोग की विशेषता, मार्मिकता और अर्थ की स्पष्टता का परिचय मिल जाता है। कथन की प्रभावपूर्णता का मर्म वे समझने लगते हैं और भावानुभूति की शक्ति जागरित होती है।

कला द्वारा रसानुभूति—विद्यालय में साहित्यिक पाठों के अतिरिक्त कुछ और ऐसे पाठ या साधन हैं जो बालकों के रसास्वादन की क्षमता को बढ़ाते हैं। इन पाठों में कला की शिक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। चित्रकला, नमूना, ड्राइङ्ग, मूर्तिकला द्वारा बालकों की भावानुभूति की शक्ति विकसित होती है। कला का तात्पर्य केवल किसी वस्तु की बाह्य आकृति से ही नहीं है बल्कि उसमें निहित गूढ़ भावों, मुद्राओं एवं अर्थों से रहता है जो हमारे हृदय को स्पंदित कर देते हैं। कला की शिक्षा में हमें किसी कृति या रचना में निहित आन्तरिक भावों एवं अर्थों को विशेष रूप से छात्रों के सम्मुख व्यंजित करना चाहिए।

बालकों में कला-चित्रों, रेखा-चित्रों और नमूनों द्वारा अपने भावों को प्रकाशित करने की अदम्य इच्छा रहती है। बालकों की इस स्वाभाविक भाव प्रकाशन की क्षमता को उभार कर उनमें कलात्मक रुचि का विकास किया जा सकता है। उत्तम कलाकृतियों को दिखाकर तथा उनकी विशेषताओं की व्याख्या करके बालकों को सौन्दर्य बोध एवं रसमग्न कराया जा सकता है।

प्रारम्भिक कक्षाओं में तो कला शिक्षण सामान्य चित्र एवं रेखांकन तक ही सीमित रहता है पर माध्यमिक कक्षाओं में कला के सिद्धान्त भी सिखाए जा सकते हैं। पर ये सिद्धान्त व्याख्यान पद्धति द्वारा नहीं, बल्कि सृजनात्मक क्रियाओं के समावेश द्वारा ही विकसित कराने चाहिए जैसे किसी उत्तम कलाकृति को देखकर उसका अनुकरण करना, नमूने तैयार करना और उसके सौन्दर्य की अनुभूति करना।

संगीत द्वारा रसानुभूति—संगीत के प्रति व्यक्ति में बाल्यावस्था से ही आकर्षण रहता है। छोटा बालक भी संगीत की स्वर लहरी सुनकर विभोर हो जाता है और स्वयं अलाप लेने लगता है। अतः संगीत की शिक्षा सौन्दर्य बोध एवं रसानुभूति का प्रमुख साधन है। सभी बालकों से हम संगीतज्ञ होने की आशा तो नहीं रख सकते पर सभी संगीत का आनन्द अवश्य ले सकते हैं। संगीत द्वारा मानव हृदय का परिष्कार एवं उदात्तीकरण होता है। प्रारम्भिक अवस्था में बालक संगीत के केवल नाद सौन्दर्य पर ही मुग्ध होते हैं पर धीरे-धीरे ऊँची कक्षाओं में उन्हें संगीत का शास्त्रीय अध्ययन भी कराना चाहिए। संगीत के शिक्षण में प्रस्तावना संगीत के उदाहरण से ही होती है और प्रस्तुतीकरण में शिक्षक के आदर्श के साथ-साथ संगीत के ताल, लय, स्वर, मात्रा आदि की व्याख्या

भी होते चलती है और फिर विद्यार्थियों द्वारा अभ्यास होता है। अभ्यास में शिक्षक द्वारा निरीक्षण, निर्देशन एवं आवश्यकतानुसार आदर्श प्रस्तुत करना चलता रहता है।

सृजनात्मक सीखना[1]

सृजनात्मक सीखने का तात्पर्य बालक की रचनात्मक शक्ति के प्रयोग से है जो सोद्देश्य एवं साभिप्राय होती है और जिसमें बालक की कल्पना, तर्क एवं अन्वेषण शक्ति सक्रिय रहती है। किसी भी नए विचार, वस्तु या क्रिया की रचना करने की योग्यता अर्जित करना और उसका प्रयोग करना सृजनात्मक सीखना है। सृजन की योग्यता और उसके प्रयोग को प्रेरणा बालक को कक्षा शिक्षण में अनेक प्रकार से प्राप्त होती रहती है। जब भी नया विचार उत्पन्न होता है, नए भाव की अनुभूति होती है तब उसकी रचनात्मक शक्ति उद्बुद्ध हो उठती है और बालक कुछ न कुछ सृजन के लिए तत्पर हो उठता है। बालक अपनी कल्पना, तर्क एवं अन्वेषण शक्ति का प्रयोग करके नई वस्तु सामने रखना चाहता है।

सृजन स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों प्रकार का होता है, जैसे शिल्प एवं औद्योगिक कलाओं के शिक्षण से बालक नई वस्तुएँ गढ़ना चाहता है, कागज की चीजें, खिलौना, मिट्टी के बरतन, लकड़ी एवं धातु शिल्प की सामग्री आदि। सूक्ष्म रचनाओं में वह भावात्मक एवं विचारात्मक सृजन सीखता है, जैसे साहित्यिक पाठों—कविता, नाटक, कहानी, निबन्ध आदि द्वारा बालक में साहित्यिक रचना करने की प्रेरणा जगती है और वह स्वयं कुछ न कुछ लिखने के लिए व्यग्र हो उठता है। संगीत और कला की शिक्षा से बालक को सृजनात्मक सीखने का खूब अवसर प्राप्त होता है। विज्ञान की शिक्षा में एक ओर नवीन अन्वेषण, कल्पना एवं तर्क की शक्ति जागरित होती है तो दूसरी ओर उनके प्रयोग का अवसर भी मिलता है जिससे नवीन रचना के लिए बालक आतुर होता है।

अतः इन विषयों के शिक्षण में यह ध्यान रखना चाहिए कि बालक को उचित निर्देशन और प्रेरणा मिले। कक्षा में ऐसे आयोजन किए जायँ जिससे बालक की सृजनात्मक शक्ति उदबुद्ध और विकसित हो। उसे स्वतन्त्र भाव प्रकाशन का अवसर और नवीन रचना के लिए प्रोत्साहन दिया जाय। महान् साहित्यकारों, कलाकारों, वैज्ञानिकों आदि के जीवन-आदर्शों को उनके सामने रखा जाय और उनकी कृतियों एवं रचनाओं के उदाहरण देकर बालकों की रचनात्मक शक्ति को उभारने को प्रयत्न किया जाय।

1. Creative learning

सृजनात्मक क्रिया के स्तर—किसी रचना पूर्ण सम्पादन में सामान्यतः चार स्तरों का उल्लेख किया जाता है :—प्रस्तावना, आश्रय, प्रकाश या प्रेरणा, प्रमाणीकरण।

प्रस्तावना के स्तर पर विद्यार्थी रचना सम्बन्धी आवश्यक सामग्री को एकत्र करता है और सभी संभव साधनों से सूचनाएँ भी प्राप्त करता है।

आश्रय का तात्पर्य एकत्र सामग्री एवं सूचनाओं पर प्रयोग की दृष्टि से विचार करना है। उसका मन भीतर ही भीतर रचना के सम्बन्ध में सोचता रहता है और क्रियाशील रहता है यद्यपि प्रत्यक्षतः वह कार्य में संलग्न नहीं रहता।

प्रेरणा के स्तर पर व्यक्ति समस्या के समाधान से परिचित हो जाता है। जो विचार मन में घर किए हुए थे वे उभर कर प्रयत्न रूप में सामने आ जाते हैं और परिणाम की आशा होने लगती है।

प्रमाणीकरण के स्तर पर व्यक्ति अपनी नवीन कृति-विचार या वस्तु पर तर्क पूर्ण विवेचन एवं मूल्यांकन करने की स्थिति में आ जाता है और देखता है कि जो कल्पना उसने की थी उसकी परिणति किस रूप में हुई है।

ये चारों स्तर सभी प्रकार की सृजनात्मक क्रियाओं में आवश्यक नहीं पर शिक्षक को इनका सामान्य रूप से ध्यान अवश्य रखना चाहिए।

प्रेरणात्मक पाठ[1]

प्रेरणात्मक पाठों से तात्पर्य उन प्रकार के पाठों से है जिनके द्वारा मनुष्य सात्त्विक प्रवृत्तियों को जागरित कर मानवता के उत्कर्ष के लिए बालकों को प्रेरित एवं सत्कर्म में प्रवृत्त करने का प्रयत्न किया जाता है। ये पाठ रागात्मक पाठों से मिलते-जुलते हैं किन्तु रागात्मक पाठों में जहाँ सांवेगिक शिक्षा पर अधिक बल रहता है, वहाँ प्रेरणात्मक पाठों में आध्यात्मिक एवं नैतिक शिक्षा पर। सांवेगिक शिक्षा का अर्थ पहले बताया जा चुका है—मानव हृदय में स्थित हर्ष-विषाद, प्रेम-घृणा, क्रोध-उत्साह, भय-आश्चर्य, करुणा-निर्वेद आदि भावों का उचित उत्कर्ष एवं उन्नयन इनका उद्देश्य भी अन्ततोगत्वा चरित्र निर्माण ही है किन्तु प्रेरणात्मक पाठों का सीधा सम्बन्ध हमारे आन्तरिक गुणों का उत्कर्ष, अन्तःकरण की परिशुद्धि, सच्चरित्रता एवं मानवीय गुणों की प्रतिष्ठा करना है। इन पाठों द्वारा मनुष्य का अन्तर्मन एवं विवेक जाग उठता है। मैग्डूगल के शब्दों में आत्मगौरव का स्थायी भाव जब उन्नत होता है तब मनुष्य के वास्तविक चरित्र का निर्माण होता है और वह धार्मिक, नैतिक एवं सामाजिक आदर्शों का गठन,

---

1. Inspirational lesson.

नियमन एवं अनुसरण करता है । प्रेरणात्मक पाठ मनुष्य की अन्तरात्मा को जगाकर उसके सच्चे व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक होते हैं और उसे सत्पथ पर अग्रसर करते हैं ।

हमारी वर्तमान शिक्षा केवल ज्ञान प्रधान होने के कारण एकांगी है अतः प्रेरणात्मक पाठों का और भी महत्त्व है । आज की शिक्षा का परिणाम है बौद्धिक अहंकार जिससे मानव सभ्यता एवं संस्कृति विनाश के कगार पर खड़ी है और किसी भी समय इसका विध्वंश हो सकता है । अतः पाठ्य विषयों में प्रेरणात्मक पाठों का समावेश आवश्यक है जिससे छात्रों में नैतिकता, श्रेष्ठ नागरिकता के गुण, सत्प्रवृत्तियाँ, जन कल्याण की भावना, सदाचार एवं शिष्टाचार आदि का स्फुरण और विकास हो सके ।

प्रेरणात्मक शिक्षण के अनेक रूप हो सकते हैं—

(१) प्रतिदिन विद्यालय के प्रारम्भ में ईश प्रार्थना, महान् धार्मिक ग्रन्थों से संक्षिप्त सुभाषित, प्रेरणा प्रद उद्धरण, नीति सम्बन्धी प्रवचन आदि ।

(२) धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा की व्यवस्था हो जिनके द्वारा आदिम प्रवृत्तियों का निग्रह एवं परिष्कार हो सके । रागात्मक पाठों द्वारा बालक का सांवेगिक विकास होता है पर संवेगों के ऊपर विवेक, नीति एवं मर्यादा के अंकुश बिना उच्च चरित्र का निर्माण संभव नहीं । अतः धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा का समावेश आवश्यक है । डा० राधाकृष्णन ने यूनिवर्सिटी कमीशन रिपोर्ट में धार्मिक शिक्षा के इस पक्ष का प्रतिपादन किया है कि सभी धर्मों के मूल तत्त्व बालकों को बताए जायँ, प्रमुख धार्मिक ग्रन्थों का विवेचनात्मक अध्ययन कराया जाय और यह सावधानी रखी जाय कि किसी प्रकार की धार्मिक संकीर्णता, साम्प्रदायिकता, धार्मिक कट्टरता एवं विद्वेष की भावना न आने पाए । धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा से मनुष्य में आस्था, विश्वास एवं विनय का विकास होता है । इसके अन्तर्गत मानव सेवा, दया, उपकार, सत्य, न्याय, प्रेम आदि गुणों के अच्छे उदाहरण प्रस्तुत किए जायँ, महान् पुरुषों की जीवन-गाथा बताई जाय और नीति की कहानियाँ सुनाई जायँ ।

(३) विविध पाठ्य विषयों में प्रेरणात्मक शिक्षण का स्थान—साहित्यिक एवं कलात्मक विषयों में सदाचार एवं नीति सम्बन्धी पाठों का समावेश किया जाय जिससे बालकों को सौन्दर्य बोध एवं रसानुभूति के साथ-साथ मानवीय गुणों की उच्चता का भी आभास होता चले ।

इसी प्रकार इतिहास एवं नागरिक शास्त्र के विषयों में भी ऐसे आदर्श, सदाचार एवं शिष्टाचार के उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिनसे विद्यार्थियों

को प्रेरणा मिले और वे महान् बनने का प्रयत्न करें। नागरिक शास्त्र में केवल नियम या शासनतन्त्र का परिचय दे देना ही पर्याप्त नहीं है अपितु नागरिकता के गुणों एवं कर्त्तव्यों पर बल देना चाहिए। इतिहास पढ़ाते समय अपने देश के गौरव का वर्णन तो किया जाय पर मानव सभ्यता एवं संस्कृति के निर्माण में अन्य देशों का योगदान भी बताया जाय जिससे संकीर्ण राष्ट्रीयता की जगह विशाल मानवता की भावना पैदा हो सके। भूगोल शिक्षण में विभिन्न देशों के सम्बन्ध दिखाकर हम वसुधैव कुटुम्बकम् का आदर्श प्रस्तुत कर सकते हैं। परस्पर सहयोग एवं अन्योन्याश्रय पर ही हमारा विकास निर्भर है। शिल्प एवं उद्योग की शिक्षा द्वारा, श्रम-प्रतिष्ठा का भाव विकसित होना चाहिए।

विज्ञान की शिक्षा में महान् वैज्ञानिकों का जीवन, उनकी निष्ठा, सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति एवं अटूट लगन के उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिससे छात्रों में वे गुण पैदा हों।

(४) खेल और उत्सवों द्वारा भी प्रेरणात्मक शिक्षा के यथेष्ट अवसर मिलते हैं। साहित्यिक एवं सांस्कृतिक आयोजन, स्काउटिंग आदि इस दृष्टि से अच्छे साधन हैं। अभिनय, विचार गोष्ठी, भाषण, कविता पाठ आदि द्वारा भी बालकों का सत्कार्यों में प्रवृत्त होने की प्रेरणा मिलती है।

प्रेरणात्मक शिक्षा के उपर्युक्त अवसर तभी उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं जब शिक्षकों में आस्था, लगन एवं निष्ठा भाव हो, उनके स्वयं के आचार-विचार, संस्कार एवं आदर्श ऊँचे हों और उन्हें इस बात की वास्तविक चिन्ता हो कि उनके शिक्षार्थी सभी दृष्टियों से महान् बनें।

सारांश

मानसिक क्रिया के तीन पक्षों—ज्ञानात्मक, क्रियात्मक एवं भावात्मक के आधार पर पाठों के प्रकार निर्धारित किए जाते हैं—ज्ञानात्मक, कौशल प्रधान एवं रागात्मक। यह विभाजन केवल किसी पक्ष की प्रधानता के आधार पर है अन्यथा प्रत्येक में शेष दोनों के तत्त्व गौण रूप से मौजूद रहते हैं।

ज्ञानात्मक पाठों का उद्देश्य नवीन ज्ञान प्रदान करना है। विज्ञान, गणित, सामाजिक विषय एवं भाषा सम्बन्धी कुछ पाठ जैसे व्याकरण, विचार प्रधान निबन्ध, अलंकार आदि।

ज्ञानात्मक पाठों के दो विभाग किए जाते हैं—विकासात्मक एवं दृढ़ात्मक।

विकासात्मक पाठों के दो भेद—अगमन और निगमन पाठ हैं। दृढात्मक पाठों के भी दो भेद—अभ्यास पाठ एवं पुनरीक्षण पाठ हैं।

अगमन पाठों की योजना में हरबार्टीय पदों के अनुसार यह क्रम है—(१) प्रस्तावना, उद्देश्यकथन, (२) प्रस्तुतीकरण, (३) तुलना एवं व्याख्या, (४) सामान्यीकरण, (५) प्रयोग (अभ्यास एवं गृहकार्य)।

निगमन पाठों में (१) प्रस्तावना, उद्देश्य कथन, (२) प्रस्तुतीकरण (सिद्धांत या नियम, विश्लेषण एवं सश्लेषण, नियम-पुष्टि), (३) प्रयोग।

अभ्यास पाठों में (१) प्रस्तावना, (२) प्रस्तुतीकरण, (३) अभ्यास एवं आवृत्ति।

पुनरीक्षण पाठ किसी विषय के अनेक पाठ पढ़ा लेने पर ही सम्भव होते हैं और उनमें प्रस्तावना, प्रस्तुतीकरण एवं आलोचना के पद प्रयुक्त होते हैं।

कौशलपाठ कार्य प्रधान होते हैं—शिल्प, कला, उद्योग, टेक्नालाजी आदि लिखना-पढ़ना, टंकन, द्रुतलिपि, मूर्ति एवं वास्तुकला सम्बन्धी पाठ भी इनके अन्तर्गत आते हैं।

इनके शिक्षण में (१) प्रस्तावना, (२) प्रस्तुतीकरण (प्रदर्शन, निरीक्षण, प्रयोगात्मक प्रयास) और (३) अनुकरण एवं अभ्यास के पदों का प्रयोग होता है।

रागात्मक पाठ—कविता, कला, संगीत, नृत्य, अभिनय, चित्रकला आदि। इन पाठों से सौन्दर्यानुभव एवं कलात्मक शक्ति का विकास होता है। इनके सफल शिक्षण के लिए शिक्षक का कलाप्रेमी होना अति आवश्यक है।

कविता शिक्षण में (१) प्रस्तावना, (२) प्रस्तुतीकरण (आदर्श पाठ, केन्द्रीय भावग्रहण, व्याख्या एवं सान्दर्यानुभूति, बालकों द्वारा सस्वर पाठ), (३) अनुभूति परीक्षा।

नाटक शिक्षण में (१) प्रस्तावना, (२) प्रस्तुतीकरण (आदर्श पाठ, मुख्य भाव ग्रहण, व्यक्त पाठ छात्रों द्वारा, व्याख्या आदि) (३) पाठ्याभिनय।

कहानी शिक्षण में (१) प्रस्तावना, (२) प्रस्तुतीकरण, (३) पुनरावृत्ति या कहानी कहना।

कला एवं संगीत शिक्षण में (१) प्रस्तावना (किसी उदाहरण या नमूने द्वारा), (२) प्रस्तुतीकरण, (३) अभ्यास।

सृजनात्मक सीखना में (१) प्रस्तावना, (२) आश्रय, (३) प्रकाश या प्रेरणा (४) प्रमाणीकरण।

प्रेरणात्मक पाठों में धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान है और इनके द्वारा बालकों में नैतिक एवं चारित्रिक गुणों का विकास अपेक्षित है।

प्रश्न

१—पाठों के वर्गीकरण का आधार क्या है ? विभिन्न प्रकार के पाठों के उदाहरण देकर बताइए कि वे बालक के विकास में किस प्रकार सहायक सिद्ध होते हैं ?

२—ज्ञानात्मक पाठों के विभिन्न प्रकार बताइए और उनकी शिक्षण प्रणाली पर प्रकाश डालिए।

३—अभ्यास पाठों का प्रयोजन बताते हुए उसकी सफलता के लिए आवश्यक परिस्थितियों का उल्लेख कीजिए।

४—पुनरीक्षण पाठ अभ्यास पाठों से किस प्रकार भिन्न हैं और उसके शिक्षण से क्या लाभ होता है।

५—पुनरीक्षण पाठ कितने प्रकार के होते हैं, सोदाहरण लिखिए।

६—कौशल पाठों के प्रयोजन एवं उद्देश्य पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

७—कौशल पाठों के अन्तर्गत विविध प्रकार के पाठों का शिक्षण प्रणाली पर प्रकाश डालिए।

८—कौशल पाठों में शिक्षण में ध्यान देने योग्य प्रमुख बातों का उल्लेख कीजिए।

९—रागात्मक पाठों का आज की शिक्षा में महत्त्व बताइए और सौन्दर्य बोध एवं रसानुभूति के विविध स्तरों का उल्लेख कीजिए।

१०—रागात्मक पाठों के शिक्षण के लिए शिक्षक में कौन गुण अपेक्षित हैं ?

११—रागात्मक पाठों के विविध प्रकारों का उल्लेख करते हुए उनकी शिक्षण प्रणाली पर प्रकाश डालिए।

१२—'सृजनात्मक सीखना' का क्या अभिप्राय है ? बालकों की सृजनात्मक शक्ति के विकास के लिए आप अपने विद्यालय में क्या आयोजन करेंगे ?

१३—प्रेरणात्मक पाठों का आधुनिक शिक्षा में महत्त्व बताते हुए अपने सुझाव दीजिए कि आधुनिक शिक्षा व्यवस्था में हम उनका समावेश किस प्रकार कर सकते हैं ?

अध्याय ९

शैक्षणिक उपकरण

"Naturally, there cannot be adequate imagery without the sense experience necessary to the formation of that imagery, and hence the importance of supplying the means through which such imagery may be acquired."

Thomas M. Risk

हमारा सीखना अथवा ज्ञान प्राप्त करना मुख्यतः ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त अनुभव पर निर्भर है। बाल्यावस्था में तो वह और भी सत्य है। ज्ञानेन्द्रिय अनुभव[1] द्वारा ही किसी भी वस्तु या क्रिया का मानसिक चित्र[2] बनता है और इस मानसिक चित्र के आधार पर ही तत्सम्बन्धी प्रत्यय[3] बनता है। बिना मानसिक चित्र के प्रत्ययों का निर्माण सम्भव नहीं, यहाँ तक कि जब हम किसी वस्तु या प्राणी का नाम सुनते हैं तो वे नाम उस समय तक सार्थक नहीं सिद्ध हो पाते जब तक साक्षात् ज्ञानेन्द्रिय अनुभव द्वारा हमारे मनस्पटल पर उनका कोई चित्र नहीं बन जाता। अतः शिक्षण द्वारा ज्ञान प्रदान करने के लिए ऐसे उपकरणों की आवश्यकता एवं महत्ता स्वयं सिद्ध है जिनके माध्यम से वस्तु, क्रिया, भाव या विचार के मानसिक चित्र बनते है और अभीष्ट प्रत्ययों का निर्माण होता है।

विगत अध्यायों में शिक्षण-सिद्धान्तों, सूत्रों एवं युक्तियों के सन्दर्भ में अनेक बार उल्लेख किया गया है कि शिक्षण को सजीव, सुग्राह्य एवं प्रभावपूर्ण बनाने के लिए यह आवश्यक है कि नवीन ज्ञान, भाव एवं विचार इस प्रकार प्रस्तुत किए जायँ कि उनका मूर्त्त एवं स्पष्ट स्वरूप प्रत्यक्ष हो जाय। अतः भावों, विचारों को मूर्त्त एवं स्पष्ट करने के लिए शैक्षणिक उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है जिनके द्वारा अमूर्त्त, जटिल एवं सूक्ष्म बातों को मूर्त्त, सरल एवं स्थूल बनाया जा सकता है और बालकों को उनका प्रत्यक्ष अनुभव कराया जाता है।

---

1. Sense experience.
2. Mental imagery.
3. Concept.

शिक्षण सूत्रों में प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष, मूर्त्त से अमूर्त्त, सरल से जटिल एवं स्थूल से सूक्ष्म की ओर बालकों को अग्रसर करने का भी उल्लेख किया जा चुका है। यदि इन सूत्रों पर विचार किया जाय कि किस प्रकार अमूर्त्त, जटिल, सूक्ष्म एवं अप्रत्यक्ष की ओर बढ़ने के लिए प्रत्यक्ष, मूर्त्त एवं स्थूल से कैसे प्रारम्भ करें तो शैक्षणिक उपकरणों का महत्त्व अपने आप स्पष्ट हो जाता है। शैक्षणिक उपकरण ही मूर्त्तता, प्रत्यक्षता एवं स्थूलता प्रदान करने के साधन एवं माध्यम हैं। इनके आधार पर हम सूक्ष्म, अमूर्त्त एवं अप्रत्यक्ष सिद्धान्तों की ओर बालकों को अग्रसर करते हैं। इन्हीं की सहायता से अमूर्त्त भावों एवं विचारों को साकार रूप प्रदान कर सकते हैं।

पाठ को सरल, रोचक, सजीव एवं ग्राह्य बनाने के लिए शैक्षणिक उपकरणों का प्रयोग आवश्यक है। इनके प्रयोग से पाठों को क्रियात्मक एवं व्यावहारिक बनाने में अपूर्व सहायता मिलती है।

व्यापक दृष्टि से शैक्षणिक उपकरणों का तात्पर्य शिक्षण के लिए प्रयुक्त उन सभी साधनों से है जिनके द्वारा शिक्षण कार्य में सहायता और पाठ को संप्रेषणीय बनाने में सुगमता प्राप्त होती है। अतः शैक्षणिक उपकरणों के अनेक रूप हो सकते हैं—

१—विषय सामग्री को सुव्यवस्थित रूप में उपस्थित करने वाली पाठ्य पुस्तकें।

२—कक्षा शिक्षण का अनिवार्य साधन श्यामपट्ट।

३—विषय सामग्री को स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष करने के लिए प्रयुक्त मौखिक एवं दृश्य उदाहरण।

इन उपकरणों के सम्यक् प्रयोग पर पाठ-शिक्षण की सफलता बहुत कुछ निर्भर है। इनका संक्षिप्त वर्णन नीचे किया जा रहा है।

पाठ्य पुस्तक

पाठ्य पुस्तक की आवश्यकता एवं महत्त्व—शिक्षा प्रदान करने की परम्परागत प्रणाली पाठ्य पुस्तकों पर आधृत रही है। मनुष्य द्वारा अर्जित ज्ञान एवं अनुभवों को संचित तथा अक्षुण्ण बनाए रखने का साधन पुस्तकें रही हैं और उसके द्वारा सदा से ही भावी सन्तति लाभान्वित होती रही। इस परम्परा का मानव सभ्यता एवं संस्कृति के निर्माण तथा विकास में अनुपम योगदान है। इसके अभाव में ज्ञान के उत्तरोत्तर विकास की यह तीव्र प्रगति सम्भव नहीं। बालकों की शिक्षा की दृष्टि से तो इनका और भी अधिक महत्त्व है क्योंकि

पुस्तकें ही बालक की ज्ञान प्राप्ति के लिए आधारशिला का काम देती हैं और उसे भावी जीवन में ज्ञानोपलब्धि के लिए तैयार करती हैं।

बालकों को शिक्षा प्रदान करने के लिए विद्यालयों में विभिन्न विषयों पर जिन पुस्तकों का प्रयोग किया जाता है, उन्हें पाठ्य पुस्तक कहते हैं क्योंकि उनकी रचना एक विशेष उद्देश्य से, पाठ्य विषय को ध्यान में रखते हुए उपयुक्त सामग्री का चयन एवं क्रमायोजन करते हुए बालकों के क्रमिक शैक्षिक विकास की दृष्टि से की जाती है। अतः पाठ्य पुस्तकों की आवश्यकता एवं महत्ता असंदिग्ध है—

१—विभिन्न विषयों की पाठ्य पुस्तकें कक्षा शिक्षण के लिए आधार का काम करती हैं। इनके द्वारा समस्त विषयों का एक संश्लिष्ट रूप सामने आ जाता है।

२—पाठ्य पुस्तकों के आधार पर शिक्षक को पाठ-योजना तैयार करने में सहायता मिलती है। वह पाठ्य पुस्तक के आधार पर सम्पूर्ण वर्ष की पाठ्य सामग्री को विभिन्न इकाइयों एवं पाठों में विभाजित कर सकता है और मनोवैज्ञानिक क्रम से पाठ्य विषय को व्यवस्थित करके प्रस्तुत करता है।

३—पाठ्य पुस्तक द्वारा छात्रों को प्रत्येक विषय के सीमा-क्षेत्र एवं विस्तार का परिचय मिल जाता है। इसके अभाव में छात्रों को शिक्षक के प्रतिदिन की शिक्षण सामग्री पर ही अवलम्बित रहना पड़ता है और विषय का समग्र रूप स्पष्ट नहीं हो पाता।

४—पाठ्य विषय के अन्तर्गत आए हुए पाठों तथा उनके परस्पर संबंधों की जानकारी हो जाती है और बालक क्रमिक रूप से लिखे हुए पाठों में यह सम्बन्ध सूत्र स्थापित कर लेते हैं। इससे विषय के सुसम्बद्ध ज्ञान में सहायता मिलती है।

५—पाठ्य पुस्तकें शिक्षकों एवं शिक्षार्थियों दोनों को प्रतिदिन के कार्यों की प्रगति के प्रति सचेतक का कार्य करती हैं। दोनों परिचित होते रहते हैं कि उन्होंने पाठ्य विषय का कितना अंश समाप्त कर लिया है और कितना बाकी है। इस आधार पर शिक्षण-योजना में आवश्यक सुधार एवं प्रयत्न सम्भव हो जाता है।

६— पाठ्य पुस्तकों द्वारा बालकों को स्वाध्याय के लिए प्रोत्साहन मिलता है और वे कक्षा में जाने के पहले ही पाठ से परिचित हो सकते हैं।

पाठ्य पुस्तक द्वारा बालकों को पाठ सम्बन्धी अनेक आवश्यक सूचनाएँ

एक स्थान पर एकत्र मिल जाती हैं जिससे याद करने और उनका प्रयोग करने में सहायता मिलती है।

७—बालक ज्यों-ज्यों ऊँची कक्षाओं में पहुँचते जाते हैं त्यों-त्यों उनके लिए पाठ्य पुस्तकों की आवश्यकता बढ़ती जाती है क्योंकि वे स्वाध्याय में समर्थ हो चुके रहते हैं और अधिक लाभ उठाने की स्थिति में हो चुके रहते हैं।

८—कक्षा में पढ़े हुए पाठों की आवृत्ति के लिए पाठ्य पुस्तक बहुत उपयोगी उपकरण है। इनके अभाव में बालक अपने को असहाय-सा पाते हैं।

९—सामूहिक शिक्षा की दृष्टि से पाठ्य पुस्तकें आवश्यक उपकरण हैं। भाषा एवं साहित्य जैसे विषयों में तो इनके बिना काम ही नहीं चल सकता इससे समय और श्रम दोनों की बचत होती है।

१०—वैयक्तिक शिक्षण में भी जैसे डाल्टन योजना में जहाँ बालक पृथक्-पृथक् व्यक्तिगत रूप से अध्ययन एवं कार्य करते हैं, पाठ्य पुस्तक एक आधार एवं सहायक शिक्षक का काम करती है।

११—गृहकार्य के लिए भी पाठ्य पुस्तक बहुत सहायक सिद्ध होती है।

१२—कक्षा में शिक्षक के अनुपस्थित रहने पर बालक पाठ्य पुस्तक रहने से पढ़ने में लगे रहते हैं और कक्षा में कोलाहल नहीं हो पाता।

१३—परीक्षा की तैयारी में पाठ्य पुस्तक से बहुत सहायता मिलती है। वस्तुतः उसे ही बालकों के ज्ञानार्जन का आधार मानकर परीक्षण किया जाता है।

पाठ्य पुस्तकों का दुरुपयोग—पाठ्य पुस्तकों के उपर्युक्त लाभ को स्वीकार करते हुए भी उसके दुरुपयोगों से हम आँखें नहीं बन्द कर सकते क्योंकि इनके कारण आधुनिक शिक्षण में अनेक दोष आ गए हैं :—

१—पाठ्य पुस्तकों को इतना महत्त्व दे दिया जाता है कि वे शिक्षक का स्थान ग्रहण कर लेती हैं। वे शिक्षण का उपकरण या साधन न रहकर लक्ष्य एवं साध्य बन जाती हैं। फलतः बालक उन्हें रटना ही अपना उद्देश्य मान लेते हैं। शिक्षा शास्त्री टी० रेमाण्ट का कथन है कि पाठ्य पुस्तकें शिक्षण के लिए सहायक एवं पूरक सामग्री के रूप होनी चाहिए पर वही सर्वप्रमुख बन जाती हैं।

२—पाठ्य पुस्तकें शिक्षा में रूढ़िवादिता एवं एकरूपता ला देती हैं। शिक्षक पाठ-शिक्षण में विविधता एवं रोचकता का ध्यान छोड़कर पाठ्य पुस्तक पढ़ाने में ही सरलता का अनुभव करने लगता है।

३—पाठ्य पुस्तकों को ही आधार मान लेने से शिक्षक एवं शिक्षार्थी

दोनों की पुरोगामिता नष्ट हो जाती है। वे पाठ्य पुस्तक पर ही निर्भर रहने लगते हैं और शिक्षा के व्यापक तत्त्वों की उपेक्षा करने लगते हैं। छात्र पाठ्य पुस्तक रट लेने में और शिक्षक पाठ्य पुस्तक कक्षा में पढ़ा देने में ही अपने-अपने कर्त्तव्यों की इतिश्री मान लेते हैं और उनकी स्वतन्त्र विचार शक्ति का ह्रास होने लगता है, विषय का ज्ञान संकीर्ण हो जाता है और स्वतन्त्र एवं व्यापक अध्ययन की रुचि समाप्त हो जाती है।

४—पुस्तकीय ज्ञान सैद्धान्तिक होता है जिसका तात्कालिक यथार्थ जीवन से व्यावहारिक सम्बन्ध स्थापित किए बिना कोई मूल्य नहीं होता। केवक पुस्तक याद कर लेने से बालकों का ज्ञान व्यावहारिक नहीं हो पाता। इसी कारण उन्हें 'किताबी कीड़ा' की संज्ञा से विभूषित किया जाता है क्योंकि वे उस रटे हुए ज्ञान को अपने जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में व्यवहृत नहीं कर पाते।

५—पाठ्य पुस्तकों द्वारा बालकों को पकी-पकाई सामग्री पहले से ही मिल जाती है। अतः पाठ-शिक्षण में बालकों का कोई सक्रिय सहयोग नहीं रह जाता, उनमें अन्वेषण एवं अनुसन्धान की रुचि नहीं रह जाती है, आधुनिक मनोवैज्ञानिक प्रणालियों का प्रयोग भी नहीं हो पाता और स्वयं ज्ञान प्राप्ति[1] एवं स्वाध्याय के प्रयत्न का प्रश्न ही नहीं रह जाता।

६—पाठ्य पुस्तकें पाठ्य सामग्री एवं ज्ञानवर्द्धन की दृष्टि से तो संकीर्णता ला ही देती हैं, शिक्षण प्रक्रिया को भी निर्जीव बना देती हैं। शिक्षक 'व्याख्या एवं निदर्शन' का अथवा 'प्रश्नोत्तर' आदि युक्तियों का प्रयोग न कर कक्षा में छात्रों को पुस्तक पढ़ाना प्रारम्भ कर देते हैं और दो-एक कठिन स्थलों को समझाते हुए अथवा अपने शब्दों में दोहराते हुए आगे बढ़ जाते हैं। यह शिक्षण इतना यांत्रिक, नीरस और बोझिल हो जाता है कि छात्र अपना ध्यान पाठ में एकाग्र करने में असमर्थ से हो जाते हैं।

उपर्युक्त दोषों के कारण आधुनिक शिक्षा-शास्त्री पाठ्य पुस्तकों का बहुत विरोध करने लगे हैं क्योंकि ज्ञान प्राप्ति एवं शिक्षण प्रणाली दोनों दृष्टियों से ये हानिकारक सिद्ध हो रही हैं। प्राइमरी एवं माध्यमिक कक्षाओं में तो इनका प्रयोग जितना ही कम हो उतना ही अच्छा है। यह सही होते हुए भी विचार करने पर हम देखेंगे कि ये दोष पाठ्य पुस्तकों का नहीं, बल्कि उनके अनुचित प्रयोग का दोष है। पाठ्य पुस्तकें तो आवश्यक हैं और उनके द्वारा ज्ञानार्जन में बहुत सहायता मिलती है किन्तु इसके लिए आवश्यक है पाठ्य पुस्तकें अच्छी हों और वे हमारी शैक्षिक आवश्यकताओं को पूरा करने वाली हों।

1. 'All education is self education'. Hamilton.

उत्तम पाठ्य पुस्तक के गुण—पाठ्य पुस्तक को शिक्षणोपयोगी बनाने के लिए उसमें निम्नांकित विशेषताएँ होनी चाहिए :—

क—पाठ्य सामग्री सम्बन्धी

१ पाठ्य सामग्री का वर्णन छात्रों की आयु, रुचि एवं मानसिक योग्यता के अनुकूल होनी चाहिए। भाषा सरल, सजीव एवं स्पष्ट हो। शैली रोचक हो जिससे बालक पढ़ने में आनन्द का अनुभव कर सकें।

२—पाठ्य पुस्तक में शिक्षण-प्रक्रिया का भी संक्षिप्त उल्लेख हो तथा उचित निर्देशन दिया गया हो जिससे शिक्षकों को अपनी शिक्षण पद्धति रुचिकर एवं उपयोगी बनाने में सहायता मिले।

३—पाठ्य पुस्तक में जटिल प्रकरणों का उल्लेख यथासम्भव सरल बना कर विस्तार से होना चाहिए जिससे बालक भी पढ़ एवं समझ सकें।

४—पाठ्य पुस्तक में विषय सम्बन्धी सभी प्रकरणों का उल्लेख इस रूप में होना चाहिए कि वे बालकों में बहुमुखी रुचि उत्पन्न करने में सहायक हों और स्वाध्याय के लिए प्रेरणा दें।

५—पाठों का वर्णन जहाँ तक सम्भव हो सके, वास्तविक जीवन-परिस्थितियों एवं बालकों के अनुभव से सम्बन्धित करके किया जाय। इससे बालक पाठों को बड़े चाव से पढ़ते हैं और आनन्द भी लेते हैं। ऐसे पाठों को ग्रहण करना भी सरल होता है।

६—पाठ्य सामग्री का निरूपण भी इस रूप में होना चाहिए कि बालकों को चारित्रिक एवं नैतिक उत्कर्ष के लिए प्रेरणा प्राप्त हो सके। इतिहास के पाठों में इस निरूपण का विशेष महत्त्व है क्योंकि उसमें ऐसे अनेक पाठ हो सकते हैं जो बालकों में साम्प्रदायिकता तथा जाति विद्वेष का भड़काने में सहायक हो जाते हैं। अतः सत्य और शिवत्व दोनों का ध्यान रखकर पाठ्य सामग्री निरूपित होनी चाहिए।

७—अश्लील एवं संकीर्ण प्रवृत्ति पैदा करने वाली सामग्री नहीं रहनी चाहिए। चरित्र-निर्माण एवं उदात्त प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करने वाली सामग्री ही वांछित है।

८—पाठ अधिक लम्बे न हों अन्यथा पढ़ने में ऊब और थकान महसूस होती है। पाठ्य सामग्री का संक्षिप्त एवं स्पष्ट उल्लेख ही रुचिकर होता है।

९—प्रकरण या अध्याय के अन्त में सारांश, प्रश्न एवं सहायक पुस्तकों के नाम दे देने से पुस्तक की उपयोगिता बढ़ जाती है। अन्त में अन्य संकेत

जैसे आवश्यक टिप्पणी, अन्तःकथा आदि भी विद्यार्थियों के लिए सहायक सिद्ध होती है।

ख—संगठन—पाठ्य सामग्री की उपयुक्तता के साथ-साथ पाठ्य पुस्तक में पाठों की व्यवस्था एवं क्रमायोजन पर भी ध्यान देना आवश्यक है। पाठों या प्रकरणों के रूप में विषय सामग्री का वर्गीकरण एवं क्रमायोजन इस प्रकार होना चाहिए कि उनमें पूर्वापर सम्बन्ध बना रहे और प्रत्येक प्रकरण अपने आगे आने वाले प्रकरण के अध्ययन में सहायक हो एवं उचित पृष्ठभूमि का काम दे। पाठों का क्रम मनोवैज्ञानिक होना चाहिए और सरल से कठिन की ओर आयोजित होना चाहिए।

प्रत्येक प्रकरण की सामग्री भी सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित हो। उसे शीर्षकों, उपशीर्षकों में विभाजित कर तथ्यों को अधिकाधिक स्पष्ट एवं बोधगम्य बनाना चाहिये। उचित हाशिया का ध्यान रखना चाहिये। चित्रों, रेखाचित्रों, ग्राफ, चार्ट आदि को उपयुक्त स्थान पर स्पष्ट एवं सुन्दर रूप में देना चाहिये। विषय-सूची, अनुक्रमणिका, सहायक पुस्तकों की सूची आदि आवश्यक सूचनाएँ अवश्य देनी चाहिये।

ग—पाठ्य पुस्तक में उदाहरणों का समावेश—पाठ्य-पुस्तक को रोचक, आकर्षक एव सुग्राह्य बनाने के लिए आवश्यक उदाहरणों-चित्र, मानचित्र, रेखाचित्र, चार्टस एवं सारणियों का समावेश अवश्य होना चाहिए। इनसे सिद्धांतों अथवा तथ्यों को समझने में तो सहायता मिलती ही है, पुस्तक भी सजीव हो उठती है और छात्रों में पठन के प्रति रुचि पैदा होती है। ये उदाहरण सर्वथा शुद्ध, स्पष्ट एवं आकर्षक हों।

घ—मुख पृष्ठ एवं मुद्रण—पाठ्य पुस्तक को आकर्षक एवं उपयोगी बनाने के लिए इसका ध्यान रखना आवश्यक है। मुख पृष्ठ का कागज उत्तम, चिकना और टिकाऊ हो। विषय द्योतक यदि चित्र भी हो और उसकी प्ररचना (डिजाइन) अच्छी हो तो पुस्तक का आकर्षक और बढ़ जाता है।

पुस्तक के मुद्रण पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। कक्षा का ध्यान रखते हुए छोटे या बड़े टाइप का चुनाव होना चाहिए। प्रारम्भिक कक्षाओं में मोटा टाइप और उत्तरोत्तर ऊँची कक्षाओं में छोटे टाइप होते जाते हैं। कागज चिकना रहने पर टाइप चमकीले और सुन्दर लगते हैं। सामग्री को सजाने एवं आकर्षक बनाने के लिए शीर्षक, उपशीर्षक, सामान्य सामग्री, टिप्पणी या नोट आदि के लिए विभिन्न प्रकार के उपयुक्त टाइपों का चुनाव होना चाहिए।

ङ—लेखक—इस समय सामान्यतः पाठ्य पुस्तकों की रचना की प्रचलित पद्धति यह है कि राज्य के शिक्षा विभाग अथवा प्राइमरी एवं माध्यमिक शिक्षा परिषदों द्वारा प्रकाशकों एवं लेखकों से पाठ्य पुस्तकें आमंत्रित की जाती हैं और कुछ विशेषज्ञों के समीक्षण एवं परामर्श से समर्पित पुस्तकों में से पाठ्य पुस्तकें चुन ली जाती हैं : इस पद्धति का दोष यह है कि प्रकाशक एवं लेखक अपनी पुस्तक चुनवाने के लिए अनुचित साधनों का सहारा लेते हैं और सफल भी हो जाते हैं। अच्छी पुस्तकें धरी रह जाती हैं और साधारण पुस्तकें चुन ली जाती हैं। इससे बचने के लिए विशेषज्ञों एवं अनुभवी शिक्षक-लेखकों का एक संगठन होना चाहिये जो शिक्षा विभाग की देख-रेख में पुस्तकें लिखें। अनेक विशेषज्ञों एवं लेखकों के सम्मिलित प्रयास से भूलें नहीं रह पातीं और पुस्तक सभी दृष्टि से उत्तम होती है।

जिन कक्षाओं के लिये पाठ्य पुस्तकें लिखाई जायँ उन कक्षाओं के अध्यापकों का लेखक मण्डल में उचित प्रतिनिधित्व आवश्यक है। प्रायः देखा गया है कि माध्यमिक कक्षाओं की पाठ्य पुस्तकें भी विश्वविद्यालय के प्रोफेसरों द्वारा लिखी जाती हैं और वे स्वीकृत हो जाती हैं पर वे विद्यार्थियों की योग्यता, रुचि एवं शैक्षिक स्तर के अनुकूल नहीं होतीं। अतः अच्छे एवं अनुभवी कक्षाध्यापकों का सहयोग, परामर्श अवश्य लेना चाहिये।

पाठ्य पुस्तकों का प्रयोग

पाठ्य पुस्तकों की आवश्यकता एवं महत्त्व पर लिखा जा चुका है पर उसकी सार्थकता बहुत कुछ इनके सही प्रयोग पर निर्भर है। बालकों की आयु, रुचि एवं शैक्षिक योग्यता के अनुकूल ही पाठ्य पुस्तकों का उपयोग होना चाहिये। पाठ्य पुस्तक का उपयोग इस बात पर भी निर्भर है कि पाठ्य विषय कैसा है और उसकी प्रकृति क्या है ?

प्रारम्भिक कक्षाओं में अधिकांश शिक्षण मौखिक होना चाहिये। अतः पाठ्य पुस्तकों का प्रयोग कम से कम होगा। पर भाषा एवं गणित में यह बात नहीं लागू होती। इन दो विषयों में पाठ्य पुस्तकों का प्रयोग आवश्यक है किन्तु अन्य-अन्य विषयों की शिक्षा मौखिक होगी। माध्यमिक कक्षाओं में विद्यार्थी बौद्धिक दृष्टि से कुछ विकसित एवं अनुभवी हो चुके होते हैं अतः सभी विषयों में पाठ्य पुस्तकों का प्रयोग उचित समझा जाता है। पर इन कक्षाओं में भी ध्यान रखना चाहिये कि पाठ्य पुस्तकें सहायक उपकरण ही रहें, शिक्षण का सम्पूर्ण स्थान न अपना कर लें। उच्चतर माध्यमिक स्तर पर बालकों को स्वाध्याय के लिये प्रोत्साहित करना चाहिये अतः पाठ्य पुस्तकों की उपयोगिता और भी बढ़

जाती है। इस स्तर पर बालक स्वयं पढ़कर बहुत कुछ ज्ञान अर्जित कर सकते हैं। उन्हें स्वाध्याय के लिये उचित पथप्रदर्शन अवश्य प्रदान करना चाहिए। जो बालक बौद्धिक दृष्टि से पिछड़े रहते हैं उनके लिए स्वाध्याय द्वारा उचित मात्रा में ज्ञानार्जन कठिन सिद्ध होता है अतः उनके विशेष पथप्रदर्शन की आवश्यकता पड़ती है।

विषय की दृष्टि से भी पाठ्य पुस्तकों के प्रयोग में भिन्नता आ जाती है। भाषा की शिक्षा में पाठ्य पुस्तक का प्रयोग बहुत अधिक होता है। सस्वर पाठ, मौन पाठ, बोध ग्रहण, व्याख्या, शब्द भण्डार आदि सभी के लिये पाठ्य पुस्तक ही आधार है। पुस्तक के पाठों के आधार पर ही बालकों के भाषा-ज्ञान की वृद्धि का प्रयत्न किया जाता है। भाषा की पुस्तक कक्षा में ही नहीं बल्कि घर पर भी बालकों के अध्ययन के लिए आवश्यक है। इतना अधिक महत्त्व होते हुए भी शिक्षक को यह स्मरण रखना चाहिए कि बालकों को अपनी भाषा एवं शैली को भी समृद्ध बनाना है अतः पुस्तक को आधार मानते हुए भी स्वतन्त्र भावप्रकाशन एवं भाषा के प्रयोग पर बल देना चाहिए जिससे छात्रों में भाषा की शक्ति विकसित हो।

अंकगणित, बीजगणित एवं रेखागणित की पाठ्य पुस्तकों का प्रयोग इसलिए अधिक महत्त्वपूर्ण है कि उसमें दिए गए अभ्यास करने आवश्यक हैं और उनके आधार पर बालक नए सिद्धान्त सीखते हैं। कक्षा में नए सिद्धान्त सीख लेने पर घर पर उसके प्रश्नों को हल करने के लिए पाठ्यपुस्तक आवश्यक हो जाती है। कभी-कभी पाठ्य पुस्तकों में 'सरल से कठिन की ओर' सूत्र के अनुसार प्रश्नों एवं अभ्यासों का क्रम नहीं रहता। ऐसे स्थलों पर आवश्यक निर्देश देने चाहिए। अभ्यास के लिए जो प्रश्न दिए जायँ वे कक्षा में पढ़ाये हुए नियमों के आधार पर ही हों। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि पाठ्य पुस्तक में दिए हुए प्रश्नों को हल कर लेना ही उद्देश्य नहीं है अपितु सीखे हुए नियम एवं सिद्धान्त सम्बन्धी सभी प्रश्नों को (चाहे वे पुस्तक में हों या नहीं) हल करने की योग्यता छात्रों को हो जानी चाहिए। इसी प्रकार रेखागणित की पुस्तक के समस्त प्रमेयों एवं प्रयोग का जान लेना ही पर्याप्त नहीं बल्कि बालकों को विश्लेषण-संश्लेषण विधि द्वारा प्रमेय को हल करना और उपपत्तियों को निकालना जान जाना चाहिए। इससे बालकों तर्क-शक्ति का विकास होगा और वे स्वयं हल करना सीख जायँगे।

सामाजिक विषयों—इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि—में पाठ्य पुस्तकों का प्रयोग कक्षा में जितना ही कम किया जाय उतना ही अच्छा

है । किन्तु घर पर बालक उन्हें अवश्य पढ़ें जिससे कक्षा में प्राप्त ज्ञान को अधिकाधिक सुदृढ बना सकें ।

इस प्रकार विभिन्न विषयों के शिक्षण में पाठ्य पुस्तकों का प्रयोग विभिन्न प्रकार से होता है और शिक्षक ही उचित निर्णायक है कि पाठ्य पुस्तक का कितना और किस प्रकार प्रयोग होना चाहिए।

विषय एवं कक्षा की दृष्टि से पाठ्य पुस्तकों का प्रयोग तो होगा ही, पर यह भी ध्यान रखना है कि पाठ्य पुस्तक शिक्षण का उपकरण है, लक्ष्य या साध्य नहीं । अनेक शिक्षक पाठ्य पुस्तक को इतनी प्रधानता दे देते हैं कि उसे कक्षा में पृष्ठानुपृष्ठ पढ़ना, शब्दशः व्याख्या करना तथा पाठ्य पुस्तक को समाप्त करना ही अपना लक्ष्य मान लेते हैं । फलतः कक्षा-शिक्षण में पाठ्य पुस्तक की ही प्रभुता एवं उसी का शासन स्थापित हो जाता है । पाठ्य पुस्तक ही शिक्षक का स्थान ले लेती है । किन्तु यह ठीक नहीं है । प्रो० कीटिंग का यह कथन सत्य है कि पाठ्य पुस्तकें तो शिक्षा की केवल आधी सामग्री हैं, ये शिक्षक को मौखिक शिक्षण में सहायता प्रदान करती हैं पूरक मात्र हैं । जिस प्रकार शिक्षण के अन्य उपकरण शिक्षण में सहायता प्रदान करते हैं उसी प्रकार पाठ्य पुस्तकें भी हैं ।

शिक्षक को सदा ध्यान रखना चाहिए कि बालकों का ज्ञान पाठ्य पुस्तक ही तक सीमित न रहे बल्कि उसका आधार लेकर वे विस्तृत एवं व्यापक अध्ययन के लिए प्रेरित हों और पुस्तक में दी गई सामग्री को परिपूर्ण बनाने के लिए तद्विषयक अन्य पुस्तकों का भी अध्ययन करें । बालकों को पाठ्य पुस्तक के अध्ययन की उचित विधि भी बतानी चाहिए । पुस्तक पढ़ना, प्रमुख तथ्यों एवं तत्त्वों को समझना, उन्हें नोट करना, सारांश लिखना, पाठ पर आधारित प्रश्नों का उत्तर लिखना तथा उस ज्ञान को अन्य पुस्तकों द्वारा परिवर्द्धित करना आदि बताना चाहिए जिससे बालकों में स्वाध्याय की प्रवृत्ति बढ़े और वे पाठ्य पुस्तकें ही नहीं बल्कि अन्य पुस्तकों का भी सही प्रयोग करना सीख लें ।

श्यामपट्ट

और ज्योमिति में डायग्राम एवं रेखाचित्र तथा प्रमुख सिद्धान्तों एवं तथ्यों का उल्लेख; ड्राइंग में प्ररचना[1] आदि श्यामपट्ट द्वारा ही प्रस्तुत किए जाते हैं। इससे बालकों को पाठ अधिक स्पष्ट एवं बोधगम्य हो जाता है और वे श्यामपट्ट पर अंकित सामग्री को अपनी अभ्यास-पुस्तिका में लिख लेते हैं जिससे उसका आवश्यकतानुसार प्रयोग कर सकें। अतः आज के शिक्षण में श्यामपट्ट का महत्त्व निर्विवाद है। यदि किसी कक्षा में श्यामपट्ट नहीं है तो वह कक्षा अधूरी है। अतः कक्षा की व्यवस्था एवं साज-सज्जा में श्यामपट्ट की व्यवस्था अवश्य रहनी चाहिए।

श्यामपट्ट की आवश्यकता एवं उपयोगिता

१—श्यामपट्ट के प्रयोग के अभाव में शिक्षक द्वारा प्रस्तुत मौखिक शिक्षण से बालक की श्रवणेन्द्रिय ही सक्रिय रहती है, किन्तु मौखिक शिक्षण के साथ-साथ श्यामपट्ट के प्रयोग से बालक की नेत्रेन्द्रिय भी सक्रिय हो जाती है जिससे बालक का ज्ञान सुदृढ़ और स्थायी होता है। श्रवण एवं निरीक्षण दोनों के योग से अवधान में एकाग्रता और प्रगाढ़ता आ जाती है और ज्ञान ग्रहण करने में सुगमता एवं सरलता प्राप्त होती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अधिकाधिक ज्ञानेन्द्रियों का प्रयोग ज्ञान-प्राप्त में बहुत सहायक माना जाता है।

२—श्यामपट्ट पर पाठ के महत्त्वपूर्ण अंशों एवं तथ्यों के उल्लेख से छात्रों का ध्यान अपने-आप उनकी ओर आकृष्ट हो जाता है और उनका एक मानसिक चित्र बन जाता है।

३—पाठ के कठिन स्थलों को श्यामपट्ट पर चित्र, डायग्राम, रेखाचित्र आदि खींचकर अथवा व्याख्या, शब्दार्थ, प्रयोग आदि के उल्लेख द्वारा सरल, सुबोधपूर्ण एवं सुग्राह्य बनाया जा सकता है।

४—पाठ-सारांश एवं पुनरावृत्ति की दृष्टि से श्यामपट्ट अपरिहार्य साधन है।

५—गणित एवं विज्ञान का शिक्षण तो श्यामपट्ट बिना संभव ही नहीं। गणित के प्रश्नों को हल करने की आदर्श विधि का प्रदर्शन, सिद्धान्त निरूपण एवं निष्कर्ष आदि श्यामपट्ट पर ही होता है। विज्ञान के शिक्षण में भी प्रदर्शन एवं सिद्धान्तों का उल्लेख श्यामपट्ट बिना संभव नहीं।

६—श्यामपट्ट की सहायता से पूरी कक्षा को एक साथ ही पाठ-सारांश,

---

1. Design.

पाठ्य सामग्री की प्रमुख बातें, व्याख्या, अभ्यास, गृहकार्य आदि प्रदान करने में सरलता रहती है।

७—श्यामपट्ट सहज ही सुलभ शैक्षणिक उपकरण है तथा स्वल्प व्ययसाध्य भी।

श्यामपट्ट कैसा हो

श्यामपट्ट अच्छा काला पालिशदार, बड़ा, टिकाऊ, चिकने एवं सम धरातल का होना चाहिये जिस पर खड़िया द्वारा स्पष्ट सुलेख एवं चिह्न बन सकें और सुगमता से मिट भी सकें। कक्षा में वह उपयुक्त स्थान पर सुसज्जित हो। श्यामपट्ट की पालिश ऐसी चमकदार नहीं होनी चाहिये कि आँखों पर चकाचौंध लगे।

सामान्यतः श्यामपट्ट का उपयुक्त आकार १० × ३० सेमी माना जाता है। यदि इस आकार का श्यामपट्ट उपलब्ध न हो तो जहाँ तक सम्भव हो सके, उतना बड़ा तो अवश्य ही लेना चाहिए और उस कमी की पूर्ति दूसरे श्यामपट्ट द्वारा अथवा लपेट श्यामपट्ट[1] द्वारा की जा सकती है। टिकाऊ श्यामपट्ट से तात्पर्य ऐसे श्यामपट्ट से है जो जल्दी घिस न सके। शिक्षक का अनुभव इस क्षेत्र में अधिक महत्त्व रखता है। उपयुक्त स्थान पर श्यामपट्ट रखना चाहिए। वह इतना ऊँचा रहे कि उसके निचले भाग पर लिखते समय शिक्षक को घुटने के बल न बैठना पड़े तथा विद्यार्थी अपने स्थान पर से बिना हिले और खड़े हुए श्यामपट्ट पर के सम्पूर्ण उल्लेख एवं सामग्री देख सके।

अच्छी किस्म की खड़िया से सुलेख बनता है और उसका मिटाना भी आसान होता है तथा उससे श्यामपट्ट का धरातल खराब भी नहीं होता। श्याम-पट्ट पर प्रयोग के लिए लगभग १ मीटर लम्बा प्वाइन्टर रखना चाहिए।

श्यामपट्ट का प्रयोग

श्यामपट्ट के प्रयोग में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना आवश्यक है :—

१—ठीक समय पर आवश्यक उल्लेख श्यामपट्ट पर होना चाहिए और आवश्यकता समाप्त होते ही उसे मिटा देना चाहिए। पीरियड के अन्त में पूरा श्यामपट्ट साफ कर देना चाहिए।

श्यामपट्ट पर कब और कितना सारांश या सामग्री लिखी जाय, इसका उचित निर्णायक शिक्षक ही है। सामाजिक विषयों में कुछ शिक्षक पाठ-विकास

---

1. Roll-up black board.

के साथ-साथ प्रमुख तथ्यों का उल्लेख करते जाते हैं और कुछ पुनरावृत्ति के समय। भाषा में प्रायः कठिन शब्दों का उल्लेख होता है, गणित में नियमों का भी उल्लेख होता है, विज्ञान में पाठ-विकास के साथ-साथ उल्लेख होता चलता है। जो भी स्थिति हो; विषय, कक्षा के अनुसार श्यामपट्ट का प्रयोग करना चाहिए।

२—श्यामपट्ट स्वच्छ करने के लिए हाथ या अँगुली का प्रयोग नहीं करना चाहिए, सदा ब्रुश या झाड़न का ही प्रयोग वांछित है।

३—श्यामपट्ट पर शुद्ध, स्पष्ट, सुन्दर एवं इतने बड़े अक्षरों में लिखना चाहिए कि कक्षा के सभी बालक अपने स्थान से सरलतापूर्वक पढ़ सकें। शिक्षक को श्यामपट्ट पर सुलेख लिखने का अभ्यास कर लेना चाहिए।

४—कक्षा प्रारम्भ होने के पूर्व ही शिक्षक को कक्षा के पिछले भाग में जाकर देखना चाहिए कि श्यामपट्ट-लेख देखने और पढ़ने में कठिनाई तो नहीं है अथवा श्यामपट्ट पर कहीं से ऐसा प्रकाश तो नहीं पड़ रहा है जो आँखों पर चमक पैदा कर दे और पढ़ने में कठिनाई उत्पन्न हो। यह देखकर श्यामपट्ट की उचित व्यवस्था करनी चाहिए या बालकों के बैठने की व्यवस्था में परिवर्तन होना चाहिए अथवा जिधर से प्रकाश आ रहा है, वहाँ परदे का प्रबन्ध करना चाहिए। जो भी व्यवस्था हो, यह अवश्य देख लेना चाहिए कि बालकों की आँख पर चमक न आए।

५—लिखते समय शब्दों के बीच, वाक्यों के बीच और अनुच्छेदों के बीच की दूरी का ठीक ध्यान रखना चाहिए जिससे उल्लिखित सामग्री व्यवस्थित लगे। बहुत सटा-सटाकर या सघन उल्लेख अच्छा नहीं होता।

श्यामपट्ट का पूरा भाग भर नहीं देना चाहिए। इससे दूर बैठे छात्रों को पढ़ने में कठिनाई होती है।

६—लिखते समय शुद्धता का अवश्य ध्यान रखना चाहिए। अक्षरी[1] की त्रुटियाँ बहुत हास्यास्पद होती हैं। प्रत्येक शब्द और वाक्य शुद्ध होना चाहिए।

७—जिस बात पर बल देना हो, उसका उल्लेख रंगीन खड़िया से किया जा सकता है अथवा उसे सफेद खड़िया द्वारा रेखांकित कर सकते हैं। चित्रों, रेखाचित्रों आदि में भी आवश्यकतानुसार रंगीन खड़िया का प्रयोग कर सकते हैं किन्तु सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि अनेक रंगों की भरमार न हो जाय। इससे श्यामपट्ट उल्लेख एक तमाशा बन जाता है और स्पष्टता भी नहीं रह जाती।

८—श्यामपट्ट पर त्वरित गति से लिखना चाहिए। शिक्षक को तेज

---

1. Spelling.

लिखने का अभ्यास कर लेना चाहिए। धीमी गति से लिखने का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ता।

६—श्यामपट्ट पर आवश्यक प्रमुख बातें ही लिखनी चाहिए। व्यर्थ की बातें नहीं लिखनी चाहिए और न इतनी अधिक सामग्री का उल्लेख करना चाहिए कि उसी के लिखने और बालकों द्वारा नकल करने में सारा समय व्यतीत हो जाय। इससे पाठ में बालकों की रुचि नहीं रह जाती। पाठ-विकास की दृष्टि से उचित सामग्री का ही उल्लेख वांछित है।[1]

१०—श्यामपट्ट पर जो बात लिखी जाय, उसकी व्याख्या या स्पष्टीकरण पहले मौखिक रूप से हो जानी चाहिए। भाषा के पाठों में नए शब्दों का उल्लेख पहले अवश्य किया जाता है पर तत्काल ही उसका अर्थ, रचना, प्रयोग अथवा अन्य प्रकार का स्पष्टीकरण कर दिया जाता है।

११—शिक्षक को श्यामपट्ट पर सरलता एवं शीघ्रता से डायग्राम, रेखा-चित्र, मानचित्र आदि खींचने में कुशल होना चाहिए। इससे पाठ की प्रभविष्णुता बढ़ जाती है, साथ ही समय की भी बचत होती है। इन्हें बनाने का एक तरीका यह भी है कि पहले से ही श्यामपट्ट पर ऐसी धूमिल रेखा में इन्हें खींच लेना चाहिए जो कक्षा को दिखाई न पड़े और पढ़ाते समय उन्हें स्पष्ट बनाना चाहिए।

१२—श्यामपट्ट पर लिखते समय खड़िया को दृढ़ता से एवं उचित रीति से पकड़ना चाहिए जिससे लेख स्पष्ट हो। धूमिल और न दिखाई सकने वाली रेखाएँ या अक्षर नहीं होने चाहिए। सदा ध्यान रखना चाहिए कि श्यामपट्ट पर किट-किट की आवाज न पैदा हो।

१३—श्यामपट्ट पर सीधी पंक्ति में लिखना चाहिए। ऊँचे-नीचे अथवा तिरछी पंक्ति में लिखना बहुत भद्दा होता है।[2]

१४—लिखते समय इस प्रकार खड़ा होना चाहिए कि बालक उल्लिखित सामग्री देख सकें। अपने शरीर से श्यामपट्ट ढके नहीं रहना चाहिए।

१५—कुछ शिक्षकों की आदत खड़िया से खेलते रहने की होती है। वे हाथ में खड़िया उछालते रहते हैं अथवा मसलते रहते हैं। यह नहीं होना चाहिए। लिखने के बाद खड़िया यथास्थान रख देना चाहिए।

---

1. It is no exaggeration to say that the black board may become a teacher's greatest friend, and yet if not used judiciously, it may become a snare, for as a teacher's work should not be all talk, neither should it be all chalk." Davis.
2. Avoid writing "up or down hill" or in "waves".

१६—लिखते समय बीच-बीच में कक्षा की ओर देख लेना चाहिए। इससे बालक भी सजग और ध्यानमग्न रहते हैं।

१७—कभी-कभी बोर्ड के किसी भाग पर चित्र बनाकर कागज से ढँक देते हैं और पढ़ाते समय आवश्यकता पड़ने पर उसे अनावृत्त करते हैं। समय बचाने के लिए यह तरीका अच्छा है। इसे हिडेन बोर्ड टेक्निक[1] अथवा "स्ट्रिप टीज टेक्निक"[2] कहते हैं।

१८—कभी-कभी शिक्षक श्यामपट्ट को अपनी झेंप या संकोच मिटाने का बहाना बना लेते हैं और बोलते समय भी श्यामपट्ट की ओर ही देखते रहते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए। कक्षा की ओर देखते हुए वर्णन प्रस्तुत करना चाहिए, श्यामपट्ट से बातें नहीं करनी चाहिए।

१९—श्यामपट्ट की सामग्री दिखाते समय सदा प्वाइन्टर का प्रयोग करना चाहिए। इससे श्यामपट्ट का कोई भाग आप के शरीर से नहीं छिपने पायगा। जिस स्थान को दिखाना हो, प्वाइन्टर से वहीं दिखाना चाहिए, श्यामपट्ट के उस पूरे हिस्से की ओर संकेत करना ठीक नहीं। प्वाइन्टर से काम लेने के बाद उसे यथास्थान रख देना चाहिए, उससे खेलना, कक्षा की ओर उसे दिखाना, उससे फर्श पर टिकटिकाना या उसे झुकाना आदि उचित नहीं।

२०—सीधी रेखा खींचने के लिए 'सीधे किनारे वाले रूल'[3] का प्रयोग करना चाहिए।

२१—श्यामपट्ट पर लिखने या बनाने के लिए आवश्यक सभी सामग्री व्यवस्थित रीति से पास में रखनी चाहिए।

२२—यथासम्भव आवश्यकतानुसार बालकों को भी श्यामपट्ट प्रयोग का अवसर देना चाहिये।

श्यामपट्ट प्रयोग के सम्बन्ध में यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि श्यामपट्ट स्वतः कोई जादू या चमत्कार नहीं है। इसका उपयोग एक शैक्षणिक उपकरण के रूप में होता है। यदि शिक्षक ठीक प्रकार से इसका उपयोग करना जान जाय तभी उसके द्वारा कक्षा में चमत्कार लाया जा सकता है। शिक्षक ही वास्तविक जादूगार है और श्यामपट्ट उसके लिये अपरिहार्य उपकरण।

उदाहरण[4]

शैक्षिक उपकरणों में 'उदाहरण' का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

1. Hidden Board technique.
2. Strip tease technique.
3. Straight edge rule.
4. Illustration

शिक्षण को सजीव एवं रुचिकर बनाने तथा पाठ्य सामग्री को स्पष्ट एवं सुग्राह्य बनाने के लिये इसका प्रयोग आवश्यक है। किसी भी गूढ़ एवं जटिल बात को समझाने के लिए दृष्टान्त, उपमा, सादृश्य या तुलना आदि उदाहरणों का प्रयोग उपयोगी सिद्ध होता है। इससे बालक अमूर्त्त तथ्यों को भी सरलता से हृदयंगम कर लेते हैं। व्याख्या के लिये 'उदाहरण' बहुत आवश्यक उपकरण है। अतः पाठ-शिक्षण की सफलता बहुत कुछ उदाहरणों के समुचित प्रयोग पर निर्भर है।

उदाहरण के प्रकार

सामान्यतः उदाहरण के दो प्रकार हैं (१) शाब्दिक अथवा मौखिक उदाहरण, (२) दृश्य एवं श्रव्य उदाहरण।

शाब्दिक उदाहरण के अन्तर्गत वे शब्द-चित्र आते हैं जिनका प्रयोग किसी कठिन भाव या विचार को सरल बनाने और समझाने के लिये किया जाता है शिक्षक अनेक उपमाएँ, दृष्टान्त या तुलना का प्रयोग करता है। ये उदाहरण एक प्रकार से वर्णन, व्याख्या या निर्दर्शन को ही सरल, स्पष्ट, सजीव एवं ग्राह्य बनाने के लिये प्रयुक्त होते हैं। इनके प्रयोग में शिक्षक ऐसे शब्द-चित्रों का प्रयोग करता है जिससे अभीष्ट भाव या विचार का मूर्त्त चित्र मनस्पटल पर अंकित हो जाय।

दृश्य उदाहरण के अन्तर्गत मूर्त्त उपकरण आते हैं जिनके द्वारा हम साक्षात् वस्तुओं को देखते हैं अथवा उनके बारे में सुनते हैं और उनकी सहायता से पाठ सम्बन्धी तथ्यों, भावों एवं विचारों को सरलता से ग्रहण कर लेते हैं।

शाब्दिक उदाहरण का महत्त्व—शाब्दिक उदाहरणों का प्रयोग अमूर्त्त विचारों को स्पष्ट एवं मूर्त्त बनाने के लिये किया जाता है। हमारे भाव एवं विचार अमूर्त्त तत्त्व हैं। उन्हें हम भाषा का परिधान देकर मूर्त्त एवं संप्रेषणीय बनाने का प्रयत्न करते हैं किन्तु कभी-कभी ये भाव एवं विचार सामान्य भाषा द्वारा स्पष्ट नहीं हो पाते। अतः भाषा के कुछ ऐसे मान्य एवं प्रचलित रूपों का प्रयोग करना पड़ता है जिनसे अस्पष्ट एवं अमूर्त्त विचार स्पष्ट एवं मूर्त्त हो जायँ। सूक्तियाँ, अलंकार (उपमा, रूपक, दृष्टान्त आदि) मुहाविरे, जनश्रुतियाँ, प्रसिद्ध कथन, कहानी या चुटकुले, यात्रियों द्वारा वर्णित गाथाएँ प्रसिद्ध पद या कविताएँ। आदि भाषा के ऐसे ही मान्य एवं अर्थ व्यंजित करने वाले रूप हैं। इनके द्वारा कठिन से कठिन भावों को सरल, स्पष्ट एवं मूर्त्त बनाया जा सकता है।

शिक्षण सूत्रों में 'ज्ञात से अज्ञात की ओर', 'सरल से कठिन की ओर',

ओर 'स्थूल से सूक्ष्म की ओर' का उल्लेख किया जा चुका है। इन सूत्रों के अनुसार शिक्षा प्रदान करने में शाब्दिक उदाहरणों का प्रयोग बहुत उपयोगी होता है क्योंकि इन्हीं के द्वारा कठिन या सूक्ष्म भावों को चित्रित किया जाता है।

शाब्दिक उदाहरणों के प्रयोग का उद्देश्य

(१) पाठ के प्रति बालकों का ध्यान आकृष्ट किए रहना और रुचि बनाए रखना—वर्णन अथवा पाठ-शिक्षण की किसी भी प्रणाली में शाब्दिक उदाहरणों के प्रयोग से शुष्क एवं बोझिल पाठ भी सरस और रुचिकर बन जाता है और बालकों का अवधान पाठ में बना रहता है।

(२) पाठ को सुबोधपूर्ण एवं सुग्राह्य बनाना—तुलना (समता-विषमता) अलंकार, कहानी आदि द्वारा गूढ़ एवं अमूर्त्त तत्त्वों को स्पष्ट करना।

(३) कल्पना एवं तर्कशक्ति को विकसित करना—दृष्टान्त, उपमा, भावात्मक कथन आदि द्वारा बालक की कल्पनाशक्ति उद्बुद्ध होती है, उनमें नवीन कल्पनाओं की उद्भावना होती है, तर्क शक्ति का विकास होता है, बौद्धिक सामर्थ्य की अभिवृद्धि होती है और बालकों के सीखने एवं समझने का स्तर ऊँचा उठता जाता है।

(४) अनुभवों को व्यापक बनाना—शाब्दिक उदाहरण बालक के सीमित अनुभवों को व्यापक बनाने में सहायक सिद्ध होते हैं। भाषा एवं विचार का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः जब शाब्दिक उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं तो बालक की विचार शक्ति भी बढ़ती है और अनुभूति प्रवणता विकसित होती जाती है। अनुभव-चत्र भी विस्तृत होता जाता है। पर इस उद्देश्य की सिद्धि तभी होती है जब शाब्दिक उदाहरणों का प्रयोग उपयुक्त, समीचीन एवं प्रभावपूर्ण होता है।

(५ —क्रियाशीलता का स्फुरण—शाब्दिक उदाहरणों का प्रभाव विद्यार्थियों के हृदय पर गहरा पड़ता है। वे अपने जीवन एवं चरित्र को ऊँचा उठाने के लिए प्रेरित होते हैं और उनमें कार्य करने की लगन पैदा हो जाती है। प्रेरणाप्रद कहानी, संतवचन या प्रसिद्ध कथन एवं उद्धरण सुनकर जीवन की दिशा बदल जाती है और सत्कर्मों में व्यक्ति लग जाता है।

शाब्दिक उदाहरणों का प्रयोग—शाब्दिक उदाहरणों के प्रभावपूर्ण प्रयोग के लिए निम्नलिखित बातों को ध्यान रखना चाहिए—

१—उपयुक्त अवसर तथा प्रसंग आने पर ही उदाहरण दिए जायँ।

अप्रासंगिक एवं मूल विषय से ध्यान हटा लेने वाले उदाहरण नहीं देने चाहिए अन्यथा विषयांतर हो जाने से बालक उलझन में पड़ जाते हैं।

२—उदाहरण बालकों की योग्यता एवं ग्रहण शक्ति के अनुकूल हों जिससे वे तत्काल ही समझ लें और उन्हें आनन्द भी आए। पर्याप्त मात्रा में उदाहरण दिए जायँ जिससे विषय समझने में आसानी हो पर वे आवश्यकता से अधिक न हों अन्यथा मुख्य विषय छिप-सा जाता है और उदाहरणों का प्रभाव भी जाता रहता है।

३—उदाहरण स्पष्ट एवं सरल भाषा में हो, अन्यथा ठीक आशय बालकों की समझ में नहीं आयगा। किन्तु सूक्तियाँ, मुहाविरे और प्रसिद्ध कथन रूढ़ और परम्परागत होते हैं, उनमें कोई परिवर्तन नहीं करना चाहिए। वर्णन, कहानी, तुलना आदि में भाषा अवश्य सरल बनाई जा सकती है।

४—उदाहरण भाव एवं विचारप्रेरक हों जिनसे शिक्षण में सुबोध-पूर्णता के साथ-साथ चमत्कार और आनन्द पूर्ण स्थिति पैदा हो जाय।

५—उदाहरणों की विविधता का ध्यान रखा जाय। एक ही प्रकार के उदाहरण देने से नीरसता आ जाती है।

६—प्रारम्भिक कक्षाओं में बालक के सामाजिक वातावरण से सम्बन्धित उदाहरण प्रस्तुत किए जायँ।

७—सजीव, रोचक और ध्यान आकृष्ट करने वाले उदाहरण दिए जायँ।

८—बालक ज्यों-ज्यों विकसित होते जायँ, उदाहरणों का प्रयोग कम होता जाय तथा उनका स्थान भाव एवं विचार-विश्लेषण को दिया जाय।

९—अशिष्ट, आपत्तिजनक, मिथ्या या बनावटी उदाहरण न दिए जायँ।

१०—उदाहरणों के प्रयोग के सम्बन्ध में शिक्षक को पाठ-योजना तैयार करते समय ही विचार कर लेना चाहिए और उनका चयन, प्रयोग विधि, उपयुक्त अवसर एवं प्रसंग सम्बन्धी सभी बातें निश्चित कर लेनी चाहिए। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि कक्षा के परिस्थिति एवं आवश्यकतानुसार उदाहरणों के प्रयोग की योजना में परिवर्तन के लिए स्वतन्त्रता नहीं है। शिक्षक किसी भी समय यथावश्यक परिवर्तन कर सकता है।

११—शिक्षक अपने अनुभवों का भी उदाहरणों के रूप में प्रयोग कर सकता है पर अन्य पुरुष के रूप में यह उदाहरण अच्छे रहते हैं। शिक्षक यदि अपने अनुभवों को आत्मकथा के ही रूप में सुनाता है और ऐसे उदाहरण बहुत

अधिक हो जाते हैं तो वे रुचिकर नहीं रह जाते और कभी-कभी तो शिक्षक को उपहास का पात्र बनना पड़ता है ।

दृश्य श्रव्य उदाहरण

दृश्य-श्रव्य उदाहरणों की आवश्यकता एवं उपयोगिता

शिक्षण को यथार्थ एवं ग्राह्य बनाने के लिए शाब्दिक उदाहरणों से ही सदा काम नहीं चल पाता । विशेषतः प्रारम्भिक एवं पूर्व माध्यमिक कक्षाओं में शब्द चित्र उतने सुबोधपूर्ण सिद्ध नहीं होते । भावों और विचारों की गूढ़ता उपमा, रूपक या सादृश्य से स्पष्ट नहीं हो पाती । ऐसे समय दृश्य एवं श्रव्य-उदाहरणों की आवश्यकता पड़ती है । इनसे बालकों को वास्तविक ज्ञान प्रदान करने में सफलता मिलती है । पाठ भी यथार्थ एवं रोचक बन जाता है क्योंकि ये उदाहरण मूर्त्त एवं प्रत्यक्ष उदाहरण है और वे बालकों की दृष्टि एवं श्रव्य शक्ति को उत्तेजित कर उन्हें पाठ की ओर आकर्षित करते हैं ।

बाल्यावस्था में देखकर या सुनकर ही अधिकांश ज्ञान प्राप्त होता है । ज्ञान एवं अनुभव के लिए चक्षु एवं श्रवण प्रमुख ज्ञानेन्द्रियाँ हैं । शिक्षण के समय नई बातें सिखाने या नया अनुभव कराने के लिए ऐसे उदाहरणों की आवश्यकता पड़ती है जो बालक की दृष्टि एवं श्रवण शक्ति को सक्रिय बना सके । इसी कारण महान् शिक्षा शास्त्रियों ने ऐसे उपकरणों पर बल दिया है । रूसो ने प्रारम्भिक अवस्था में ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा पर ही बल दिया है । वह प्रत्यक्ष एवं मूर्त्त वस्तुओं के प्रयोग एवं यथार्थ अनुभव के स्थान पर मौखिक वर्णन का वह बहुत विरोधी था । पेस्टालाजी ने वस्तुओं के साक्षात् एवं प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर बालकों को पढ़ाने की प्रणाली प्रतिपादित की ।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि बालक मौखिक कथन की अपेक्षा क्रिया तथा प्रत्यक्ष वस्तु की ओर अधिक आकृष्ट होते हैं, क्रिया द्वारा काल्पनिक बातों को भी साकार रूप मिल जाता है, उनका मनोरंजन हो जाता है, कक्षा का वातावरण सजीव और आकर्षक हो जाता है तथा सुखद परिस्थितियों में बालकों के लिए सीखना सरल हो जाता है । मैकोन और राबर्टस का कहना है कि शिक्षक इन उपकरणों की सहायता से बालक की एकाधिक ज्ञानेन्द्रियों को उत्तेजित एवं प्रयोग में लाकर पाठ्य वस्तु को सरल, रुचिकर, स्पष्ट, प्रभावपूर्ण एवं स्थायी रूप से ग्राह्य बनाता है और पाठ्य पुस्तक में न मिलने वाली अनेक बातों को प्रकाश में लाता है ।

इन उपकरणों से पाठ के साथ-साथ अन्य बहुत-सी बातें भी बालकों को

मालूम हो जाती हैं, उनका सामान्य ज्ञान बढ़ जाता है। प्रो० एस० फाउलर का यह कथन कितना सत्य है कि एक चित्र से इतने विचार सामने आ जाते हैं जितना कई पुस्तकों से नहीं। अतः शिक्षण को यथार्थ एवं उपयोगी बनाने के लिए इन उपकरणों का प्रयोग बहुत आवश्यक है। संक्षेप में इन उदाहरणों की उपयोगिता निम्नांकित है :—

१—बालकों के मन में उचित प्रत्ययों का निर्माण करना और उनके विचारों में स्पष्टता लाना।

२—अधिकाधिक सीखने की प्रेरणा प्रदान करना।

३—अनुभव प्राप्ति के लिए तर्कपूर्ण एवं युक्तिसंगत आधार प्रदान करना।

४—अनुभवों को व्यापक बनाना, अर्जित ज्ञान को दृढ़ करना और उसे स्थायी बनाना।

५—सैद्धान्तिक ज्ञान को प्रयोग में लाने की क्षमता और नवीन प्रयोगों के लिए सूझ-बूझ की शक्ति प्रदान करना।

दृश्य-श्रव्य उदाहरणों के प्रकार

कक्षा में प्रयुक्त होने वाले दृश्य-श्रव्य उदाहरणों के अनेक प्रकार हैं।

क—दृश्य उदाहरणों के कुछ प्रकार निम्नलिखित हैं—

(१) वास्तविक पदार्थ, नमूने[1], सैण्ड टेबुल, माडल आदि।

(२) चित्र, रेखाचित्र[2], डायग्राम, मानचित्र,[3] ग्लोब, पोस्टर, चार्ट, टाइम लाइन आदि।

(३) मैजिक लैण्टर्न, एपिडाय स्कोप।

ख—श्रव्य उदाहरण वे हैं जिनसे ध्वनि उत्पन्न होती है और विद्यार्थी उन्हें सुनकर शिक्षा ग्रहण करते हैं जैसे—रेडियो, ग्रामोफोन, टेपरेकर्डर आदि।

ग—कुछ उदाहरण ऐसे हैं जो दृश्य एवं श्रव्य दोनों हैं जैसे चलचित्र, टेलविजन आदि।

घ—प्रदर्शन एवं अभिनय भी महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं।

ङ—श्यामपट्ट

---

1. Models.
2. Sketches.
3. Maps

च—कक्षा में दिखाए जाने वाले इन उपकरणों के अतिरिक्त शिक्षण में ऐसे उदाहरणों का भी महत्त्व है जिनका प्रयोग कक्षा में नहीं किया जाता पर बालकों को ही उनके पास ले जाते हैं जैसे—परिभ्रमण, प्रकृति निरीक्षण, संग्रहालय एवं ऐतिहासिक स्थलों को दिखाना।

दृश्य-श्रव्य उदाहरणों का चयन

१—कक्षा की स्थिति, प्रसंग एवं अवसर के अनुसार इन उदाहरणों का चयन होना चाहिए। पाठ-योजना के समय ही विचार कर लेना चाहिए कि किस प्रकार की सहायक सामग्री की आवश्यकता है और किस सीमा तक उनका प्रयोग समीचीन है। केवल अधिक गणना के लिए जैसा कि प्रशिक्षण महाविद्यालयों में छात्राध्यापक प्रायः करते हैं, इनका प्रयोग अवांछित है। अनावश्यक अधिक सामग्री-प्रयोग से कक्षा में अजायब घर जैसी स्थिति हो जाती है, बालकों का ध्यान मुख्य बातों से हटकर सामग्रियों में ही भटक जाता है। अतः पाठ की दृष्टि से उपयुक्त, अनुकूल, उपयोगी एव उचित सामग्री का ही चयन होना चाहिए।

२—सामग्री अधिक व्ययसाध्य नहीं होनी चाहिए। विद्यालय की एवं स्वयं की साधन सम्पन्नता को देखते हुए उदाहरणों का चयन होना चाहिये।

३—सामग्री सुगमतापूर्वक सुलभ हो जाय। ऐसे उपकरण के फेर में नहीं पड़ना चाहिये जो शिक्षक की कल्पना में तो अच्छी हो पर दुर्लभ हो।

४—उदाहरण ऐसा होना चाहिये जो थोड़े समय में दिखाया जा सके और उससे पाठ का क्रम भंग न हो।

५—पाठ-विकास की दृष्टि से वांछित प्रभाव डालने वाले ऐसे उदाहरणों का चयन होना चाहिये जिनसे सामग्री स्पष्ट हो जाय। सामग्री सुन्दर, स्पष्ट, रोचक एवं आकर्षक होनी चाहिये पर इतनी रंगीन और चटकीली भी न हों कि बालक उन्हीं में तल्लीन हो जाय और मूल पाठ का ध्यान ही न रहे। गन्दे, धूमिल एवं अस्पष्ट दृश्य उदाहरण तो कदापि नहीं चुनना चाहिये।

६—क्रियात्मक दृश्य उदाहरण बालकों के लिये बड़े आकर्षक होते हैं। अतः ऐसे चित्र जिनमें घटनाएँ, क्रियाएँ दिखाई गई हों, अधिक उपयोगी सिद्ध होते हैं।

७—अनेक भावों एवं तथ्यों वाले चित्रों का चयन उचित नहीं। ये बोधगम्य नहीं होते, इनसे पाठ का क्रम टूट जाता है।

८—उपहासजनक सामग्री नहीं चुननी चाहिये। इनसे कक्षा का अनुशासन भंग होता है और पाठ एक तमाशा बन जाता है। उदाहरणतः कोई

जीवित चिड़िया कक्षा में ले जाना उपहास का कारण हो जाता है। जीवों एवं जन्तुओं के चित्र या नमूने ही वांछित सिद्ध होते हैं।

९—सामग्री-आकार का भी ध्यान रखना चाहिये। सामग्री इतनी छोटी न हो कि पूरी कक्षा उसे ठीक से न देख सके। सामग्री इस आकार की होनी चाहिये कि सभी विद्यार्थी अपने स्थान से उसे देख और समझ सकें।

१०—ऐसी भी सामग्री का चयन होना चाहिये जिसे स्थायी रूप से से अथवा अधिक समय तक सुरक्षित रखा जा सके और यथावसर प्रयोग किया जा सके, जैसे मॉडल, चित्र, मानचित्र इस प्रकार के हों जो टिकाऊ हों।

दृश्य-श्रव्य सामग्री के लिए प्रयोग सम्बन्धी आवश्यक बातें—कक्षा शिक्षण के समय इन सामग्रियों के प्रयोग में निम्नलिखित बातों पर ध्यान रखना चाहिये—

१—कक्षा की स्थितियों के अनुसार सहायक सामग्री की उपयुक्तता पर विचार कर लेना चाहिये। अवसर एवं प्रसंग के अनुसार मौखिक या दृश्य सामग्री में जो उपयुक्त जँचे और पाठ-विकास के अनुकूल हो, उसी का प्रयोग करना चाहिये।

२—आवश्यकता से अधिक सामग्री का प्रयोग नहीं करना चाहिये अन्यथा मूल पाठ ओझल-सा हो जाता है।

३—आवश्यकता पर ही इन उदाहरणों का प्रयोग किया जाय। यह सदा ध्यान में रहे कि शिक्षक का मुख्य कार्य शिक्षण है और नवीन ज्ञान बिना उदाहरण के यदि स्वाभाविक रूप में प्रदान किया जा सकता है तो व्यर्थ ही उदाहरणों का समावेश कर पाठ का कलेवर न बढ़ाया जाय।

४—कक्षा में सहायक सामग्री रखने की उचित व्यवस्था कर लेनी चाहिये। प्रयोग में लाने के बाद भी यथास्थान रखने का प्रबन्ध रहना चाहिये, अन्यथा सामग्री की अस्त-व्यस्तता का प्रभाव छात्रों पर पड़ता है और वे भी असावधानी से इन सामग्रियों का प्रयोग करने लगते हैं।

५—सामग्री के प्रयोग में यथासम्भव छात्रों का अधिक से अधिक सहयोग लिया जाय। प्रश्नों द्वारा सामग्री के आधार पर तथ्यों, सिद्धान्तों अथवा निष्कर्षों को छात्रों से प्रकाशित कराया जाय।

६—एक ही सामग्री, विशेषतः चित्र, बार-बार नहीं दिखाया जाय। इससे अरुचि उत्पन्न हो जाती है।

७—चित्र दिखाने के पूर्व बालकों को उसके लिए किसी प्रश्न या कथन द्वारा उत्सुक बना लिया जाय जिससे वे उत्कंठापूर्वक देखें और समझने का प्रयत्न करें। उदाहरणों की व्याख्या एवं विश्लेषण में छात्रों का पूरा सहयोग लिया जाय और उन्हीं से निष्कर्ष निकलवाया जाय।

८—उदाहरण के सफल प्रयोग के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षक को छात्रों के पूर्व ज्ञान का ठीक पता हो और छात्रों से सहानुभूति भी। इससे छात्रों का सहयोग प्राप्त करने में सरलता होती है। सामग्री केवल दिखा देना ही अभीष्ट नहीं है, उस पर पर्याप्त विचार-विमर्श होना चाहिए। इसके लिए पाठ-योजना के समय ही उदाहरण-प्रयोग की योजना भी बना लेनी चाहिए।

९—उदाहरण-प्रयोग में शिक्षक को तत्काल बुद्धि से काम लेना चाहिए और जैसी परिस्थिति हो उसके अनुकूल कार्य करने की क्षमता प्रदर्शित करना चाहिए। परम्परा पालन के फेर में न पड़कर अवसर के अनुकूल उचित परिवर्तन करने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए।

१०—बालक उदाहरण कहाँ तक समझ रहे हैं, इसकी जाँच भी उचित प्रश्नों द्वारा होती जानी चाहिए। उदाहरण साधन मात्र हैं, साध्य नहीं। अतः उदाहरण को उतना ही महत्त्व दिया जाय जितना पाठ-विकास के लिए आवश्यक है।

११—विभिन्न छात्रों की प्रवृत्तियों का ध्यान रखना चाहिए और तदनुकूल प्रयोग पर बल देना चाहिए।

१२—उदाहरणों को पाठ प्रारम्भ करने के पहले ही संग्रह कर लेना चाहिए। पढ़ाते समय उन्हें एकत्र करना व्यवस्था एवं अनुशासन की दृष्टि से उचित नहीं।

१३—उदाहरणों के प्रयोग में कितना समय दिया जायगा, इसका अनुमान पहले से ही कर लेना चाहिए और समय से समाप्त कर मुख्य विषय के शिक्षण पर आ जाना चाहिए।

१४—टाँगने वाली अथवा किसी ऊँचे स्थान पर रखी जाने वाली सामग्री हाथ में लेकर न प्रदर्शित की जाय, उसके टाँगने या रखने का प्रबन्ध पहले से ही कर लेना चाहिए।

१५—उदाहरणों का प्रयोग पाठ के प्रारम्भ, मध्य एवं अन्त तीनों अवस्थाओं में किया जा सकता है। आरम्भ में पाठ के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न करने, मध्य में व्याख्या तथा भावों एवं तथ्यों को स्पष्ट करने और अन्त में पुनरावृत्ति,

अभ्यास अथवा सीखे हुए ज्ञान को सुदृढ़ करने के लिए उदाहरण का प्रयोग किया जाता है।

विविध दृश्य एवं श्रव्य उदाहरण

कतिपय दृश्य एवं श्रव्य उदाहरणों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

१—पदार्थ एवं वास्तविक वस्तुएँ—बालकों के लिए किसी वस्तु के शाब्दिक उल्लेख का उतना महत्त्व नहीं रहता जितना उस वस्तु के प्रत्यक्ष रूप का। शाब्दिक वर्णन स्मरण भी नहीं रहता और न वस्तु का यथार्थ चित्र ही बन पाता है। वास्तविक वस्तु के प्रदर्शन से बालक को स्वय ही प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है। अतः बालकों की कल्पना को यथार्थ और साकार करने के लिए वास्तविक वस्तुओं का प्रयोग आवश्यक है। फल-फूल, पत्तियों, पौधों आदि का ज्ञान जितना देखने से होता है उतना उनके बारे में सुनने से नहीं। अतः विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ, विविध चट्टानों के छोटे-छोटे टुकड़े, पौधे, फूल, पत्तियाँ, खनिज पदार्थ, धातुएँ, रूई, रेशम आदि कक्षा-शिक्षण में यथा प्रसंग दिखाए जा सकते हैं। जो वस्तुएँ विद्यालय के संग्रहालय में सुरक्षित रखी जा सकती हैं, उन्हें एकत्र करनी चाहिए जिससे समय पर वे प्रयोग में लाई जा सकें। छात्रों को परिभ्रमण द्वारा भी जंगल, नदी, पर्वत, रेगिस्तान, पशु-पक्षी, मिट्टी, फसल आदि का प्रत्यक्ष परिचय एवं अनुभव कराना चाहिए। छात्रों को शिक्षणोपयोगी वस्तुओं के संग्रह के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए जैसे टिकट, झंडों के चित्र, राजचिह्न और संभव हो तो सिक्के भी। इससे ज्ञान वर्द्धन के साथ-साथ बालकों की संग्राहिका वृत्ति तथा अनुभव शक्ति का विकास भी होता है।

२—नमूना—सभी प्रकार के वास्तविक पदार्थों का मिलना एवं प्रयोग करना संभव नहीं। कुछ पदार्थ इतने बड़े होते हैं कि उनका प्रयोग उचित नहीं। अतः ऐसे पदार्थों के नमूने ही उपयोगी सिद्ध होते हैं जैसे, लेटा बक्स, रेल का इंजन। किसी पदार्थ का नमूना उसके चित्र की अपेक्षा अधिक उपयोगी होता है क्योंकि उससे यथार्थ और पूर्ण परिचय मिल जाता है। वस्तु का पूरा स्वरूप और आकार-प्रकार (लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई और ऊँचाई का आभास) बालकों के सम्मुख आ जाता है। नमूनों में एक लाभ यह भी है कि बालक उन्हें छूकर अच्छी तरह देख सकते हैं। सुपरिचित वस्तु के नमूने वस्तु की अपेक्षा अधिक आकर्षक होते हैं जैसे पशु-पक्षी, आँख-कान आदि।

वैज्ञानिक, भौगोलिक एवं ऐतिहासिक तथ्यों को समझने में नमूने बहुत सहायक सिद्ध होते हैं। यदि बने-बनाए नमूने न मिलें तो छात्रों से पाठ संबंधी नमूने तैयार कराए जायँ। इससे बालकों में पाठ के प्रति रुचि उत्पन्न होती है

और उनकी कलात्मक एवं क्रियात्मक प्रतिभा का भी विकास होता है। किसी वस्तु के एक अंग या अवयव का अध्ययन करने के लिए उतने का ही नमूना तैयार किया जा सकता है।

कभी-कभी नमूनों से भी वस्तु का उतना यथार्थ परिचय नहीं मिल पाता जितना वस्तु को प्रत्यक्ष देखने से जैसे अशोक के स्तम्भ, ताजमहल आदि। अतः ऐसे मूल वस्तुओं का निरीक्षण होना चाहिए, केवल नमूने दिखाकर ही संतुष्ट नहीं होना चाहिए।

३—सैण्डटेबुल माडल—भूगोल के शिक्षण में इस नमूने का विशेष प्रयोग होता है। मेज पर बालू से भरे ट्रे में नदी, वनस्पति, जीव-जन्तु तथा अन्य प्राकृतिक वस्तुओं के नमूने सरलता से दिखाए जा सकते हैं। उनसे यथार्थ वस्तुओं का बोध होता है। ये नमूने अध्यापक के निर्देशन में छात्रों द्वारा बनाए जा सकते हैं।

४—चित्र—नमूनों के बाद चित्र का स्थान आता है क्योंकि चित्र से किसी वस्तु के एक ओर का ही स्वरूप स्पष्ट होता है जबकि नमूने से सभी ओर का। पर चित्रों का मिलना नमूनों की अपेक्षा अधिक सुगम होता है। नमूनों का तैयार करना भी कठिन और खर्चीला होता है।

चित्रों से पाठ में रोचकता और स्पष्टता आ जाती है। चित्रों का लाभ यह है कि वे आसानी से मिल जाते हैं, सुरक्षित रखे जा सकते हैं और छात्रों को उपयोगी चित्रों के संकलन में आनन्द भी आता है।

किसी भी वस्तु या दृश्य का चित्र दिखाया जा सकता है जैसे भौगोलिक चित्र—विभिन्न स्थानों के मनुष्य, पृथ्वी की गति, सूर्य और चन्द्र की स्थिति, ज्वालामुखी, ज्वारभाटा, ऋतु-परिवर्तन आदि; ऐतिहासिक चित्र—किले, भवन, सेना, सिक्के, कलात्मक वस्तुएँ आदि; वैज्ञानिक यन्त्रों के चित्र आदि। पर चित्रों के प्रयोग में कुछ सावधानी की आवश्यकता पड़ती है। कक्षा में उपयुक्त, शुद्ध एवं स्पष्ट चित्रों का ही प्रयोग करना चाहिए। चित्र ऐसे हों जिनमें छात्रों को अज्ञात या नवीन अनुभव की सामग्री समझने के लिए कुछ ज्ञात सामग्री अथवा पृष्ठभूमि भी रहे। इससे चित्रों की व्याख्या तथा अभीष्ट निष्कर्ष प्राप्त करने में छात्रों को सरलता हो जाती है। चित्रों का विश्लेषण छात्रों द्वारा कराना चाहिए। चित्रों के प्रयोग में छात्रों का अधिकाधिक सहयोग लेने से छात्र पाठ के प्रति आकर्षित बने रहते हैं।

प्रारम्भिक कक्षाओं में बड़े, रंगीन, स्पष्ट एवं घटनात्मक चित्र दिखाने

चाहिए पर कई घटनाएँ एक ही चित्र में न हों क्योंकि बालक उलझन में पड़ जाते हैं। भूगोल, इतिहास, विज्ञान, भाषा, कृषि आदि विषयों में चित्रों का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग किया जा सकता है। शिक्षक को स्वयं चित्र बनाने में कुशल होना चाहिए और छात्रों को भी इस दृष्टि से तैयार करना चाहिए।

५—रेखाचित्र एवं डायग्राम—रेखाचित्र एवं डायग्राम ऐसे शैक्षिक उपकरण हैं जो सदा ही शिक्षक के हाथ में हैं। उसे बाहर से कोई भी वस्तु नहीं लानी पड़ती। चित्रों और नमूनों की भाँति सामग्री एवं पैसे का भी प्रश्न नहीं रहता। किसी भी उपकरण के अभाव में शिक्षक खड़िया द्वारा श्यामपट्ट पर आवश्यक रेखाचित्रों अथवा डायग्राम द्वारा पाठ को स्पष्ट करने और समझाने में सहायता ले सकता है। पर इसके लिए उसे ड्राइंग एवं कला का थोड़ा अभ्यास करना पड़ता है। उत्तम शिक्षण के लिए यह आवश्यक गुण है।

रेखाचित्र एवं डायग्राम द्वारा भावों एवं तथ्यों को स्पष्ट करने में बड़ी सहायता मिलती है। इतिहास, भूगोल, विज्ञान एवं कृषि के शिक्षण में तो पग-पग पर इसकी आवश्यकता पड़ती है। इतिहास में युद्ध का चित्र, साम्राज्य विस्तार, कला-कौशल की वस्तुएँ, भूगोल में नदी, पर्वत, समुद्र, जीव-जन्तु आदि के रेखा-चित्र, विज्ञान एवं कृषि में विविध उपकरणों के डायग्राम या रेखाचित्र बनाने की आवश्यकता पड़ती है। शिक्षक को इस बात का अभ्यास करना चाहिए कि वह सरलता, तत्परता एवं शीघ्रतापूर्वक शुद्ध, स्पष्ट एवं सुन्दर डायग्राम बना सके।

६—मानचित्र—भूगोल तथा इतिहास-शिक्षण में मानचित्रों के प्रयोग बिना काम ही नहीं चल सकता। इसके अभाव में सारी बातें अस्पष्ट एवं काल्पनिक लगती हैं। अतः इन विषयों का व्यावहारिक ज्ञान देने के लिए मान-चित्रों का प्रयोग आवश्यक एवं उपयोगी है। विश्व का परिचय, विविध स्थानों का परिचय, औद्योगिक स्थान, पैदावार, जलवायु, वर्षा आदि के ठीक परिचय के लिए मानचित्रों की बहुत आवश्यकता पड़ती है।

मानचित्र स्पष्ट एवं सुन्दर होने चाहिए। विभिन्न रंगों के प्रयोग से मान-चित्र में स्पष्टता आ जाती है पर बहुत चटकीले और अधिक रंगों का प्रयोग उसे भद्दा और अस्पष्ट भी बना देता है। अतः उचित मात्रा में ही रंगों का प्रयोग करना चाहिए। शिक्षक को कक्षा में श्यामपट्ट पर मानचित्र खींच लेने की कुशलता प्राप्त करनी चाहिए जिससे बने-बनाए मानचित्र के अभाव में आवश्यकता पड़ने पर वह कक्षा में स्वयं मानचित्र खींच सके। पाठ के अनुसार जो बातें

दिखानी आवश्यक हैं, उन्हीं को मानचित्र में अंकित किया जाय। मानचित्र कक्षा में लटकाने की व्यवस्था पहले से कर लेनी चाहिए।

७—ग्राफ—संख्यात्मक तथ्यों को दिखाने के लिए ग्राफ का प्रयोग बहुत लाभदायक होता है। भारत की जनसंख्या किस समय कितनी थी, इसे ग्राफ द्वारा बहुत ही स्पष्ट किया जा सकता है। इसी प्रकार वर्षा की मात्रा, पैदावार, खनिज पदार्थ अथवा औद्योगिक विकास बहुत सुगमता से बनाए जा सकते हैं। इतिहास, अर्थशास्त्र एवं नागरिकशास्त्र में ग्राफ द्वारा अनेक बातें स्पष्ट की जाती हैं। गणित एवं विज्ञान में भी इसकी आवश्यकता पड़ती है। अतः ग्राफ का प्रयोग शिक्षक को भली भाँति जानना चाहिए। ग्राफों द्वारा आँकड़ों का ज्ञान सरलता से प्राप्त कराया जा सकता है पर ग्राफों का पढ़ना बालकों को अच्छी तरह बता देना चहिए।

८—चार्ट पोस्टर टाइम लाइन—इतिहास, भूगोल, विज्ञान आदि विषयों में अनेक बातें चार्ट द्वारा स्पष्ट की जाती हैं। इनके प्रयोग से तथ्यों का स्पष्ट चित्र सामने आ जाता है। चार्ट ऐसी सहायक सामग्री है जिसे बालक स्वयं तैयार कर सकते हैं। शिक्षक को इस कला में दक्ष होना चाहिए और यथावश्यक चार्ट तैयार कराने चाहिए। कृषि, जीव विज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान, शरीर-रचना आदि विषयों में चार्टों के प्रयोग बिना काम ही नहीं चल सकता।

पोस्टर भी चार्टों की ही भाँति किसी विशेष घटना या तथ्य को प्रदर्शित करने के लिए छात्रों से तैयार कराए जा सकते हैं। बालक स्वय पोस्टर तैयार करने में रुचि लेने लगते हैं।

टाइम लाइन का विशेष उपयोग इतिहास में होता है। राजवंशों, घटनाओं तथा अन्य ऐतिहासिक तथ्यों का कालक्रम दिखाने के लिए टाइम लाइन का प्रयोग किया जाता है। टाइम लाइन भी छात्रों द्वारा तैयार कराना चाहिए।

विशिष्ट श्रव्य-दृश्य सामग्री

१—मैजिक लैण्टर्न—शिक्षण की दृष्टि से मैजिक लैण्टर्न का बहुत उपयोग है। इसके द्वारा अनेक घटनाएँ, दृश्य एवं तथ्य दिखाए जा सकते हैं। इस यन्त्र के प्रयोग के लिए दृश्यों, घटनाओं के स्लाइड्स बने होते हैं। विविध खेल, क्रियाएँ, स्थान, प्राकृतिक दृश्य, स्वास्थ्य विज्ञान संबंधी बातें सरलता से दिखाई जा सकती हैं। मैजिक लैण्टर्न के प्रयोग के पहले ही दिखाए जाने वाले दृश्यों या कार्यों का सामान्य परिचय छात्रों को करा देना चाहिये जिससे

वे उन्हें सरलतापूर्वक ग्रहण कर सकें । दिन में पढ़ाये हुए पाठों पर यदि आवश्यक स्लाइड्स दिखये जायँ तो पाठ की बातें स्पष्ट एवं रोचक सिद्ध होती हैं ।

२—चित्रविस्तारक यंत्र (एपिडायस्कोप)—इस यन्त्र के द्वारा मानचित्र, डायग्राम आदि बड़े रूप में छात्रों को दिखाए जाते हैं । इस यन्त्र का लाभ यह है कि इसमें मैजिक लैण्टर्न की भाँति स्लाइड्स की आवश्यकता नहीं पड़ती । इसका प्रयोग विदेशों में कक्षा-शिक्षण के लिए बहुत प्रचलित है पर हमारे देश में सभी विद्यालय इतने संपन्न नहीं हैं कि इसे रख सकें ।

३—रेडियो—रेडियो द्वारा शिक्षक के कार्य में यथेष्ट सहायता ली जा सकती है । अब रेडियो का प्रचार अधिकाधिक होता जा रहा है और अधिकांश विद्यालयों के पास यह साधन उपलब्ध है । रेडियो का सबसे बड़ा लाभ है देश-विदेश के समाचारों से अवगत होना । इससे बालकों का सामान्य ज्ञान बढ़ता है और वे मानव-प्रगति के अनेक क्षेत्रों से परिचित होते हैं । उनकी रुचि का विस्तार होता है और वे सामाजिक कार्यों में रुचि लेने लगते हैं । अब रेडियो पर प्रत्येक स्तर के विद्यार्थियों के लिए विशेष रूप से शैक्षिक कार्यक्रम प्रसारित किए जाते हैं । इससे कक्षा में सीखा हुआ ज्ञान नए रूप में सामने आता है और बालकों की समीक्षा-शक्ति का विकास होता है । रेडियो शिक्षा प्रचार एवं प्रसार का बहुत बड़ा साधन हो गया है । रेडियो द्वारा भाषण, वार्तालाप, रूपक आदि की शैली से बालक परिचित होते हैं और उनकी भाषा की शक्ति समृद्धिशाली बनती है । मनोरंजनात्मक ढंग से शिक्षा प्रदान करने का एक उत्तम साधन रेडियो है । रेडियो द्वारा एक ही समय एक प्रकार की शिक्षा बहुत दूर-दूर के विद्यार्थियों को दी जा सकती है जिससे समय, श्रम एवं धन की बचत होती है ।

रेडियो के उपर्युक्त लाभ होते हुए भी उसकी अनेक सीमाएँ हैं जिनके कारण वह शिक्षक का स्थान नहीं ले सकता । रेडियो के कार्यक्रम तथा समय में और विद्यालय के कार्यक्रम एवं समय में भिन्नता हो सकती है । अतः प्रतिदिन रेडियो द्वारा प्रसारित शैक्षिक कार्यक्रमों का लाभ प्रत्येक विद्यालय नहीं उठा सकते ।

रेडियो द्वारा प्रसारित पाठ के सम्बन्ध में यदि बालकों को कोई जिज्ञासा या शंका उठती है तो उसके समाधान का कोई साधन नहीं है । वह तो एक ओर की बात है । पर शिक्षा, शिक्षक एवं शिक्षार्थी दोनों के सहयोग से चलने

वाली द्विमुखी प्रक्रिया है। अतः बालकों को निष्क्रिय श्रोताओं के रूप में बैठे रहने के सिवाय कोई चारा नहीं है ।

रेडियो द्वारा प्रसारित शैक्षिक कार्यक्रम सभी विद्यार्थियों के लिए एक समान ही प्रस्तुत होता है अतः वैयक्तिक विभिन्नता के कारण कुछ विद्यार्थी तो उसे ग्रहण कर सकते हैं और कुछ नहीं ग्रहण कर पाते ।

फिर भी रेडियो का शिक्षण की दृष्टि से प्रयोग आवश्यक है यदि उसे हम एक सहायक उपकरण के ही रूप में रखें, चुने हुए उपयोगी कार्यक्रम ऐसे समय से प्रसारित करें कि अधिकाधिक विद्यालय लाभ उठा सकें। प्रसारित पाठ की यथावश्यक व्याख्या शिक्षक द्वारा कर दी जाय। बालकों को प्रमुख बातें नोट कर लेने के लिए प्रोत्साहित किया जाय और ऐसी आदत डाली जाय कि बालक स्वयं उसकी आलोचना-प्रत्यालोचना में भाग ले सकें ।

४—ग्रामोफोन—ग्रामोफोन द्वारा संगीत शिक्षण में विशेष सहायता मिलती है। भाषा की शिक्षा में जैसे उच्चारण सिखाना, भाषण कला आदि में भी सहायता ली जाती है। ग्रामोफोन का भी प्रयोग विद्यालयों में काफी अधिक हो रहा है। ग्रामोफोन के प्रयोग में यह सावधानी रखनी है कि शैक्षिक दृष्टि से उपयोगी रेकार्ड ही बालकों को सुनाए जायँ। कुशल वक्ताओं के भाषण, महान् व्यक्तियों के कथन या प्रवचन इनको सुनाए जा सकते हैं।

५—लिंग्वाफोन —भाषा शिक्षण में इसका उपयोग अधिक है। ग्रामोफोन की ही भाँति लिंग्वाफोन में रेकर्डस से काम लेते हैं। इसे सुनकर बालक उसका अनुकरण करते हैं और भाषा सम्बन्धी अभ्यास करते हैं। इससे उच्चारण में शुद्धता, एकरूपता आती है और पढ़ने या बोलने की शिक्षा प्राप्त होती है। यह एक व्ययसाध्य यन्त्र है और इस देश में अभी इसका सर्वसामान्य व्यवहार संभव नहीं है। साधनसम्पन विद्यालयों में इसका उपयोग होता है।

६—टेपरेकर्डर—टेपरेकर्डर का उपयोग भी भाषा की शिक्षा में अधिक होता है पर अन्य विषयों के शिक्षण में भी हो सकता है। इस यन्त्र द्वारा किसी के भाषण को रेकर्ड करके सुनाया जा सकता है जिससे अपनी त्रुटियाँ स्वयं भी मालूम हो सकें। पठन, उच्चारण, भाषण आदि के आदर्श रूप इसके द्वारा कक्षा में प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिससे बालक भी अनुकरण कर सकें। अच्छे बालकों के भाषण को भी रेकर्ड करके उन्हें प्रोत्साहित किया जा सकता है।

७—टेलीविजन—रेडियो से अधिक उपयोगी होते हुए भी टेलीविजन

का प्रयोग हमारे देश में बहुत कम है क्योंकि यह बहुत ही अधिक व्ययसाध्य यन्त्र है। अभी तक केवल दिल्ली के विद्यालयों में इसका प्रयोग शुरू हो सका है। टेलीविजन श्रव्य एवं दृश्य दोनों है अर्थात् इसमें हम वास्तविक क्रिया होते हुए देखते हैं और उसके सम्बन्ध में सुनते भी हैं। बालकों की दोनों ज्ञानेन्द्रियाँ-आँखें एवं कान—क्रियाशील रहती हैं। चल-चित्र के सभी गुण इस यन्त्र में पाए जाते हैं। इससे पाठ रोचक हो जाता है। इसके द्वारा टेलीविजन स्टेशन से प्रसारित अनेक विषयों का शिक्षण-कार्यक्रम देखने और सुनने को मिल जाता है। बालक बड़े ही ध्यान एवं रुचि से पाठ ग्रहण करते हैं।

८—छायाचित्र[1]—आजकल शिक्षण को सजीव, यथार्थ एवं आकर्षक बनाने के लिए छायाचित्रों का प्रयोग विशेष रूप से होने लगा है। छायाचित्रों के प्रयोग विभिन्न रूपों में होते हैं जैसे (१) स्लाइड्स, (२) फिल्म स्लाइड्स, (३) स्टीरियोग्राफ, (४) चलचित्र या सिनेमा।

स्लाइड्स—स्लाइड्स प्रोजेक्टर द्वारा दिखाए जाते हैं। किसी वस्तु, यन्त्र, घटना या क्रिया का सूक्ष्म से सूक्ष्म विवरण स्लाइड्स द्वारा स्पष्ट रूप से कक्षा को दिखाया जा सकता है। प्रोजेक्टर द्वारा दिखाने से छोटे चित्र भी बड़े रूप में प्रदर्शित होते हैं। एपिडायस्कोप के सदृश ही इसकी उपयोगिता है।

फिल्म स्लाइड्स—उपर्युक्त स्लाइड्स शीशे पर होती है पर फिल्म के ऊपर भी स्लाइड्स तैयार होती हैं। ये शीशे की स्लाइड्स के समान बहुत स्थान न घेरकर फिल्म की पट्टी के रूप में बहुत कम स्थान घेरती हैं और टिकाऊ भी होती है। इनका उपयोग फिल्म के रूप में सरलता से किया जा सकता है।

फिल्म स्लाइड्स के प्रयोग में कठिनाई यह होती है कि यदि किसी एक विशेष चित्र को दिखाना है तो या तो सारे फिल्म को दिखाएँ अथवा उस विशेष चित्र को फिल्म में से ध्यानपूर्वक चुनें और केवल उसी को प्रोजेक्ट करें।

स्टीरियोग्राफ—इसके द्वारा ऐसे चित्र दिखाए जा सकते हैं जिनमें लम्बाई-चौड़ाई के साथ गहराई का भी अवलोकन हो सके। इससे किसी वस्तु का पूर्ण रूप सामने आ जाता है।

चलचित्र—यद्यपि चलचित्र मनोरंजन के ही साधन समझे जाते थे पर अब शिक्षा के क्षेत्र में इनका प्रयोग बढ़ता जा रहा है। इनके द्वारा विद्यार्थियों

1. Proje[illegible]ing pictures.

का अवधान कथा-वस्तु में केन्द्रित रहता है और वे सरलता से दिखाई हुई बातें याद कर लेते हैं। इतना प्रभावपूर्ण शैक्षिक उपकरण और कोई नहीं है। संपन्न एवं समुन्नत देशों में इसका प्रयोग शिक्षा के लिए बहुत होने लगा है पर चलचित्र दिखने वाली मशीन इतनी मँहगी होती है कि हमारे देश के विद्यालय उन्हें नहीं रख सकते।

चलचित्रों की शैक्षिक उपयोगिता एवं सीमाएँ—चलचित्रों में श्रव्य एवं दृश्य दोनों उपकरणों का मेल होने से बालक बड़ी चाव से उन्हें देखते और सुनते हैं। अतः जो बात कक्षा में कोरे वर्णन या व्याख्या द्वारा हम नहीं समझा पाते, वही बात चलचित्र द्वारा बालक आसानी से ग्रहण कर लेते हैं।

चलचित्र द्वारा बालक की निरीक्षण एवं कल्पना शक्ति तीव्र होती है। वह घटनाओं एवं क्रियाओं को चित्रपट पर चल चित्र द्वारा देखकर उन पर विचार करता है और नाना भाँति की कल्पनाएँ करता है। इससे उसकी रचनात्मक प्रतिभा का विकास होता है।

चलचित्र के प्रयोग से पाठ्य सामग्री इतनी रोचक और अनुरंजनकारी हो जाती है कि बालक उनमें रुचि रखने लगते हैं और तत्सम्बन्धी तथ्यों का जानने के लिए पाठ्य पुस्तक के अतिरिक्त अन्य पुस्तकों का भी अध्ययन करते हैं। अतः अध्ययन की प्रेरणा प्रदान करने के लिए चलचित्र बहुत अच्छा उपकरण है।

चलचित्र का प्रयोग अनेक प्रकार के विषयों एवं पाठों में हो सकता है। रसानुभूति वाले पाठों जैसे साहित्य, कथात्मक काव्य, नाटक, संगीत, कला आदि में चलचित्र का प्रयोग बहुत ही प्रभावपूर्ण ढंग से किया जा सकता है और बालकों की सौन्दर्य-बोध एवं रसानुभूति की शक्ति विकसित की जा सकती है।

नैतिकता की शिक्षा के लिए महापुरुषों की जीवन-गाथा अथवा अन्य प्रकार के सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों पर आधारित कथा या नाटक चलचित्र द्वारा दिखाये जा सकते हैं। आदर्श जीवन का चित्रण पुस्तक में पढ़कर उतना प्रभावपूर्ण नहीं सिद्ध होता जितना चलचित्र द्वारा। इससे प्रभावित होकर वे उन आदर्शों का अनुकरण करने के लिए प्रयत्न करते हैं।

इतिहास के शिक्षण में चलचित्र द्वारा विशेष सहायता मिल सकती है। ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित अभिनय चलचित्र द्वारा आसानी से दिखाए

जा सकते हैं । इसी प्रकार भूगोल एवं विज्ञान की बातें भी चलचित्र द्वारा प्रदर्शित हो सकती हैं ।

खेल-कूद से लेकर वैज्ञानिक प्रयोगों, उद्योग-धन्धों एवं आधुनिक आविष्कारों का चित्र चलचित्रों द्वारा बालक सरलतापूर्वक ग्रहण कर लेते हैं और क्रियात्मक रूप में चित्रपट पर देखकर वे भी क्रियाशील बनते हैं ।

चलचित्र द्वारा किसी घटना, दृश्य, क्रिया या तथ्य को जितनी प्रभविष्णुता एवं सफलतापूर्वक छात्रों के सम्मुख प्रस्तुत किया जा सकता है उतना और किसी साधन द्वारा नहीं । ध्वनि और रङ्ग दोनों के प्रयोग के कारण वस्तु-स्थिति का सच्चा ज्ञान हो जाता है और बालक के मन पर उसका गहरा प्रभाव पड़ता है ।

चलचित्र द्वारा किसी विषय का समन्वित एवं सुसंबद्ध ज्ञान प्रदान करने में भी सहायता मिलती है जैसे कपास पैदा करने से लेकर वस्त्र तैयार करने तक की पूरी प्रक्रिया हम चलचित्र द्वारा दिखा सकते हैं ।

चलचित्रों द्वारा शैक्षणिक प्रक्रिया में भी शीघ्रता लाई जा सकती है । लम्बी-लम्बी कथाओं अथवा वैज्ञानिक प्रयोगों को थोड़े समय में ही दिखा दिया जाता है और समय की बचत हो जाती है ।

द्रुतगति से होने वाले कार्यों को चलचित्र द्वारा इतनी सामान्य गति से दिखाया जा सकता है कि कार्य होने की प्रक्रिया बालक ठीक प्रकार से समझ लें । किसी वस्तु के आकार को हम सुविधानुसार छोटा या बड़ा करके भी दिखा सकते हैं । इससे भी समझने में सहायता मिलती है । छोटी वस्तुएँ जिन्हें आँखों से देख पाना बहुत कठिन है, बढ़ाकर दिखाई जा सकती हैं ।

चलचित्र की एक उपयोगिता यह भी है कि मन्द बुद्धि के छात्र भी पाठ्य-सामग्री की ओर आकृष्ट एवं ध्यानमग्न रहते हैं और उन्हें भी विषय का बोध होता जाता है ।

कक्षा शिक्षण की दृष्टि से इतना उपयोगी होने पर भी चलचित्र के प्रयोग में कुछ सीमाएँ हैं और हमें कुछ सावधानियाँ रखनी चाहिए जैसे—

चलचित्र का प्रयोग केवल मनोरंजन के लिए नहीं चाहिए अन्यथा शिक्षण का सारा उद्देश्य ही विफल हो जाता है । विषय, सामग्री को स्पष्ट-रुचिकर एवं बोधगम्य बनाने के लिए ही इसका प्रयोग वांछित हैं ।

कभी-कभी चलचित्र द्वारा प्रदर्शित घटनाओं या क्रियाओं से बालक गलत धारणा बना लेता है जैसे वर्षों में होने वाली घटनाओं को एक घंटे में ही दिखा

देना। अतः ऐसे अवसरों पर शिक्षक को स्पष्ट रूप से व्याख्या कर देनी चाहिए। इसी प्रकार किसी वस्तु या क्रिया को बढ़ा या घटा कर जब दिखाया जाता है तब भी बालक गलत धारणा बना लेता है। ऐसे समय भी शिक्षक द्वारा स्पष्टीकरण की आवश्यकता पड़ती है। अतः यदि वास्तविक वस्तुएँ उपलब्ध हों तो उन्हें ही दिखाना चाहिए।

चलचित्र द्वारा व्यक्तिगत शिक्षण संभव नहीं है। अतः चलचित्र के प्रयोग के बाद शिक्षक को यह जाँच लेनी चाहिए कि बालकों ने कहाँ तक अनुसरण किया है और व्यक्तिगत समस्याओं का समाधान कर देना चाहिए।

इन सीमाओं का ध्यान रखते हुए हमें चलचित्र का प्रयोग करना चाहिए। हमारे देश में तो चलचित्रों का प्रयोग यों ही बहुत सीमित है क्योंकि इसकी मशीन इतनी मँहगी है कि साधारण विद्यालय उन्हें नहीं रख सकते।

अन्य शैक्षिक उपकरण

उपर्युक्त शाब्दिक एवं दृश्य-श्रव्य उदाहरणों के अतिरिक्त शिक्षण की दृष्टि से उपयुक्त कुछ और उपकरण ऐसे हैं जिनके द्वारा विषय-वस्तु को यथार्थ, बोधगम्य एवं ग्राह्य बनाने का प्रयत्न किया जाता है। इनमें निम्नांकित का विशेष महत्त्व है :—

(१) प्रदर्शन, (२) अभिनय, (३) परिभ्रमण।

१—प्रदर्शन—प्रदर्शन का महत्त्व उन विषयों में अधिक होता है जिनमें सिद्धान्तों या नियमों की पुष्टि के लिए प्रयोग शिक्षण का आवश्यक अंग है। प्रदर्शन का अर्थ ही है किसी क्रिया को प्रायोगिक रूप में छात्रों को दिखाना। अतः विज्ञान, गणित, कौशल एव क्रियात्मक पाठों में प्रदर्शन आवश्यक शैक्षणिक उपकरण है। किसी कार्य को संपादित करने की विधि मौखिक रूप से ही समझा देने से बालक उसे सम्पादित नहीं कर सकते जब तक उनके सामने कार्य करने की संपूर्ण प्रक्रिया प्रयोग के रूप में प्रदर्शित न की जाय।

प्रदर्शन में निम्नांकित बातों का ध्यान अपेक्षित है :—

(१) प्रदर्शन के लिए आवश्यक संपूर्ण सामग्री पहले से ही एकत्र कर लेनी चाहिए और उन्हें कक्षा में व्यवस्थित रूप से यथास्थान रखना चाहिए जिससे इच्छित वस्तु की आवश्यकता पड़ते ही सुविधा एवं सरलतापूर्वक लिया जा सके।

(२) वैज्ञानिक यन्त्रों को उठाने, उनके प्रयोग की हाथ में लेने या पकड़ने, और प्रयोग करने की विधि का भी प्रदर्शन करना चाहिए जिससे प्रारम्भ से

बालकों को ठीक ज्ञान हो जाय और उचित आदत पड़ जाय। अन्यथा बालक उलटे सिरे से यन्त्रों को उठाते और पकड़ते हैं।

(३) प्रदर्शन इस रूप में होना चाहिए कि कक्षा के सभी बालक उसे देख सकें।

(४) कक्षा में प्रदर्शन करने के पूर्व उस क्रिया का प्रयोग पहले एक बार कर लेना चाहिए जिससे कक्षा में प्रयोग असफल न हो।

(५) प्रदर्शन के समय बालकों का अवधान कार्य संपादन की पूरी प्रक्रिया समझने में लगा रहे और क्रिया के प्रत्येक अंगों को समझते हुए वे प्रयोग की दिशा में अग्रसर हों। इसके लिए प्रयोग में छात्रों का आवश्यक सहयोग लेना चाहिए और उपयुक्त प्रश्नों द्वारा यह जाँच करते रहना चाहिये कि वे प्रदर्शन की ओर उचित ध्यान दे रहे हैं और ठीक अनुसरण करते जा रहे हैं।

(६) प्रदर्शन करते समय प्रयोग सम्बन्धी सिद्धान्तों और नियमों की भी यथावश्यक व्याख्या होती रहनी चाहिए। प्रयोग द्वारा अभीष्ट सिद्धान्तों या निष्कर्षों को छात्रों से ही निकलवाने का प्रयत्न होना चाहिए।

(७) प्रदर्शन की सफलता इस बात में है कि प्रदर्शन के बाद बालक स्वयं उस प्रयोग को सफलता के साथ सम्पादित कर सकें। अतः यह देखने के लिए अंत में छात्रों को स्वतन्त्र रूप से प्रयोग का अवसर देना चाहिए और सामान्य त्रुटियों का संशोधन पूरी कक्षा के सम्मुख तथा व्यक्तिगत त्रुटियों का संशोधन व्यक्तिगत रूप से कर देना चाहिए।

९—अभिनय—किसी क्रिया, घटना अथवा तथ्य का शाब्दिक वर्णन उतना रोचक और ग्राह्य नहीं होता जितना क्रिया का प्रत्यक्ष स्वरूप, घटना का घटित होते हुए या उचित हाव-भाव के साथ बोलते हुए रूपों का देखना। इसके अतिरिक्त सीखी बातों को स्थायी बनाने की दृष्टि से भी अभिनय की आवश्यकता पड़ती है। बच्चों का रामायण पढ़ने की जगह रामलीला देखना अधिक प्रिय लगता है। अभिनय की सबसे बड़ी उपयोगिता यह है कि बालक खेल-खेल में बहुत-सी बातें सीख लेता है, सामाजिक एवं नैतिक आचरण जान जाता है, उसका सांवेगिक विकास होता है और ऐसे आदर्शों को अपने जीवन में व्यवहृत करने का प्रयत्न करता है जिन्हें वह अभिनय के लिए रंगमंच पर प्रस्तुत करता है। इससे उसका चारित्रिक गठन होता है। अभिनय करने में बालक स्वतन्त्रता, उन्मुक्तता एवं आनन्द का अनुभव करता है और अनायास ही उसके माध्यम

से उस विषय का ज्ञान भी प्राप्त कर लेता है। शिक्षण में अभिनय का प्रयोग वस्तुतः खेल द्वारा शिक्षा का ही एक रूप है।

सामाजिक विषयों एवं भाषा के शिक्षण में 'अभिनय' का विशेष उपयोग हो सकता है। अतीत की ऐतिहासिक घटनाओं को प्रत्यक्ष एवं साकार बनाने के लिए अभिनय आवश्यक साधन है। इसी प्रकार भाषा सम्बन्धी पाठों, कथा-कहानियों, घटनात्मक वर्णन, कथोपकथन, भाषण, संवाद आदि अभिनय द्वारा यथार्थ एवं प्रभावपूर्ण बनाए जा सकते हैं।

छात्रों को स्वतः अभिनय में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। इससे उनकी कलात्मक प्रतिभा एवं सृजनात्मक शक्ति का विकास होता है। अभिनय का दृष्टिकोण सदा शैक्षिक होना चाहिए, केवल विनोदमात्र नहीं। अभिनय करते समय बालकों की भाषा बिल्कुल विशुद्ध होनी चाहिए। अभिनय एक कला है अतः अभिनय का ढंग ठीक प्रकार से सिखाना चाहिए। भाव-भंगिमा, हाव-भाव प्रदर्शन तथा मुद्राओं में किसी प्रकार की अभद्रता नहीं आनी चाहिए। अभिनय का उद्देश्य बालकों के ज्ञान को बढ़ाना और यथार्थ रूप प्रदान करना है। उसके द्वारा उच्च विचारों का विकास, शिष्टाचार एवं सदाचार का सन्निवेश, मानवीय गुणों का प्रदर्शन होना चाहिए और इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि किसी भी जाति या समुदाय का उपहास न हो।

३—परिभ्रमण—वस्तुओं एवं दृश्यों का जितना सच्चा परिचय परि-भ्रमण द्वारा होता है उतना किसी भी प्रकार नहीं हो सकता। ताजमहल को हम माडल, चित्र, सिनेमा आदि किसी भी उपकरण द्वारा क्यों न दिखायें पर जितना यथाथ और हृदयग्राही परिचय उसके साक्षात् स्वरूप के देखने से होता उतना इन उपकरणों द्वारा नहीं। इसके अतिरिक्त बालक की निरीक्षण एवं विचार-शक्ति का भी परिभ्रमण द्वारा विशेष विकास होता है।

पहले जिन उपकरणों का उल्लेख किया गया है, वे सभी कक्षा में प्रयोग किए जाने वाले उपकरण हैं किन्तु परिभ्रमण ऐसा साधन है जिसमें बालकों को कक्षा से बाहर उन स्थानों पर ले जाते हैं जहाँ उन्हें कोई वस्तु, दृश्य, स्मारक, उद्योग-धन्धे, तीर्थ स्थल अथवा कोई ऐतिहासिक, भौगोलिक, वाणिज्यिक और वैज्ञानिक सामग्री का निरीक्षण करने का अवसर मिलता है। परिभ्रमण का सबसे अधिक उपयोग प्रकृति-निरीक्षण एवं स्थानीय वातावरण के अध्ययन में है। ऐतिहासिक स्थानों का परिभ्रमण यथार्थ ऐतिहासिक ज्ञान के लिए परम आवश्यक है। वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं को दिखाना, मिलों, फैक्ट्रियों और कृषि-

फार्मों को दिखाने से बालकों को वास्तविक एवं व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त होता है और वह ज्ञान सुदृढ़ भी हो जाता है।

परिभ्रमण के लिए छात्रों को ले जाने के पहले शिक्षक को योजना बना लेनी चाहिए कि बालकों को वहाँ क्या-क्या देखना है? तत्सम्बन्धी कुछ निर्देश एवं सुझाव भी बालकों को दे देने चाहिए। बालकों को कुछ प्रश्न भी देने चाहिए जिनके उत्तर वे निरीक्षण द्वारा स्वयं लिखें। निरीक्षण के समय बालकों की विवेचन शक्ति को भी उद्बुद्ध एवं विकसित करना चाहिए। उस स्थल पर जो भी दर्शनीय वस्तुएँ हों उन पर विद्यार्थी स्वतन्त्र रूप से अपना मत प्रकट करें, अपनी धारणाओं एवं प्रतिक्रियाओं को लिखें। शिक्षक के साथ वे इस सम्बन्ध में सामूहिक एवं व्यक्तिगत रूप से विचार-विमर्श भी कर सकते हैं।

छोटे विद्यार्थियों को दूर का परिभ्रमण नहीं कराना चाहिए, स्थानीय दृश्य ही उनके लिए पर्याप्त है। जूनियर हाई स्कूल के छात्रों को कुछ दूर तक के ऐतिहासिक एवं भौगोलिक महत्त्व के स्थान दिखाए जा सकते हैं। माध्यमिक विद्यालय के छात्रों को इनके साथ-साथ कला-कौशल सम्बन्धी स्थान, वैज्ञानिक प्रयोगशालाएँ, औद्योगिक एवं परिवहन केन्द्र आदि के निरीक्षण के लिए भी परिभ्रमण कराना चाहिए।

शैक्षणिक उपकरणों में निम्नांकित का महत्त्वपूर्ण स्थान है:—

१—पाठ्य पुस्तक, २—श्यामपट्ट, ३—मौखिक एवं दृश्य उदाहरण।

१—**पाठ्य पुस्तक**—शिक्षण के लिए यह आवश्यक उपकरण है। कुछ विषयों में जैसे भाषा एवं साहित्य में इसके बिना काम ही नहीं चल सकता। अन्य विषयों में भी ये एक आधार का काम करती हैं पर यह स्मरण रखना चाहिए कि पाठ्य पुस्तकें शिक्षक का स्थान नहीं ग्रहण कर सकतीं। वे उपकरण मात्र हैं। इनका दुरुपयोग शिक्षण का उद्देश्य ही विफल कर देता है।

अच्छी पाठ्य पुस्तकों की रचना राज्य के शिक्षा विभाग एवं शिक्षक समुदाय का प्रमुख कर्त्तव्य है। अच्छी रचना में पाठ्य सामग्री, उदाहरण एवं चित्र, संगठन, मुद्रण, मुख पृष्ठ आदि बातों का विचार आवश्यक है।

पाठ्य पुस्तकों का प्रयोग विषय एवं पाठ के अनुसार शिक्षक को करना चाहिए।

२—**श्यामपट्ट**—श्यामपट्ट का प्रयोग सभी विषयों की शिक्षा में अनिवार्य है। इसके प्रयोग से बालक की श्रवणेन्द्रिय एवं नेत्रेन्द्रिय दोनों को सक्रिय रहना पड़ता है और ज्ञानार्जन में सहायता मिलती है। बालकों की रुचि पाठ में बढ़

जाती है। पाठ-सारांश, प्रमुख तथ्य, चित्र, डायग्राम, रेखाचित्र, मानचित्र बनाने के लिए श्यामपट्ट सहज ही उपलब्ध उपकरण है। श्यामपट्ट अच्छा, काला पालिशदार, टिकाऊ, बड़ा और चिकने एवं समधरातल का होना चाहिए। शिक्षक को शीघ्रता एवं सरलता से श्यामपट्ट पर लिखने या चित्र बनाने में कुशल होना चाहिए और उसका प्रयोग यथावश्यक उचित रीति से करना चाहिए।

३—मौखिक उदाहरण—इन उदाहरणों में उपमा, रूपक, दृष्टान्त आदि अलंकार, मुहाविरे, जनश्रुतियाँ, प्रसिद्ध कथन, अन्तःकथाएँ, कहानी या चुटकुले, प्रसिद्ध पद या कविताएँ आदि हैं जिनके द्वारा कथन या व्याख्या को सरल सुबोधपूर्ण, रोचक एवं ग्राह्य बनाया जाता है। इन उदाहरणों द्वारा बालकों का ध्यान पाठ में लगा रहता है, उनकी तर्क एवं कल्पना शक्ति विकसित होती है, उनके अनुभव व्यापक होते हैं, उनकी क्रियाशीलता स्फुरित होती है और वे नवीन रचना की उद्भावना करने के लिए प्रेरित होते हैं।

उदाहरणों के प्रयोग में विविधता, सजीवता, उपयुक्तता का ध्यान रखना चाहिए और आवश्यक उदाहरण ही प्रस्तुत करने चाहिए।

दृश्य एवं श्रव्य सामग्री—पाठ को यथार्थ, रोचक एवं सुग्राह्य बनाने के लिए इनका प्रयोग आवश्यक है। इन उपकरणों में दृश्य उपकरण वे हैं जिन्हें कक्षा में दिखाया जा सकता है और जो बालकों की नेत्रेन्द्रिय को उत्तेजित कर ज्ञान ग्रहण में सहायता देते हैं जैसे वास्तविक पदार्थ, नमूने, सैण्डटेबुल माडल, चित्र, रेखाचित्र, डायग्राम, मानचित्र, ग्लोब, पोस्टर, चार्ट, टाइम लाइन, मैजिक लैण्टर्न, एपिडायस्कोप आदि।

श्रव्य उदाहरण वे हैं जिनसे ध्वनि उत्पन्न होती है और छात्रों की श्रवणेन्द्रिय सक्रिय होती है जैसे रेडियो, ग्रामोफोन, टेपरेकर्डर आदि।

कुछ उदाहरण ऐसे हैं जो दृश्य एवं श्रव्य दोनों हैं जैसे—
चलचित्र, टेलीविजन।

इन उदाहरणों के अतिरिक्त प्रदर्शन एवं अभिनय भी महत्त्वपूण उदाहरण हैं।

'परिभ्रमण' ऐसा साधन है जिसमें छात्रों को कक्षा के बाहर जाकर वस्तु, दृश्य, घटना निरीक्षण कार्य करना पड़ता है।

प्रश्न

१—शिक्षण कला की दृष्टि से मौखिक उदाहरणों का क्या महत्त्व है और उनके प्रयोग में क्या सावधानी रखनी चाहिए।

२—पाठ्य पुस्तकों का उत्तम प्रयोग विभिन्न विषयों के शिक्षण में किस प्रकार होता है ? अच्छी पाठ्य पुस्तक की रचना के लिए किन बातों का ध्यान रखना चाहिए।

३—दृश्य एवं श्रव्य उदाहरण के विविध रूपों का उल्लेख कीजिए और चलचित्र, रेडियो एवं चित्र पर विशेष प्रकाश डालिए।

४—"श्यामपट्ट शिक्षक का अभिन्न मित्र है।" इस पर संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

५—प्रदर्शन करते समय अध्यापक को क्या सावधानी रखनी चाहिए ?

६—निम्नांकित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—

परिभ्रमण, अभिनय, डायग्राम एवं चार्ट।

अध्याय १०

सामूहिक तथा वैयक्तिक शिक्षण

[सामूहिक तथा वैयक्तिक शिक्षण का प्रश्न, सामूहिक शिक्षण के गुण, सामूहिक शिक्षण के अवगुण, वैयक्तिक शिक्षण के गुण, वैयक्तिक परीक्षण के दोष वैयक्तिक तथा सामूहिक शिक्षण का समन्वय ।]

"The first duty of each human being is to be himself and that anything which checks this development does him a serious injury."

Montessori.

शिक्षा का उद्देश्य एक ओर बालक का वैयक्तिक उत्कर्ष है तो दूसरी ओर उसकी सामाजिक कुशलता एवं गुणों की अभिवृद्धि भी जिससे वह समाज का एक योग्य सदस्य बन सके। इन दोनों पक्षों में किसे प्रधानता मिले, इस विवाद के कारण वैयक्तिक तथा सामूहिक शिक्षण का प्रश्न उठ खड़ा होता है। वैयक्तिक उत्कर्ष के समर्थक कक्षा की इकाई व्यक्तिगत बालक को रखना चाहते हैं किन्तु जो लोग बालक को एक कुशल सामाजिक सदस्य के रूप में देखना चाहते हैं वे सामूहिक शिक्षण का समर्थन करते हैं।

वैयक्तिक एवं सामूहिक शिक्षण का विवाद मनोविज्ञान के आधार पर भी उठाया जाता है। कुछ लोग इस विचार के समर्थक हैं कि मूलतः मानव-प्रकृति एक है, सभी बालकों को एक प्रकार की शिक्षा दी जा सकती है। अतः सामूहिक शिक्षा होनी चाहिये। प्रसिद्ध विचारक लाक का कहना था कि शिशु का मन एक स्वच्छ कोरा स्लेट है और शिक्षा द्वारा ही उस पर हम विचारों एवं गुणों की छाप लगाते हैं। इस दृष्टि से भी सामूहिक शिक्षा को बल मिलता है। शक्ति मनोविज्ञान के समर्थकों का मत है कि मानव मन अनेक शक्तियों जैसे तर्क, कल्पना, चिन्तन, स्मरण आदि का पुंज है और इन शक्तियों को विकसित करना शिक्षा का उद्देश्य है अतः बालकों को एक प्रकार की सामूहिक शिक्षा दी जा सकती है।

आधुनिक मनोविज्ञान वैयक्तिक विभिन्नता को बहुत महत्त्व प्रदान करता है। मानसिक योग्यता, क्षमता एवं रुचि में प्रत्येक व्यक्ति दूसरे से भिन्न है।

अतः वैयक्तिक शिक्षण को अधिक महत्त्व मिलना चाहिये। प्राचीन शिक्षा शास्त्रियों प्लेटो, अरस्तू, रूसो, कमेनियस आदि ने भी बालक के वैयक्तिक विकास पर बल दिया था किन्तु इसके लिये व्यक्तिगत शिक्षण का प्रतिपादन आधुनिक मनोविज्ञान एवं विज्ञान की देन है। फ्रांसिस गेल्टन, डारविन, मैंडल आदि के अनुसन्धानों ने वैयक्तिक विभिन्नता का वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया और फिर अनेक मनोवैज्ञानिकों ने खोज करके बालकों के वैयक्तिक शिक्षण पर बल दिया। फलतः ऐसी अनेक शिक्षण-योजनाओं का श्रीगणेश हुआ जिनमें बालक पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रूप से अपनी रुचि, शक्ति एवं सामर्थ्य के अनुसार शिक्षा प्राप्त करें और अपनी गति से विकास कर सकें।

वैयक्तिक विभिन्नता का तथ्य स्वीकार कर लेने पर शिक्षा के स्वरूप एवं गठन में परिवर्तन होना आवश्यक हो जाता है। यह परिवर्तन दो रूपों में विशेष परिलक्षित होता है—

(१) पाठ्यक्रम कैसा हो ?

(२) कक्षा की इकाई क्या हो ?

पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में हम पाते हैं कि अब बालक की मानसिक योग्यता, शक्ति एवं रुचि की भिन्नता के आधार पर पाठ्यक्रम में विविधता एवं अनेक धाराओं का (मानविकी, तकनीकी, वैज्ञानिक, कृषि, वाणिज्य, गृहविज्ञान, ललित कलाएँ आदि) समावेश किया गया है। सभी बालकों को एक ही प्रकार की शिक्षा देने का प्राचीन सिद्धान्त त्याग दिया गया है और बालक को उसकी वैयक्तिक अभिरुचि, प्रवृत्ति और शक्ति के अनुकूल उचित पाठ्यक्रम के अध्ययन का अवसर प्रदान किया जाता है।

दूसरा परिवर्तन कक्षा की इकाई के सम्बन्ध में है। प्रचलित शिक्षा व्यवस्था में कक्षा का तात्पर्य है —कम से कम तीस-चालीस विद्यार्थियों का समूह। पर इतने बड़े समूह में बालक की वैयक्तिक समस्याओं की ओर ध्यान देना और उनके वैयक्तिक विकास पर बल देना बहुत कठिन है। अतः सामूहिक शिक्षण के विरुद्ध प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक है। इसी का परिणाम वैयक्तिक शिक्षण पर बल देना है। ऐसी अनेक पद्धतियों का प्रवर्तन हुआ है जिससे व्यक्तिगत शिक्षा सम्भव हो सके। डाल्टन योजना और मॉरिसन योजना इसी के परिणाम हैं। कुछ ऐसी पद्धतियों का भी विकास हुआ है जिनमें वैयक्तिक एवं सामूहिक दोनों प्रकार के शिक्षण का लाभ मिल सके जैसे, प्रोजेक्ट प्रणाली, खेल प्रणाली, प्रश्नोत्तर प्रणाली, समूह विवाद प्रणाली आदि। इन प्रणालियों के सम्बन्ध में

आगे विस्तार से लिखा जायगा। यहाँ उनका नामोल्लेख मात्र ही पर्याप्त है। शिशु शिक्षण प्रणालियों में माण्टेसरी प्रणाली वैयक्तिक शिक्षण पर बल देती है पर किंडर गार्टन प्रणाली में बालकों की सामूहिक प्रवृत्ति को भी विकसित करने पर बल दिया जाता है। इनके सम्बन्ध में भी आगे लिखा जायगा। यहाँ हम अलग-अलग सामूहिक एवं वैयक्तिक शिक्षण के गुणों—अवगुणों पर विचार करेंगे जिससे कक्षा की इकाई क्या हो, इसका हम उचित निर्धारण कर सकें।

सामूहिक शिक्षण के गुण

सामान्य रूप से सामूहिक शिक्षण के गुण निम्नांकित हैं—

१—आर्थिक उपयोगिता—सामूहिक शिक्षण की सबसे बड़ी उपयोगिता आर्थिक है। एक शिक्षक एक साथ बहुत से छात्रों को शिक्षा प्रदान करता है। शिक्षण सामग्री के खर्च में भी बचत हो जाती है क्योंकि पूरी कक्षा के लिए एक ही बार प्रयोग या प्रदर्शन कर दिया जाता है। वैयक्तिक शिक्षण बहुत ही व्यय-साध्य होता है। प्रत्येक बालक के लिए पृथक् शिक्षक रखना और शिक्षण सामग्री की व्यवस्था करना बहुत ही व्ययसाध्य है। राष्ट्र का सारा धन यदि केवल शिक्षा में ही लगा दिया जाय तो भी यह सम्भव न होगा। साथ ही यह अनुचित भी है क्योंकि हमे अन्य सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, औद्योगिक एवं सैनिक क्षेत्रों में भी प्रगति करना है और उनके लिये भी धन की उतनी ही आवश्यकता है। अतः सामूहिक शिक्षण आर्थिक दृष्टि से बहुत उपयोगी है।

२—समय एवं श्रम की बचत—सामूहिक शिक्षण में समय और श्रम की बचत होती है क्योंकि उतने ही समय और श्रम में कक्षा के सभी बालक सीख लेते हैं। एक-एक बालक को पृथक्-पृथक् पढ़ाने में समय और श्रम दोनों का अपव्यय होता है।

३—रागात्मक पाठों में सामूहिक शिक्षण की उपयोगिता—रागात्मक तथा प्रेरणात्मक पाठों—कविता, संगीत, कला, कहानी, नाटक, ऐतिहासिक, धार्मिक एवं पौराणिक गाथाओं, नैतिक कहानियों एवं निबन्धों में सामूहिक शिक्षण अधिक प्रभावपूर्ण एवं उपयोगी सिद्ध होता है क्योंकि समूह में रहने से बालकों को भावात्मक प्रेरणा अधिक प्राप्त होती है तथा संवेगिक विकास अधिक सम्भव होता है। एकाकी बालक की भावानुभूति प्रवणता को उद्दीप्त करना सम्भव नहीं होता। शिक्षा विचारक एडम्स का कथन है कि साहित्य, धर्म, संगीत, कविता, कला आदि पाठों में बालकों की संख्या अधिक रहने पर उन्हें अधिक लाभ होता है। समूह में रहने पर हमारे संवेग साधारण आलम्बन पाने

पर भी प्रबल हो उठते हैं। ऐसे पाठ अकेले बालक को पढ़ाने में शिक्षक को भी उत्साह एवं आनन्द का अनुभव नहीं होता।

४—सामाजिक गुणों की वृद्धि—सामूहिक शिक्षण से बालकों में सामाजिकता का भाव पनपता है। एक साथ शिक्षा ग्रहण करने और कक्षा में एक साथ कार्य करने से उनमें परस्पर सहानुभूति और सहायता की भावना उदित और विकसित होती है। उनमें सामाजिक मर्यादा, शिष्टाचार का पालन करने और अनुशासित रहने की भावना का विकास होता है। व्यक्तिगत स्वार्थ की जगह सामाजिक सेवा और सामाजिक कल्याण में उसकी आस्था पैदा होती है। व्यक्तिगत शिक्षण में बालक को इसका अवसर ही नहीं मिलता।

सामूहिक कक्षा शिक्षण से बालकों में परस्पर प्रेम, त्याग एवं सद्भावना उत्पन्न होती है और दूसरों की सहायता करना, उसके लिए अपने हित का उत्सर्ग कर देना स्वाभाविक प्रतीत होने लगता है।

५—स्पर्द्धा[1] की भावना का विकास—सामूहिक शिक्षण से बालकों में स्पर्द्धा अथवा स्वस्थ प्रतियोगिता की भावना पैदा होती है। साधारण बालक भी अच्छे बालकों का अनुकरण करके आगे बढ़ने का प्रयत्न करते हैं। उनमें आत्मविकास के लिए तत्परता, उत्साह एवं स्फूर्ति का संचार होता है। तेज विद्यार्थियों में भी आगे बढ़ने के लिए होड़ लगी रहती है और उनमें अध्यवसाय तथा परिश्रम की आदत बनती है। भावी जीवन निर्माण एवं प्रगति में ये आदतें बहुत सहायक सिद्ध होता हैं।

६—स्वयं संशोधन की प्रवृत्ति—सामूहिक शिक्षा में बालकों में एक-दूसरे के कार्यों को देखकर स्वयं संशोधन की प्रवृत्ति पैदा होती है। उनमें अपनी आलोचना की मनोवृत्ति और शक्ति पैदा होती है। अच्छे कार्यों को देखकर प्रशंसात्मक भावना का उदय होता है और कुशल कार्य करने वालों के प्रति आदर एवं सम्मान का भाव जगता है।

सामूहिक शिक्षा में बालकों को एक-दूसरे की कठिनाई समझने और उनसे लाभ उठाने का भी अवसर मिलता है।

७—मन्द बुद्धि के छात्रों के लिए उपयोगिता—सामूहिक शिक्षण में अध्यापक इस बात का प्रयत्न करता है कि कक्षा का साधारण से साधारण बालक भी पाठ को समझ ले। इसके लिए वह अपनी बात अनेक ढंग से प्रस्तुत करता है और भिन्न-भिन्न प्रणालियों एवं युक्तियों का प्रयोग करता है जिससे पाठ-शिक्षण

---

1. Emulation.

में नवीनता एवं रोचकता आ जाती है। इससे कमजोर छात्र भी पाठ को समझ लेता है और तेज छात्रों को पाठ पर और भी अधिक अधिकार प्राप्त हो जाता है। शिक्षक अपनी व्याख्या भी सरल, रोचक एवं वैविध्य पूर्ण बनाता है। इससे बालक अभिव्यक्ति के अनेक प्रकारों से परिचित होते हैं और उन्हें निजी शैली के विकास में सहायता मिलती है।

सामूहिक शिक्षण में कमजोर विद्यार्थी भी धीरे-धीरे मिलकर काम करने की आदत डाल लेता है और उसका संकोच दूर हो जाता है।

८—शिक्षक को स्फूर्ति एवं आनन्द की अनुभूति—सामूहिक कक्षा शिक्षण में शिक्षक को उत्साह, स्फूर्ति एवं आनन्द की अनुभूति होती है। वह अधिक क्रियाशील हो उठता है, तत्परता और लगन से पाठ तैयार करता है और अनेक छात्रों द्वारा उठाए गए प्रश्नों एवं समस्याओं के समाधान के लिए तैयार होकर कक्षा में आता है। वह विषय-वस्तु पर अधिकाधिक अधिकार प्राप्त करता है, अच्छी से अच्छी भाषा में व्यक्त करने का प्रयत्न करता है और कक्षा को अधिक से अधिक प्रभावित करने के लिए अन्य शैक्षणिक साधनों का सहारा लेता है।

९—शिक्षण का मूल्यांकन—सामूहिक शिक्षण से बालकों का सापेक्षिक मूल्यांकन सम्भव हो जाता है। बालक स्वतः कक्षा में अपनी स्थिति समझ जाता है कि कितने बालक उससे आगे हैं। इससे आगे बढ़ने की प्रेरणा प्राप्त होती है और कमजोरियों को दूर करते हैं। पूरी कक्षा का भी मूल्यांकन आसान रहता है कि कितने छात्र उत्तीर्ण हैं। शिक्षक को अपने शिक्षण का परिणाम ज्ञात होता है जिससे वह अपनी प्रणाली में आवश्यक सुधार एवं परिवर्तन करता रहता है।

उपर्युक्त गुणों के कारण ही सामूहिक शिक्षा-व्यवस्था प्रचलित है। आधुनिक शिक्षा मनोविज्ञान के विरोध के बावजूद भी हम सामूहिक शिक्षा को हटा नहीं पा रहे हैं। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि सामूहिक शिक्षा के दोषों के प्रति हम अपनी आँखें बन्द कर लें। हमें उन दोषों को समझकर उनके उचित निवारण का प्रयत्न करना चाहिए।

सामूहिक शिक्षा के अवगुण

सामूहिक शिक्षा के अवगुण संक्षेप में निम्नलिखित हैं :—

१—बाल केन्द्रित शिक्षा का अभाव—आधुनिक शिक्षा मनोविज्ञान इस बात पर बल देता है कि शिक्षा बाल केन्द्रित होनी चाहिए और मुख्य ध्यान इस बात पर रहना चाहिए कि बालक कितना सीख रहा है किन्तु सामूहिक कक्षा

शिक्षण में बालक शिक्षा का केन्द्र या आधार नहीं हो पाता। पाठ्य विषय का महत्त्व ही सर्वोपरि रहता है। अध्यापक निर्धारित पाठ्य विषय को समाप्त करने पर जोर देते हैं चाहे बालक ग्रहण करें या न करें।

२—वैयक्तिक विभिन्नता की उपेक्षा—कक्षा के समस्त छात्रों की शारीरिक एवं मानसिक क्षमता समान नहीं होती और न उनके सीखने तथा विकास की गति ही समान होती है। विद्यार्थियों की रुचि, प्रवृत्ति एवं योग्यता में भिन्नता पाई जाती है पर सामूहिक शिक्षा में इन विभिन्नताओं की उपेक्षा कर दी जाती है और सभी बालकों को एक समान मानकर पाठ पढ़ा दिया जाता है और मान लिया जाता है कि सभी ने समझ लिया है। यह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सर्वथा दोष पूर्ण है।

३—कक्षा में कुछ बालक तीव्र बुद्धि के होते हैं, कुछ मन्द बुद्धि के। सामूहिक शिक्षण में तीव्र बुद्धि के बालक का तो समय नष्ट होता है और मन्द बुद्धि के बालक बिना समझे ही रह जाते हैं। बौद्धिक विकास एवं प्रगति का सही मापन नहीं हो पाता। तेज बालक भी औसत विद्यार्थियों के साथ साल भर उसी कक्षा में पड़ा रह जाता है जबकि उसे ऊँची कक्षा में होना चाहिए था। इससे उसमें शिथिलता आ जाती है और अनुशासनहीनता भी।

४—मन्द बुद्धि के बालकों का सामूहिक कक्षा में और भी नुकसान होता है। अध्यापक सामान्य या औसत विद्यार्थियों को दृष्टि में रखकर आगे बढ़ता जाता है पर मन्द बुद्धि वाले अथवा पिछड़े बालक उस गति से प्रगति नहीं कर पाते। इससे वे और भी पिछड़ते जाते हैं और अध्ययन से वे उदासीन हो जाते हैं। शिक्षा के प्रति उनकी रुचि समाप्त हो जाती है और कक्षा से पलायन की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है।

५—सामूहिक शिक्षण व्यवस्था से जनशिक्षा प्रसार के साथ-साथ कक्षा में छात्रों की संख्या भी बढ़ती जा रही है इससे शिक्षक के लिए छात्रों के प्रति व्यक्तिगत रूप से ध्यान देना कठिन हो गया है। विद्यार्थियों की व्यक्तिगत कठिनाइयाँ और समस्याएँ ज्यों की त्यों बनी रह जाती हैं। अध्यापक के पास इतना अवकाश नहीं रहता कि वह प्रत्येक की कठिनाइयों का निराकरण करे। उत्साही शिक्षक भी विवश होकर दिनचर्या का निर्वाह मात्र करने लगते हैं और बालक भी अपनी समस्याएँ या कठिनाइयाँ रखना छोड़ देते हैं। इससे बालकों की पुरोगामिता नष्ट हो जाती है और शिक्षण एक बोझ बन जाता है।

इस दोष के कारण कक्षा में अनुशासन की समस्या भी पैदा हो जाती

है। जो बालक पाठ नहीं समझते वे उच्छृङ्खल एवं स्वच्छन्द व्यवहार करने लगते हैं।

६—सामूहिक शिक्षण में बालक निष्क्रिय हो जाते हैं। पाठ सम्बन्धी ज्ञान के लिए शिक्षक पर ही वे पूर्णतः निर्भर रहने लगते हैं क्योंकि शिक्षक पूरी कक्षा को एक समान शिक्षा देने के लिए प्रायः व्याख्यान पद्धति का अनुसरण करते हैं। इससे बालकों को स्वयं प्रयत्न, स्वाध्याय एवं क्रियाशीलता के उचित स्फुरण तथा विकास का अवसर नहीं मिलता। स्वाध्याय, स्वयं प्रयत्न, स्वयं अनुसन्धान आज के शिक्षण के मूलभूत तत्त्व हैं जिनके ऊपर सामूहिक शिक्षा में कोई ध्यान ही नहीं रहता।

७—सामूहिक शिक्षा में शिक्षक यह मानकर चलता है कि प्रत्येक पाठ या प्रकरण में सभी शिक्षार्थी समान रुचि ले रहे हैं पर वस्तुतः ऐसा होता नहीं और जिन छात्रों की रुचि उस प्रकरण में नहीं रहती वे पाठ के प्रति ध्यान नहीं दे पाते तथा कक्षा शिक्षण की सुचारुता नष्ट हो जाती है।

८—सामूहिक शिक्षण में समय सारिणी (टाइमटेबुल) का पालन आवश्यक हो जाता है पर इससे छात्रों के अध्ययन में एवं सीखने में बाधा पड़ती है। घंटा समाप्त होते ही सभी बालकों को उस विषय को छोड़कर दूसरे विषय में लग जाना पड़ता है। इससे जो बालक पहले विषय में दत्तचित्त थे और उन्हें सीखने में आनन्द आ रहा था, वे भी बाध्य हो जाते हैं कि दूसरा विषय प्रारम्भ कर दें। उन्हें जबर्दस्ती अपना ध्यान भंग करना पड़ता है। इससे उनकी प्रगति रुक जाती है। दूसरे विषय में वे ध्यान केन्द्रित नहीं कर पाते और इस कारण नए विषय के ज्ञान की उपलब्धि भी कम होती है।

९—सामूहिक शिक्षण में यदि कोई छात्र किसी दिन अनुपस्थित हो गया तो उसे सदा के लिए उस दिन के शिक्षण से वंचित हो जाना पड़ता है और उसकी क्षति पूरी नहीं होती।

१०—सामूहिक शिक्षण में बालकों को निजी स्वतन्त्र विकास का अवसर नहीं मिलता। वे समूह में बँधे रहते हैं और एक साथ बढ़ने के लिए विवश हो जाते हैं। स्वतन्त्र भावाभिव्यक्ति का अवसर नहीं मिलता और वैयक्तिक जिज्ञासा दबी रह जाती है।

११—सामूहिक शिक्षण में सभी बालकों का सक्रिय सहयोग नहीं हो पाता। कुछ तेज छात्र ही हर समय अग्रगण्य बने रहते हैं और पाठ विकास में योग देते रहते हैं, शेष बालक निष्क्रिय श्रोता या दर्शक बने रहते हैं।

१२ – सामूहिक शिक्षण में शिक्षक प्रत्येक बालक से व्यक्तिगत सम्पर्क नहीं स्थापित कर पाता और इस कारण सभी को प्रभावित भी नहीं कर सकता। परस्पर सम्पर्क के अभाव में कक्षा सम्बन्धी पाठ-विकास एवं अनुशासन सम्बन्धी अन्य समस्याएँ भी उठती रहती हैं।

१३—सामूहिक शिक्षण में ज्ञानार्जन एवं योग्यता प्राप्ति का मापन सदा सापेक्षिक रहता है। कोई स्वतन्त्र मापन सम्भव नहीं है।

इन दोषों के अतिरिक्त सामूहिक शिक्षण के कारण कक्षा संगठन एवं व्यवस्था सम्बन्धी कठिनाइयाँ भी रहती हैं जैसे उपस्थिति, शुल्क प्राप्ति, समय-समय पर सूचनाओं से अवगत करना, समय सारिणी, अनुशासन, प्रतिभाशाली विद्यार्थियों एवं पिछड़े विद्यार्थियों के सम्यक् विकास की व्यवस्था आदि।

सामूहिक शिक्षण के गुण-अवगुण पर विचार करने के बाद हमें वैयक्तिक शिक्षण के तात्पर्य एवं गुण-अवगुण पर भी विचार कर लेना चाहिए।

वैयक्तिक शिक्षण का तात्पर्य

इधर मनोवैज्ञानिक विशेषतः वैयक्तिक विभिन्नता सम्बन्धी अनुसन्धानों के कारण वैयक्तिक शिक्षण पर विशेष बल दिया जा रहा है क्योंकि यह सर्व-मान्य तथ्य है कि प्रत्येक बालक की निजी विशिष्टताएँ होती हैं और उनको उचित पथ-प्रदर्शन द्वारा सृजनात्मक दिशा में विकसित होने का अवसर अवश्य मिलना चाहिए। हम देख चुके हैं कि सामूहिक शिक्षण में यह सम्भव नहीं है। अतः वैयक्तिक शिक्षण अनिवार्य सा हो गया है। अब यह कथन सही और उचित नहीं माना जाता कि वैयक्तिक शिक्षा से जनतांत्रिक भावना के प्रसार में बाधा होगी और बालकों में सामाजिक कुशलता नहीं आ पाएगी। वैयक्तिक गुणों का पूर्ण विकास जनतांत्रिकता के विरुद्ध नहीं बल्कि सहायक है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, वैयक्तिक अधिकार एवं कर्त्तव्य की चेतना ही जनतन्त्र का मूलमन्त्र है। प्रसिद्ध शिक्षा विचारक नन महोदय का कथन है कि प्रत्येक कार्य या वस्तु का आधार व्यक्ति ही है और शिक्षा में वे सभी परिस्थितियाँ सुलभ होनी चाहिए जिनमें व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो सके।[1] अतः बालक के वैयक्तिक विकास के लिए विद्यालय में सभी आवश्यक सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए। इस दृष्टि से पाठ्यक्रम का निर्माण होना चाहिए और इसी दृष्टि से कक्षा की इकाई में भी परिवर्तन होना चाहिए।

---

1. "Individual is the basis of every thing." "Education must provide conditions in which individuality develops fully."

T. P. Nunn.

"वैयक्तिक शिक्षण का तात्पर्य है बालक को सीखने के ऐसे अनुभव प्रदान किए जायँ कि वह बिना समूह की सहायता लिए शिक्षा के क्षेत्र में आगे बढ़ सके। वह शिक्षक की भी कम से कम सहायता ले और सामूहिक विचार-विमर्श, कक्षा शिक्षण, पठन एवं प्रश्नोत्तर की जगह केवल व्यक्तिगत अध्ययन द्वारा वह प्रगति कर सके।"

इस व्यवस्था द्वारा प्रतिभाशाली, सामान्य एवं मन्द बुद्धि वाले सभी प्रकार के बालकों को पृथक्-पृथक् अपनी क्षमता एवं गति के अनुसार प्रगति करने का अवसर मिलेगा और उनकी विशिष्ट योग्यताएँ भी विकसित होंगी। इसी दृष्टि से वैयक्तिक शिक्षण पर विशेष बल दिया जा रहा है। वैयक्तिक शिक्षण की उपयोगिता संक्षेप में निम्नांकित है :—

वैयक्तिक शिक्षण के गुण

(१) वैयक्तिक शिक्षण में बालक ही शिक्षा का केन्द्र अथवा आधार होता है। शिक्षक बालक के अनुसार ही अपनी शिक्षण प्रणाली नियोजित करता है, पाठ्यक्रम एवं शिक्षण योजना बालक के सीखने एवं प्रगति के आधार पर निर्धारित होती है।

(२) वैयक्तिक शिक्षण में शिक्षक को बालक के अध्ययन का पर्याप्त अवसर मिलता है और वह उसकी कठिनाइयों एवं समस्याओं को समझकर तदनुकूल शिक्षण प्रदान करता है।

(३) बालक को स्वयं प्रयत्न करने, विकास करने और स्वतन्त्र भाव-प्रकाशन का अवसर मिलता है।

उसे अपनी बुद्धि एवं क्षमता के अनुसार कार्य करने तथा अग्रसर होने का अवसर भी मिलता है। शिक्षक बालक की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप किए बिना ही उसे वांछित दिशा में अग्रसर करने का प्रयत्न करता है। प्रतिभाशाली अथवा मन्दबुद्धि दोनों प्रकार के बालकों का हित इसमें रहता है क्योंकि वे अपनी गति से ही आगे बढ़ते हैं।

(४) बालक की व्यक्तिगत विशेषताओं—मानसिक एवं शारीरिक क्षमता, योग्यता, रुचि, अवधान पर ध्यान देने का अवसर शिक्षक को मिलता है। इससे बालक का स्वाभाविक विकास सम्भव होता है और किसी भी प्रकार के मानसिक प्रतिरोध या संघर्ष उत्पन्न होने का भय नहीं रहता।

(५) बालक स्वयं अपनी शिक्षा सम्बन्धी योजना में भाग ले सकता है और उसे अपनी कठिनाइयों एवं समस्याओं को स्वयं सुलझाने की प्रेरणा मिलती है।

स्वाध्याय की आदत पड़ती है। कार्य करने में आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता और आत्मसम्मान का भाव पैदा होता है।

(६) शिक्षक को बालक से घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करने और अपने व्यक्तिगत प्रभावों द्वारा बालक को उचित एवं अनुकूल दिशा में विकसित करने का अवसर मिलता है। वह बालक की रुचि, ग्रहण-शक्ति एवं प्रगति से सदा परिचित रहता है और उसी के आधार पर भावी शिक्षण योजना बनाते चलता है।

(७) वैयक्तिक शिक्षण में समय सारिणी का कोई बन्धन नहीं रहता और बालक की रुचि एवं अवधान के अनुसार बालक पाठ्य विषयों का अध्ययन आवश्यक समय तक कर सकता है।

(८) वैयक्तिक शिक्षण में बालक की प्रगति का स्वतन्त्र मापन और विषय-निष्ठ परीक्षण भी सम्भव रहता है क्योंकि उसकी प्रगति दूसरे बालक की प्रगति की तुलना में नहीं मापी जाती।

वैयक्तिक शिक्षा के दोष

१—व्यावहारिक दृष्टि से वैयक्तिक शिक्षा सम्भव नहीं जान पड़ती क्योंकि प्रत्येक बालक के लिए इतनी अधिक संख्या में योग्य, दक्ष और कुशल अध्यापकों का मिलना असम्भव सा है। यह युग जन-शिक्षा का युग है। शिक्षा का युग है। शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्रों की संख्या करोड़ों में है। अतः यह सोचना ही अव्यावहारिक है।

२—वैयक्तिक शिक्षा अत्यधिक व्ययसाध्य है। प्रत्येक बालक के लिए शिक्षक और शिक्षण-सामग्री की व्यवस्था सम्भव नहीं। भारत जैसे निर्धन देश में तो इसकी बात सोचना भी काल्पनिक प्रतीत होता है। इसी प्रकार समय, श्रम की दृष्टि से भी वैयक्तिक शिक्षा नहीं अपनाई जा सकती।

३—वैयक्तिक शिक्षा में बालक के सामाजिक गुणों का उत्कर्ष नहीं हो पाता। उसमें आत्मकेन्द्रित प्रवृत्तियों एवं वैयक्तिक स्वार्थ की प्रमुखता रहती है। उसमें अहंकार की भावना भी पैदा हो जाती है।

४—सामूहिक प्रतिस्पर्द्धा का अभाव रहता है जिससे कार्य संलग्नता एवं प्रगति के लिए प्रोत्साहन नहीं मिलता।

५—वैयक्तिक शिक्षा में एकाकी बालक को अपना कार्य बोझिल सा प्रतीत होने लगता है क्योंकि उसके अच्छे कार्य की प्रशंसा करने वाला कोई साथी नहीं रहता। यदि उसका कार्य ठीक नहीं हुआ तो शिक्षक ही उसे सुधार देता है, स्वयं संशोधन करने का अवसर नहीं मिलता। परस्पर विचार-विमर्श,

विवाद और एक दूसरे के कार्य को देखकर नवीन सूझ-बूझ पैदा होने का अवसर वैयक्तिक शिक्षण में सम्भव ही नहीं है।

वैयक्तिक एवं सामूहिक शिक्षण का समन्वय

सामूहिक एवं वैयक्तिक शिक्षण के गुण-दोष विवेचन के बाद सहज ही निष्कर्ष निकल आता है कि हमें ऐसी प्रणाली अपनानी चाहिए जिनमें दोनों ही सामूहिक एवं वैयक्तिक शिक्षण के गुणों का समावेश हो सके। आज के शिक्षा विचारकों ने इसलिए ऐसी व्यवस्था का समर्थन किया है जिसमें बालकों को समूह में कार्य करने का भी अवसर मिल जाय और उनकी व्यक्तिगत विशिष्टताओं का विकास भी होता चले, साथ ही उन्हें अपनी क्षमता एवं गति के अनुसार आगे बढ़ने का अवसर मिले। इस प्रकार की शिक्षण योजनाएँ प्रवर्तित की गई हैं जिनमें बालक टोलियों में कार्य करते हैं। ये टोलियाँ भी कार्य के अनुसार छोटी-बड़ी हो सकती हैं। शिक्षक निरीक्षण एवं प्रथम पथ-प्रदर्शन करता रहता है। वह टोलियों को कार्य पूरा करने के लिए प्रेरित एवं प्रोत्साहित करता रहता है और बालकों के व्यक्तिगत कार्यों का ध्यान रखता है। इस प्रकार की योजनाएँ हम डाल्टन-प्रणाली, मारिसन-प्रणाली, एवं विनेट-प्रणाली में देख सकते हैं। आज की अन्य उन्नत प्रणालियों में भी इस प्रकार की व्यवस्था एवं सुविधा प्रदान की जाती है जिससे बालकों का वैयक्तिक विकास हो सके और उनकी सामूहिक भावना के विकास में बाधा भी न पड़े। प्रोजेक्ट-प्रणाली, खेल द्वारा शिक्षा, ह्यूरिस्टिक विधि, प्रश्नोत्तर एवं सामूहिक विचार-विमर्श या विवाद गोष्ठी आदि में बालक के वैयक्तिक शिक्षण की पर्याप्त सुविधाएँ प्राप्त होती हैं।

वैयक्तिक शिक्षण की सफलता के लिये निम्नांकित बातों का ध्यान अवश्य रखना चाहिये :—

१—स्पष्ट एवं सुनिश्चित उद्देश्य निर्धारित करना।
२—कार्यों की स्पष्ट एवं सावधानीपूर्वक रूपरेखा तैयार करना।
३—ऐसे अभ्यासों का आयोजन जिनमें स्वयं संशोधन का अवसर हो।
४—शिक्षार्थियों के कार्यों का सही मूल्यांकन।
५—समय का सदुपयोग और उचित मूल्यांकन।

वैयक्तिक तथा सामूहिक शिक्षण में समन्वय और दोनों की विशेषताओं एवं गुणों से लाभ उठाने की दृष्टि से शिक्षाविदों द्वारा प्रस्तुत कुछ सुझाव निम्नांकित हैं :—

१—कक्षा की संख्या कम की जाय—कुछ शिक्षाविदों का कहना है

कि सामूहिक शिक्षा रखी जाय, पर वैयक्तिक ध्यान देने के लिए कक्षा की संख्या १५-२० से अधिक न हो जिससे शिक्षक प्रत्येक बालक से भली भाँति सम्पर्क स्थापित कर सके, उनकी कठिनाइयों एवं समस्याओं से परिचित हो सके और आवश्यक पथ-प्रदर्शन कर सके।

२—**मैकमैन की योजना**—कक्षा को दो-दो छात्रों की टोली में विभक्त करना—वैयक्तिक तथा सामूहिक दोनों शिक्षण का लाभ उठाने के लिए मैकमैन महोदय ने यह प्रणाली प्रतिपादित की है कि कक्षा के बालकों को दो-दो की जोड़ी में विभक्त कर दिया जाय। पीरियड भी दो भागों में बाँटा जाय, आधे भाग में शिक्षण-कार्य हो, शेष आधे में बालक स्वयं पढ़े और स्वतन्त्र रूप से कार्य करें। इससे सहयोग भावना का विकास होगा और शिक्षक बालकों के कार्यों का निरीक्षण भी कर सकेगा। इस प्रणाली में दोष यह है कि दो टोली में जो तेज विद्यार्थी होगा, वही प्रश्नों या समस्याओं को हल कर देगा और मन्दबुद्धि का बालक उसका अनुगामी मात्र रह जायगा। शिक्षक स्वयं भी इतने अधिक दलों का काम देखने में असमर्थ हो जायगा।

३—**कक्षा को ३ दलों में विभक्त करके शिक्षा देना**—कुछ विद्वानों का सुझाव है कि पूरी कक्षा को ३ दलों में विभक्त कर दिया जाय और उनमें परस्पर मिल-जुलकर काम करने की भावना उत्पन्न की जाय। ये तीन दल—(१) प्रखर बुद्धि (२) सामान्य बुद्धि और (३) मन्द बुद्धि वालों के होंगे। नई बात तो पूरी कक्षा के सम्मुख बताई जाय और फिर वे ३ दलों में बँटकर अलग-अलग उसका प्रयोग और अभ्यास करें। अध्यापक निरीक्षण करता रहेगा। कार्य-समाप्ति के बाद पूरी कक्षा फिर एक साथ होगी। अध्यापक यह भी देखेगा कि यदि मन्द बुद्धि वाले बालकों की टोली में कोई छात्र अधिक योग्य है तो उसे सामान्य बुद्धि वाले छात्रों की टोली में कर लेगा। इस प्रकार कार्य-क्षमता एवं अर्जित योग्यता के आधार पर बालक की प्रगति होती चलेगी। इससे मन्द बुद्धि के छात्रों में भी स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा की भावना जगती है और वे आगे बढ़ने के लिए परिश्रम करते हैं। प्रश्न-पत्र पूरी कक्षा को दृष्टि में रखकर तैयार किया जाता है। ५० प्रतिशत प्रश्न सभी के लिए, २५ प्रतिशत प्रश्न तीव्र बुद्धि वालों की दृष्टि से और २५ प्रतिशत मन्द बुद्धि वालों की दृष्टि से होते हैं। कार्य देते समय भी तीनों टोलियों के बौद्धिक स्तर को ध्यान में रखते हैं; जैसे मन्द बुद्धि वालों को ४ सरल और १ कठिन प्रश्न, सामान्य के लिए ३ सरल और २ कठिन तथा प्रखर बुद्धि वालों को अधिकतर कठिन और कम सरल प्रश्न देते हैं।

इस प्रणाली में बालक की वैयक्तिक विशेषता का भी ध्यान रहता है और बालक को समूह में कार्य करने से सामूहिक शिक्षा का भी लाभ मिलता है।

४—निरीक्षित स्वाध्याय विधि—वैयक्तिक तथा सामूहिक शिक्षा के समन्वय की दृष्टि से अमेरिकन शिक्षा शास्त्री हाल क्वेस्ट महोदय ने एक सुझाव प्रस्तुत किया है जिसे निरीक्षित स्वाध्याय विधि कहा जाता है। उनके अनुसार प्रत्येक घंटा ६० या ६० मिनट का रखना चाहिए और उसे ३ भागों में विभक्त करके निम्नांकित रूप से शिक्षण कार्य होना चाहिए—

१/३ पीरियड बालक के पूर्व ज्ञान की जाँच, पिछले पाठ की पुनरावृत्ति तथा अगले पाठ की प्रस्तावना आदि।

१/३ पीरियड बालकों की व्यक्तिगत योग्यता के अनुसार कुछ समस्याएँ और आवश्यक निर्देश के लिए।

१/३ पीरियड बालकों को व्यक्तिगत रूप से कार्य करने और स्वाध्याय के लिए।

इस प्रकार घंटे के पहले दो भागों में तो बालक एक साथ रहते और पढ़ते हैं तथा तीसरे भाग में व्यक्तिगत कार्य करते हैं और उनको स्वतन्त्र रूप से स्वयं कार्य करने एवं विकास का अवसर मिलता है।

अध्यापक जो कार्य एवं समस्याएँ छात्रों के सम्मुख प्रस्तुत करता है, वह भी तीन प्रकार का होता है—(१) पठन सम्बन्धी, (२) प्रयोगात्मक कार्य, (३) व्याख्यात्मक एवं बौद्धिक कार्य।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस प्रणाली में वैयक्तिक तथा सामूहिक दोनों प्रकार की शिक्षा के लाभ मिल जाते हैं।

५—मेसन पद्धति—वैयक्तिक तथा सामूहिक शिक्षण के समन्वय की दृष्टि से मिस मेसन ने भी एक विधि बताई है। इसके अनुसार बालकों को स्वतन्त्र अध्ययन का अवसर दिया जाता है। एक बार विषय पढ़ा देने के बाद बालकों को मौखिक और लिखित अभिव्यक्ति का अवसर देते हैं जिससे उन्हें अपनी योग्यता एवं शक्ति के प्रयोग का अवसर मिल जाता है।

इस प्रकार के समन्वय की दृष्टि से मैरी पद्धति, बटाविया पद्धति, डेकाली पद्धति आदि भी उल्लेखनीय हैं। इन पर आगे संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचनों एवं कुछ प्रस्तुत सुझावों से स्पष्ट है कि हमें अपनी शिक्षण योजना में बालक के वैयक्तिक एवं सामाजिक विकास का साथ-साथ प्रयत्न करना चाहिए। कुछ ऐसे कार्य एवं प्रयोग कराने चाहिए जिनसे

बालकों को अपनी योग्यता एवं सामर्थ्य को परखने, प्रयोग में लाने, और स्वतन्त्र अभिव्यक्ति का अवसर मिले और साथ ही सामूहिक गुणों की भी अभिवृद्धि हो। अतिरिक्त एवं सह पाठ्यक्रम कार्यों से इस दिशा में विशेष सहायता मिलती है। खेल-कूद, नाटक, वाद-विवाद, सामुदायिक कार्य और विविध सांस्कृतिक समारोह आदि के समावेश से ये गुण विकसित होते हैं।

कार्य एवं उद्योग द्वारा शिक्षा प्रदान करने से बालक के वैयक्तिक एवं सामूहिक विकास का अवसर अपने आप सुलभ हो जाता है।

सारांश

आधुनिक मनोविज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि मानसिक योग्यता, क्षमता, रुचि में प्रत्येक व्यक्ति दूसरे से भिन्न हैं। प्रत्येक व्यक्ति में कुछ अपनी विशिष्टताएँ होती हैं। अतः वैयक्तिक शिक्षण पर अब विशेष जोर दिया जा रहा है।

शिक्षा के दो प्रमुख उद्देश्यों के विवाद के कारण भी सामूहिक एवं वैयक्तिक शिक्षण का विवाद है। जो लोग सामाजिक गुणों की वृद्धि को प्रमुख मानते हैं वे सामूहिक शिक्षण के पक्षपाती हैं पर जो वैयक्तिक विशेषताओं के उत्कर्ष पर बल देते हैं वे वैयक्तिक शिक्षण के समर्थक हैं। पर दोनों में ही कुछ गुण दोष हैं।

सामूहिक शिक्षण के गुण—आर्थिक उपयोगिता, समय एवं श्रम की बचत, रागात्मक पाठों में विशेष लाभ, सामाजिक गुणों की वृद्धि, स्पर्द्धा, स्वयं संशोधन, मन्दबुद्धि के छात्रों के लिए उपयोगी, शिक्षण का मूल्यांकन, शिक्षक के लिए स्फूर्ति एवं आनन्दप्रद।

सामूहिक शिक्षण के अवगुण—बालकेन्द्रित शिक्षा का अभाव, वैयक्तिक विभिन्नता की उपेक्षा, मन्दबुद्धि एवं प्रतिभाशाली दोनों की क्षति, छात्रों में पलायन की प्रवृत्ति, छात्रों में निष्क्रियता, कक्षा में अनुशासन की समस्या, समय सारिणी का अनुचित बन्धन, अनुपस्थित छात्रों का पिछड़ जाना, स्वतन्त्र विकास में बाधा, छात्रों से शिक्षक के सम्पर्क का अभाव।

वैयक्तिक शिक्षण के गुण—बालकेन्द्रित शिक्षा, स्वयं शिक्षा तथा स्वाध्याय का अवसर, स्वतन्त्र भाव-प्रकाशन, आत्म-प्रयत्न, प्रत्येक बालक से शिक्षक का सम्पर्क, वैयक्तिक कठिनाइयों एवं समस्याओं का समाधान, प्रगति का ठीक मापन, अनुचित समय सारिणी के बन्धन से मुक्त।

वैयक्तिक शिक्षण के दोष—अत्यधिक व्ययसाध्य, शिक्षकों एवं शिक्षण

सामग्री का अभाव, समय एवं श्रम का अपव्यय, सामाजिक गुणों का ह्रास, अहंकार एवं स्वार्थ की प्रवृत्ति, अध्ययन एक भार सा प्रतीत होना।

वैयक्तिक एवं सामूहिक शिक्षण का समन्वय—कक्षा की संख्या कम हो, टोलियों में विभाजित कर विविध कार्य एवं प्रयोग कराये जायँ, मन्द, प्रखर एवं सामान्य छात्रों की टोली बनाई जाय, शिक्षक का बालकों से व्यक्तिगत सम्पर्क रहे, प्रत्येक बालक के कार्य एवं प्रगति की जाँच होती रहे। इस दृष्टि से अनेक प्रणालियों का विकास किया गया है जैसे मैकमैन की योजना, कक्षा को ३ दलों प्रखर, सामान्य एवं मन्द बुद्धि वाले दलों में विभाजित कर शिक्षा देना, मेसन पद्धति और निरीक्षित स्वाध्याय विधि। आधुनिक शिक्षण प्रणाली जैसे प्रोजेक्ट, खेल द्वारा शिक्षा, डाल्टन, प्रश्नोत्तर, ह्यूरिस्टिक, सामूहिक विचार-विमर्श आदि में भी बालकों के सामूहिक एव वैयक्तिक शिक्षण का उचित समन्वय मिलता है।

प्रश्न

१—सामूहिक शिक्षण में क्या प्रमुख दोष हैं? इन दोषों के रहते हुए भी उसके प्रचलित बने रहने के क्या कारण हैं?

२—वैयक्तिक शिक्षण के गुण-दोषों की विवेचना कीजिये।

३—सामूहिक एवं वैयक्तिक शिक्षण के समन्वय का आधुनिक शिक्षण विधियों में क्या प्रयत्न किया गया है? सोदाहरण लिखिये।

अध्याय ११

किण्डरगार्टेन प्रणाली

[फ्रोबेल् का जीवन-परिचय शैक्षणिक प्रयोग एवं अनुभव, दार्शनिक सिद्धान्त एवं प्रयोग, शिक्षा के उद्देश्य, किंडर गार्टेन शिक्षण विधि, शिक्षण सामग्री, गुण-दोष]

"The whole later life of man, even to the moment when he shall leave it again, has its source in the period of childhood."

Friedrich W. A. Froebel.

उपर्युक्त कथन से शिशु-शिक्षा का महत्त्व समझा जा सकता है, किन्तु शिशु-शिक्षण की कोई सुव्यवस्थित योजना १९वीं शताब्दी के पूर्व प्रस्तुत नहीं हो सकी थी। इस बात का प्रथम श्रेय फ्रेडरिक विलहम आगस्त फ्रोबेल को है जिसने छोटे बच्चों (२ वर्ष से ६ वर्ष तक) के बच्चों के लिए किंडर गार्टेन प्रणाली का प्रवर्त्तन किया। फ्रोबेल का जन्म १७८२ ई० में जर्मनी के ओबर वेसवाक[1] नामक गाँव में हुआ था। बाल्यावस्था में ही माँ की मृत्यु हो गई थी। पिता ने दूसरा विवाह कर लिया पर विमाता फ्रोबेल को सदा ही मूर्ख एवं उद्दण्ड कहकर उसकी उपेक्षा करती रहती थी। पिता पादरी थे और अपने में इतने व्यस्त थे कि उन्होंने फ्रोबेल की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा की कोई व्यवस्था न की। स्कूल में वह बुद्धू माना जाता था। अतः घर की उपेक्षा, स्कूल के अपमान और पिता के संकीर्ण धार्मिक दृष्टिकोण से संत्रस्त बालक फ्रोबेल जीवन के प्रति विद्रोही बन गया एवं अवज्ञाकारी, झूठा, हठी और निष्कर्मण्य हो गया। आज की मनोवैज्ञानिक शब्दावली में वह एक 'समस्या बालक'[2] था। इस निराशपूर्ण जीवन का परिणाम यह भी हुआ कि वह दिन-रात जंगलों में घूमने लगा। प्रकृति से प्रेम पैदा हो गया और प्रकृति के प्रति उसके मन में एक विचित्र रहस्यात्मक भावना जाग उठी। वह अनुभव करने लगा कि प्रकृति के समस्त पदार्थ एक दूसरे से सम्बद्ध हैं और उन सबमें एक व्यापक अभिन्नता एवं अखण्डता विद्यमान हैं। यह प्रवृत्ति आगे चलकर उसके जीवन-दर्शन का आधार बन गई।

1. Oberweissvach.
2. Problem child.

१० वर्ष की आयु में वह अपने चाचा के साथ स्विट्जरलैण्ड गया और वहीं उसे प्रारम्भिक शिक्षा मिली। वहाँ वह ५ वर्ष रहा। चाचा के यहाँ उसे पहली बार संदेह की जगह विश्वास, निर्ममता की जगह दया और सहानुभूति तथा बंधन की जगह स्वतन्त्रता का वातावरण मिला। वहाँ से घर लौटने पर वह वन रक्षक (फारेस्टर) का कार्य करने लगा पर दो वर्ष से अधिक नहीं टिक सका। यहाँ प्रकृति से उसकी ओर भी आत्मीयता स्थापित हो गई। १८ वर्ष की आयु में उसने जेना विश्वविद्यालय में नाम लिखाया। यह विश्वविद्यालय इस समय साहित्य, दर्शन एवं विज्ञान का केन्द्र था। यहाँ का वातावरण आदर्शवादी दर्शन, रोमांटिक आन्दोलन और प्रगतिवादी विज्ञान से ओत-प्रोत था। इसका प्रभाव फ्रोबेल पर पड़ा। उस समय का महान् दार्शनिक फिश्ते[1] यहाँ शिक्षक था। उसने आत्मचेतना[2] को सर्वोपरि महत्त्व दिया और उसे ही सृष्टि की निर्मापक शक्ति बताया। यह आत्मचेतना निजी वातावरण की सृष्टि करती है और अखिल विश्व में यही यथार्थ वस्तु है। फिश्ते के शिष्य और सहयोग शेलिंग के दर्शन का भी फ्रोबेल पर गहरा प्रभाव पड़ा। शेलिंग आत्म-चेतना का महत्त्व तो स्वीकार करता था पर उसे सृष्टि का निर्माता नहीं मानता था। उसे वह एक आन्तरिक शक्ति मानता था जो प्रकृति को देखती है, समझती है और परखती है। यह चेतना ही प्रकृति के तत्त्वों में एकता स्थापित करती है। फ्रोबेल का 'जीवन की आन्तरिक एकता' शेलिंग के प्रभाव की ही देन है।

फिश्ते और शेलिंग के दर्शन ने एक कल्पनावादी अथवा रोमांटिक आन्दोलन को जन्म दिया जिसका प्रवेश साहित्य, कला, धर्म और शिक्षा के क्षेत्र में भी हुआ। रोमांटिक साहित्यकार गोचर जगत के प्रत्यक्ष सत्य से मुँह मोड़कर अपने एक आदर्श जगत की कल्पना करता था। फलतः उसकी कृतियों में यथार्थ की अभिव्यंजना न होकर उसकी आन्तरिक चेतना की झलक पाई जाती थी। रोमांटिक विचारक अथवा कलाकार अपने भीतर ही उल्लेख्य सामग्री ढूँढ़ता था। जेना विश्वविद्यालय इस रोमांटिक आन्दोलन का केन्द्र था। तत्कालीन राज्य, धर्म एवं सामाजिक व्यवस्था के प्रति असंतोष और पलायनवादी प्रवृत्ति के कारण यह रोमांटिक आन्दोलन बहुत जोर पकड़ गया था। फ्रोबेल पर इस विचारधारा का बहुत प्रभाव पड़ा। यथार्थ जगत से विमुख रहना उसका बचपन से ही स्वभाव बन गया था अतः इस आन्दोलन की पलायनवादी प्रवृत्ति उसके

---

1. Fichte.
2. Individual ego.

मनोनुकूल सिद्ध हुई और उसके दर्शन में रहस्यावद का समावेश हो गया। फ्रोबेल पर तत्कालीन प्रसिद्ध कवि गेटे और शिलर का भी प्रभाव पड़ा। शिलर के नाटकों को देखकर वह बहुत प्रभावित हुआ और आगे चलकर उसने अपनी शिक्षण प्रणाली में अभिनय, खेल, कठपुतली आदि को प्रमुख स्थान दिया।

फ्रोबेल जेना विश्वविद्यालय में भी अधिक समय नहीं रह सका और शिक्षा ग्रहण करना छोड़कर निराशा एवं खिन्नता का जीवन व्यतीत करने लगा। वह किसानी, क्लर्की, जिल्दसाजी आदि कार्यों में भटकता रहा। इस खाली समय में उसने रोमांटिक उपन्यासों को पढ़ा जिससे जेना विश्वविद्यालय में अंकुरित उसकी आदर्शवादी विचारधारा पुनः पल्लवित हो उठी। कुछ समय पश्चात् वह फ्रैंकफर्ट विश्वविद्यालय में वास्तुकला का अध्ययन करने लगा पर यहाँ भी वह प्रसन्न न रहा। यहीं उसकी भेंट महान् शिक्षा शास्त्री पेस्टालाजी के शिष्य तथा पेस्टालाजियन माडल स्कूल के प्रधानाध्यापक आएटेन व्यूनर से हुई। प्रधानाध्यापक के इस कथन ने कि "तुम शिक्षक बनो, वास्तुकला छोड़ो, यह तुम्हारा कार्य नहीं है" फ्रोबेल की जीवन धारा बदल दी। फ्रोबेल को यह बात कभी सूझी भी न थी पर उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि उसकी मनोवांछित वस्तु मिल गई हो। उस माडल स्कूल में वह शिक्षक नियुक्त हो गया। २३ वर्ष की आयु में उसे पढ़ाने का अवसर मिला। वह अति प्रसन्न हो उठा। इस समय वह लिखता है "ऐसी अनुभूति हुई कि मुझे वह चीज हासिल हो गई है जिसके लिए मैं तरसता था। मुझे अपने जीवन का सत्य मिल गया हो। पढ़ाने का काम अनजाना लगा ही नहीं और ऐसा लगा कि मैं बहुत दिनों से पढ़ा रहा हूँ और इसी के लिए पैदा हुआ हूँ। अपने उस अलौकिक आनन्द की अभिव्यक्ति के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं। पढ़ाते समय मैं अपनी वास्तविक सत्ता का अनुभव करता हूँ। पता नहीं चलता कि समय कितनी जल्दी बीत जाता है। बच्चों के लिए मेरे हृदय में अगाध प्रेम है। कक्षा से बाहर आते ही फिर कक्षा में जाने के लिए मैं तड़पने लगता हूँ।" फ्रोबेल प्रथम दिन से ही एक सफल शिक्षक सिद्ध हुआ। वहाँ वह तीन वर्ष तक रहा।

शैक्षणिक अनुभव एवं प्रयोग

फ्रैंकफर्ट में शिक्षक रहते हुए फ्रोबेल ने पेस्टालाजी के शिक्षण-सिद्धान्तों का अध्ययन किया तथा अपने सिद्धान्तों एवं विधियों का प्रयोग भी प्रारम्भ किया। उसने यहीं कागज, लकड़ी, दफ्ती आदि से कुछ शिक्षण सामग्री तैयार की और उनके प्रयोग से यह अनुभव किया कि इन सामग्रियों की सहायता से बालकों की क्रियात्मक एवं रचनात्मक शक्ति के विकास में बहुत

सहायता मिलती है और उनका शैक्षिक विकास अच्छा होता है। शिक्षण संबंधी और जानकारी हासिल करने के लिए वह पेस्टालाजी के स्कूल बरदून[1] गया। वहाँ का शिक्षण देखकर अत्यन्त प्रफुल्लित हो उठा। वह अपनी शिक्षण योजना बनाने में लग गया। यहाँ उसे अनुभव हुआ कि शिक्षण में खेल और संगीत का बहुत महत्त्व है तथा बालक की प्रारम्भिक शिक्षा माँ के द्वारा होनी चाहिए। पर यहाँ भी वह अधिक दिन न रह सका। वह अब तीन छात्रों का ट्यूटर बन बैठा। इन छात्रों के शिक्षण में उसने रूसो की प्रकृतिवादी शिक्षा का सिद्धान्त अपनाया। ये छात्र बड़ी सादगी से रहते थे। शारीरिक श्रम करते थे, तरकारी पैदा करते थे और प्रतिदिन नियमित रूप से पढ़ते भी थे। पर यहाँ से भी वह ऊब गया। उसे ऐसा अनुभव हुआ कि उसके तथा छात्रों के जीवन में किसी आन्तरिक एकता की कमी है और उनका कोई मार्ग-दर्शक सिद्धान्त नहीं है। उसने लिखा है कि "सभी कुछ एकता है, एकता में ही सब का निवास है, एकता से ही सब निसृत है, सब एकता की ओर ही अभिमुख है और एकता में ही सब का लय हो जाता है।" अतः रूसो की प्रकृतिवादी विचारधारा के अनुसार शिक्षा देने का उसका प्रयास विफल हुआ। उसने उन विद्यार्थियों को पढ़ाना छोड़ दिया। अब वह फिर पेस्टालाजी के स्कूल में पहुँचा। इस बार शिशु शिक्षा में उसकी रुचि अधिक हुई। वह अपना ज्ञान बढ़ाने के लिए गाटिंगन विश्वविद्यालय में पढ़ने लगा और धातु विज्ञान का अध्ययन करने लगा। इसके फलस्वरूप उसने अनुभव किया कि सृष्टि के समस्त पदार्थों में अन्तर्भूत एकता है। उसने लिखा है कि "पत्थर और स्फटित मेरे लिए ऐसे दर्पण बन गए जिनमें मैं मानव जाति तथा मानव विकास एवं इतिहास का प्रत्यक्ष दर्शन कर सकूँ।" इस प्रकार एकता के रहस्य पूर्ण नियम को उसने मूर्त्त रूप देने का प्रयत्न किया। पर यह अध्ययन भी छूट गया क्योंकि नैपोलियन के विरुद्ध जर्मन सेना में वह भरती हो गया। वह लिखता है कि कोई भी स्वस्थ सबल व्यक्ति उन बालकों का शिक्षक कैसे बन सकता है यदि वह उनके देश की रक्षा अपने जीवन बलिदान से नहीं कर सकता। सेना में उसने अनुशासन और सामूहिक जीवन के महत्त्व को समझा और आगे चलकर अपनी शिक्षा योजना में इसे उचित स्थान प्रदान किया।

सेना से वापस आकर वह अपने शैक्षणिक कार्यों में लगा। १८१६ ई० में उसने अपने पाँच भतीजों को विद्यार्थी बनाकर कीलहाऊ[2] में एक स्कूल खोला जिसका नाम सार्वभौम जर्मन विद्यालय[3] रखा। शिक्षण में उसने रूसो के 'स्वतंत्र

1. Yverdun.
2. Keilhau.
3. Universal German Institute.

स्वाभाविक विकास' के सिद्धान्त को अपनाया । पेस्टालाजी के स्कूल की ही भाँति सारा वातावरण घरेलू था । प्रकृति निरीक्षण, खेल-कूद, गीत, कहानियाँ, रचनात्मक कार्य आदि शिक्षा के प्रमुख अंग थे । पर उसने पेस्टालाजी से कुछ भिन्नता रखी जैसे १- ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा पर उतना बल नहीं था, २-आन्तरिक अनुभवों की एकता पर विशेष बल था और ३-पाठ्यक्रम अधिक सरल और लचीला था ।

इन अनुभवों के आधार पर उसने 'मनुष्य की शिक्षा'[1] नामक ग्रन्थ लिखा और बताया कि यह सृष्टि क्या है ? मानवजीवन का क्या अर्थ है, शिक्षा के मुख्य उद्देश्य क्या हैं ? जीवन और विद्यालय में उन्हें किस प्रकार अपनाया जा सकता है आदि ।

आर्थिक अभाव से कीलहाऊ का स्कूल भी शीघ्र ही बन्द हो गया । वह स्विटजरलैण्ड जाकर शिक्षण कार्य करने लगा । यहीं बर्गडार्फ के स्कूल में काम करते समय एक अनाथालय के ६ वर्ष से कम आयुवाले बच्चों से उसका संपर्क स्थापित हुआ । उसके मन में शिक्षा की दृष्टि से दो विचार उत्पन्न हुए—

(१) शिशुओं के सम्मुख व्यवस्थित रूप से ऐसी शिक्षण सामग्री प्रस्तुत करनी चाहिए जो उनकी मानसिक योग्यताओं को प्रकाशित कर सके, क्रिया-शक्ति को उत्तेजित और अनुप्राणित कर सके एवं आन्तरिक संगठन तथा एकता का निर्माण कर सके । इसके लिए वह अनेक खिलौनों, खेलों, गीतों तथा शैक्षिक उपकरणों के निर्माण में लग गया । यही उसके मन में खेलोपहारों[2] का विचार पैदा हुआ जिनके द्वारा उसे बहुत ख्याति मिली ।

(२) शिशु शिक्षा के लिए सुयोग्य एवं प्रतिभाशाली माताओं को प्रशिक्षित करना आवश्यक है । इस दृष्टि से उसने मातृ खेल-गीतों[3] की रचना की ।

खेलोपहारों एवं खेल-गीतों के विचार लेकर फ्रोबेल जर्मनी लौट आया और उसने इसे ७ वर्ष तक के बच्चों के लिए कीलहाऊ के पास ही अत्यंत रमणीक स्थान ब्लैंकेन वर्ग में एक शिशु विद्यालय खोला । इस समय फ्रोबेल की आयु ५५ वर्ष थी पर अदम्य साहस एवं उत्साह से वह शिक्षण कार्य में जुट गया । इस विद्यालय का नाम उसने किंडर गार्टेन अर्थात् 'बालोद्यान' रखा ।

1. Education of man.
2. Play-gifts.
3. Mother's play-songs.

इसकी ख्याति शीघ्र ही बहुत दूर-दूर तक फैल गई और बहुत से शिक्षक एवं शिक्षा विचारक उसे देखने आने लगे। फ्रोबेल ने किंडर गार्टेन शिक्षण सामग्री तैयार की, खेल-गीत लिखे और उन्हें सचित्र मुद्रित कराया। वह सारे जर्मनी में अपने शिक्षण सिद्धान्तों एवं प्रयोगों के प्रचार में लगा रहा। जर्मनी में अनेक किंडर गार्टेन स्कूलों की स्थापना भी हुई पर १८५१ में जर्मन सरकार ने उसके विचारों में क्रान्ति की आशंका करके सारे किंडर गार्टेन स्कूलों को जब्त कर लिया। इसका उसे बहुत धक्का लगा और शीघ्र ही १८५२ में उसकी मृत्यु हो गई। पर आगे चलकर किंडर गार्टेन स्कूलों का बहुत प्रचार हुआ और शिशु शिक्षण प्रणाली की दृष्टि से उसे महत्त्वपूर्ण मान्यता प्राप्त हुई।

फ्रोबेल के दार्शनिक सिद्धांत तथा शिक्षा में उनका प्रयोग

फ्रोबेल अध्यात्मवादी दर्शन में विश्वास रखता था। वह आदर्शवादी विचारक था। उसके अध्यात्म दर्शन में रहस्यवाद के भी तत्त्व पाए जाते हैं। जिन दार्शनिक सिद्धान्तों पर उसने अपनी शिक्षण योजना (किंडर गार्टेन प्रणाली) का विकास किया, वे निम्नलिखित हैं—

१—एकता का सिद्धान्त[1]
२—विकास का सिद्धान्त[2]
३—स्वयं क्रिया का सिद्धान्त[3]
४—स्वतन्त्र एवं स्वाभाविक विकास का सिद्धान्त[4]
५—सामाजिक संस्थाओं द्वारा व्यक्तित्व का विकास[5]

एकता का सिद्धांत—फ्रोबेल का मत था कि 'समस्त वस्तुओं की एकता ईश्वर में है।'[6] सृष्टि के समस्त पदार्थों में एक शाश्वत नियम विद्यमान है और वही शासनकर्त्ता है। यह सर्वशासक नियम निश्चित ही किसी सर्वव्यापक, स्फूर्तिमान, सजीव, चेतन तथा सार्वभौम अभिन्नता या एकता पर अवलंबित है। यह एकता ही ईश्वर है।[7] सब पदार्थ उसी विराट दैवी एकता अथवा

---

1. Theory of unity.
2. Theory of development.
3. Self activity.
4. Free and spontaneous development.
5. Development through social institutions.
6. Unity of all things in God.
7. In all things there lives and reigns an eternal law......This all controlling law is necessarily based on an all pervading energetic living, self conscious and hence eternal unity. This unity is God.

ईश्वर से प्रादुर्भूत हैं, उसी में उनका मूल निवास है और सब उसी के द्वारा जीवित रहते हैं। प्रत्येक पदार्थ में दैवी स्फुरण होता है वह उसी एकता का चेतन तत्त्व है।

वस्तुओं की भिन्नता सत्य नहीं है, ढूँढ़ने पर उनमें संबन्ध अवश्य मिलता है। इस प्रकार प्रकृति तथा मनुष्य एक हैं, सभी वस्तुएँ एक हैं। ये वस्तुएँ उस एकता (ईश्वर) के ही विभिन्न रूप हैं। अतः एकता में ही विभिन्नता है और विभिन्नता में एकता है।[1] एकता की प्रकृति त्रयी है—

क—तात्त्विक एकता[2] अर्थात् मानव एवं प्रकृति एक ही तत्त्व अथवा चेतना से निर्मित हैं।

ख—उद्गम की एकता[3] अर्थात् सभी पदार्थ एक ही स्रोत (एकता या ईश्वर) से उद्भूत हैं।

ग—लक्ष्य की एकता[4] अर्थात् सभी पदार्थ एक ही दैवी पूर्णता की ओर उन्मुख होते हैं।

फ्रोबेल बार-बार एकता की अनुभूति पर बल देता है। शिक्षा द्वारा वह प्रत्येक जड़-चेतन पदार्थ में एकता का दर्शन कराना चाहता है। इस दृष्टि से वह दार्शनिक लीब्निज का अनुयायी है जो इस बात को मानता था कि पदार्थ[5] मूलतः चेतन है। प्रत्येक परमाणु में जीवन, मन और ऊर्जा है। पाषाणों एवं बहते हुए झरनों में अद्भुत ज्ञान की सामग्री है।

इस 'एकता के सिद्धान्त' के आधार पर फ्रोबेल ने विद्यालयों में विभिन्न विषयों की असम्बद्ध शिक्षा की कड़ी की आलोचना की और कहा कि विद्यालय का काम यह नहीं है कि अनेक पृथक्-पृथक् विषयों का ज्ञान बालकों को करा दिया जाय, बल्कि मुख्य काम यह है कि समस्त वस्तुओं एवं विषयों में निहित शाश्वत एकता की अनुभूति बालकों को कराई जाय। फ्रोबेल 'विभिन्नता'[6] के अस्तित्व की उपेक्षा नहीं करता पर इस बात पर बल देता है कि इन विभिन्नताओं में वह सारभूत एकता उसी प्रकार व्यञ्जित होती है जिस प्रकार कलाकार का व्यक्तित्व उसकी कला-कृतियों में झलकता है।

---

1. Diversity in unity and unity in diversity.
2. Unity of substance.
3. Unity of origin.
4. Unity of purpose.
5. Matter.
6. Diversity.

फ्रोबेल के अनुसार ईश्वर निश्चय ही 'चित'[1] शक्ति है और वह सृष्टि के विभिन्न पदार्थों में अपने को अभिव्यक्त करता है। वह केवल विचार[2] मात्र नहीं है और न ऐसा विचारक ही जो अपने को सृष्टि से पृथक् रख सके। वह सतत सक्रिय चित् शक्ति है। उसका प्रत्येक विचार कार्य एवं उत्पत्ति है। यह विश्व उसके इस शाश्वत रचनात्मक कार्य का परिणाम है।[3]

प्रकृति (बाह्य) तथा मानव चेतना (अन्तः) भिन्न होते हुए भी उसी एकता (ईश्वर) के व्यक्त रूप हैं। हमें इन दोनों (प्रकृति के विभिन्न पदार्थ और चेतना) में ईश्वर को जानना चाहिए। ईश्वर अपनी सार्वभौमिकता को वस्तुओं की विभिन्नता और मानव व्यक्तित्व के द्वारा पूर्ण करता है। शिक्षा द्वारा इस दैवी एकता के नियम को समझना अत्यन्त आवश्यक है। मनुष्य की प्रकृति इस दैवी एकता का ही व्यक्त रूप है। मनुष्य भी अन्य प्राणियों की भाँति अपूर्ण पैदा होता है पर उसमें जन्मजात ऐसी क्रियाशीलता विद्यमान रहती है जो उसे पूर्णता की ओर अग्रसर करती है और विकास द्वारा मनुष्य अपना उचित रूप प्राप्त करता है। विकास का नियम मनुष्य में भी उसी प्रकार कार्य करता है जिस प्रकार अन्य सामान्य प्राणियों में। पर मुख्य अन्तर यह है कि अन्य प्राणी जहाँ निष्क्रिय रूप से विकास के नियम द्वारा शासित होते हैं और उनमें निष्चेष्ट परिवर्तन होता है, वहाँ मनुष्य में सचेत रूप से विकास करने की क्षमता रहती है मनुष्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि विवेकशील प्राणी है और आत्मनिहित दैवी शक्ति के प्रति सचेत। यहीं पर शिक्षा की आवश्यकता पड़ती है। शिक्षा द्वारा बालक को अपनी इस दैवी शक्ति के पहचानने की क्षमता प्रबुद्ध करनी चाहिए।

विकास का सिद्धान्त—फ्रोबेल का दूसरा प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त है, 'विकास का सिद्धान्त।' विकास की प्रक्रिया में दो नियम पाये जाते हैं—'विपरीत तत्त्वों का नियम'[4] और 'सम्बन्ध का नियम।'[5]

विपरीत तत्त्वों के नियमानुसार संसार की प्रत्येक वस्तु के विपरीत वस्तु होती है जैसे प्रकाश-अन्धकार, सत्-असत्, जड़-चेतन। इस आधार पर बाह्य

1. Spirit.
2. Idea.
3. Each thought of his is a work, a deed, a product. The world is the result of this eternal creative activity.
4. Law of opposites.
5. Law of connection.

(प्रकृति)[1] एवं आन्तरिक (चेतना या आत्मा)[2] एक दूसरे के विपरीत है। इन दोनों के घात-प्रतिघात से विकास की क्रिया सम्पन्न होती है। बालक के विकास में भी यह नियम काम करता है। बालक की अन्तः प्रकृति और उसका बाह्य वातावरण परस्पर विपरीत तत्त्व हैं। बालक की अन्तः प्रकृति का प्रभाव बाह्य वातावरण पर पड़ता है तथा वातावरण का प्रभाव उसकी आन्तरिक शक्तियों पर पड़ता है और इनके परस्पर प्रभाव एवं प्रतिघात से विकास होता है।

इस प्रक्रिया से फ्रोबेल यह निष्कर्ष निकालता है कि ये दोनों (अन्तः एवं बाह्य) विपरीत तत्त्व रहते हुए भी परस्पर सम्बन्धित हैं क्योंकि वे एक दूसरे को प्रभावित करते हैं और उन दोनों के घात-प्रतिघात से ही विकास सम्भव होता है। यदि ये तत्त्व अलग-अलग पड़े रहते तो विकास सम्भव नहीं हो पाता। अतः इनमें भी एक सम्बन्ध है। फ्रोबेल इस प्रक्रिया को ही 'सम्बन्ध का नियम' कहता है जो दो विरोधी तत्त्वों को मिलाकर विकास का मार्ग प्रशस्त करती है।[3] इस नियम से बालक बाह्य को अन्तःकरण से और अन्तःकरण को बाह्य प्रकृति से मिलाता है और अपना विकास करता है।

'विकास के नियम' के आधार पर फ्राबेल ने बालक के उचित विकास के लिए अपनी शिक्षण योजना प्रस्तुत की है। उसका कथन है कि शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाने पर बालक का स्वाभाविक कार्य यह होता है कि वह अपने वातावरण का निरीक्षण करता है और बाह्य जगत की ओर आकर्षित होता है और फिर वह खेलता है क्योंकि इसके द्वारा उसकी अन्तः शक्तियों का प्रकाशन और दैवी एकता का स्फुरण होता है।

विकास के इस सिद्धान्त पर फ्राबेल ने किंडर गार्टेन प्रणाली में अनेक उपकरणों का भी प्रवर्त्तन किया। उदाहरणतः द्वितीय उपहार (गिफ्ट) में वह बालकों को पहले गोला[4] और घन (क्यूब) दिखाता है। ये दोनों विपरीत वस्तुएँ हैं। गोला एक पार्श्वीय[5] तो घन अनेक पार्श्वीय[6] है। गोला का धरातल

1. External (Nature).
2. Internal (spirit).
3. "Growth in other words, is a process of overcoming differences by finding a connection between things at first opposed. The complement of the law of opposites, therefore, is the law of connection."
4. Sphere.
5. One sided.
6. Many sided.

घुमावदार[1] है तो घन का सीधा। गोला अस्थिर[2] है तो घन स्थिर।[3] इन दो विपरीत वस्तुओं के दिखाने के बाद बालक के सामने बेलन (सिलिण्डर) रखा जाता है जिसमें गोला और घन दोनों की विशेषताएँ मिल जाती हैं। बेलन एक पार्श्वीय भी है और बहुपार्श्वीय भी, उसका धरातल घुमावदार भी है और सीधा भी, वह अस्थिर भी है और स्थिर भी। अतः गोला और घन दोनों की एकता हम बेलन में पाते हैं। इस प्रकार 'विपरीत तत्त्वों का नियम' और 'सम्बन्ध का नियम' दोनों के द्वारा विकास की क्रिया संपन्न होती है। शिक्षक भी बालक के अन्तःकरण एवं बाह्य वातावरण इन दो विपरीत तत्त्वों से बालक की शिक्षा प्रारम्भ करता है और दोनों में एकता स्थापित करने का प्रयत्न करता है।[4]

स्वयं क्रिया एवं स्वयं विकास का सिद्धांत—विकास के सिद्धान्त का एक अभिन्न पक्ष यह भी है कि मनुष्य में स्वयं कार्य करने की एक जन्मजात प्रवृत्ति है जिसके द्वारा वह स्वयं विकास करता है। स्वयं सक्रिय होकर मनोयोग पूर्वक कार्य करना ही स्वयं क्रिया का अर्थ है। बालक जो कुछ सीखता है उसमें इस क्रिया का महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु का विकास उसमें स्वयं निहित है। विकास बाहर से नहीं थोपा जा सकता। वस्तु का विकास उसका एक आन्तरिक नियम है, उसमें स्वतः विकास की शक्ति छिपी हुई है। फ्रोबेल प्रसिद्ध विचारक लीब्निज के इस बात का अनुयायी था कि बीज में वृक्ष का और बालक में मनुष्य का सम्पूर्ण रूप निहित है, भले ही वह प्रत्यक्ष रूप से दिखाई न पड़ता हो। इसीलिए वह बालक को पौधा, पाठशाला को बगीचा और शिक्षक को माली के सदृश मानता है। जिस प्रकार पौधे का विकास आन्तरिक नियमानुसार होता है, माली केवल खाद, पानी और उपयुक्त वातावरण तैयार करता है उसी प्रकार शिक्षक का कार्य बालक की क्रियाशीलता को ध्यान में रखकर शिक्षा के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करना है। फ्रोबेल इस स्वयं क्रिया को शिक्षा का आधार माना और बल दिया कि बालक को अपनी प्राकृतिक प्रवृत्तियों एवं प्रेरणाओं के अनुसार स्वतः विकास के लिए प्रोत्साहित और उत्प्रेरित करना चाहिए। शिक्षा बालक

1. Curved.
2. Moving.
3. Stationary.
4. "The educator begins with the contrast of inner and outer and has to see that they come ultimately into the unity."

के अन्तःकरण से स्फुरित होने वाली विकास की प्रक्रिया है,[1] बाहर से थोपी जाने वाली वस्तु नहीं।

फ्रोबेल का कहना था कि स्वयं क्रिया वह क्रिया है जो अपनी रुचि द्वारा निर्दिष्ट हो, अपनी शक्ति द्वारा संचालित हो और बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के स्वतन्त्र वातावरण में सम्पन्न हो। वास्तविक विकास इस स्वयं क्रिया द्वारा ही सम्भव है। स्वयं क्रिया ऐसी प्रकृति प्रदत्त शक्ति है जो मनुष्य को सतत कार्य करने के लिए उकसाती रहती है। इसके द्वारा बालक अपनी प्रकृति को प्रकाशित करता है, उसकी अनुभूति करता है और अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। स्वयं क्रिया द्वारा स्वयं विकास का अवसर प्रदान करना ही सच्ची शिक्षा है।

स्वतंत्र एवं स्वाभाविक विकास—स्वयं क्रिया के सिद्धान्त में स्वतन्त्रता एवं स्वाभाविक विकास का सिद्धान्त अपने आप आ जाता है, केवल समझने की सुविधा के लिए अलग उल्लेख किया जा रहा है। बालक की आत्म प्रवृत्तियों की स्वाभाविक विकास के लिए स्वतन्त्र वातावरण की आवश्यकता होती है जिससे बालक की क्रियाशीलता में कोई बाधा न पड़े। इस स्वतन्त्र स्वाभाविक विकास में कोई बाह्य हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। बालक की स्वयं क्रिया को स्फुरित करते हुए स्वतः विकास के लिए प्रेरित करते रहना ही शिक्षक का कार्य है। शिक्षक एक सहायक एवं पथ प्रदर्शक मात्र है; शक्ति, ज्ञान अथवा जीवन-दाता नहीं है, वह प्रक्रित का अनुसारी है।[2] बालक के नैतिक, बौद्धिक एवं व्यावहारिक शक्तियों का विकास अन्तःकरण से होना चाहिए, बाह्य कृत्रिम साधनों से नहीं।

सामाजिक संस्थाओं द्वारा व्यक्तित्व का विकास—फ्रोबेल ने मनुष्य के सामाजिक पक्ष को बहुत महत्त्व प्रदान किया है। वह बालक के व्यक्तित्व के विकास के लिए सामाजिक जीवन एवं सामाजिक कार्यों को आवश्यक मानता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। बाल्यावस्था में भी सामाजिक भावना बड़ी प्रबल होती है। समूह में ही उनको अन्तःशक्तियों का प्रकाशन और प्रस्फुटन होता है। सामाजिक सम्पर्क में आकर और सामाजिक संस्थाओं का सक्रिय सदस्य होकर ही बालक बहुत कुछ सीखता है। अतः बालक की शिक्षा में सामाजिक कार्यों का बहुत बड़ा हाथ है। फ्रोबेल का कहना है कि बालक मानव समाज का

---

2. "Education is a process of evolution determined from within."
3. It is not the educator who puts new powers and faculties into man and imports to him breath and life. He only takes care that no untoward influence shall disturb nature's march of development.

सदस्य है और उस रूप में उसका विकास होना चाहिए।[1] इस सामाजिकता की वृद्धि के लिए उसने अपनी शिक्षण प्रणाली में सामूहिक खेलों की व्यवस्था की तथा सामूहिक गीत, अभिनय आदि पर बल दिया है। इन कार्यों द्वारा वह बच्चों में परस्पर सहयोग, सहानुभूति, प्रेम एवं त्याग की भावना पैदा कर उन्हें योग्य सामाजिक सदस्य बनाना चाहता था।

फ्रोबेल का मत था कि व्यक्तित्व का विकास समाजीकरण द्वारा ही सम्भव है। विद्यालय एक लघु समाज है और इसके माध्यम से सामाजिक गुण उत्पन्न होने चाहिए। अन्य सामाजिक संस्थाओं में वह घर, चर्च और राज्य को स्थान देता है। फ्रोबेल का 'बालोद्यान' (किंडर गार्टेन) बालकों का एक ऐसा संसार था जिसमें सभी अपने अधिकार एवं कर्त्तव्य के प्रति जागरूक रहते थे।

फ्रोबेल द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त सिद्धान्तों को हमें एक-दूसरे से पृथक् नहीं समझना चाहिए। वे परस्पर अभिन्न और एक दूसरे के पूरक हैं। व्यक्ति में निहित 'दैवी एकता' या 'ईश्वरीय सत्ता' का बोध शिक्षा का उद्देश्य है पर इसकी प्राप्ति बिना 'विकास' सम्भव नहीं है अतः 'विकास का सिद्धान्त' साथ में जुड़ा हुआ है। विकास स्वयं क्रिया, स्वतन्त्र वातावरण पर आधारित है और खेल तथा क्रिया ही उसके सर्वोत्तम साधन हैं। सामाजिकता द्वारा ही उचित विकास सम्भव है। इस प्रकार उपर्युक्त सभी सिद्धान्त अलग-अलग न होकर एक ही महत् सिद्धान्त के आवश्यक एव अभिन्न पक्ष हैं और हमें उसी रूप में उन्हें समझना चाहिए।

फ्रोबेल के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य

फ्रोबेल के दार्शनिक विचारों के आधारों पर उसके द्वारा प्रतिपादित शिक्षा के उद्देश्यों को समझा जा सकता है। बालक को अपनी अन्तर्निहित 'दैवी एकता'[2] अथवा आध्यात्मिक शक्ति का बोध कराना ही शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है। दूसरे शब्दों में वह कहता है कि शिक्षा का उद्देश्य है—बालक को प्रकृति एवं ईश्वर के साथ अपनी अनन्यता एवं एकता की अनुभूति कराना जिससे वह उस शाश्वत नियम अथवा ईश्वरीय विधान को पहचान सके जो प्रकृति के प्रत्येक कण में विद्यमान है और जिसके द्वारा अखिल सृष्टि का संचालन एवं नियमन होता है।

शिक्षा का उद्देश्य बालक की अन्तः शक्तियों का स्वतन्त्र एवं स्वाभाविक

1. "He must grow into the ways of humanity of which he is a member."
2. Divine unity.'

विकास करना है जिससे उसके व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास हो सके। फ्रोबेल मानता था कि बालक को भविष्य में जो कुछ होना है, वह उसमें बीज रूप में विद्यमान है और उसका स्वाभाविक विकास उसकी स्वयं क्रिया पर निर्भर है अतः इस नियम के आधार पर शिक्षा द्वारा बालक के स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास का प्रयत्न होना चाहिए।[1]

शिक्षा का उद्देश्य यह है कि बालक 'एकता' के ज्ञान द्वारा स्वयं को तथा वातावरण को समझ सके और वातावरण तथा विश्व के साथ सतत प्रगतिशील सामंजस्य स्थापित कर सके। तभी वह अपने सच्चे स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सकता है।[2]

किंडर गार्टेन प्रणाली; शिक्षण विधि

फ्रोबेल ने अपने दार्शनिक विचारों के आधार पर किंडर गार्टेन प्रणाली का प्रवर्त्तन किया। यह प्रणाली ३ वर्ष से ७ वर्ष तक के बच्चों की शिक्षा के लिए है और इस क्षेत्र में फ्रोबेल को अपूर्व सफलता मिली है।

फ्रोबेल व्यक्ति के विकास के लिए शैशवावस्था को शिक्षा को बहुत ही आवश्यक और महत्त्वपूर्ण समझता था क्योंकि शैशवावस्था ही व्यक्ति के सम्पूर्ण भावी जीवन का मूल है और यदि उस मूल का विकास उचित प्रकार से नहीं किया गया तो व्यक्तित्व का विकास सम्भव ही नहीं होगा। अतः शैशवावस्था की शिक्षा पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। यदि इस अवस्था में बालक को स्वयं विकास की सही दिशा पर चलना मालूम हो गया तो आगे की अवस्था अपने आप ठीक प्रकार से विकास के मार्ग पर चलती जायगी। इसी अवस्था में उसकी प्रवृत्तियों एवं विकास की स्वाभाविक आकांक्षाओं को सही दिशा पर लगा देना है। यदि बालक में इस समय सही आदतें बन गईं तो वह जीवन भर शुद्धता के मार्ग पर बढ़ता जायगा।

शैशवावस्था की इस महत्ता का ध्यान रखते हुए फ्रोबेल ने अपनी शिक्षण-योजना में निम्नांकित विधियों पर बल दिया—

१—**स्वयं क्रिया द्वारा शिक्षा**—यह लिखा जा चुका है कि फ्रोबेल बालक की 'स्वयं की क्रिया' की शक्ति को उसकी शिक्षा का आधार मानता है। इस दृष्टि

---

1. "Education must provide for the development of the free personality of every child, it must guide but not restrict, it must not interfere with the divinity of each child."

2. "Education is the constant progressive adjustment of the individual to the world around him by which he discovers his trueself."

से उसका मत प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री हरबार्ट से भिन्न था। हरबार्ट ने शिक्षक के कार्य को विशेष महत्त्व दिया था पर फ्रोबेल ने बालक की आत्मक्रिया को प्रमुखता प्रदान की। फ्रोबेल का मत था कि बालक ही शिक्षा सिद्धान्तों का पूर्ण आधार है और शिक्षक तो बालक के अनुसार चलता है। बालक अपनी सृजनात्मक क्रियाओं के माध्यम से शिक्षा ग्रहण करते हुए स्वयं विकास करता है। बालक ही शिक्षा का केन्द्र है। शिक्षक का कार्य शिक्षा थोपना नहीं है बल्कि बालक को विकास के मार्ग पर छोड़ देना है। बालक की नैतिक, बौद्धिक एवं व्यावहारिक शक्तियाँ भीतर से, अन्तःकरण से पोषित और पल्लवित होनी चाहिए, बाहर से नहीं। उदाहरणतः बालक में यदि विश्वास की भावना उत्पन्न करनी है तो हमें अपने विश्वासपूर्ण कार्यों द्वारा उत्पन्न करना चाहिए न कि 'विश्वास' के सम्बन्ध में प्रवचन और उपदेश देकर। प्रेम की भावना अपने प्रेमपूर्ण व्यवहारों से उत्पन्न करनी चाहिए न कि प्रेम के सम्बन्ध में सुललित शब्दावली द्वारा। विचार शक्ति उत्पन्न करनी है तो स्वयं विचार-क्रिया द्वारा, ज्ञान प्रदान करना है तो स्वयं अनुसन्धान द्वारा न कि विज्ञान के सम्बन्ध में ऊँची-ऊँची बातें करके।

शिक्षा का प्रयोजन व्यक्ति के अन्तःकरण से अधिकाधिक प्रकाश में लाना है न कि उसके भीतर अधिकाधिक ठूँसना।[1] अतः बालक को स्वयं क्रिया द्वारा अपनी अन्तः शक्तियों को प्रकाशित करने का अवसर प्रदान करना चाहिए। बालक को स्वतन्त्र छोड़ देने पर उसकी स्वयं क्रिया उसके विचारों एवं कार्यों के माध्यम से अपने आप अभिव्यक्त होती है और इसके द्वारा वह व्यक्तित्व का विकास करता है।

स्वयं क्रिया द्वारा बालक वातावरण को समझता है, उसे अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न करता है और उसके साथ सामंजस्य स्थापित करता है। 'स्वयं क्रिया' सिद्धान्त का व्यावहारिक रूप 'करके सीखना है।'[2] इसी के द्वारा स्थायी एवं सच्ची शिक्षा बालक को प्राप्त होती है अतः यही सर्वोत्तम शिक्षण विधि है।

खेल द्वारा शिक्षा—फ्रोबेल का मत था कि स्वतन्त्र स्वयं क्रिया का सर्वोत्तम माध्यम खेल है। अतः शिशुओं की शिक्षा खेल द्वारा होनी चाहिए। शिक्षा में खेल को पहली बार इतना अधिक महत्त्व देने का श्रेय फ्रोबेल को ही है। उसका कथन है कि 'स्वयं-क्रिया' मस्तिष्क का प्रमुख स्वाभाविक गुण है जो खेल के रूप में प्रकट होता है। खेल बालक की रचनात्मक क्रिया और

1. "The purpose of education is to bring ever more and more out of him rather than to put more and more into him."
2. Learning by doing.

स्वतन्त्रता का ही द्योतक है और इसके माध्यम से उसका सहज विकास होता है। खेल द्वारा बालक की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ प्रकाशित होती हैं और इसके द्वारा बालक अपने आंतरिक भावों की एकता वातावरण से स्थापित करता है तथा स्वेच्छा से अनायास ही ज्ञान अर्जित करता है। फ्रोबेल के अनुसार "शैशवावस्था में खेल मनुष्य की पवित्रतम आध्यात्मिक क्रिया है। इससे आनन्द, स्वतन्त्रता, आंतरिक और बाह्य सुख एवं शान्ति प्राप्त होती है। खेल समस्त सद्गुणों का मूल है।" बाल्यावस्था का खेल उसके भावी जीवन का अंकुर है। यदि इस अवस्था में आघात पहुँचता है तो कभी भी उचित विकास सम्भव नहीं। खेल द्वारा बालक के व्यक्तित्व का उचित निर्माण होना चाहिए। खेल से आत्म-त्याग एवं परोपकार की भावना विकसित होती है और बालक आगे चलकर एक सुयोग्य नागरिक बनता है।

खेल की इन विशेषताओं के आधार पर फ्रोबेल ने अपनी शिक्षण विधि में अनेक शैक्षिक खेलों का आयोजन किया। खेलों के माध्यम से ही बालक प्रारम्भिक पढ़ना, लिखना, गणित, ड्राइंग आदि की शिक्षा इस प्रणाली में दी जाती है। इसके लिए फ्रोबेल ने अनेक शिक्षोपकरण भी तैयार किए।

शिक्षा में खेल को इतना महत्व देने का यह तात्पर्य नहीं है कि अव्यवस्थित एवं मनमाने ढंग से खेल खेलें जायँ। फ्रोबेल खेल को बालक की रचनात्मक प्रवृत्ति मानता है अतः रचनात्मक दृष्टि से उपयुक्त खेलों को अपनाना ही इस प्रणाली का गुण है। खेल के प्रयोग में निम्नांकित बातों की ओर ध्यान देना आवश्यक है :—

१—खेल द्वारा बालकों को अपने प्रवृत्तियों के समझने में सहायता प्राप्त होनी चाहिए।

२—खेल में उन बातों को प्रोत्साहित करना चाहिए जो बालक के नैतिक गुणों—सच्चाई, सहयोग, न्याय, आत्म नियन्त्रण, निष्ठा, स्वतन्त्रता, परोपकार, सहिष्णुता आदि के विकास में सहायक हों।

३—खेल में उन बातों को निरुत्साहित किया जाय तो अनुचित एवं हानिकारक हैं।

४—सामूहिक खेलों पर विशेष बल दिया जाय। इस दृष्टि से नृत्य, संगीत और अभिनय भी खेल में आ जाते हैं।

५—खेल ऐसे हों जो मनोरंजन के साथ-साथ बालकों की रचनात्मक

शक्ति को विकसित करें। बालकों की कल्पना शक्ति तथा बौद्धिक और चारित्रिक विकास भी अवश्य हो।

३—उपयुक्त वातावरण की सृष्टि—बालक के स्वतन्त्र एवं स्वाभाविक विकास के लिए विद्यालय में उपयुक्त वातावरण का होना आवश्यक है। विद्यालय का वातावरण आनन्दपूर्ण होना चाहिए जिससे बालक वहाँ आने में प्रसन्नता का अनुभव करें। इस प्रफुल्ल वातावरण के कारण ही उसने अपने विद्यालय का नाम 'बालोद्यान' रखा। वहाँ बालकों के ऊपर कोई बन्धन नहीं रहता और न पाठ्यक्रम तथा समय सारिणी का आतंक ही। बालक विद्यालय में भी घर जैसा ही अनुभव करते हैं। वे स्वतन्त्रतापूर्वक खेलों एवं विविध क्रियाओं में अपनी इच्छा से भाग लेते हैं। सारा वातावरण संगीत, अभिनय, नृत्य एवं अन्य रचनात्मक क्रियाओं से आकर्षक बना रहता है।

४—आत्म प्रकाशन की स्वतंत्रता—किंडर गार्टेन प्रणाली में बालकों की अन्तःशक्तियों को प्रकाशित होने का पूर्ण अवसर प्रदान किया जाता है। इसके लिए फ्रोबेल ने विशेषतः कलात्मक एवं सृजनात्मक भावनाओं के विकास पर बल दिया। आत्म प्रकाशन की शिक्षा के लिए गीत, अभिनय और रचनात्मक कार्यों का आयोजन किया। ये तीनों कार्य एक साथ होते हैं। बालक कोई कहानी सुनकर अभिनय द्वारा उसकी घटनाओं एवं वार्तालापों को व्यक्त करता है तथा उनके आधार चित्र, ड्राइंग अथवा कागज या मिट्टी आदि से वस्तुएँ तैयार करके अपने भाव प्रकट करता है। इससे बालक की भावाभिव्यक्ति की शक्ति विकसित होती है; कल्पना उद्‌बुद्ध होती है और ज्ञानेन्द्रियाँ प्रशिक्षित होती हैं। इसके लिए शिक्षक का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि बालकों के विकास की दृष्टि से अच्छे गीत, खेल, नाटक, चित्र आदि का चयन एवं संकलन करे।

किंडर गार्टेन प्रणाली में शिक्षण-सामग्री

निस्सन्देह ही किंडर गार्टेन प्रणाली की प्रसिद्धि एवं लोकप्रियता बहुत कुछ उसके उपकरणों एवं सामग्रियों पर निर्भर है। ये उपकरण छोटे बच्चों के मनोनुकूल इतने उपयुक्त और उपयोगी सिद्ध हुए हैं कि वे कभी भी पुराने नहीं पड़ सकते। ये उपकरण निम्नांकित हैं—

१—उपहार[1]—बच्चों की ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा तथा आत्म प्रवृत्तियों के प्रकाशन के लिए उपहारों का विशेष महत्व है। इनकी सहायता से बालक खेल-खेल में बहुत सी बातें सीख लेते हैं। उपहारों की संख्या २० है पर उनमें से प्रथम सात का प्रयोग विशेष रूप से अधिक होता है। इनके द्वारा नेत्रों एवं

---

1. Gifts.

स्पर्शेन्द्रिय की प्रशिक्षा होती है। ये उपहार क्रम से इकाई के रूप में सन्दूक में व्यवस्थित रीति से रखे रहते हैं, बालक उन्हें निकाल कर स्वतन्त्र ढंग से खेलता है और तरह-तरह की वस्तुएँ बनाता है और सन्दूक में रख देता है। ये उपहार निम्नांकित हैं—

प्रथम उपहार—इसमें छः रंगीन, कोमल ऊनी गेंद होते हैं। इनमें से तीन प्रमुख रंग लाल, पीला, नीला—के और तीन गौण रंग—नारंगी, हरा एवं बैंगनी—के। बालक इन गेंदों को लुढ़काते-ढुलकाते हैं और खेल-खेल में उन्हें रूप, रंग, पदार्थ, गति, दिशा का ज्ञान हो जाता है और मांसपेशियों के प्रयोग का अवसर भी मिल जाता है।

फ्रोबेल गेंद के खेल को अत्यधिक महत्त्व प्रदान करता है और वह इस बात का बड़ा गहन, गम्भीर और रहस्यपूर्ण अर्थ लगाता है कि बालक गेंद से ही खेलना क्यों प्रारम्भ करते हैं। वह गोलाकार गेंद को सभी वस्तुओं की एकता और बालक की आन्तरिक एकता का प्रतीक मानता है। गेंद बालक और विश्व के बीच मध्यस्थ रूप है और इससे बालक को 'स्व'[1] एवं 'पर'[2] का कुछ-कुछ बोध हो जाता है। इस प्रतीकात्मक मूल्य के अतिरिक्त गेंद के खेल से बालक के शारीरिक एवं मानसिक विकास में भी सहायता मिलती है, ज्ञानेन्द्रियों एवं हाथों की प्रशिक्षा होती है, ध्यान की एकाग्रता पैदा होती है और बालक में आत्मनिर्भरता आती है। गेंद उछालने, पकड़ने और घुमाने से पदार्थ, दिशा एवं काल का बोध होता है।

गेंद के खेल से ही बालक को भाषा का पहला पाठ पढ़ाया जाता है। गेंद ज्यों-ज्यों आगे-पीछे घूमता है, माता (शिक्षिका) गाती है "टिक-टिक, टिक-टिक, यहाँ-वहाँ, यहाँ-वहाँ।" फिर गेंद को ऊपर-नीचे घुमाती हुई कहती है "ऊपर-नीचे, ऊपर-नीचे" फिर गेंद को मेज से टकराकर लौटने पर और उछलने पर कहती है "उछलो गेंद, उछलो; देखो, गेंद उछलता है।" बालक शिक्षिका का अनुसरण करते हैं और केवल ध्वनियाँ ही नहीं सीखते बल्कि खेल-खेल में ही ऊपर, नीचे, अन्दर, बाहर, यहाँ, वहाँ, चारों ओर आदि शब्द सीख जाते हैं। थोड़ा बड़ा होने पर बालक जब कुछ जीव-जन्तुओं को पहचानने लगता है तब घूमता हुआ गेंद फ्रोबेल के अनुसार जीवन का प्रतीक बन जाता है। गेंद जब इस ओर से उस ओर घूमता है तब शिक्षिका गाती है 'देखो चिड़िया कैसे उड़ती' या मेज पर

1. Self.
2. Not self.

लकड़ी के टुकड़े पर गेंद रखकर कहती है "कुत्ता झाड़ी पर झपटता है।" आदि। इस प्रकार गेंद के साथ अनेक शैक्षिक खेल बालक खेलते हैं।

फ्रोबेल की इन खेलों की दृष्टि से एक बड़ी देन यह है कि उसने इन खेलों को बालक के मानसिक स्तर के अनुसार क्रमायोजित किया।

द्वितीय उपहार—इसमें कड़ी लकड़ी के घन, बेलन और चक्र या गोला होते हैं। घन और गोला के साथ खेलने से बालक घन की स्थिरता[1] और गोला की अस्थिरता[2] का अन्तर समझते हैं। फिर देखते हैं कि बेलन में ये दोनों विशेषताएँ हैं अर्थात् घन और गोला की एकता बेलन में पाई जाती है। इससे 'विभिन्नता में एकता' की भावना का उदय होता है।

शेष उपहार द्वितीय उपहार से ही निकाले गए हैं; उदाहरणतः तीसरे, चौथे, पाँचवें और छठें उपहार 'घन' के ही रूप हैं जो अनेक प्रकार से विभक्त किए जाते हैं। सातवाँ उपहार 'बेलन' है जो विभिन्न रूप में बिभाजित किया जाता है। ये निम्नांकित हैं—

तृतीय उपहार—यह एक बड़ा घन होता है जो छोटे-छोटे बराबर ८ घनों में विभक्त होता है। इन्हें विभिन्न प्रकार से जोड़कर बालक उपयोगी एवं कलात्मक वस्तुएँ तैयार करते हैं जैसे सीढ़ियाँ, बेंच, दरवाजा, पुल आदि। इसी कारण इसे 'प्रथम रचना बाक्स[3] कहते हैं। इस उपहार द्वारा प्रारम्भिक जोड़ और बाकी का भी ज्ञान दिया जाता है।

चतुर्थ उपहार—एक बड़ा घन जो आठ आयत आकारों में विभाजित होता है; प्रत्येक आयत में लम्बाई चौड़ाई से दुगनी और चौड़ाई मोटाई से दुगनी होती है। इनकी सहायता से भी बालक अनेक प्रकार की वस्तुओं का निर्माण करता है।

पंचम उपहार—एक बड़ा घन जो २७ छोटे-छोटे घनों में विभाजित होता है। इनमें ३ ऐसे हैं जो बराबर-बराबर आधे भागों में विभक्त हो जाते हैं और ३ ऐसे हैं जो चार भागों में बिभाजित हो जाते हैं। इनकी सहायता से भी बालक विभिन्न आकार एवं आकृति की वस्तुएँ बनाता है।

षष्ठ उपहार—एक बड़ा घन जिसमें १८ बड़े-बड़े आयतों में और ९ छोटे-छोटे कुन्दों[4] में विभाजित हो जाते हैं। इनसे भी बालक अनेक आकार-

1. Stability.
2. Mobility.
3. First building box.
4. Blocks.

प्रकार की वस्तुएँ तैयार करता है। संख्या और आकार सीखने में यह उपहार विशेष सहायक होता है।

सप्तम उपहार—इसमें दो बेलन होते हैं जो विभिन्न चौकोर एवं तिकोने टिकियों[1] में विभक्त हो जाते हैं। रेखागणित के विभिन्न आकारों एवं शकलों को सिखाने में ये सहायक होते हैं।

आठवें, नवें और दसवें उपहार धरातल, रेखा और बिन्दुओं की पहचान के लिए होते हैं। ये उपहार अनेक प्रकार से प्रयुक्त होते हैं। बालक इनसे गिनना, जोड़ना, घटाना, गुणा करना, भाग देना और भिन्न आदि सरलता से सीख लेता है। उपहारों से बालकों को गिनना, क्रमायोजित करना, तुलना करना, जाँच करना, आकार-प्रकार, समता-विषमता, समायोजन और विभाजन आदि का ज्ञान प्रदान करने में बड़ी सहायता मिलती है।

२—कार्य या व्यापार[2]—फ्रोबेल ने उपहारों के साथ-साथ कार्यों या व्यापारों की भी व्यवस्था की। उपहारों से परिचित होने पर बालकों को कार्यों में लगाया जाता है। ये कार्य भी बालक की अवस्था के अनुसार क्रमायोजित हो सकते हैं। सबसे पहले 'मिट्टी का काम'[3] बालकों को इसलिए दिया जाता है कि इसमें सिवाय बालक के दोनों हाथों के और किसी साधन की आवश्यकता नहीं पड़ती। गीली मिट्टी से बालक अनेक वस्तुएँ तैयार करते हैं। दूसरा कार्य यह है कि बालक रङ्गीन पेन्सिलों से बिन्दुओं (डाट्स) द्वारा विविध आकार की चीजें तैयार करते हैं अथवा किसी नुकीली चीज से कागज में छिद्रों द्वारा शक्लें तैयार करते हैं। कागज मोड़कर, काटकर भी वे शक्लें तैयार करते हैं। रेखागणित संबंधी आकार भी तैयार कराए जाते हैं। बालक ज्यों-ज्यों बड़े होते हैं और अपनी मांसपेशियों पर नियन्त्रण कर सकने में समर्थ होते जाते हैं, कुछ कठिन कार्य भी करने लगते हैं जैसे माला गूँथना, पहले से खिंची हुई रेखा या बने हुए छेदों के सहारे सिलाई करना, कागज बुनना, मोड़ना, कार्डबोर्ड पर डिजाइन्स बनाना, चित्र खींचना, रङ्ग भरना आदि। इन कार्यों में बालक बहुत रुचि लेते हैं और उनकी रचनात्मक शक्ति का विकास होता है। कार्यों का प्रमुख उद्देश्य है "बालकों को उनकी संपूर्ण प्रकृति के अनुसार कार्य प्रदान करना, उनका शारीरिक विकास करना, ज्ञानेन्द्रियों को अभ्यास देना और प्रशिक्षित करना, प्रकृति तथा सहजीवों से परिचित करना, विशेष रूप से हृदय तथा

---

1 Tablets.
2. Occupation.
3. Clay modelling

स्नेह की भावनाओं का उचित विकास करना, बालक को जीवन के मूल तत्वों की ओर उन्मुख करना और स्वयं से एकता प्राप्त कराना है।"[1]

३—वृत्ताकार खेल[2] —फ्रोबेल बड़ा आश्चर्य चकित होता था कि बालक खेलते समय स्वयं ही अपने हाथ मिलाकर वृत्त या गोला बना लेते हैं और उस रूप में अनेक खेल खेलते हैं। उसने इस खेल प्रणाली को अपने शिक्षण में स्थान दिया। आज तक किंडर गार्टन में कुर्सियाँ गोलाई में रक्खी जाती है। यद्यपि फ्रोबेल इस गोलाई का बड़ा सूक्ष्म एवं प्रतीकात्मक अर्थ लेता था पर इसका सबसे बड़ा लाभ तो यह है कि बच्चों को कोई चीज बताने, कहानी सुनाने, कोई वस्तु दिखाने में बड़ी सुविधा रहती है और शिक्षक तथा बच्चों में बड़ी निकटता बनी रहती है। बच्चों को गोलाई में खड़ाकर अनेक प्रकार के शैक्षिक एवं अनुरञ्जनकारी खेल खिलाए जाते हैं। फ्रोबेल ने स्वयं ऐसे अनेक खेलों का प्रवर्त्तन किया था।

४—शिशु गीत या खेल गीत[3]—इस प्रणाली में ऐसे गीतों का प्रयोग किया जाता है जो बालकों की ज्ञानेन्द्रियों एवं मांसपेशियों को गति देते हैं और बालक अनेक वस्तुओं का परिचय प्राप्त कर लेते हैं। इन्हें मातृखेल भी कहते हैं क्योंकि पहले ये गीत केवल माताओं (शिक्षिकाओं) द्वारा प्रयोग करने के लिए रचे गए थे। पर बाद में और भी गीतों की रचना की गई। ये गीत बड़े लय युक्त होते हैं और भाषा बड़ी सरल। खेल गीतों की पुस्तक अपने ढंग की अनूठी कृति है। फ्रोबेल ने स्वयं अनेक गीतों की रचना की थी जो लय, नाद और संगीत की दृष्टि से उत्तम न होते हुए भी बड़े रोचक और लोकप्रिय थे। अब उन गीतों में पर्याप्त सुधार कर लिया गया है। ये गीत खेलों और कार्यों में सम्बन्ध जोड़ने के लिए अच्छे साधन हैं। शिक्षिका इन गीतों को बालकों के उचित विकास की दृष्टि से क्रमायोजित करती है। प्रत्येक गीत के तीन भाग होते हैं—(१) माता (शिक्षिका) द्वारा प्रस्तुत आदर्श, (२) सङ्गीत, (३) चित्र जो उस गीत पर प्रकाश डाल सके।

---

1. To give the children employment in agreement with their whole nature, to strengthen their bodies, to exercise their sense, to bring them acquainted with nature and their fellow creatures, it is especially to guide aright the heart and the affections, and to lead them to the original ground of all life, to unite with themselves.
2. Play circles.
3. Play songs.

उपहार, कार्य, वृत्ताकार खेल, शिशुगीत और प्रशिक्षित माताएँ (शिक्षिकाएँ) किंडर गार्टन को बहुत ही आकर्षक, नूतन स्फूर्तिदायक और प्रेरणाप्रद शिक्षण संस्था बना देती हैं। आज भी जब हम किसी किंडर गार्टन में बच्चों को गोलाई में खड़े होकर किसी पुष्प के बारे में गीत गाते हुए, झूमते हुए, पौधे लगाते, सींचते और निराई करते हुए, फूल चुनते और सूँघते हुए देखते हैं तो शिशु गीतों के चमत्कार पर बिना मुग्ध हुए नहीं रह सकते।

किण्डर गार्टन प्रणाली के गुण

१—इस प्रणाली में बालक ही शिक्षा का केन्द्र है। बालकों की रुचि, योग्यता, शक्ति और आवश्यकता पर ही यह शिक्षण प्रणाली आधारित है। इस प्रणाली में शिशु को शिशु मानकर ही, उसकी प्रवृत्तियों के अनुसार शिक्षण-कार्य निर्धारित किया गया है, उसे वयस्क मानकर नहीं जैसा कि सामान्य स्कूलों में होता है। यद्यपि सिद्धान्तों में पहले के शिक्षा विचारक भी शिशु केन्द्रित शिक्षा के समर्थक थे पर व्यवहार में उसे परिणत करने का श्रेय फ्रोबेल को है जिसका प्रत्यक्ष रूप किंडर गार्टन में मिलता है। इसमें स्वयं क्रिया के आधार पर स्वयशिक्षा की विधि का उल्लेख पहले विस्तार से किया जा चुका है।

२ -'किंडर गार्टन' एक ऐसा रमणीय स्थल है जहाँ बालक बड़ी प्रसन्नता से जाते हैं। यह उनके खेलने का बाग है जहाँ स्वतन्त्रता, स्नेह, आत्मीयता और आनन्द का वातावरण रहता है। सामान्य स्कूलों के आतंक, त्रास, बन्धन और बोझिलता का वहाँ लेश भी नहीं पाया जाता। इस वातावरण में क्रिया, खेल एवं स्वतन्त्र-भाव प्रकाशन द्वारा बालक स्वयं शिक्षा एवं विकास के पथ पर अग्रसर रहते हैं। शिक्षकों एवं शिशुओं के परस्पर स्नेह पूर्ण संबंध के कारण अनुशासन का प्रश्न ही नहीं उठता। बालक स्वतः अनुशासित रहते हैं। वे रचनात्मक क्रियाओं एवं खेलों में इतने तल्लीन रहते हैं कि स्वेच्छाचारिता और उच्छृङ्खलता आ ही नहीं सकती। उनकी मूल प्रवृत्तियों का विकास सृजनात्मक ढङ्ग से होता है जिससे उनके सन्तुलित व्यक्तित्व का निर्माण होता है।

३—किंडर गार्टन प्रणाली में खेल एवं क्रिया द्वारा शिक्षा पर बल दिया जाता है। बच्चों के लिए सर्वोत्तम मनोवैज्ञानिक प्रणाली वही मानी जाती है जिसमें क्रिया एवं खेल के माध्यम से वे अनायास शिक्षा ग्रहण करते चलें। इससे सीखने के प्रति उनमें रुचि, लगन एवं निष्ठा बनी रहती है, बालक के मन में

कोई प्रतिरोध या कुण्ठा नहीं आने पाती। ये सारी बातें किंडर गार्टन प्रणाली में उपलब्ध हैं। वातावरण एवं शिक्षा के समस्त साधन एवं विधि बालक के लिए आनन्दप्रद है।

४—बालकों के शारीरिक विकास पर यथेष्ट ध्यान दिया जाता है। बालक शारीरिक परिश्रम करते हैं और उनमें श्रम के प्रति सम्मान की भावना पैदा होती है। बच्चे मिट्टी का काम, बागवानी, चटाई बुनना, सीना-पिरोना आदि काम करते हैं जिससे उन्हें अपने हाथों, अंगुलियों एवं मांसपेशियों की गति पर नियन्त्रण प्राप्त होता है।

५—ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा पर विशेष बल दिया जाता है। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ही हमारा बाह्य जगत से संपर्क और संबंध स्थापित होता है और हम उसका ज्ञान प्राप्त करते हैं। यदि उचित प्रशिक्षण द्वारा ज्ञानेन्द्रियों का ठीक विकास नहीं होगा तो हमारा बौद्धिक ज्ञान भी अधूरा, अपूर्ण एवं एकांगी होगा। हम देख चुके हैं कि किंडर गार्टन में उपहार, कार्य, गीत, खेल आदि द्वारा बालकों की ज्ञानेन्द्रियों को उचित प्रशिक्षण मिलता है और रूप, रंग, आकार, गंध, ध्वनि आदि की उन्हें अच्छी पहचान हो जाती है।

६—किंडर गार्टन में सौन्दर्य-बोध की शक्ति भी उद्बुद्ध एवं प्रबुद्ध होती है। रचनात्मक कार्यों एवं संगीत, नृत्य, अभिनय, कहानी आदि द्वारा उनकी कल्पनाशक्ति जागरित होती है और उनकी कलात्मक प्रतिभा का विकास होता है। प्रकृति निरीक्षण एवं प्रकृति विज्ञान की शिक्षा द्वारा बालकों में सौन्दर्यानुभव की शक्ति विकसित होती है। प्राकृतिक अध्ययन द्वारा प्रकृति के प्रति प्रेम पैदा होता है और साथ ही अनुसन्धान, तर्क, विचार आदि का भी विकास होता है।

७—इस प्रणाली में बालक के वैयक्तिक विकास के साथ-साथ सामाजिक विकास का भी ध्यान रखा जाता है। 'किंडर गार्टन' एक लघु समाज का ही रूप है जहाँ बालक स्वतन्त्रतापूर्वक सामाजिक जीवन के आवश्यक कार्यों को सीखता है। सहयोग, सच्चाई, ईमानदारी, कर्त्तव्यपरायणता, न्याय और साथी के लिए त्याग की भावनाओं का विकास होता है। सामूहिक खेल, गति, नाटक आदि इन भावनाओं के विकास में बहुत सहायक होते हैं। प्रजातान्त्रिक गुणों की नींव इस प्रणाली द्वारा शैशवावस्था में ही पड़ जाती है।

८—फ्रोबेल अध्यात्मवादी विचारक था और वह व्यक्ति के आध्यात्मिक उत्कर्ष को अपनी शिक्षण-योजना का प्रमुख उद्देश्य मानता था। उसका दर्शन भी आध्यात्मिक रहस्यवाद से परिपूर्ण है। दैवी एकता, विभिन्नता में एकता,

अखिल सृष्टि तथा ईश्वरीय सत्ता के साथ तादात्मय आदि सूक्ष्म सिद्धान्त रहस्य-पूर्ण प्रतीत होते हैं किन्तु व्यावहारिक रूप में किंडर गार्टन प्रणाली मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित है और इसलिए उसकी स्पष्टता एवं उपयोगिता में कोई सन्देह नहीं है ।

किंडर गार्टन प्रणाली में दोष

१—फ्रोबेल के वे दार्शनिक विचार जो किंडर गार्टन प्रणाली के आधार हैं, बड़े ही गूढ़ और रहस्यपूर्ण हैं । उनके उपहार भी जिन विचारों के प्रतीक हैं, वे विचार शिशुओं की बोध शक्ति के परे हैं जैसे गेंद का उपहार सृष्टि, एकता, गति आदि विचारों का प्रतीक है पर बच्चों से इन प्रतीकात्मक विचारों को समझने की आशा हम नहीं कर सकते । इन उपहारों के प्रति बच्चों का जो आकर्षण होता है वह रूप, रंग, आकृति आदि के कारण होता है, प्रतीकात्मक अर्थ या विचार के कारण नहीं । इस अवस्था में बच्चे मूर्त वस्तुओं के प्रति ही आकर्षित होते हैं, अमूर्त तत्त्वों की ओर नहीं ।

२—फ्रोबेल का यह विचार कि "बालक की अन्तःशक्तियों की अभिव्यक्ति ही शिक्षा है और उसमें निहित आन्तरिक विकास के नियम द्वारा ही वह विकसित होता है" पूर्ण सत्य नहीं है । ज्ञान प्राप्ति के लिए बाह्य जगत एवं वातावरण का समझना आवश्यक है और इसके लिए शिक्षक द्वारा निर्देशन बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है । हरबार्ट ने इसीलिए निर्देशन एवं शिक्षण कार्य को इतना ऊँचा स्थान प्रदान किया । पर फ्राबेल शिक्षक का हस्तक्षेप बिल्कुल नहीं चाहता और बाह्य निर्देशन को भी महत्त्व नहीं देता ।

३—आधुनिक शिक्षण प्रणाली में विविध विषयों में सहसम्बन्ध एवं समन्वय को बहुत आवश्यक माना जाता है पर किंडर गार्डन प्रणाली में इसका अवसर नहीं मिलता । विभिन्न विषयों का समन्वय बच्चों के लिए प्रभावपूर्ण एवं उपयोगी सिद्ध होता है । किंडर गार्टन में रचनात्मक कार्यों, पढ़ना-लिखना, प्रकृति अध्ययन आदि में समन्वय अवश्य स्थापित होना चाहिए था ।

४—यद्यपि किंडर गार्टन में बालक के स्वतन्त्र एवं स्वाभाविक विकास का सिद्धान्त ही आगे रखा जाता है पर उपहारों, कार्यों आदि सुनिश्चित उपकरणों पर आधारित होने से सच्ची स्वतन्त्रता और स्वाभाविकता नहीं रह जाती । बालक उन्हीं निर्दिष्ट उपहारों, कार्यों के लिए विवश रहते हैं परिणामतः कुछ समय के पश्चात् उनके प्रति आकर्षण नहीं रह जाता और स्वतन्त्र भाव प्रकाशन के लिए भी अवसर नहीं मिलता ।

५—इस प्रणाली में सामाजिकता पर इतना बल दिया जाता है कि बालक

के वैयक्तिक पक्ष उपेक्षित रह जाता है। प्रत्येक बालक की रुचि, योग्यता, क्षमता, अभिरुचि भिन्न होती है पर सामूहिक कार्यों पर ही बल देने से उसकी निजी विशिष्टताएँ पनप नहीं पातीं।

उपर्युक्त दोषों के रहते हुए भी किंडर गार्टन प्रणाली शिशुओं की शिक्षा के लिए बड़ी उपयोगी और लोकप्रिय सिद्ध हुई है। आज अधिकांश उन्नत देशों में यह प्रणाली प्रचलित है यद्यपि अपनी आवश्यकताओं के अनुसार उपहारों, खेलों, कार्यों, गीतों आदि में परिवर्तन और सुधार कर लिए गए हैं।

भावना की दृष्टि से फ्रोबेल रूसो का अनुयायी था और 'प्रकृतिवादी शिक्षा' के आधार पर बालकों के प्राकृतिक विकास पर बहुत बल देता था। साथ ही वह पेस्टालाजी के इस मत का भी समर्थक था कि बालकों की शिक्षा के लिए प्रशिक्षित शिक्षिकाओं का बड़ा महत्त्व है और 'निरीक्षण एवं अनुभव' तथा ज्ञानेन्द्रिय की शिक्षा द्वारा बालकों के विकास में बड़ी सहायता मिलती है। इन दोनों शिक्षा विचारकों के मतों को मानते हुए भी वह अपने इस विश्वास में मौलिक विचारक था कि बालक का सर्वोत्तम विकास 'स्वयं क्रिया' द्वारा ही होता है। आज भी उसके 'उपहार' शिशुओं को वैसे ही विमुग्ध करते हैं, 'कार्य' उसी प्रकार उन्हें उत्तेजित और अनुप्राणित करते हैं, सामूहिक खेल उन्हें कितना आकर्षित और भाव-विभोर किए रहते हैं, गीत, अभिनय एवं कहानियाँ वैसे ही उनके मन को मोह लेती हैं और ऐसा जान पड़ता है कि विश्व भर में किंडर गार्टन के खेलते हुए बच्चों की उल्लसित 'स्वयं क्रिया' में फ्रोबेल की चेतना आज भी जीवित है।

अभी हमारे देश में सर्वसामान्य स्तर पर शिशुओं की शिक्षा की व्यवस्था नहीं हो सकी है। इसी कारण किंडर गार्टन का भी उतना प्रचार और प्रचलन नहीं है। पर आवश्यक साधन उपलब्ध होने पर भारतीय शिशुओं की आवश्यकता के अनुसार सुधार एवं परिवर्तन करके किंडर गार्टन प्रणाली को अपनाना निश्चित ही उपयोगी सिद्ध होगा।

सारांश

किंडर गार्टन प्रणाली का प्रवर्त्तक फ्रेडरिक विल्हम अगस्त फ्रोबेल था। उसके ऊपर प्रसिद्ध दार्शनिक फिश्ते एवं शेलिंग के आदर्शवादी दर्शन का गहरा प्रभाव था। साथ ही तत्कालीन प्रसिद्ध कवि गेटे और शिलर का भी प्रभाव पड़ा। इन प्रभावों के कारण वह स्वयं भी अध्यात्मवादी एवं रोमांटिक कल्पनावादी विचारक बन गया था। २३ वर्ष की आयु में उसे पहली बार शिक्षण का अवसर

मिला तो उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि उसे जीवन की मनोवांछित वस्तु मिल गई और इसके बाद उसने सारा जीवन शिक्षण कार्य एवं नवीन शिक्षण प्रणाली के प्रवर्त्तन में लगा दिया। उसने पेस्टालाजी के स्कूल वरदून में शिक्षण प्रणाली का अध्ययन किया। पहला स्कूल उसने कीलहाऊ में खोला पर इसे बन्द करना पड़ा। फिर उसने ब्लैंकेन वर्ग में शिशु विद्यालय खोला जो किंडर गार्टन नाम से प्रसिद्ध हुआ।

फ्रोबेल के दार्शनिक सिद्धान्त तथा उनका शिक्षा में प्रयोग—एकता का सिद्धान्त, विकास का सिद्धान्त, स्वयं क्रिया का सिद्धान्त, स्वतन्त्र एवं स्वाभाविक विकास का सिद्धान्त, सामाजिक संस्थाओं द्वारा व्यक्तित्व का विकास।

फ्रोबेल के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य—(१) बालक को अपनी अन्तर्निहित 'दैवी एकता' अथवा आध्यात्मिक शक्ति का बोध कराना। (२) प्रकृति एवं ईश्वर के साथ अपनी अनन्यता एवं एकता की अनुभूति कराना। (३) अंतः-शक्तियों का स्वतन्त्र एवं स्वभाविक विकास करना। (४) 'एकता' के ज्ञान द्वारा वातावरण एवं विश्व के साथ सतत प्रगतिशील सामंजस्य स्थापित करना।

शिक्षण विधि—शिक्षा एवं विकास की दृष्टि से बाल्यावस्था का महत्त्व, स्वयं क्रिया द्वारा शिक्षा, उपयुक्त वातावरण की सृष्टि, आत्म प्रकाशन की स्वतन्त्रता।

शिक्षण सामग्री—उपहार, कार्य या व्यापार, वृत्ताकार खेल, शिशु गीत या खेल गीत।

गुण—बालकेन्द्रित शिक्षा, प्रफुल्ल वातावरण, क्रियात्मक एवं खेल द्वारा शिक्षा, शारीरिक विकास, ज्ञानेन्द्रियों का प्रशिक्षण, सौन्दर्य बोध एवं कलात्मक विकास, सामाजिक विकास, आध्यात्मिक उत्कर्ष, मनोवैज्ञानिक शिक्षण विधि।

दोष—रहस्यात्मक दर्शन, निर्देशन का अभाव अथवा कम महत्त्व, समन्वय का अभाव, निश्चित शिक्षण सामग्री पर बल, वैयक्तिक विकास की उपेक्षा।

प्रश्न

१—फ्रोबेल के शिक्षा सम्बन्धी दृष्टिकोण का उल्लेख करते हुए किंडर गार्टन प्रणाली के व्यावहारिक स्वरूप पर प्रकाश डालिए।

२—किंडर गार्टन प्रणाली के आधारभूत दार्शनिक सिद्धान्त क्या हैं और फ्रोबेल ने उनका प्रयोग शिक्षण में किस प्रकार किया?

३—फ्रोबेल के शिक्षोपकरण उसकी दार्शनिक भावनाओं के प्रतीक हैं ? इस पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

४—किंडर गार्टन प्रणाली से आप क्या समझते हैं ? इसके गुण-दोषों का विवेचन कीजिए।

५—किंडर गार्टन प्रणाली की शिक्षण विधि पर प्रकाश डालिए।

६—किंडर गार्टन प्रणाली के प्रमुख शिक्षोपकरणों का उल्लेख करते हुए बताइए कि शिक्षण की दृष्टि से उनकी क्या उपयोगिता है।

७—दैवी एकता एवं विकास का सिद्धान्त क्या है ? शिक्षा के क्षेत्र में फ्रोबेल ने इन सिद्धान्तों को किस प्रकार क्रियान्वित किया है ?

———

अध्याय १२

माण्टेसरी शिक्षा-प्रणाली

[माण्टेसरी का जीवन-परिचय, शैक्षणिक अनुभव एवं प्रयोग, माण्टेसरी के शिक्षा सम्बन्धी विचार, शिक्षण व्यवस्था, शिक्षोपकरण, शिक्षण विधि, माण्टेसरी प्रणाली की विशेषताएँ एवं दोष]

'My method is established upon one fundamental base the liberty of the pupils in their spontaneous manifestations."

Mari Montessori

माण्टेसरी शिक्षा प्रणाली का प्रवर्त्तन इटली की प्रसिद्ध शिक्षिका डा० मेरिया माण्टेसरी ने किया। उन्हीं के नाम पर इस प्रणाली को माण्टेसरी शिक्षा प्रणाली कहते हैं।

यह प्रणाली भी शिशु शिक्षण अर्थात् इसे ७ वर्ष तक के शिशुओं को शिक्षा प्रदान करने की प्रणाली है। मेरिया माण्टेसरी का जन्म जुलाई सन् १८७० में इटली में हुआ। वहाँ स्त्री शिक्षा की परम्परा न रहने पर भी उन्होंने उच्च शिक्षा प्राप्त की। रोम विश्वविद्यालय से 'डाक्टर आफ मेडिसिन' की उपाधि प्राप्त करने वाली वे प्रथम महिला थीं। स्नातक होने के पश्चात् उन्होंने कुछ समय तक विकलांग एवं मन्द बुद्धि के बच्चों के शिक्षण का कार्य किया। उनके आग्रह पर १८६८ में रोम में ऐसे बच्चों के लिए स्कूल खोला गया जहाँ माण्टेसरी ने स्वयं बच्चों को पढ़ाया और उन्हें पढ़ाने के लिए शिक्षकों को प्रशिक्षित भी किया। उनकी शिक्षण प्रणाली बड़ी सफल रही और विकलांग बालक अन्य सामान्य बालकों की भाँति पढ़ने-लिखने में सक्षम सिद्ध हुए। अब उनके मन में एक नया विचार एवं उत्साह उत्पन्न हुआ कि 'यदि ये हमारे अभागे शिष्य जब पढ़ने-लिखने में इतनी प्रगति कर सकते हैं तो सामान्य बालकों का विकास तो और भी तीव्र गति से होना चाहिए।' अतः उनकी रुचि सामान्य बालकों की शिक्षा की ओर हुई और उन्होंने उनके लिए एक नई शिक्षा-प्रणाली विकसित की।

१६०७ में रोम में 'गुड बिल्डिंग' योजना के अन्तर्गत कुछ नई बस्तियों का निर्माण प्रारम्भ किया गया और यह निर्णय हुआ कि प्रत्येक बस्ती के साथ ३ वर्ष

से ७ वर्ष तक के शिशुओं की शिक्षा के लिए स्कूल भी खोला जाय। इन स्कूलों के शिक्षण कार्य का संचालन, शिक्षकों का प्रशिक्षण, शिक्षण सामग्री की व्यवस्था, शिक्षण प्रणाली का निर्धारण आदि का सारा उत्तरदायित्व मैडम माण्टेसरी पर सौंपा गया। उन्होंने इसी वर्ष पहला शिशु विद्यालय खोला जिसका नाम 'बच्चों का गृह' (चिल्ड्रेन्स हाउस) रखा। यहाँ वे चार वर्ष तक रहीं और उन्हें इस कार्य में अपूर्व सफलता मिली। यहाँ उन्हें अपनी प्रणाली को पूर्ण रूप से निर्धारित और विकसित करने का अवसर मिला। इस प्रणाली के प्रवर्त्तन में उन्होंने कुछ विचार फ्रोबेल और सेग्विन की शिक्षा प्रणाली से, कुछ मन्द बुद्धि के बालकों पर किए गए अपने शैक्षिक प्रयोगों से, और कुछ प्रायोगिक मनोविज्ञान से लिए और इनके आधार पर अपनी शिक्षा प्रणाली को अधिकाधिक मनोवैज्ञानिक एवं व्यावहारिक बनाने का प्रयत्न किया।

१९११ के बाद माण्टेसरी ने दूसरे देशों के शिक्षा विचारकों को अपनी शिक्षण प्रणाली से परिचित कराने का निश्चय किया और इसके लिए पुस्तकें प्रकाशित कीं, लेख लिखे, अनेक देशों का भ्रमण किया, भाषण दिए, शिक्षकों को प्रशिक्षित किया, स्कूलों में अपने शैक्षिक उपकरणों के प्रयोग का प्रचार किया और स्वयं ऐसे स्कूलों का निरीक्षण किया। उनमें संगठन की अद्भुत क्षमता थी। उनका निरीक्षण कार्य बहुत ही प्रेरणाप्रद होता था। अतः इस प्रणाली के प्रचलन में आशातीत सफलता मिली। यूरोप और अमेरिका में अनेक माण्टेसरी स्कूलों की स्थापना हुई। द्वितीय महायुद्ध के समय वे भारत में ही थीं और भारत सरकार के आमंत्रण एवं सहयोग से उन्होंने अहमदाबाद में शिक्षकों को अपनी शिक्षा प्रणाली में प्रशिक्षित किया। मद्रास, बम्बई और पंजाब में भी इस पद्धति में शिक्षकों को प्रशिक्षित किया गया। अब हमारे देश में भी माण्टेसरी स्कूलों का प्रचार बढ़ता जा रहा है।

माण्टेसरी के शिक्षा सम्बन्धी विचार

माण्टेसरी के अनुसार शिक्षा द्वारा बालक को स्वतन्त्र वातावरण में स्वयं विकास का पूरा अवसर देना चाहिए जिससे वे रुचिपूर्वक अपनी गति के अनुसार कार्य करते रहें। बालक को विवश करके शिक्षा देने से कोई लाभ नहीं। स्वयं विकास के लिए माण्टेसरी ने खेल और क्रिया को सर्वोत्तम साधन माना और अनेक खेलों एवं शिक्षोपकरणों का प्रवर्त्तन भी किया। प्रत्येक बालक की रुचि, शक्ति एवं मानसिक प्रवृत्ति भिन्न होती है अतः उसकी वैयक्तिक विशेषताओं को ही माण्टेसरी ने शिक्षा का आधार माना। माण्टेसरी ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा पर विशेष बल दिया क्योंकि वस्तु का परिचय और ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ही होता है। संक्षेप में इस प्रणाली के प्रमुख सिद्धान्त निम्नांकित हैं :—

१—व्यक्तित्व विकास का सिद्धान्त—माण्टेसरी ने सर्वप्रथम इस बात पर बल दिया कि प्रत्येक बालक के व्यक्तित्व-विकास की दृष्टि से ही विद्यालय की शिक्षा एवं समस्त कार्यों को निरूपित करना चाहिए।[1] यह सिद्धान्त शिक्षा के क्षेत्र में नवीन नहीं था किन्तु माण्टेसरी ने जितना इसमें बल दिया उतना और किसी ने नहीं दिया था और उन्होंने इस विचार को शिक्षण कार्य में अच्छी तरह जमा दिया।

माण्टेसरी का विश्वास था कि मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य 'स्व' का बनाए रखना है। प्रत्येक बालक का एक निजी व्यक्तित्व एवं विशेषताएँ होती हैं और शिक्षा द्वारा उसकी इस विशिष्टता का विकास अवश्य होना चाहिए। किसी भी प्रकार उसके इस व्यक्तित्व के विकास में बाधा नहीं पड़नी चाहिए। अतः बालक को अपनी रुचि के अनुकूल कार्य करने, अपनी गति से आगे बढ़ने, अन्तः-शक्तियों के विकास के लिए शैक्षिक उपकरणों का मनोनुकूल प्रयोग करने और तात्कालिक समस्याओं को स्वयं हल करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। इन क्रियाओं में उसकी व्यक्तिगत रुचि और प्रवृत्ति का विशेष ध्यान रखना चाहिए। इसी दृष्टि से उन्होंने इस प्रकार की प्रणाली का विकास किया जिससे प्रत्येक बालक के व्यक्तित्व का विकास हो सके।

इस प्रणाली में शिक्षक के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह प्रत्येक बालक की रुचि और प्रवृत्ति का अध्ययन करे, उसके कार्यों का निरीक्षण करे और उसके विकासशील व्यक्तित्व को भली भाँति समझकर उसे शिक्षा के पथ पर आगे बढ़ाए।

२—व्यक्तिगत शिक्षा—यह व्यक्तित्व विकास सामूहिक शिक्षा में सम्भव नहीं हो पाता। इस कारण इस प्रणाली में सामूहिक शिक्षा की व्यवस्था नहीं है। सामूहिक शिक्षा में प्रत्येक बालक की ओर व्यक्तिगत रूप से ध्यान नहीं दिया जा सकता और न प्रत्येक बालक को व्यक्तिगत रुचि एवं शक्ति के अनुसार विकास करने का अवसर मिलता है। अतः माण्टेसरी ने कक्षा शिक्षण प्रणाली का विरोध किया और इस प्रकार की शिक्षण-सामग्री तैयार की जिनसे बालक अपनी रुचि, शक्ति, गति एवं योजना के अनुसार पृथक्-पृथक् कार्य कर सकें और उचित दिशा में विकास करें। शिक्षिका केवल निरीक्षण करें और जहाँ कठिनाई हो वहाँ बालक को सही रूप से कार्य करने का पथ-प्रदर्शन करे।

इस व्यक्तिगत शिक्षा का यह तात्पर्य नहीं है कि बालक कभी भी समूह में न रहें। बालक स्वयं ही कभी-कभी स्वाभाविक रूप में सामूहिक खेलों और

1. The adaptation of School work to the individuality of each child.

कार्यों में लगा लेते हैं। पर पढ़ते या सीखते समय में अलग-अलग काम करते हैं।

३—अन्तर्निहित शक्तियों का विकास—फ्रोबेल की तरह माण्टेसरी भी इस विचार को मानती हैं कि शिक्षा बालक की आन्तरिक शक्तियों का स्वाभाविक विकास है। बालक के विकास की शक्ति स्वयं उसमें निहित है जैसे किसी बीज में वृक्ष के विकास की शक्ति। तात्पर्य यह है कि बालक का विकास बाहर से नहीं लादा जा सकता है बल्कि उसे स्वयं अन्तःशक्तियों को अभिव्यक्ति एवं परिस्फुटन का अवसर प्रदान करके ही उसका विकास किया जा सकता है। इसके लिए शिक्षक का कर्त्तव्य है कि ऐसे उपयुक्त शैक्षिक वातावरण का निर्माण करे जिससे बालक आत्मनिहित शक्तियों को प्रकाशित कर सके। माण्टेसरी बालक की जन्मजात प्रवृत्तियों एवं शक्तियों को उभारना शिक्षा का प्रमुख अंग मानती हैं। बालक के शरीर और आत्मा दोनों का विकास होना चाहिए पर यह विकास स्वतन्त्र एवं स्वाभाविक रूप से इस प्रकार होना चाहिए कि वह अपने उचित एवं उन्नत व्यक्तित्व को प्राप्त कर सके।

४—स्वयं शिक्षा अथवा आत्म शिक्षण[1]—इस प्रणाली में बालक स्वयं अपना शिक्षक है। अध्यापक बलपूर्वक कोई चीज नहीं सिखाता। इसीलिए बालक को स्वतन्त्रता रहती है कि वह अपनी स्वाभाविक गति से सीखे।

इस स्वयं शिक्षा के लिए माण्टेसरी ने अपनी प्रणाली में 'डिडेक्टिक यंत्रों' का आविष्कार किया। प्रत्येक बालक जिस उपकरण के साथ काम करना चाहता है, चुन लेता है, अपने इच्छानुसार उपयुक्त स्थान पर ले जाता है और अपनी रुचि के अनुसार कार्य करता है। ये उपकरण इस प्रकार के बने होते हैं कि उनका प्रयोग एक ही प्रकार से हो सके। अतः बालक जब अपने अलग-अलग ढंगों से उसका प्रयोग करते हैं तो उनसे त्रुटि होती है पर वे स्वयं अपनी भूल समझ जाते हैं और त्रुटि सुधार लेते हैं। शिक्षक उनकी त्रुटियों को देखता है पर किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता और उन्हें स्वयं संशोधन का अवसर देता है। बालक को न तो पुरस्कार का लोभ और न दण्ड का भय रहता है। वे स्वयं ही कार्य की ओर अग्रसर होते हैं और आत्मप्रेरणा से कार्य करना सीखते हैं।

५—स्वतंत्रता का सिद्धांत—माण्टेसरी अपनी प्रणाली में 'स्वतंत्रता' पर बहुत अधिक बल देती हैं। उनका कथन है कि किसी भी सच्ची शिक्षा के

---

1. Self education.

लिए स्वतन्त्रता की विशेष आवश्यकता है।[1] उनका यह भी कहना है कि सच्ची स्वतन्त्रता का आधार आत्मनिर्भरता है। अतः बालक की वैयक्तिक स्वतन्त्रता की सक्रिय अभिव्यक्ति को इस प्रकार निर्देशित करना चाहिए कि वह अपने कार्यों के माध्यम से आत्मनिर्भर बन सके।[2] शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों के लिए यह 'स्वतन्त्रता' आवश्यक है। शिक्षक शिक्षार्थी के ऊपर शासन नहीं करता, बल्कि उसकी रुचि का ध्यान रखते हुए उन्हें कार्य-संलग्न बनाए रखता है। वह उनके कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करता। इसी प्रकार शिक्षार्थी भी शिक्षक के ऊपर आश्रित या अवलम्बित नहीं रहता। वह समय पर अध्यापक से यथावश्यक परामर्श एवं मार्ग-निर्देश प्राप्त कर सकता है पर धीरे-धीरे वह आत्मनिर्भरता की ओर बढ़ता जाता है। इस 'स्वतन्त्रता' के सिद्धान्त में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं—

(i) स्वतंत्रता का अभिप्राय आत्माभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करना है—माण्टेसरी का कहना है कि 'सहज आत्माभिव्यक्ति के लिए शिक्षार्थी को स्वतन्त्रता प्रदान करना मेरी प्रणाली का आधारभूत सिद्धान्त है।'' उसकी स्वाभाविक आत्माभिव्यक्ति में बाधा डालना उसका गला घोट देने के समान है। अतः बालक को आत्माभिव्यक्ति एवं स्वयं शिक्षा की स्वतन्त्रता आवश्यक है।

आत्माभिव्यक्ति एवं स्वयं शिक्षा के विचार को स्पष्ट करते हुए उन्होंने एक रोचक एवं शिक्षाप्रद घटना का उल्लेख किया है—"एक दिन बच्चे पानी भरे हुए हौज के चारों ओर गोलाई में बातें करते हुए, हँसते-खेलते खड़े थे। पानी में कुछ खिलौने तैर रहे थे। एक ढाई वर्ष का बच्चा गोलाई से बाहर छूट गया था। मैं उसे बड़े चाव से देख रही थी कि वह बच्चों के घेरे में पहुँचने के लिए कितना आतुर था। वह पहले बच्चों के निकट पहुँचा और उनके बीच से अपने लिए रास्ता बनाने लगा पर सफल न हो सका। अब वह इधर-उधर देखने लगा। उसके भोले मुख पर गहन उत्कण्ठा की झलक बड़ी ही मनमोहक थी। मैं उसका चित्र लेने के लिए लालायित हो उठी पर उस समय मेरे पास केमरा नहीं था। बालक की दृष्टि एक कुर्सी पर पड़ी और वह उस कुर्सी को बालकों के समीप खींचने लगा जिससे उस पर चढ़कर वह पानी के हौज तथा

---

1. "Freedom is an essential requirement for any true education."
2. "No one can be free unless he is independent; therefore the first active—manifestations of the child's individual liberty must be so guided that through this activity he may arrive at independence."

उसमें तैरते हुए खिलौनों को देख सके। उसका मुख आशा से चमक उठा था। किन्तु उसी समय शिक्षिका ने उसे गोद में उठा लिया और उसे बच्चों के सिर के ऊपर उठाकर यह कहते हुए कि 'आओ, भोले शिशु तुम भी देखो' उसे पानी का हौज दिखाया। यद्यपि शिक्षिका ने बच्चे को प्यार और कोमलता से ही उठाया पर माण्टेसरी ने उसके इस कार्य को 'निर्मम' बताया और लिखा कि निस्सन्देह ही बालक ने तैरते हुए खिलौनों को देखकर उस प्रसन्नता का अनुभव नहीं किया जो प्रसन्नता उसे स्वयं अपने प्रयत्न से देखने पर होती। उन खिलौनों का देखना उसके लिए उतना लाभदायक नहीं था जितना कि विचारपूर्ण आत्म-प्रयत्न द्वारा आन्तरिक शक्तियों का विकास। शिक्षिका ने बालक की 'स्वयं शिक्षा' में बाधा उत्पन्न कर दी। भोले शिशु को एक विजेता की अनुभूति प्राप्त होने वाली थी किन्तु शिक्षिका की बाँहों में वह एक शक्तिहीन बन्दी बन कर रह गया। उसके मुख पर प्रसन्नता, उत्सुकता और आशा की झलक, जिसे मैं बड़े चाव से देख रही थी, मुरझा गई और उसकी जगह शिथिलता का भाव उन्पन्न हो गया।

इस उद्धरण से हम माण्टेसरी के 'स्वतन्त्रता' का विचार समझ सकते हैं। बालक के व्यक्तित्व का विकास, अन्तःशक्तियों का परिस्फुटन, आत्माभिव्यक्ति का अवसर आदि विचार उस समय तक शिक्षा में नहीं अपनाए जा सकते जब तक कि स्वतन्त्रता न प्रदान की जाय।

(ii) **स्वतंत्रता का अर्थ स्वच्छंदता नहीं बल्कि मर्यादा एवं संयम पूर्ण स्वतंत्रता से है**—माण्टेसरी जिस स्वतन्त्रता पर इतना बल देती हैं वह स्वच्छंदता (लाइसेंस) नहीं है। वे रूसो के 'एमील' की भाँति अबाध स्वतन्त्रता के पक्ष में नहीं हैं। वे कहती थीं कि विद्यालय के जीवन में अबाध स्वतन्त्रता सम्भव नहीं है। वे बालकों को उच्छृङ्खल नहीं देखना चाहती थीं। उन्होंने एक अपना अनुभव लिखा है "मैंने देखा कि बालक मेज पर पाँव रखे हुए है और नाक में अँगुली डाले हुए है। शिक्षिका ने किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया। मैंने कुछ बालकों को कोलाहल करते हुए और साथियों को धक्का देते हुए देखा। यहाँ भी शिक्षिका ने कुछ नहीं किया। अतः मुझे स्वयं बच्चों के इस कार्य को रोकना पड़ा।" बालकों को अशिष्ट व्यवहार से रोकना शिक्षक का आवश्यक कर्त्तव्य है।

माण्टेसरी का कहना है कि सामाजिक शिष्टाचार और मर्यादा का पालन अवश्य होना चाहिए और इसके लिए बालकों की उच्छृङ्खलता का शमन धीरे-धीरे उचित रीति से अवश्य होना चाहिए। बच्चों को स्वतन्त्रता वहीं

तक दी जाय जहाँ तक सामूहिक हित में बाधा न पहुँचे ।[1] दूसरों की भावना को चोट पहुँचाने वाली बालक की चंचल प्रवृत्तियों को नियंत्रित करने और संयमित बनाने का प्रयत्न इस प्रणाली की प्रमुख विशेषता है ।

(iii) शिक्षक का उचित पथ-प्रदर्शन—इस प्रणाली में यद्यपि बालकों को स्वतन्त्रता प्रदान की जाती है और शिक्षक बालक के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं डालता किन्तु वह हर समय उपस्थित रहता है, बालकों के क्रिया-कलापों का निरीक्षण करता है, उचित पथ-प्रदर्शन करता है, आवश्यकतानुसार बालक को किसी कार्य के सम्पादन का अच्छा तरीका दिखाता है, स्वयं कार्य के लिए प्रोत्साहित करता है और सतत प्रेरणा प्रदान करता रहता है । अनावश्यक निर्देशन वह कभी भी नहीं करता और सामान्यतः बालकों को स्वयं कार्य करने के लिए छोड़ देता है ।

(iv) सीखने के मनोवैज्ञानिक चरणों का अनुसरण—मान्टेसरी प्रणाली का आधार मनोविज्ञान है । हम देखते हैं कि किसी कार्य को सीखने का एक उचित समय होता है और उस समय बालक शीघ्रता एवं सरलता से सीख लेता है । यदि अपना कार्य पूरा करने में कोई बालक असफल है तो इस प्रणाली में उसे दण्डित नहीं किया जाता बल्कि यह समझ लिया जाता है कि अभी उस कार्य के लिए उसका शारीरिक एवं मानसिक विकास नहीं हो पाया है । अतः मनोवैज्ञानिक विकास-स्तर के अनुसार ही बालक को कोई बात सिखाई जाती है । अपरिपक्व अवस्था में कोई नई बात बताना या ज्ञान प्रदान करना बेकार होता है ।

(v) खेल द्वारा शिक्षा—स्वतन्त्रता का सही प्रयोग रचनात्मक खेल द्वारा शिक्षा प्रदान करने में ही होता है । मान्टेसरी प्रणाली में बालक शिक्षण-यन्त्रों द्वारा खेल-खेल में ही उनका उचित प्रयोग करने लगते हैं और प्रारम्भिक शिक्षा—वर्णमाला का ज्ञान, लिखना, पढ़ना एवं साधारण गणित—प्राप्त कर लेते हैं । खेल द्वारा ही उनकी ज्ञानेन्द्रियों श्रवण, दृष्टि, स्पर्श, घ्राण एवं स्वाद—की प्रशिक्षा हो जाती है ।

यह बात ध्यान देने की है कि इस प्रणाली में बालकों द्वारा किए जाने वाले शैक्षिक कार्यों को ही खेल माना जाता है । ये कार्य बालकों के मस्तिष्क पर जोर डालते हैं और उनमें उस आंतरिक आह्लाद एवं स्फूर्ति का अभाव

1 "The liberty of the children should have as its limits the collective interest".

पाया जाता है जो खेल में विद्यमान रहता है। अतः कुछ शिक्षाविदों ने इसे अमनोवैज्ञानिक ठहराया है।

(vi) स्वयं संशोधन की स्वतंत्रता—इस प्रणाली में बालकों को ऐसे यन्त्रों एवं शैक्षिक उपकरणों से कार्य करना पड़ता है कि वे अपनी त्रुटियाँ स्वयं ढूँढ़ लेते हैं और कार्य-पद्धति में संशोधन कर लेते हैं। शिक्षक इस स्वयं सुधार की पूरी स्वतन्त्रता प्रदान करता है। इससे बालक अध्यापक पर निर्भर नहीं रहते और आत्मनिर्भर बनते हैं। यह आत्मनिर्भरता ही स्वतन्त्रता की कुंजी है।

(vii) दैनिक जीवन सम्बधी व्यावहारिक शिक्षा—मॉण्टेसरी प्रणाली में स्वतन्त्रता के लिए बालक को आत्मनिर्भर बनाना आवश्यक माना जाता है। अतः बालक को अपने दैनिक जीवन सम्बन्धी कार्यों को स्वयं सम्पन्न करने की शिक्षा प्रदान की जाती है जिससे वह दूसरों पर निर्भर न रहे। नित्य क्रिया, शौच, स्नान आदि से निवृत्त होना, कपड़ा पहनना, कमरा साफ करना, स्वच्छता से रहना, कक्षा में चीजें तरतीब से रखना, भोजन-जलपान परसना आदि कार्यों में उन्हें प्रशिक्षित कर कुशल बना दिया जाता है। छोटे बच्चे बटन लगाने, जूते का फीता लगाने और रबर या कपड़े के टुकड़ों में हुक लगाने का अभ्यास करते हैं। फिर वे शान्ति और शिष्टता से चलने, बिना आवाज किए अपनी कुर्सी हटाने और कोमल पदार्थों का ठीक से प्रयोग करने की आदत डालते हैं। इस प्रकार उन्हें दैनिक क्रियाओं को सम्पन्न करने की व्यावहारिक शिक्षा मिल जाती है। इससे वे कुशल, सभ्य एवं सुसंस्कृत बालक बनते हैं। उचित रीति से बातचीत करने, शिष्टाचार एवं शीलपूर्ण व्यवहार करने की भी उचित शिक्षा प्रदान की जाती है।

(viii) सच्चे अनुशासन की भावना—निस्सन्देह ही ऊपर लिखी गई स्वतन्त्रता एवं तदन्तर्गत विविध क्रियाओं द्वारा अनुशासन का एक सच्चा नया रूप हमारे सामने आ जाता है जो सामान्य विद्यालयों में देखने को नहीं मिलता। माण्टेसरी प्रणाली में यदि बालक शिक्षक के निर्देशों के प्रति कुछ उदासीन है पर अपने कार्य में पूर्णतः संलग्न है तो वह अच्छा ही माना जायगा। दमन के द्वारा स्थापित अनुशासन में जड़ता या निष्क्रिय शान्ति को ही अच्छी बात मान ली जाती है और बालक की साहजिक क्रियाशीलता को अनुशासनहीनता कहा जाता है। अतः माण्टेसरी ने जबर्दस्ती अनुशासन लादने का विरोध किया और इस बात पर बल दिया कि दत्तचित्त होकर किसी कार्य अथवा समस्या को सुलझाने में जो अनुशासन की भावना पनपती है वही श्रेयस्कर है। जबर्दस्ती

पढ़ाने की जगह बालक में पढ़ने के प्रति रुचि उत्पन्न करना, शिक्षक की जगह बच्चों द्वारा ही परस्पर अच्छा प्रभाव डालना अनुशासन की दृष्टि से उत्तम है। अतः सच्ची स्वतन्त्रता से ही सच्चा अनुशासन पैदा होता है और वही अनुशासन स्थायी एवं शुभकर होता है।

६—मांसपेशियों की शिक्षा[1]—माण्टेसरी का कहना था कि बच्चों की शिक्षा में उनके शारीरिक विकास पर विशेष बल देने की आवश्यकता है जिससे वे अपने अंग-प्रत्यंग का संतुलन प्राप्त कर सकें और उनके संचालन पर नियन्त्रण रख सकें. उदाहरणतः लिखना जानने के पहले बच्चों का अपनी अँगुलियों पर नियन्त्रण हो जाना आवश्यक है जिससे वे आवश्यकतानुसार ठीक मोड़ और गति दे सकें। इसी प्रकार अन्य कार्यों के लिए विविध अंगों का संतुलित विकास होना चाहिए। अतः इस प्रणाली में बच्चों को चलने-फिरने, दौड़ने-खेलने और शक्ति के अनुसार विविध कार्यों के सम्पादन का अवसर प्रदान कर मांसपेशियों के उचित विकास पर ध्यान दिया जाता है।

७—ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा—माण्टेसरी ने ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा पर बहुत बल दिया है। बल्कि इसे हम माण्टेसरी प्रणाली की सबसे बड़ी विशेषता कह सकते हैं। ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा स्वतः कोई साध्य नहीं है, बल्कि बालक के बौद्धिक एवं मानसिक विकास के लिए आवश्यक साधन है। शैशवावस्था ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा के लिए बहुत ही आवश्यक और महत्त्वपूर्ण अवस्था है। माण्टेसरी का विश्वास था कि ज्ञानेन्द्रियों तथा मस्तिष्क में घनिष्ठ सम्बन्ध है और यदि शैशवावस्था में ज्ञानेन्द्रियों के उचित विकास का प्रयत्न नहीं किया गया तो बौद्धिक विकास भी उचित प्रकार से नहीं हो सकेगा। ज्ञानेन्द्रियों के प्रशिक्षण और अभ्यास पर ही उनका भावी ज्ञानार्जन निर्भर है।

ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा के लिए माण्टेसरी ने अनेक प्रकार की शिक्षण सामग्रियों का आविष्कार किया जिससे आँख, कान, हाथ आदि द्वारा कार्य करने, अनुभव करने और ज्ञान प्राप्त करने की प्रशिक्षा दी जाती है। सामग्रियों के बारे में और उनके द्वारा दी जाने वाली शिक्षा के सम्बन्ध में आगे कुछ विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

माण्टेसरी प्रणाली में शिक्षण का रूप

माण्टेसरी प्रणाली में शिक्षण के सम्पूर्ण रूप को समझने के लिए निम्नलिखित बातों का जानना आवश्यक है—

---

1. Mascular Training.

(१) विद्यालय भवन और वातावरण

(२) शिक्षोपकरण

(३) शिक्षण-विधि

१—विद्यालय भवन और वातावरण—जिस प्रकार फ्रोबेल ने अपने शिशु वद्यालय का नाम किंडर गार्टन अर्थात् बच्चों का बाग रखा था उसी प्रकार माण्टेसरी विद्यालय 'बाल भवन' (चिल्ड्रेन्स होम) कहे जाते हैं। दोनों नाम के पीछे मूल भावना एक ही है अर्थात् शिशु विद्यालय के लिए ऐसा स्थान होना चाहिए जहाँ बालक साहजिकता, आत्मीयता, स्फूर्ति और उल्लास का अनुभव कर सकें। माण्टेसरी विद्यालय का वातावरण बिल्कुल घर जैसा होता है और बालक जब चाहें तब खेलते या पढ़ते हैं।

विद्यालय में एक बड़ा कमरा होता है जिसमें रखे हुए उपकरणों एवं यन्त्रों से बालक खेलते और क्रिया द्वारा सीखते हैं। इस कमरे से संलग्न अन्य छोटे-छोटे कमरे होते हैं जो स्नान, भोजन, विश्राम, गोष्ठी तथा शारीरिक श्रम कक्ष के रूप में प्रयुक्त होते हैं। इस भवन के पास ही बालकों के खेलने के लिए उपवन या बाटिका रहती है जहाँ बालक खेलते-कूदते हैं अथवा इच्छानुसार यन्त्रों द्वारा सीखने का काम भी करते हैं। वे यहाँ भोजन भी कर सकते हैं।

विद्यालय भवन में शिशुओं के अनुकूल छोटी-छोटी मेजें, कुर्सियाँ और आलमारियाँ रखी रहती हैं। बच्चे कुर्सियों पर बैठकर आराम से लिख-पढ़ सकते हैं। सुविधानुसार अपनी कुर्सी इधर-उधर खिसका सकते हैं। अपनी कुर्सी, मेज आदि सामानों की सफाई का उत्तरदायित्व उन्हीं पर छोड़ दिया जाता है। सामान रखने के लिए मेजों में दराज की व्यवस्था रहती है जिससे वे अपना सामान सँभालकर रख सकें। बड़े कमरे में काफी नीचे श्यामपट्ट बने होते हैं जिससे वे जब चाहें तब ड्राइंग या चित्र बना सकें।

सीखने के कक्ष में सभी शैक्षणिक उपकरण व्यवस्थित ढंग से रखे रहते हैं। इन उपकरणों के लिए लम्बे-लम्बे और थोड़ी ऊँचाई वाले सन्दूक होते हैं जिससे बालक स्वयं उसमें से उपकरणों को निकाल सकें और काम कर लेने पर रख सकें। इन सन्दूकों का ऊपरी भाग बालक स्वयं फूल-पत्तियाँ बनाकर सजाए रहते हैं। ये उपकरण अनेक प्रकार के होते हैं और सुविधा तथा इच्छानुसार प्रयोग करते हैं। इस प्रणाली में इन उपकरणों के प्रयोग में एक बात पर विशेष बल दिया जाता है कि 'एक समय एक प्रकार का उपकरण केवल एक ही ज्ञानेन्द्रिय के शिक्षा के लिए प्रयुक्त किया जाय।' माण्टेसरी का मत था कि एक ज्ञानेन्द्रिय के प्रशिक्षण और उसे सक्रिय बनाने के समय दूसरी ज्ञानेन्द्रिय को सक्रिय नहीं बनाना चाहिए।

शिक्षोपकरणों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के सामान जैसे बैठने के लिए विभिन्न रंगों के आसन, खिलाने, मनोरंजन की अन्य सामग्री, गाने-बजाने के सामान, नाप-तौल के यन्त्र आदि भी कमरे में रखे रहते हैं। इनका प्रयोग बालक स्वयं सीखता है।

स्नान कक्ष में थोड़ी ऊँचाई पर नल लगे होते हैं जिससे बालक स्वयं ही उनका उपयोग कर सकें। ड्रेसिंग कक्ष में आलमारी रहती है जिसमें बालक साबुन, तौलिया तथा अन्य सामान रखते हैं। भोजन कक्ष में शिशुओं की ऊँचाई के अनुसार ही मेज और कुर्सियाँ रखी रहती हैं। दराजों में चम्मच, चाकू, मेजपोश, रूमाल, तश्तरियाँ आदि रहती हैं। बालक इनकी देखभाल रखता है और स्वच्छता का ध्यान रखता है। वह अपनी कुर्सी और मेज इच्छानुसार लगाने के लिए स्वतन्त्र है।

अपने कमरों में बालकों को स्वयं काम करने की प्रशिक्षा दी जाती है। कमरा झाड़ना, फर्नीचर स्वच्छ रखना, भोजन परसना, कपड़ा धोना आदि दैनिक कार्य वे नियमित रूप से करते हैं। इससे उनमें आत्मनिर्भरता आ जाती है। घर में ऊँचाई मापने का यन्त्र भी रहता है जिससे बालक अपनी ऊँचाई मापते हैं और उसका रेकार्ड भी रखते हैं।

—शिक्षोपकरण—माण्टेसरी ने स्वयं अनेक शिक्षोपकरण तैयार किए यद्यपि उन्होंने फ्रोबेल तथा सेग्विन के शिक्षोपकरणों से भी बहुत-सी बातें लीं। इन्हें डिडेक्टिक आप्रेटस कहते हैं। इन उपकरणों से बालकों को व्यावहारिक कुशलता प्रदान करने, दैनिक जीवन के कार्यों को संपन्न करने की विधि सिखाने और ज्ञानेन्द्रियों को प्रशिक्षित करने में पर्याप्त सहायता मिलती है। ये उपकरण 'सरल से कठिन की ओर' के शिक्षण सिद्धान्त के अनुसार क्रमायोजित किए गए हैं। इनमें से कतिपय के उदाहरण आगे 'ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा' के सिलसिले में दिए गए हैं। इन उपकरणों का प्रमुख उद्देश्य बालकों को आकार-प्रकार एवं पदार्थगत समानता-असमानता की सूक्ष्म पहचान की शक्ति प्रदान करना है। सामान्य उपकरण निम्नलिखित हैं—

१—छोटे-बड़े आकार के घन जिन्हें बच्चे कई प्रकार से ऊपर-नीचे रखकर वस्तुएँ बनाते हैं और उनके वजन का अन्दाज लगाते हैं।

२—छोटे-बड़े आयताकार लकड़ी के कुन्दे जिन्हें बच्चे भिन्न-भिन्न प्रकार से रखकर दीवार, सीढ़ी आदि तैयार करते हैं।

३—विविध आकारों के आयताकार डब्बे जिन्हें क्रम से रखकर बच्चे

लम्बी या चौड़ी सीढ़ियाँ तैयार करते हैं। इनके बनाने में बालक अपनी त्रुटियाँ स्वयं सुधार लेते हैं।

४—कई प्रकार के छोटे-बड़े बेलन।

५—विभिन्न नाप के लकड़ी के गुटके तथा एक छेदों वाला तख्ता जिसमें वे बैठाये जा सकें। बालक यदि किसी छेद में गलत गुटका डाल देता है तो उसे अपनी गलती अन्त में मालूम हो जाती है और वह सुधार कर लेता है।

६—रंगों की पहचान के लिए अनेक प्रकार के रंगों की टिकियाँ।

७—विभिन्न चिकनी और खुरदरी, कोमल और कठोर वस्तुएँ जिन्हें बच्चे आँखें बन्द करके स्पर्श करते और कोमलता एवं कठोरता का अनुभव करते हैं।

८—लकड़ी के अक्षर जिन्हें एक साथ रखकर शब्द बनाना सीखते हैं।

३—शिक्षण विधि—मान्टेसरी प्रणाली में शिक्षण विधि को हम तीन भागों में समझ सकते हैं—

१—कर्मेन्द्रियों की शिक्षा[1], २—ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा[2], ३—भाषा एवं गणित की शिक्षा।

१—कर्मेन्द्रियों की शिक्षा—यह लिखा जा चुका है कि बालकों को आत्मनिर्भर बनाने के लिए बाल-घर में सारा कार्य करना पड़ता है। इन कार्यों से उनकी कर्मेन्द्रियों का प्रशिक्षण अपने आप हो जाता है। नित्य क्रिया सम्बन्धी सारे कार्य हाथ-मुँह धोना, शौच, स्नान आदि, कपड़े पहनना, फर्नीचर ठीक रखना तथा सजाना, कमरा साफ करना, भोजन परसना, बर्तन साफ करना, कुर्सी-मेज की व्यवस्था आदि ऐसे कार्य हैं जिनसे उनके हाथों तथा अन्य शारीरिक अंगों को प्रशिक्षण मिलता है। बालकों को ऐसे शैक्षिक उपकरण दिए जाते हैं जिनके प्रयोग से यह शिक्षा मिलती है जैसे रबड़ या कपड़े में बटन या हूक लगाना, कपड़ों के टुकड़ों को जोड़ना, पहले से बने निशानों पर सीना तथा अन्य छोटे-मोटे काम दिए जाते हैं जिन्हें बालक स्वयं प्रयत्न करके सीख लेते हैं। इन कार्यों से कर्मेन्द्रियों की शिक्षा के साथ-साथ बालकों में व्यावहारिक कुशलता भी आती है। बालकों से उनकी अवस्था के अनुसार शारीरिक व्यायाम भी कराए जाते हैं। शारीरिक व्यायामों एवं कार्यों को रुचिकर बनाए रखने के लिए ताल और

1. Motor education.

लय के साथ संगीत का भी प्रयोग किया जाता है। इससे बच्चे बड़े मनोयोग एवं तन्मयता के साथ कार्य करते हैं।

२—ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा—ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा इस प्रणाली की सबसे बड़ी विशेषता है। इसे ६ वर्ष तक के शिशु सूक्ष्म विचारों को नहीं ग्रहण कर सकते अतः इस अवस्था की सबसे बड़ी आवश्यकता ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा है।

ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा के लिए अनेक शिक्षोपकरणों की व्यवस्था की जाती है। पर इस बात का अवश्य ध्यान रखा जाता है कि एक समय एक ही ज्ञानेन्द्रिय को सक्रिय रखा जाय। ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा अनिवार्यतः स्वयं शिक्षा है क्योंकि बालक ही देखने, सुनने, छूने या सूँघने का काम करते हैं, शिक्षक उनके लिए यह काम कैसे कर सकता है? अतः बालक स्वयं ही कार्यों द्वारा अपनी ज्ञानेन्द्रियाँ प्रशिक्षित करते हैं। ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा में बालकों को स्वयं संशोधन का अवसर भी पर्याप्त मिलता है क्योंकि अधिकांश शिक्षोपकरण इस प्रकार के हैं कि बालक उनके प्रयोग एवं अभ्यास में अपनी त्रुटियाँ स्वयं जान लेते हैं और आवश्यक सुधार कर लेते हैं। निम्नांकित कतिपय शिक्षोपकरणों के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

(१) लकड़ी के तीन कुलक (सेट्स) या कुन्दे जिनमें प्रत्येक में दस छोटे-छोटे बेलनों की पंक्ति रहती है और इन बेलनों के अनुरूप दस-दस छेदों वाले तीन तख्ते। इन तीनों का प्रयोग और अभ्यास क्रम से कराया जाता है।

पहला अभ्यास बहुत ही सरल है। बालक बेलनाकार लकड़ी के टुकड़ों को एक तख्ते में बने हुए छेदों में बैठाते हैं। ये बेलन एक ही ऊँचाई के होते हैं पर उनके व्यास भिन्न-भिन्न होते हैं अतः बालक को ध्यान रखना पड़ता है कि समान व्यास वाले छेद और बेलन ही आपस में ठीक से बैठ सकते हैं। यदि बालक असमान व्यास वाले छेद में बेलन बैठाने की कोशिश करता है तो वह असफल होता है क्योंकि बड़े छेद में पतला बेलन अथवा छोटे छेद में मोटा बेलन नहीं बैठ सकता। अतः बालक अपनी त्रुटि स्वयं सुधार लेता है।

इसी क्रम में दूसरा अभ्यास कुछ कठिन है क्योंकि इसमें विभिन्न बेलनों की ऊँचाई और व्यास दोनों में अन्तर होता है। अतः बालक को ऊँचाई और व्यास दोनों का ध्यान रखकर वैसे ही छेद में बेलनों को बैठाना पड़ता है।

इस क्रम में तीसरा अभ्यास और भी कठिन है क्योंकि इसमें बेलनों का व्यास तो समान होता है पर उनकी ऊँचाई में अन्तर होता है। अतः छेदों की

गहराई का ठीक अनुमान करके ही बेलनों को लगाया जा सकता है अन्यथा अधिक गहरे छेद में कम ऊँचा बेलन पर वह बहुत नीचे चला जायगा।

इन अभ्यासों से बालकों की स्पर्शेन्द्रिय एवं निरीक्षण शक्ति की प्रशिक्षा होती है और बालक विभिन्न आकारों की समानता, असमानता की पहचान करने लगता है।

(२) विभिन्न आकार के लकड़ी के घन एवं रंगीन छड़ें। लकड़ी के घनों से बालक विभिन्न आकार एवं स्वरूप की वस्तुएं जैसे मीनार, सीढ़ियाँ और बेंचें बनाता है। वह धीरे-धीरे सीखता है कि छोटे-बड़े आकार वाले टुकड़ों में किसे और कहाँ रखकर कैसी वस्तु बनाई जा सकती है। इस अभ्यास द्वारा बालकों को लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई, छोटा, बड़ा आदि का तुलनात्मक परिचय हो जाता है। इनसे भी नेत्रेन्द्रिय को प्रशिक्षण मिलता है और पहचान की शक्ति बढ़ती है। ये उपकरण फ्रोबेल द्वारा प्रणीत उपकरणों से काफी मिलते-जुलते हैं।

इस क्रम में बालकों को ऐसे आयताकार तख्ते भी दिए जाते हैं जिनके कुछ भाग चिकने और कुछ खुरदुरे होते हैं। बालक स्पर्श द्वारा चिकनापन और खुरदरापन का अनुभव करते हैं। स्पर्शेन्द्रिय के प्रशिक्षण के लिए बालकों को एक ही आकार-प्रकार के रूमालों से भरा डब्बा देते हैं और बालक को एक रूमाल देकर वैसा ही रूमाल डब्बे से निकालने के लिए कहा जाता है। स्पर्श द्वारा बालक कपड़े की बारीकी या मोटाई की पहचान करता है।

(३) अनेक प्रकार के बेलन, गोला, स्तूप आदि उपकरण जिनसे बालक विभिन्न रूपों एवं आकारों की वस्तुएँ तैयार करते हैं।

बालकों को नेत्रेन्द्रिय प्रशिक्षण के लिए विभिन्न रंगों की टिकियाँ दी जाती हैं। ये टिकियाँ समान आकार-प्रकार की होती हैं पर रंगों में भिन्नता रहती हैं। बालकों से एक समय एक ही रंग की टिकियों को निकालने के लिए कहा जाता है और क्रम से वे विभिन्न रंगों की पहचान कर लेते हैं। रंगों की विशेष पहचान के लिए दो सन्दूक रहते हैं जिनमें ६४ टिकियाँ होती हैं। बालक प्रत्येक रंग की गोलियों को पृथक्-पृथक् करता है। इन गोलियाँ में एक रंग के विविध छाया रंगों की गोलियाँ भी होती हैं और बालक उनकी पहचान भी धीरे-धीरे कर लेता है।

(४) रेखागणित सम्बन्धी आकृतियों की पहचान कराने के लिए एक बड़ा सन्दूक होता है जिसमें ६ दराजें होती हैं और उन दराजों की सतह पर रेखागणित सम्बन्धी आकृतियाँ (वृत्त, त्रिभुज, चतुर्भुज आदि) बनी होती हैं।

एक दराज पर एक ही प्रकार की आकृतियाँ होती हैं पर वे विभिन्न नाप की अर्थात् छोटी-बड़ी होती हैं। इन आकृतियों के अनुरूप लकड़ी की आकृतियाँ बनी हुई रखी रहती हैं। बालक लकड़ी की आकृतियों को दराज पर बनी आकृतियों में से समान आकृति खोज कर रखता है। यदि लकड़ी की आकृति दराज की सतह पर बनी आकृति को सब प्रकार से ठीक-ठीक ढक ले तो मान लेते हैं कि बालक को एक समान आकृति की पहचान हो गई। इस अभ्यास से बालक को लिखने और ड्राइंग की शिक्षा की आधार-भूमि भी तैयार हो जाती है। इनके अतिरिक्त गत्तों पर भी कागज की बनी हुई रेखागणित सम्बन्धी तरह-तरह की आकृतियाँ चिपकी रहती हैं जिनसे बालकों को इनकी पहचान हो सके।

(५) श्रवण सम्बन्धी ज्ञानेन्द्रिय की प्रशिक्षा के लिए बजने वाली घण्टियों की मालाएँ, लकड़ी के बने हुए पट्टे जिनमें संगीत में काम आने वाली लकीरें होती हैं तथा स्वरों के लिए लकड़ी के छोटे-छोटे टुकड़े रहते हैं। इनसे संगीत-शिक्षण और ध्वनि सम्बन्धी ज्ञानेन्द्रिय का प्रशिक्षण होता है।

(६) घ्राणेन्द्रिय एवं स्वादेन्द्रिय प्रशिक्षण के लिए अनेक बोतलों में नमक, चीनी, काफी, सोडा आदि वस्तुएँ रखी रहती हैं और बालक उन्हें चखकर, सूँघकर उनकी पहचान करता है।

इसी प्रकार विभिन्न ऊन के गोले, आयताकार एवं चिकनी, खुरदरी सतह वाली मेजें, अनेक छोटे-बड़े तथा विभिन्न भार वाले लकड़ी के कुन्दे रहते हैं जिनके प्रयोग से बालकों की ज्ञानेन्द्रियों को प्रशिक्षित होने का अवसर प्रदान किया जाता है।

माण्टेसरी ने बालक के व्यक्तित्व विकास की दृष्टि से ही ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा पर इतना अधिक बल दिया है। इस प्रणाली में बालक स्वयं ही विविध उपकरणों का प्रयोग करता है, वह निर्माता भी है और सुधारक भी। शिक्षक उसे प्रोत्साहित और प्रेरित करता रहता है जिससे बालक में आत्मविश्वास, अनु-संधान, धैर्य और आत्मनिर्भरता के गुण पैदा हो सकें।

३—**भाषा और गणित की शिक्षा**—यह लिखा जा चुका है कि ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा केवल विकास का ही साधन नहीं है बल्कि इसके द्वारा लिखने-पढ़ने की प्रारम्भिक शिक्षा का आधार भी तैयार हो जाता है।

पहले माण्टेसरी का यह विचार नहीं था कि इतने छोटे बच्चों को पढ़ने-लिखने अथवा प्रारम्भिक गणित की शिक्षा दी जाय किन्तु उन्होंने देखा कि

शैक्षिक उपकरणों से खेलने एवं काम करने में बच्चे स्वतः पढ़ने-लिखने की ओर उन्मुख हो उठते हैं। अतः उन्होंने इस प्रकार के कुछ अभ्यास एवं कार्य जोड़ दिए जिनसे बालक इन विषयों की शिक्षा की ओर प्रवृत्त हो सके। उदाहरणतः लिखना, पढ़ना और प्रारम्भिक गणित का ज्ञान निम्नलिखित ढंग से दिया जाता है :—

लिखना—इस प्रणाली में 'लिखने' की शिक्षा 'पढ़ने' की शिक्षा से पहले दी जाती है। लिखने की शिक्षा इस प्रणाली की प्रशंसनीय विशेषता है। लगभग ४ वर्ष की अवस्था तक बच्चा मांसपेशियों के संतुलन में कुछ-कुछ सक्षम हो जाता है और अँगुलियों के संचालन में भी कुछ नियंत्रण प्राप्त कर लेता है। इसी समय कुछ खेलों और क्रियाओं के माध्यम से वह लिखना सीखता है। लिखने की शिक्षा में तीन क्रियाएँ आवश्यक हैं—

(i) कलम, पेंसिल आदि पकड़ने का अभ्यास—कागज या पाटी पर विभिन्न आकृतियाँ अथवा चित्र खींचकर बालकों से उनकी रेखाओं पर पेंसिल चलाने या घुमाने का अभ्यास कराया जाता है। बार-बार चलाने और घुमाने से बालक पेंसिल पकड़ने और उसे इच्छानुसार घुमाने का अभ्यास कर लेता है।

(ii) अक्षरों का स्वरूप समझने का अभ्यास—किसी चिकने सादे कागज या पटरी पर सैण्डपेपर से बने हुए अक्षरों के कार्ड चिपकाकर बच्चों को दिए जाते हैं। एक कार्ड पर एक अक्षर रहता है। बालक उस पर बार-बार अँगुली फेरता है और यहाँ तक कि आँखें बन्द करके भी उस अक्षर पर शीघ्रता से अँगुली फेर लेते हैं। इस प्रकार प्रत्येक अक्षर की आकृति और बनावट की पहचान हो जाती है और उसकी आकृति स्वयं बनाने के लिए अँगुलियाँ अभ्यस्त हो जाती हैं।

(iii) उच्चारण द्वारा अक्षरों का ज्ञान—जब बालक उपर्युक्त विधि द्वारा अक्षर के स्वरूप से परिचित हो जाता है तब शिक्षक की सहायता से अक्षर पर अँगुली फेरते समय उस अक्षर का उच्चारण भी करता जाता है और बार-बार अभ्यास द्वारा ध्वनि तथा अक्षर की आकृति में पूर्ण साहचर्य स्थापित कर लेता है। तत्पश्चात् वह स्वयं उच्चरित अक्षर लिखने लगता है। बालक डेढ़ महीने में ही इस अभ्यास से अक्षर लिखना जान जाता है।

पढ़ना—बच्चे लिखना सीखते समय ही अक्षरों तथा अनेक शब्दों की ध्वनि से परिचित हो चुके होते हैं। अब उन्हें एक डिब्बा दिया जाता है जिसमें कार्ड बोर्ड के कटे हुए अक्षर रहते हैं। प्रत्येक डिब्बे में तीन-तीन या चार-चार

की संख्या में अक्षर रहते हैं और वे निश्चित खानों में लगे रहते हैं। शिक्षक शब्द के प्रत्येक अक्षर का सावधानी एवं स्पष्ट उच्चारण करते हुए उस शब्द को बोलता है। बालक अपने डिब्बे के अक्षरों में से शिक्षक के उच्चारण के अनुसार अपेक्षित अक्षरों को छाँटता है और उन्हें क्रम से रखकर उस शब्द की रचना करता है। इस प्रकार बारी-बारी से जब वह अनेक शब्द बना चुकता है तब उन्हें वह अध्यापक के सम्मुख पढ़ता है। इस प्रकार पढ़ने का अभ्यास हो जाता है और उसके पास ऐसा शब्द भंडार हो जाता है जिनसे लिखने और पढ़ने दोनों का ज्ञान हो जाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि लिखना-पढ़ना सिखाने की दृष्टि से माण्टेसरी प्रणाली सर्वोत्तम प्रणाली है। चार वर्ष का बालक केवल डेढ़ महीने में इतना अभ्यास कर लेते हैं कि वे साधारण स्कूलों के आठ वर्ष के बच्चों की अपेक्षा अधिक सुन्दर अक्षर लिखने लगते हैं। मांटेसरी प्रणाली में पढ़ने की क्रिया लिखने के बाद आती है। बालक जब अपने लिखे शब्दों को पढ़ने लगता है तब शिक्षक कुछ कार्डों का पैकेट उसे देता है। प्रत्येक कार्ड पर कक्षा भवन की किसी वस्तु का नाम लिखा होता है। बालक कमरे में दौड़-दौड़कर प्रत्येक कार्ड को उस वस्तु पर रखता है जिसका नाम कार्ड पर लिखा होता है। इस क्रिया में बालक बड़ा आनन्द लेता है। इस अभ्यास के बाद उन्हें वाक्यांश या वाक्य लिखे कार्ड दिए जाते हैं—जैसे 'खड़े हो', 'दरवाजा खोलो', 'तीन बार कूदो' आदि। बालक उन्हें पढ़ता है और उन पर लिखे हुए निर्देशों का पालन करके अपने समझने की योग्यता प्रकट करता है।

गणित—बालकों को खेलने के लिए जो उपकरण दिए जाते हैं, उनसे वह स्वतः प्रारम्भिक गणित—गिनना, जोड़ना, घटाना आदि जानने के लिए प्रयत्नशील होता है। उदाहरणतः गोलियों तथा लकड़ी के टुकड़ों से बनी हुई सीढ़ियों से वे आगे-पीछे गिनना जान जाते हैं। फिर कुछ वस्तुओं को आधा, तिहाई और चौथाई में विभक्त करना, उन्हें दुगना-तिगुना करना अथवा एक साथ रखकर गिनना आदि क्रियाएँ प्रारम्भिक गणित की ज्ञान-प्राप्ति के लिए उन्हें अग्रसर करती हैं।

मांटेसरी प्रणाली की विशेषताएँ

इस प्रणाली के आधारभूत सिद्धांतों एवं शिक्षण विधि के आधार पर हम इसकी विशेषताएँ और गुण जान सकते हैं। ये विशेषताएँ इस प्रकार हैं:—

१—यह प्रणाली बाल मनोविज्ञान पर आधारित है, क्योंकि इसमें स्वानुभव द्वारा सीखने पर बल दिया जाता है। शिशुओं अर्थात् तीन से सात

वर्ष तक के बच्चों के लिए यह बहुत उपयोगी है। बच्चे खेल-खेल में बहुत-सी बातें सीख जाते हैं। स्वतंत्र वातावरण, स्वतन्त्र क्रिया एवं खेल इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं। बच्चा सक्रिय रहता है और स्वयं-शिक्षा के आधार पर उसका स्वाभाविक विकास सम्भव होता है।

२—इस प्रणाली में बच्चों को स्वयं विकास की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की जाती है। बालक अपनी शक्ति एवं गति के अनुसार विकास करता है, उसे आत्माभिव्यक्ति का पूर्ण अवसर मिलता है और उसकी आन्तरिक शक्तियों का उचित रीति से विकास होता है। स्वयं-विकास का सिद्धान्त अपनाने से बालक में आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता, निर्भीकता, अनुसन्धान तथा आत्मशोध की भावना जगती है।

३—बच्चों की रुचि, प्रकृति एवं धारणा-शक्ति के अनुसार शिक्षण-विधि अपनाई जाती है। इससे बालक की वैयक्तिक विशेषताओं के विकास पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

४—ज्ञानेन्द्रियों की विशेष प्रशिक्षा से बालकों के शारीरिक एवं बौद्धिक विकास में सहायता मिलती है। मांसपेशियों की प्रशिक्षा से छोटे-छोटे बच्चे भी अपने अंगों पर नियन्त्रण एवं गति प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं।

५—बाहर से कोई हस्तक्षेप न होने से बालक में स्वानुशासन की भावना जागरित होती है। आत्म-संयम, धैर्य एवं अनुशासन का पाठ वह अनुभव से ही पढ़ लेता है।

६—दैनिक जीवन के कार्यों की प्रशिक्षा से बालक में व्यावहारिक कुशलता आ जाती है और वह सामाजिक आचार-विचार एवं शिष्टाचार से परिचित हो जाता है।

७—लिखने-पढ़ने की शिक्षा की दृष्टि से भी यह पद्धति उत्तम है। इसका विस्तृत उल्लेख पहले किया जा चुका है।

८—अधिकांश शिक्षोपकरण इस प्रकार के हैं कि बालक स्वयं ही अपनी त्रुटियों को ढूँढ़ लेता है। उदाहरण के लिए एक लकड़ी के ब्लाक में विभिन्न व्यास के १० छेद बने रहते हैं और उनमें बैठाने के लिए १० लकड़ी के बेलन बच्चों को दिये जाते हैं। निश्चित ही बालक छोटे छेद में बड़ा बेलन नहीं बैठा सकता और यदि बड़े छेद में छोटा बेलन बैठा दिया तो अन्त में एक ऐसा बेलन रह जायगा जो अन्तिम बचे हुए छेद में नहीं जा सकता है। अतः उसको अपनी गलती मालूम हो जाती है और छेद के घेरे के अनुसार ही वह बेलन बैठाता है।

मांटेसरी पद्धति की आलोचना—शिशु-शिक्षा-प्रणालियों में मांटेसरी प्रणाली जितनी अधिक प्रिय और प्रचलित प्रणाली है, उतनी ही अधिक इसकी आलोचना भी हुई है। जहाँ एक ओर प्रो० टी० पी० नन इसके बड़े प्रशंसक हैं और कहते हैं कि इस प्रणाली में बच्चों का पूर्ण विकास सम्भव है वहाँ दूसरी ओर अमेरिकन शिक्षाशास्त्री किलपेट्रिक इस प्रणाली के बड़े विरोधी हैं। उन्होंने "मांटेसरी इक्जामिन्ड" पुस्तक में तथा जर्मन शिक्षा-विशेषज्ञ विलियम स्टर्न ने "साइकोलाजी आफ अर्ली चाइल्डहुड" में इस प्रणाली की कड़ी अलोचना की है। इस प्रणाली में निम्नांकित दोष बताये जाते हैं :—

१—मांटेसरी द्वारा मान्य 'व्यक्तित्व' सम्बन्धी विचार अवैज्ञानिक है। उन्होंने 'व्यक्तित्व' के सम्बन्ध में केवल 'जीव-विज्ञान' के आधार पर ही अपनी धारणा बना ली थी और सामाजिक शक्तियों को कोई महत्त्व नहीं दिया था। पर मनुष्य के व्यक्तित्व को ठीक से समझने के लिए हमें जीव-विज्ञान तथा समाज-विज्ञान दोनों का आश्रय लेना पड़ता है। केवल जीव-विज्ञान को आधार मान लेने से व्यक्तित्व केवल कुछ वंशानुगत बीजकोषों का ही पुंज रह जाता है जो सर्वथा अवैज्ञानिक विचार है।

२—माण्टेसरी ने छोटे बच्चों में मानसिक क्रियाओं का अभाव समझकर उनकी ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा पर ही अत्यधिक बल दिया है। उनका कथन है कि ज्ञानेन्द्रियाँ मानसिक क्रिया का ही प्रारम्भिक एवं सरल रूप हैं और मानसिक विकास के लिये ज्ञानेन्द्रियों की प्रशिक्षा बहुत आवश्यक है। आधुनिक मनोविज्ञान का कहना है कि ज्ञानेन्द्रिय प्रशिक्षा से मानसिक विकास में थोड़ी बहुत सहायता अवश्य मिलती है पर उसी से सम्पूर्ण मानसिक विकास सम्भव नहीं है। अतः ज्ञानेन्द्रिय-शिक्षा के साथ साथ मानसिक विकास की शिक्षा आवश्यक है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार मानसिक विकास के लिए संवेगों की प्रशिक्षा ज्ञानेन्द्रिय शिक्षा से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

कुछ आलोचकों का यह कथन है कि ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा तो सामान्य शिक्षा के क्रम में अपने आप ही होती चलती है, उसके लिए अलग प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं। यदि आवश्यकता महसूस भी हो तो वह आगे किसी भी समय प्राप्त की जा सकती है। अतः बालक की सम्पूर्ण आवश्यकताओं और विकास को ध्यान में रखना ज्ञानेन्द्रिय शिक्षा पर नये सिरे से विचार करने की आवश्यकता है और यह भी देखने की जरूरत है कि ज्ञानेन्द्रिय शिक्षा पर इतना समय न दिया जाय कि बालक की अन्य शक्तियों एवं योग्यताओं के विकास में बाधा पड़े।

ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा पर इतना बल देने से मन्द बुद्धि के बालकों को तो लाभ भी हो जाता है, पर सामान्य बालकों का इतना समय व्यर्थ जाता है, क्योंकि उनकी ज्ञानेन्द्रिय शिक्षा अपने आप जीवन विकास के क्रम में हो जाती है।

इस प्रणाली में ज्ञानेन्द्रिय शिक्षा का दोष यह भी है कि एक समय एक ही ज्ञानेन्द्रिय की प्रशिक्षा पर जोर दिया जाता है। मान्टेसरी द्वारा निर्दिष्ट ज्ञानेन्द्रिय शिक्षा प्राचीन शक्ति मनोविज्ञान पर आधारित है जिसमें यह माना जाता था कि मस्तिष्क विभिन्न शक्तियों का समुदाय है। पर अब 'शक्ति मनोविज्ञान' पुराना पड़ गया है। मस्तिष्क भिन्न-भिन्न शक्तियों का समूह नहीं है बल्कि वह एक इकाई है। अतः उसमें पृथक्-पृथक् अनेक अस्तित्व मानकर उन्हें विकसित करने का प्रयत्न अमनोवैज्ञानिक है।

३—इस प्राणाली में लिखने-पढ़ने की शिक्षा अक्षर से प्रारम्भ होती है जो आज की मनोवैज्ञानिक विधि के विरुद्ध है। भाषा की इकाई वाक्य और शब्द हैं, क्योंकि किसी वस्तु, भाव या विचार का पूर्ण चित्र वाक्य और शब्द से से बनता है अतः वाक्य एवं शब्द से होते हुए अक्षर बोध करना ही मनोवैज्ञानिक विधि है।

किलपैट्रिक महोदय के अनुसार इस प्रणाली में किताबी शिक्षा पर अनावश्यक बल दिया जाता है। ४-५ वर्ष में ही लिखने-पढ़ने तथा प्रारम्भिक गणित की शिक्षा कच्चे फल को जबर्दस्ती पकाने के समान है।

४—इस प्रणाली में एक बहुत बड़ा दोष है बालकों की भावात्मक शिक्षा का अभाव। प्रत्येक कार्य को ही बौद्धिक बना दिया जाता है। स्कूल के कार्य ऐसे हैं कि बालक की खेलने की सहज प्रवृत्ति को संतुष्ट होने का अवसर नहीं मिलता। वास्तविक खेल के लिए इस प्रणाली में कोई स्थान नहीं। जिन क्रियाओं को माण्टेसरी खेल कहती हैं वे क्रियाएँ साभिप्राय सीखने के साधन हैं और उनमें बच्चों को वह आनन्द नहीं मिलता जो खेल में मिलता है।

कल्पनात्मक एवं क्रियात्मक खेलों के अभाव के कारण बच्चों के संवेगों एवं भावों का विकास और परिष्कार नहीं हो पाता। बालकों को किसी नाटक में भाग लेने का, काल्पनिक कहानियों जैसे पौराणिक या परियों की कहानियाँ सुनने का अवसर नहीं दिया जाता। अतः बच्चों का अनुरंजन नहीं हो पाता, कल्पनाशक्ति विकसित नहीं होती। उत्सुकता दब जाती है, भावानुभूति की शक्ति मन्द पड़ जाती है।

५—सौन्दर्य बोध की शक्ति के विकास के लिए भी इस प्रणाली में कोई स्थान नहीं। बालकों को गाने, नाचने, अभिनय करने, चित्र देखने, चित्र बनाने, रिकार्ड बजाने आदि का अवसर नहीं मिलता। पर ये कार्य बच्चों को बड़े प्रिय होते हैं। अतः इनके अभाव में भावप्रकाशन, रचनात्मक प्रतिभा एवं कल्पनात्मक शक्ति का विकास नहीं हो पाता।

६—इस प्रणाली में सामाजिक भावना के विकास के लिए भी अवसर नहीं दिया जाता। प्रत्येक कार्य व्यक्तिगत दृष्टि से ही रखा जाता है। सामूहिक शिक्षा का सर्वथा अभाव रहने से बालकों को परस्पर विचार विनिमय करने एवं सहयोग की भावना विकसित करने का अवसर नहीं मिलता। आज की शिक्षा में जिस समाजीकरण पर इतना बल दिया जाता है और बालक के विकास के लिए जिसे बहुत आवश्यक समझा जाता है उसका इस प्रणाली में पूर्ण अभाव है।

७—इस प्रणाली में एक बड़ी कठिनाई है समुचित पाठ्यक्रम की रचना। माण्टेसरी चाहती है कि सब कुछ बालकों की अन्तःप्रकृति से ही स्वाभाविक रूप में स्फुरित हो। पर शिक्षा की दृष्टि से सभी आवश्यक बातें बच्चों के अन्तस् में नहीं निकास पातीं। वे स्वयं चिन्तित थीं कि धार्मिक शिक्षा को हम पाठ्यक्रम में कैसे ले आवें।

८—स्वयं शिक्षा का सिद्धांत भी दोषपूर्ण है। इस प्रणाली में बालक स्वयं ही सीखने का काम करता है, अपनी त्रुटि ढूँढ़ता है और संशोधन करता है। अध्यापक उसके काम में हस्तक्षेप नहीं करता। पर इससे बालक के विकास की गति मन्द हो जाती है। बहुत-सी बातें ऐसी हैं जिन्हें शिक्षक की सहायता से वह शीघ्रता से सीख लेता है और विकास की प्रक्रिया तेज हो सकती है।

९—शिक्षक केवल शिक्षा द्वारा ही नहीं, अन्य अनेक प्रकार से भी बालक के विकास में सहायक सिद्ध होता है; जैसे आचार-विचार, वेश-भूषा, वाणी एवं सम्पूर्ण व्यक्तित्व द्वारा। इस प्रणाली में बालक इस प्रभाव से वंचित रह जाता है। इस प्रणाली में वातावरण के प्रभाव को विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता है। मांटेसरी का कहना था कि बालक के अतःकरण में सब कुछ विद्यमान है और उन्हीं के विकास का प्रयत्न होना चाहिए। पर यह कथन अवैज्ञानिक है। बालक बहुत-सी बुरी बातें वातावरण से सीख लेता है जिन्हें रोकने की आवश्यकता पड़ती है। शिक्षक का कर्त्तव्य है कि आवश्यकतानुसार ठीक मनो-

वैज्ञानिक त्रुण को पहचानते हुए बालक की अनुचित प्रवृत्तियों को रोके और उचित प्रवृत्तियों को उत्पन्न करे।

१०—इस प्रणाली में 'स्वतन्त्रता का सिद्धांत' भी व्यावहारिक रूप में परिणत नहीं किया जाता यद्यपि सिद्धान्त में इस पर बहुत बल दिया जाता है। बालकों को जो शिक्षोपकरण दिये जाते हैं, उन्हीं से खेलने के लिये वह विवश रहता है और विविध जिज्ञासा एवं कौतूहल को पूरा करने के अन्य साधन नहीं मिल पाते। इससे स्वाभाविक विकास में भी बाधा पड़ती है। निश्चित खेल और निश्चित डिडेक्टिक यन्त्रों के प्रयोग पर ही आश्रित रहने से इस प्रणाली में रूढ़ि और रीतिबद्धता-सी आ जाती है।

११—मांटेसरी ने जिन डिडेक्टिक यन्त्रों की रचना की है, उनकी भी आलोचना की जाती है क्योंकि इनसे बालकों की शिक्षा यन्त्रवत् हो जाती है और केवल उन्हीं पर आधारित रहने से बच्चों का विकास एकांगी रह जाता है। जीवन की वास्तविकताओं से भी वे परिचित नहीं हो पाते।

१२—ये शिक्षोपकरण बहुत मँहगे भी हैं जो हमारे सामान्य विद्यालयों के लिए उपलब्ध नहीं हो सकते।

किंडरगार्टेन प्रणाली एवं मांटेसरी प्रणाली पर एक तुलनात्मक दृष्टि

इन दोनों प्रणालियों के शिक्षा-सम्बन्धी सिद्धान्त, शिक्षण-विधि, सामग्री, एवं गुण-दोष-विवेचन से परिचय प्राप्त कर लेने के बाद अब हम इन दोनों प्रणालियों की तुलना कर सकते हैं। इन दोनों प्रणालियों में कुछ बातें तो एक समान हैं और कुछ में भिन्नता पायी जाती है :—

समानता

१—दोनों ही प्रणालियों का सम्बन्ध शिशु-शिक्षा (३ से ६ वर्ष तक) से है और दोनों का ही प्रचलन बहुत हुआ है। २—दोनों ही प्रणालियों में बच्चों की अन्तःशक्तियों के विकास पर जोर दिया गया है। इन दोनों में ही शिक्षा का केन्द्र बालक माना गया है। ३—दोनों प्रणालियों में विशेष प्रकार की शिक्षण-सामग्रियों एवं उपकरणों की सहायता ली जाती है और उनसे बच्चे रुचिपूर्वक अपने कार्यों में संलग्न रहते हैं। ४—दोनों ही प्रणालियाँ स्वतन्त्र वातावरण में खेल एवं क्रियात्मक पद्धति द्वारा बालकों के सहज विकास पर ध्यान देती हैं। शिक्षक निर्देशक एवं संरक्षक के रूप में रहता है, वह बलपूर्वक अपना निर्णय नहीं लादता। ५—दोनों में ही बालक को शिष्ट एवं सभ्य नागरिक बनाने पर ध्यान रक्खा जाता है।

असमानता

१—किंडर गार्टन प्रणाली का आधार फ्रोबेल के दार्शनिक विचार थे और इसी कारण उनके शिक्षा-सिद्धान्त में जटिलता-सी है। मांटेसरी प्रणाली का आधार मनोविज्ञान है।

२—किंडर गार्टन प्रणाली में बालक एक निश्चित टाइम टेबुल तथा योजना के अनुसार कार्य करते हैं, मांटेसरी प्रणाली में बच्चों को स्वतन्त्रता रहती है। वहाँ कोई पूर्व निर्धारित योजना नहीं, बल्कि बच्चे अपनी रुचि से कार्य चुन लेते हैं।

३—दोनों प्रणालियों की शिक्षण-सामग्रियाँ एवं उपकरण भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं और उनके प्रयोग की विधि भी भिन्न-भिन्न है। इनके संबंध में पहले लिखा जा चुका है।

४—किंडर गार्टन के उपकरण उपहार आदि के प्रयोग में परिवर्तन भी हो सकता है, पर मांटेसरी प्रणाली में डिडेक्टिक यन्त्रों का प्रयोग अनिवार्य माना जाता है।

५—फ्रोबेल ने बालक की कल्पना, सौन्दर्यानुभूति की शक्ति के विकास पर विशेष ध्यान दिया था, इसीलिए गीत, नाट्य, अभिनय के द्वारा शिक्षा पर जोर दिया था। खेल और क्रिया का किंडर गार्टन प्रणाली में इसीलिए अत्यधिक महत्त्व है। मांटेसरी प्रणाली में गीत एवं नाट्यों का स्थान नहीं। साथ ही खेल की स्वतन्त्रता भी अधिक नहीं। उनका खेल अधिकतर डिडेक्टिक यन्त्रों के साथ कार्य तक ही सीमित है।

६—फ्रोबेल ने अपनी शिक्षा पद्धति में बच्चों के सामाजिक भाव की अभिवृद्धि पर विशेष ध्यान रक्खा था और इसीलिए समूहिक खेलों का भी विधान आवश्यक है। मांटेसरी ने व्यक्तिगत विशेषताओं के उत्कर्ष पर ही विशेष ध्यान दिया था, इस कारण सामूहिकता का भाव उसमें नहीं उन्नत हो पाता। अतः किंडर गार्टन शिक्षा-प्रणाली में सामाजिक गुण और मांटेसरी में वैयक्तिक गुणों का उत्कर्ष अधिक सम्भव है।

हमारे देश के लिए इन प्रणालियों की उपयोगिता

विद्वानों का कथन है कि भारत जैसे गरीब देश के लिए ये प्रणालियाँ उपयुक्त नहीं हैं, क्योंकि शिशु-शिक्षा के ऊपर हमारा देश व्यय कर सकने की स्थिति में नहीं। यह आर्थिक कारण बहुत ही बड़ा कारण है। मांटेसरी प्रणाली के डिडेक्टिक यन्त्र बहुत ही खर्चीले पड़ते हैं किन्तुह में यह ध्यना

रखना है कि इन प्रणालियों की उपयोगिता केवल इनकी शिक्षण-सामग्रियों एवं उपकरणों में नहीं है, बल्कि इनके मनोवैज्ञानिक एवं शैक्षणिक उपादेयता में हैं। शिशु-शिक्षा के मनोवैज्ञानिक और शिक्षात्मक आधार इन दोनों से ही लेने पड़ेंगे। हमें मांटेसरी प्रणाली की व्यक्तिगत विशेषता और किंडर गार्टन की सामाजिक विशेषता, दोनों को ही अपनाना होगा। किंडर गार्टन के सामूहिक खेल, गीत, नाटय आदि द्वारा बच्चों के कलात्मक एवं रचनात्मक विकास को भी अपनाना होगा। संगीत, चित्र, नृत्य, कहानियाँ आदि हमें अवश्य रखने होंगे। इस प्रकार मांटेसरी प्रणाली में इन तत्त्वों का जो अभाव है, वह भी पूरा हो सकेगा। इन दोनों प्रणालियों की विशेषताओं को लेते हुए, उन्हें अल्प व्यय-साध्य बनाकर हमारे देश में भी शिशु-शिक्षा-संस्थाओं का प्रचलन होना चाहिए, पर यह स्थिति उस समय तक सम्भव नहीं जब तक प्राइमरी शिक्षा सारे देश में अनिवार्य नहीं हो जाती। अभी थियोसोफिकल सोसायटी की ओर से कई शिशु-शिक्षा-संस्थाएँ मांटेसरी प्रणाली के अनुसार कार्य कर रही हैं और उनका परिणाम भी अच्छा रहा है, पर वे केवल धनिकों की सन्तानों के लिए ही सुलभ हैं।

सारांश

मांटेसरी शिक्षा प्रणाली का प्रवर्त्तन इटली की प्रसिद्ध शिक्षिका डा० मेरिया मांटेसरी ने किया। मांटेसरी ने अपनी उच्चतम डिग्री प्राप्त करने के बाद कुछ समय तक विकलांग एवं मन्द बुद्धि के बच्चों के शिक्षण का कार्य किया और फिर उनकी रुचि सामान्य शिशुओं के शिक्षण के प्रति हुई और १९०८ में पहला शिशु विद्यालय खोला जो बालगृह (चिल्ड्रेन्स हाउस) के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

मांटेसरी के शिक्षा संबंधी विचार—व्यक्तित्व विकास का सिद्धान्त, व्यक्तिगत शिक्षा, अन्तर्निहित शक्तियों का विकास, स्वयं शिक्षा अथवा आत्म-शिक्षण, स्वतन्त्रता का सिद्धान्त—आत्म निर्भरता, संयमपूर्ण स्वतन्त्रता, शिक्षक द्वारा उचित पथ प्रदर्शन, मनोवैज्ञानिक क्षणों का अनुसरण, खेल द्वारा शिक्षा, स्वयं संशोधन की स्वतन्त्रता, दैनिक जीवन संबंधी व्यावहारिक शिक्षा, सच्चे अनुशासन की भावना, मांसपेशियों की शिक्षा, ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा।

मांटेसरी प्रणाली में शिक्षण का रूप—विद्यालय भवन एवं गृह जैसा आनन्दपूर्ण वातावरण, शिक्षण के उपकरण—अनेक आकार-प्रकार के घन, बेलन, गुटके एवं तख्ते, रंगीन टिकियाँ, लकड़ी के अक्षर आदि।

शिक्षण विधि—कर्मेन्द्रियों की शिक्षा, ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा, भाषा (लिखना-पढ़ना) और गणित की शिक्षा।

गुण—बाल मनोविज्ञान पर आधारित शिक्षा, स्वयं विकास की पूर्ण स्वतन्त्रता, वैयक्तिक विशेषताओं पर ध्यान, ज्ञानेन्द्रियों की प्रशिक्षा, स्वानुशासन की भावना, व्यावहारिक कुशलता, लिखने-पढ़ने की सर्वोत्तम पद्धति, अधिकांश शिक्षोपकरणों में स्वयं शोधन का अवसर।

आलोचना—व्यक्तित्व संबंधी विचार दोषपूर्ण, ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा पर अत्यधिक बल और समय का अपव्यय, भाषा की शिक्षा का दोष, भावात्मक शिक्षा का अभाव, कल्पनात्मक एवं क्रियात्मक खेलों का अभाव, सौन्दर्य बोध का अभाव, सामाजिक भावना के विकास का अभाव, शिक्षोपकरणों की रुढ़िवादिता, यांत्रिक शिक्षा, व्ययसाध्य शिक्षा।

प्रश्न

१—"मांटेसरी प्रणाली में ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा पर किस प्रकार विशेष बल दिया गया है" उदाहरण सहित इस कथन की व्याख्या कीजिए।

२—मांटेसरी प्रणाली के आधारभूत सिद्धान्त क्या हैं और ये इस प्रणाली द्वारा कहाँ तक हासिल किये जा सकते हैं?

३—मांटेसरी प्रणाली में प्रयुक्त शिक्षण-सामग्री तथा उनके शैक्षिक महत्त्व पर विचार प्रकट कीजिए।

४—मांटेसरी प्रणाली के गुण-दोषों का विवेचन करते हुए बताइए कि वह हमारे देश के लिए कहाँ तक ग्राह्य है?

५—मांटेसरी प्रणाली के शिक्षण सिद्धान्त एवं विधियों का वर्णन कीजिए।

६—मांटेसरी प्रणाली एवं किंडर गार्टन प्रणाली की एक तुलनात्मक विवेचना संक्षेप में प्रस्तुत कीजिए।

अध्याय—१३

प्रोजेक्ट प्रणाली

[प्रोजेक्ट प्रणाली की सैद्धान्तिक भूमिका, प्रोजेक्ट का अर्थ एवं तात्पर्य, मूल-भूत सिद्धान्त, कार्य-पद्धति, प्रोजेक्ट के प्रकार, प्रोजेक्ट चुनने में ध्यान देने योग्य बातें, कतिपय कठिनाइयाँ, गुण-दोष विवेचन]

"Good teaching does not mean pounding inert subject matter into unwilling heads. Nor does it mean organising a generally propitious and pleasant environment and ignoring the serious business of learning. It means bringing subject matter to life as something inspiring and revealing—Transforming it into spiritual nourishment."

James L. Mursell.

प्रोजेक्ट प्रणाली की सैद्धान्तिक भूमिका या उसका विचार दर्शन प्रस्तुत करने का श्रेय प्रसिद्ध दार्शनिक विलियम जेम्स को है और फिर से उसे शिक्षा की दृष्टि से व्यावहारिक तथा व्यापक बनाने का श्रेय प्रसिद्ध शिक्षा विचारक एवं विशेषज्ञ अमेरिकन प्रोफेसर जॉन ड्यूवी को है। विलियम जेम्स शिक्षा में प्रयोजनवाद (प्रैग्मेटिज्म) के प्रवर्त्तक थे। उनका कहना था कि कोई भी आदर्श अथवा सत्य शाश्वत नहीं है, जीवन का आदर्श देश, काल एवं परिस्थितियों के अनुसार ही निर्मित होता है और इस कारण वह परिवर्तनशील है। किसी वस्तु या आदर्श की अच्छाई-बुराई उसके परिणाम द्वारा ही आँकी जाती है। उन्होंने प्रत्येक कार्य, सिद्धान्त अथवा वस्तु का उपयोगितावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया।

प्रयोजनवाद के सिद्धान्तों को ड्यूवी ने अपने शिक्षा-दर्शन का आधार बनाया। उन्होंने लिखा है कि शिक्षा का उद्देश्य व्यावहारिक ज्ञान प्रदान करना है और इस व्यावहारिक ज्ञान के लिए क्रियात्मक शिक्षा ही एक मात्र साधन है। उनका कहना है कि "वर्तमान स्कूलों के संगठन एवं व्यवस्था का देश, काल और समाज के साथ कोई मेल नहीं है। समाज, जीवन तथा युग के साथ शिक्षा का मेल तभी स्थापित हो सकता है जब कि स्कूल भी उन्हीं आधारों पर संगठित किए जायँ अर्थात् स्कूल में भी प्रगतिशील व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन का व्यावहारिक ज्ञान प्रदान किया जाय।" उन्होंने इस बात पर

बल दिया कि "आज के युग में सफल जीवन के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति में आत्म सम्मान का भाव हो, वह स्वावलंबी हो, किसी उद्योग में प्रवीण हो, स्वयं अपनी तथा अपने आश्रितों की आजीविका चला सके, कार्य करने में सम्मान का अनुभव करे, उसे पूरा करने में रुचि रखे और जीवन में कुशल हो।"

ड्यूवी का मत था कि सामान्यतः शिक्षा संस्थाओं का ध्यान इस बात की ओर नहीं गया है कि आधुनिक औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप हमारी सामाजिक रचना में कितना क्रांतिकारी परिवर्तन हो गया है। इन शिक्षा संस्थाओं की उपयोगिता उस समय थी जब हमारा समाज कृषि प्रधान था और शिक्षा प्राप्ति के अनेक अवसर अनायास ही उपलब्ध थे। पर अब गाँवों की जगह नगरों का निर्माण एवं प्रसार हो रहा है, प्राचीन पारिवारिक प्रथा नष्ट हो गई है और सरल ग्रामीण जीवन समाप्त हो गया है। आज का बालक तैयार माल की दुनिया में रहता है और वह नहीं जानता कि इन वस्तुओं का निर्माण किस प्रकार होता है। आज बटन दबाते ही सारा घर विद्युत् के प्रकाश से जगमगा उठता है, पर बालक यह नहीं जानता कि बिजली की उत्पत्ति कैसे होती है। पर पहले कृषि प्रधान सामाजिक व्यवस्था में बालक अपने घर अथवा पड़ोस में तेल पैदा होते हुए तथा बत्ती बनाकर दीपक जलाते हुए देखता था और इस कार्य में स्वयं में सम्मिलित होकर सारी जानकारी हासिल कर लेता था। वह अपने घर या पड़ोस में सूत कातने से लेकर वस्त्र निर्माण तक सारा कार्य देखता था, उसमें भाग लेता था और सीख लेता था। उसका सामान्य जीवन शैक्षिक दृष्टि से बहुत संपन्न था। घर के कार्यों में हिस्सा बँटाने से उसका बौद्धिक एवं चारित्रिक विकास अपने-आप होता था। उस समय दैनिक जीवन में सीखने के अत्यधिक अवसर सुलभ थे पर आज के औद्योगिक प्रधान समाज में वे अवसर नहीं रहे। शैक्षिक वातावरण के इस परिवर्तन की ओर शिक्षा-संस्थाओं ने ध्यान नहीं दिया है। अब भी कक्षाओं में उसी पुरानी किताबी शिक्षा की प्रधानता है, शिक्षक भाषण देते हैं और बालक निष्क्रिय श्रोता बने रहते हैं 'करके सीखने' का कोई अवसर बालकों को नहीं मिलता। स्कूल की सारी व्यवस्था इस प्रकार की है कि समूह में ही बच्चों को पढ़ाया जा सकता है, उनके वैयक्तिक शिक्षण का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। परिणाम यह है कि बालकों की बौद्धिक पुरोगामिता और नैतिकता का ह्रास होता है। बालकों की नैतिक शिक्षा (आज की शब्दावली में सामाजिक शिक्षा) सामाजिक जीवन एवं कार्यों में सम्मिलित होने से ही संभव है पर दुखद बात तो यह है कि हमारे स्कूल

भावी सामाजिक सदस्यों का निर्माण ऐसे माध्यम से करना चाहते हैं जिसमें चेतना का सर्वथा अभाव है।

ऐसी परिस्थितियों में शिक्षा में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। शिक्षा के क्षेत्र में आज की सबसे बड़ी माँग यह है कि विद्यार्थियों को आज की सामाजिक व्यवस्था में पूर्ण जीवन के लिए कैसे तैयार किया जाय? ड्यूवी ने इस दृष्टि से शिक्षा सम्बन्धी चार मुख्य समस्याओं की ओर ध्यान आकर्षित किया :—

१—घर तथा वातावरण के जीवन से विद्यालय का घनिष्ठ सम्बन्ध कैसे स्थापित किया जाय?

२—विज्ञान, कला, इतिहास आदि विविध विषयों की पाठ्य सामग्री कैसी हो जो बालकों के अपने जीवन में उपयोगी एवं सार्थक सिद्ध हो।

३—किसी कार्य अथवा व्यवसाय को आधार बनाकर तथा बालक के दैनिक अनुभवों से सम्बन्धित करके नियमित विषयों का शिक्षण किस प्रकार प्रदान किया जाय और शून्य विषयों से उनका सम्बन्ध कैसे स्थापित किया जाय?

४—किस प्रकार बालक की वैयक्तिक आवश्यकताओं की पूर्ति एवं शक्तियों के विकास की ओर ध्यान दिया जाय?

पेस्टालाजी की भाँति ड्यूवी भी उत्तम स्कूल के लिए आदर्श घर को ही नमूना मानते थे। उनका कहना था कि घर में बालक सामाजिक वार्तालाप तथा पारिवारिक विधान के माध्यम से बहुत कुछ सीखता है, वह सामान्य बातचीत एवं विचार-विमर्श में सम्मिलित होता है, घर-गृहस्थी के कार्यों में भाग लेता है, इन कार्यों के माध्यम से यथेष्ट ज्ञान प्राप्त करता है, श्रम, व्यवस्था, दूसरों के अधिकार एवं कर्त्तव्य के प्रति सम्मान की भावना रखता है और पारिवारिक हित के लिए अपने हित का त्याग करता है। इस प्रकार बालक का नैतिक विकास अपने-आप होता है। ड्यूवी का कहना है कि इस पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन के आधार पर आदर्श स्कूल संगठित किए जा सकते हैं। "स्कूल एक ऐसा वृहत् परिवार है जहाँ बालक अपने घर पर जो कुछ ज्ञान आकस्मिक रूप से प्राप्त करता है उसे अधिक अच्छे ढंग से, अधिक अच्छे साधनों और वैज्ञानिक पथ-प्रदर्शन द्वारा प्राप्त करता है और वहाँ

(स्कूल) जाने में घर जैसी ही रुचि और आनन्द का अनुभव करता है।"[1] अपने इन शैक्षिक विचारों को साकार रूप देने के लिए ड्यूवी ने सन् १८९६ में 'यूनीवर्सिटी लेबोरेट्री स्कूल' की स्थापना की और एक नई क्रियात्मक शिक्षण-प्रणाली को जन्म दिया। इस प्रणाली का अनुसरण अमेरिका तथा अन्य देशों के प्रगतिशील विद्यालयों (प्रोग्रेसिव्ह स्कूल्स) में किया गया। इन्हीं विचारों को लेकर कोलम्बिया विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री विलियम हर्ड किलपैट्रिक ने 'प्रोजेक्ट प्रणाली' का प्रवर्त्तन किया।

इस प्रणाली में क्रिया के माध्यम से शिक्षा प्रदान करने का विचार इस रूप में अपनाया गया है कि वह सामान्य विद्यालय के लिए उपयुक्त सिद्ध हो सके।[2] इस प्रणाली का सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि बालक स्वयं किसी प्रोजेक्ट (समस्यात्मक कार्य) का चुनते हैं, समस्या का समाधान ढूँढ़ते हैं, तदनुरूप कार्य में संलग्न होते हैं और शिक्षक के संरक्षण तथा पथप्रदर्शन में उस कार्य को पूरा करते हैं। ये प्रोजेक्ट बालकों के अनुभव, अवस्था एवं रुचि के अनुकूल चुने जाते हैं जिन्हें सम्पन्न करने के सिलसिले में बालकों को अनेक विषयों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

प्रोजेक्ट का अर्थ एवं तात्पर्य

'प्रोजेक्ट' का अर्थ सुनियोजित सोद्देश्य शैक्षिक क्रिया से है। यह सर्वमान्य मत है कि सबसे अधिक प्रभावपूर्ण तथा उपयोगी शिक्षा मनोयोगपूर्वक पूर्ण एवं सोद्देश्य क्रिया से ही प्राप्त होती है और यही प्रोजेक्ट प्रणाली का सार है।[3] फिर भी शिक्षाशास्त्रियों ने प्रोजेक्ट का अर्थ भिन्न-भिन्न रूप से व्यक्त किया है—

विलियम हर्ड किलपैट्रिक के अनुसार "प्रोजेक्ट वह प्रयोजनपूर्ण अथवा सोद्देश्य क्रिया है जिसे पूर्ण मनोयोग के साथ सामाजिक वातावरण में सम्पन्न किया जाता है।"[4] यह परिभाषा किलपैट्रिक महोदय ने १९१८ में लिखी थी पर

---

1. "The school should be an enlarged family, in which the discipline the child receives more or less accidently at home is continued in a more perfect form with better equipment and more scientific guidance and the child will find the same interest in going to school."
2. "The method translates the idea of education through into a form suitable for the ordinary school."
3. "The most effective and useful learning comes from the whole hearted purposeful activity and this constitutes the essence of the method."
4. "A project is a whole hearted purposeful activity proceeding in a social environment."

आगे १६२१ में उन्होंने दूसरी परिभाषा प्रस्तुत की—"प्रोजेक्ट सोद्देश्य अनुभव की कोई इकाई अथवा सोद्देश्य क्रिया का कोई उदाहरण है जहाँ सर्वप्रमुख प्रयोजन एक आंतरिक प्रवृत्ति के रूप में क्रिया का लक्ष्य निर्धारित करता है, उसकी कार्य-प्रणाली निर्देशित करता है और उसकी आन्तरिक प्रेरणा प्रदान करता है।"[1]

प्रो० बलार्ड के अनुसार प्रोजेक्ट वास्तविक जीवन का ही एक अंश है जो विद्यालय में प्रस्तुत किया जाता है।"[2]

डा० जे० ए० स्टीवेन्सन का कहना है कि "प्रोजेक्ट वह समस्यामूलक कार्य है जो स्वाभाविक वातावरण में पूर्ण रूप से सम्पन्न किया जाता है।"[3]

उपर्युक्त परिभाषाओं में कोई तात्विक भेद नहीं है। इन सभी पर विचार करते हुए हम प्रोजेक्ट का एक पूर्ण अर्थ एवं तात्पर्य समझ सकते हैं। इनसे निम्नलिखित बातें प्रकट होती हैं—

१—प्रोजेक्ट क्रियात्मक प्रणाली है[4]—इस प्रणाली में कार्य की प्रधानता होती है। कार्य में निहित सिद्धान्त को प्रधानता नहीं दी जाती। प्रकरणों के अनुसार संगठित विषयों के शिक्षण में सिद्धान्त पहले पढ़ाए जाते हैं जब कि प्रोजेक्ट प्रणाली में पहले समस्या प्रस्तुत की जाती है जिसका समाधान पाने के सिलसिले में विद्यार्थी अपने आप सिद्धान्तों को निकाल लेता है।[5]

प्रोजेक्ट प्रणाली का सार यह है कि बालक क्रिया और अभ्यास द्वारा ही कोई चीज सीखते हैं। बिना क्रिया और अभ्यास के कोई चीज नहीं सीखी जाती है। जिस क्रिया के अभ्यास में उनका शरीर, बुद्धि और आत्मा लगी रहती है उसे वे पूर्णता के साथ सीखते हैं। अतः विद्यालय के कार्यों को इस प्रकार संगठित करना चाहिए कि बालकों को उसके ठीक अभ्यास का अवसर मिले और वे ठीक प्रकार से सीख सकें।

---

1. "Any unit of purposeful experience, any instance of purposeful activity where the dominating purpose as an inner urge fixes the aim of the action, guides its process, furnishes its drive, its inner motivation."
2. "A project is a bit of real life that has been imported into the School."
3. "[P]roject is a problematic act carried to its completion in its natural setting."
4. It is an activity method.
5. "In the topical organisation principles are learnt first, while in the project the problems are proposed which demand in the solution the development of the principles by the learner as needed."

W. W. Charter.

२—प्रोजेक्ट कोई साधारण क्रिया नहीं बल्कि समस्यामूलक क्रिया है[1]—जिसके समाधान के लिए मानसिक शक्तियों जैसे तर्क, कल्पना, निर्णय, मूल्याङ्कन आदि के निरंतर सक्रिय अभ्यास की आवश्यकता है। 'समस्यामूलक क्रिया' का अपना विशेष महत्त्व है क्योंकि प्रोजेक्ट को पूरा करने के लिए योजना बनाने, तर्क एवं विचार शक्ति का प्रयोग करने, निर्णय शक्ति से काम लेने आदि मानसिक क्रियाओं की आवश्यकता पड़ती है। प्रोजेक्ट कोई यान्त्रिक क्रिया नहीं है बल्कि यह एक शैक्षिक एवं बौद्धिक क्रिया है जिसे पूरा करने में चिन्तन, जिज्ञासा, खोज और अनुसन्धान की आवश्यकता पड़ती है।

जब हम अपना पका-पकाया विचार बालकों को प्रदान करते हैं तो बालकों की विचार करने की शक्ति घोंट देते हैं क्योंकि बालक हमारे विचारों को निष्क्रिय भाव से ग्रहण कर लेते हैं। इससे उनकी स्वतन्त्र विचार शक्ति कुंठित हो जाती है। इसकी जगह हमें बालकों को समस्या का सामने करने और स्वयं कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने के लिए छोड़ देना चाहिए। इसी पद्धति से उन्हें सच्ची शिक्षा मिलती है और उनके जीवन का पुनर्निर्माण होता है क्योंकि सबल विचार वास्तविक अनुभवों से ही प्रादुर्भूत होते हैं और आगे के अनुभवों में सुधार होता है।

३—प्रोजेक्ट का मूलतः सामाजिक आधार होता है[2]।—इसके द्वारा बालकों में परस्पर सहयोग की भावना उत्पन्न होती है और उन्हें सामाजिक कुशलता प्राप्त होती है। मिल-जुलकर काम करने, सहृदयता, सहानुभूति एवं सद्भावना के साथ परस्पर सम्बन्ध निर्वाह की भावना का विकास होता है। सामाजिक आधार का महत्त्व केवल इसी दृष्टि से नहीं है कि इसके द्वारा सामाजिक गुण पैदा होते हैं बल्कि इसके द्वारा मानसिक शक्तियों का भी विकास होता है। मानव मस्तिष्क निश्चित ही सामाजिक वस्तु है। इसका निर्माण समाज द्वारा हुआ है और सामाजिक वातावरण पर ही इसका विकास निर्भर है।[3] पहले मनोवैज्ञानिकों का विचार था कि मस्तिष्क विशुद्ध वैयक्तिक वस्तु है जिसका बाह्य जगत से सीधा सम्बन्ध है। अब व्यक्तिगत मस्तिष्क को सामाजिक जीवन का ही कार्य माना जाता है जिसके लिए सामाजिक साधनों से सतत उत्तेजनाएँ

---

1. "Project is not an ordinary kind of performance but it is a problematic act."
2. A project has primarily a social basis.
3. "Mind is essentially social. It was made what it is by society, and depends for its development on a social environment."
   Dewey.

आवश्यक हैं और सामाजिक पूर्ति में ही जिसे पौष्टिक तत्त्वों की प्राप्ति होती है। आशय यह है कि सामाजिक जीवन और वातावरण से संबंधित प्रोजेक्ट ही शैक्षिक दृष्टि से उपयोगी होता है और उसी से बालकों का उचित विकास सम्भव है।

४—स्वाभाविक वातावरण[1]—प्रोजेक्ट केवल समस्या नहीं है। समस्या और प्रोजेक्ट में मौलिक अन्तर डा० स्टीवेन्सन की परिभाषा के आखिरी भाग अर्थात् स्वाभाविक वातावरण[2] द्वारा प्रकट होता है। यह विचार हमें तत्काल ही विद्यालय भवन से परे बाहरी जगत में ले जाता है। इसके अनुसार किसी कार्य को स्कूल के प्रयोगशाला में पूरा करना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि उसे स्कूल से बाहर वास्तविक एवं स्वाभाविक परिस्थितियों में सम्पन्न करना चाहिए। अतः वातावरण कृत्रिम, किताबी और यान्त्रिक न होकर वास्तविक तथा स्वाभाविक होना चाहिए।

५—प्रोजेक्ट को पूर्णता तक पहुँचाना आवश्यक है[3]—अर्थात् बालक उस क्रिया में उस समय तक उत्साह और रुचिपूर्वक लगे रहें जब तक वह पूरा न हो जाय। प्रोजेक्ट के दो पक्ष हैं—(१) उचित उत्तेजना और (२) युक्तिपूर्वक कार्य निर्वाह।[4] यदि बालक प्रोजेक्ट के प्रति उचित प्रकार से उत्तेजित हो जायँ और अन्त तक उसे सम्पन्न करने में मनोयोगपूर्वक संलग्न बने रहें तो निश्चित ही इसका शैक्षिक उद्देश्य पूरा हो जायगा। बिना पूर्णता तक पहुँचाए प्रोजेक्ट का कोई महत्त्व नहीं है, उसमें कोई आकर्षण नहीं है और उससे किसी उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती।

प्रोजेक्ट के मूल सिद्धान्त

मूल सिद्धान्त की दृष्टि से प्रोजेक्ट की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—प्रयोजन,[5] क्रियाशीलता,[6] यथार्थता,[7] उपयोगिता[8] और स्वतन्त्रता।[9]

1. Natural setting.
2. In its, natural setting.
3. A project must be carried to completion.
4. Project has dual aspect, first properly kindled and then cleverly sustained.
5. Purpose.
6. Activity.
7. Reality.
8. Utility.
9. Freedom.

कुछ विद्वानों ने इसे इस रूप में रखा है—स्वाभाविकता[1], प्रयोजन,[2] मूल्य अथवा उपयोगिता[3] और रुचि ।[4] किन्तु ये बातें उपर्युक्त पाँच विशेषताओं में अपने आप आ जाती हैं ।

१—प्रयोजन—प्रोजेक्ट एक साभिप्राय क्रिया है । जिस समस्या के समाधान में बालक संलग्न है, उस समस्या के सुलझाने में बालक किसी प्रयोजन-सिद्धि का अनुभव करता है । प्रयोजन रहित कार्य को हम प्रोजेक्ट नहीं कह सकते । प्रोजेक्ट अर्थात् समस्यामूलक कार्य बालक के ऊपर जबर्दस्ती नहीं लादा जाता । वह स्वयं ही उसे चुनता है । यदि बालक को लिफाफा तैयार करने का आदेश दे दिया गया तो संभव है बालक को उसमें कोई रुचि न हो और लिफाफा तैयार करने का कोई प्रयोजन वह न अनुभव करे । अतः यह कार्य प्रोजेक्ट नहीं हुआ । पर यदि बालक को अपने भाई के नाम पत्र लिखने के लिए आप प्रेरित करते हैं और बालक के सामने पत्र भेजने की समस्या प्रस्तुत हो जाती है तो वह लिफाफे की आवश्यकता का अनुभव करता है । यह समस्या उसे सुलझानी है और लिफाफा तैयार करना ही है । अतः समस्यात्मक कार्य के रूप में वह प्रोजेक्ट उपस्थित हो गया । इसी प्रकार बालिका के सामने फ्राक सीने का प्रोजेक्ट प्रस्तुत हो सकता है । यदि बालिकाओं को फ्राक सीने का आदेश दे दें तो यह कोई प्रोजेक्ट नहीं हुआ पर यदि उन्हें किसी अभिनय में भाग लेना है और उसके लिए किसी विशेष प्रकार के फ्राक की आवश्यकता है तो बालिकाओं के सामने एक समस्या उपस्थित होगी और उसे सुलझाने के लिए उन्हें फ्राक सीना पड़ेगा । इसमें उन्हें प्रसन्नता होगी और प्रोजेक्ट पूरा करने पर उन्हें सन्तोष प्राप्त होगा ।

आधुनिक शिक्षा प्रणाली में बच्चों के सामने किसी क्रिया का 'प्रयोजन तत्व'[5] रखना आवश्यक माना जाता है । बच्चों को यह स्पष्ट ज्ञात रहना चाहिए कि विद्यालय में वे किसी कार्य में क्यों संलग्न हैं और इसका उन्हें क्या लाभ होगा ।

२—क्रियाशीलता—प्रोजेक्ट एक क्रिया है जिसमें सिद्धान्त या नियम पहले बताने की जगह बालक स्वयं ही सक्रिय होकर कार्य करने के सिलसिले में उन्हें सीखता है । क्रियात्मक पद्धति ही इसका आधार है । 'करके सीखना' ही

---

1. Spontaneity.
2. Purpose.
3. Significance.
4. Interest.
5. Purposive element.

इसका मूल मन्त्र है। पाठ्य विषयों का संगठन इस प्रकार के प्रोजेक्ट अथवा इकाइयों के रूप में किया जाता है कि बालक को स्वयं क्रिया के लिए अवसर प्राप्त होता है। इससे बालक को व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त होती है और उसे अपनी बुद्धि, तर्क, विचार एवं प्रयत्न द्वारा कार्य-सिद्धि के लिए संलग्न होना पड़ता है। बालक शारीरिक एवं मानसिक दोनों प्रकार से जागरूक और सचेत रहता है, उसके लिए हाथ और मस्तिष्क दोनों का सहयोग आवश्यक हो जाता है और उसे रचना,' आत्म-प्रकाशन एवं स्वत्व प्रदर्शन का यथेष्ट अवसर मिलता है।

३—यथार्थता—प्रोजेक्ट के समस्यामूलक कार्य वास्तविक एवं यथार्थ होने चाहिए, कृत्रिम, काल्पनिक या मनगढ़न्त न हों। वास्तविक एवं सामान्य जीवन की स्वाभाविक परिस्थितियों में कार्य को सम्पन्न करना प्रोजेक्ट का मूल सिद्धान्त है। इससे बालक वास्तविक जीवन की परिस्थितियों से परिचित होता है और जो कुछ सीखता है वह उसके जीवन के लिए उपयोगी एवं व्यावहारिक सिद्ध होता है। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में वास्तविक जीवन एवं परिस्थितियों से शिक्षा का उचित सम्बन्ध नहीं रहता और बालक अपने वातावरण से पूर्ण परिचित नहीं हो पाते। किन्तु प्रोजेक्ट प्रणाली में विद्यालय अपने चतुर्दिक् समाज तथा वातावरण का प्रतिबिम्ब होता है और बालक वास्तविक जीवन के अनुभव प्राप्त करते हैं। इसीलिए विद्यालय के कार्य एवं पाठ्य विषयों का सम्बन्ध भी बालक के दैनिक जीवन से जुड़ा रहता है।

४—उपयोगिता—बालक उस कार्य को करने में रुचि एवं आनन्द लेते हैं जिसमें उन्हें यह अनुभव होता है कि वह कार्य उनके लिए व्यक्तिगत एवं सामाजिक दृष्टि से उपादेय सिद्ध होगा। किलपैट्रिक का कथन है कि 'हम उन तरीकों को सीखना पसन्द करते हैं जिनसे हमें सफलता और संतोष मिलता है और हम उन तरीकों को नहीं सीखना चाहते जिनसे उद्दंडता और असफलता प्राप्त होती है।[1] अतः प्रोजेक्ट की यह एक प्रमुख विशेषता है कि वह कार्य बालकों की तात्कालिक आवश्यकता पूर्ति से सम्बन्धित रहता है और बालक उसकी उपयोगिता समझते हुए उत्साह से उसे पूरा करने में लगे रहते हैं।

५—स्वतंत्रता—बालकों को प्रोजेक्ट चुनने में पूरी स्वतन्त्रता रहनी चाहिए। अध्यापक की दक्षता और योग्यता इस बात में है कि प्रोजेक्ट का प्रस्ताव बालकों की ओर से उसकी ओर न होकर प्रस्तुत हो। उचित परिस्थिति उत्पन्न करके और बालकों को सही दिशा में अनुप्रेरित करके ही शिक्षक इस कार्य में सफल हो सकता है। बालकों पर किसी प्रकार का बन्धन न हो, समस्या

1. "We leern of follow the ways thae succeed and give satisfaction and we lern not to follow the ways that fail and give arrogance."

स्वाभाविक रूप में उनके सामने उपस्थित हो जाय, वे स्वतन्त्रतापूर्वक उस समस्या के समाधान के लिए आवश्यक प्रोजेक्ट का चुनाव करें, उसे सम्पन्न करने के लिए स्वयं योजना बनाएँ और अपने ढंग से उसे पूरा करें।

प्रोजेक्ट प्रणाली की कार्य पद्धति और उसके विविध स्तर

प्रोजेक्ट पूरा करने के लिए निम्नांकित क्रमों या पदों का जानना आवश्यक है।

१—उद्देश्य निर्धारण।[1] इसके अन्तर्गत दो बातें शामिल हैं—

(क) उचित परिस्थिति उत्पन्न करना[2]

(ख) प्रोजेक्ट चुनना[3]

२—प्रोजेक्ट पूरा करने के लिए कार्यक्रम बनाना[4]

३—प्रोजेक्ट क्रियान्वित करना[5]

४—कार्य का मूल्यांकन[6]

५—कार्य का विवरण या लेखा रखना[7]

१—उद्देश्य-निर्धारण

(क) परिस्थिति उत्पन्न करना—बालक उचित प्रोजेक्ट चुन सकें, इसके लिए यह आवश्यक है कि शिक्षक उचित परिस्थिति उत्पन्न करे। परिस्थिति निर्माण द्वारा बालकों के सामने अपने आप समस्या उपस्थित हो जाती है जिसे हल करने के लिए वे प्रोजेक्ट प्रस्तावित करने लगते हैं। प्रस्तावित योजना पर बालकों एवं शिक्षक में विचार-विमर्श होता और शिक्षक के पथ-प्रदर्शन में उचित प्रोजेक्ट की ओर बालक अपने आप आकर्षित एवं अभिमुख हो उठते हैं। अतः बालक के सम्मुख स्वाभाविक रूप में आवश्यक प्रोजेक्ट (समस्यामूलक कार्य) का उपस्थित होना ही इस प्रणाली का प्रथम चरण है।

(ख) प्रोजेक्ट चुनना—प्रस्तुत समस्या के हल के लिए बालक स्वतन्त्रतापूर्वक प्रोजेक्ट प्रस्तुत करते हैं जिन पर कक्षा में विचार-विमर्श होता है, शिक्षक की सहायता से उसके गुण-दोषों की विवेचना होती है तथा अन्त में

1. Purposing.
2. Creating the situation.
3. Choosing the project.
4. Planning.
5. Execution.
6. Judging.
7. Recording.

व्यावहारिकता एवं उपयोगिता की दृष्टि से किसी एक प्रोजेक्ट का चुनाव होता है जिसे बालक पूरा करना चाहते हैं। प्रोजेक्ट के चुनाव में शिक्षक का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। वह प्रस्तुत सभी प्रोजेक्ट्स के गुण-दोष एवं व्यावहारिकता-अव्यावहारिकता, उपयोगिता-अनुपयोगिता की ओर बालकों का ध्यान आकर्षित करता है और उन्हें ऐसे प्रोजेक्ट के चुनाव में सहायता पहुँचाता है जो शैक्षिक दृष्टि से उपयोगी सिद्ध हों।

२—**कार्यक्रम बनाना**—प्रोजेक्ट चुन लेने पर उसे पूरा करने के लिए बालक कार्यक्रम बनाते हैं। शिक्षक इसमें भी सहायता करता है और उनका पथ-प्रदर्शन करता रहता है जिससे कार्यक्रम स्वाभाविक, व्यावहारिक एवं शैक्षिक दृष्टि से उपयोगी हो तथा सरलतापूर्वक पूरा होने वाला हो। कार्यक्रम यथेष्ट विचार-विनिमय के बाद निश्चित होता है। कार्यक्रम हो जाने पर उसमें से प्रत्येक विद्यार्थी अपने अपने लिए कार्य चुन लेता है अर्थात् यह निर्णय कर लिया जाता है कि कौन विद्यार्थी किस भाग को पूरा करेगा। आवश्यकतानुसार कुछ विद्यार्थी मिलकर भी कार्य के किसी भाग को ले सकते हैं। इस कार्य-विभाजन में यह देखना आवश्यक है कि प्रत्येक विद्यार्थी अपनी योग्यता एवं शक्ति के अनुसार काम पा गया है।

३—**क्रियान्वित करना**—कार्यक्रम निश्चित हो जाने पर बालक अपना-अपना कार्य करने में संलग्न हो जाते हैं। वह क्रिया द्वारा ही सीखता और नवीन ज्ञान प्राप्त करता है। क्रिया द्वारा ही वह सिद्धान्त और नियम जानता है। उसे कार्य पूरा करने के लिए सामग्री एकत्र करनी पड़ती है और अनेक समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं जिनके हल के लिए उसे तत्संबंधी विषयों (विज्ञान, गणित, इतिहास, कला, आदि) का ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है। शिक्षक का कर्त्तव्य है कि इन उठने वाली विविध समस्याओं के सम्पादन एवं विविध विषयों का ज्ञान प्राप्त करने में बालकों की सहायता करे और उन्हें अपनी गति एवं अपने ढंग से आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करता रहे।

४—**मूल्यांकन**—प्रोजेक्ट को कार्यान्वित करने में मूल्यांकन का विशेष महत्त्व है। कार्य पूरा होने पर बालक उसकी सफलता-असफलता एवं कार्य पद्धति के गुण-दोषों पर विचार-विमर्श करते हैं। विचार-विमर्श में बालक सक्रिय भाग लेते हैं और स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी सम्मति देते हैं। वे इस आलोचना द्वारा अपनी कार्य-प्रणाली में सुधार करने की दृष्टि से नए उपाय सोचते हैं।

मूल्यांकन द्वारा बालकों में आलोचनात्मक शक्ति का विकास होता है, वे तर्क करना सीख जाते हैं और उनकी बौद्धिक शक्ति तीव्र होती है। वे स्वयं

अपने से प्रश्न पूछते हैं[1], हमने इस क्रिया से क्या सीखा ? इससे क्या निष्कर्ष निकला ? हमने क्या त्रुटियाँ कीं ? हमारे उद्देश्यों की पूर्ति कहाँ तक हुई ? अगली बार हम किस प्रकार अच्छी सफलता प्राप्त कर सकते हैं ? आदि 'स्वयं आलोचना' की प्रवृत्ति शैक्षिक दृष्टि से बहुत उपयोगी होती है। स्वयं ही अपने कार्यों का मूल्यांकन बच्चों को भावी कार्यक्रम के लिए सजग और सावधान बना देता है।

५—कार्य का लेखा—बालकों को प्रोजेक्ट सम्बन्धी सम्पूर्ण कार्य-विवरण (प्रोजेक्ट के चुनाव से लेकर मूल्यांकन तक के विविध स्तरों का) लेखा रखना चाहिए। क्रिया के माध्यम से उन्होंने जिन विषयों का ज्ञान प्राप्त किया है उसका विवरण भी उनके पास रहना चाहिए। इससे बालकों का ज्ञान स्थायी होता है और आगे के लिए शैक्षिक भूमिका तैयार हो जाती है।

प्रोजेक्ट के प्रकार

शिक्षा की दृष्टि से प्रोजेक्ट अनेक प्रकार के हो सकते हैं। कुछ उदाहरण निम्नांकित हैं :—

किलपैट्रिक महोदय ने प्रोजेक्ट के चार प्रकार बताए हैं—

१—सृजनात्मक प्रोजेक्ट[1]—ऐसे प्रोजेक्ट जिनमें बालक किसी विचार या योजना को मूर्त्त रूप में क्रियान्वित करते हैं जैसे 'नाव बनाना, पत्र लिखना, अभिनय करना' आदि। ऐसे प्रोजेक्ट में बालक किसी रचनाकार्य का प्रस्ताव रखते हैं; उदाहरणतः किसी विद्यालय भवन का नमूना तैयार करना। हमें यह याद रखना चाहिए कि प्रोजेक्ट केवल कोई हस्तशिल्प या उत्पादन कार्य नहीं है। इसमें बालक का नैतिक एवं बौद्धिक योग आवश्यक है जिससे उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व विकसित हो सके।

२—रसास्वादन अथवा आनंद संबंधी प्रोजेक्ट[2]—ऐसे प्रोजेक्ट जिनके द्वारा सौन्दर्य बोध एवं रसानुभूति प्राप्त करने के उद्देश्यों की पूर्ति होती है जैसे कहानी कहना और सुनना, संगीत, नृत्य, चित्र, कविता आदि संबंधी प्रोजेक्ट।

३—समस्यात्मक प्रोजेक्ट[3]—बौद्धिक कठिनाइयों या समस्याओं को हल करने के लिए चुने गए प्रोजेक्ट द्वारा बालकों का बौद्धिक विकास होता है और नूतन ज्ञानोपलब्धि होती है। विज्ञान, गणित, भूगोल, इतिहास आदि पर आधारित प्रोजेक्ट ऐसे ही होते हैं—ओस कब और क्यों गिरती है ? नगरों में जनसंख्या क्यों बढ़ती जा रही है ? ज्वार-भाटा क्यों आता है ? आदि।

---

1. Construction project.
2. Appreciation or enjoyment project.
3. The problem project.

४—अभ्यासात्मक अथवा विशिष्ट कौशल संबंधी प्रोजेक्ट[1]—किसी विशेष कौशल अथवा ज्ञान में अधिकाधिक अभ्यास कराने वाले प्रोजेक्ट जैसे गणित का अभ्यास, ड्राइंग या चित्रकला सम्बन्धी अभ्यास।

प्रोजेक्ट का वर्गीकरण दूसरे प्रकार से भी किया गया है; जैसे—

१—व्यक्तिगत प्रोजेक्ट[2]—इसमें प्रत्येक विद्यार्थी स्वतन्त्र रूप से पृथक् पूरे प्रोजेक्ट पर कार्य करता है। वह किसी दूसरे की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता।

२—सामूहिक प्रोजेक्ट[3]—इसमें एक प्रोजेक्ट पर कक्षा के सभी अथवा अनेक विद्यार्थी मिलकर काम करते हैं। ऐसे प्रोजेक्ट में कार्य के विभिन्न अंगों को बालक बाँट लेते हैं और परस्पर सहयोग द्वारा उसे पूरा करते हैं।

एलिसबर्थ कॉलिन्स ने प्रोजेक्ट के चार प्रकार इस भाँति किए हैं—

१. खेल प्रोजेक्ट, २. परिभ्रमण प्रोजेक्ट, ३. कहानी प्रोजेक्ट और ४. नैतिक प्रोजेक्ट। इनसे कार्य की प्रकृति का अन्दाज लग जाता है।

प्रोजेक्ट को सरल[4] और जटिल[5] इन दो भागों में भी विभक्त किया जाता है। सरल प्रोजेक्ट वह है जिसमें एक प्रकार का कार्य होता है और एक कौशल सीखने की प्रधानता रहती है जैसे माला गूँथना, चटाई बुनना आदि। जटिल प्रोजेक्ट वह है जिसमें अनेक क्रियाओं एवं कौशलों का मिश्रण होता है जैसे नाटक खेलना, पार्सल भेजना, दीवाल बनाना, स्कूल की वाटिका तैयार करना आदि।

अमेरिकन शिक्षाशास्त्री चार्ल्स ए० मकमेरी ने स्कूलों के लिए कुछ प्रोजेक्ट्स् के उदाहरण दिए हैं जिनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

१—हस्तकला संबंधी प्रोजेक्ट—इसके अन्तर्गत गृह उद्योग सम्बन्धी कार्य, वस्त्र बुनाई, बढ़ई गिरी, पुस्तक कला, छपाई, दूकान, कृषि, बागवानी, मुर्गी पालना, घी-दूध का काम, गृह विज्ञान संबन्धी काम जैसे धुलाई, सिलाई, पाक विद्या, स्वच्छता आदि। 'दूकान' का प्रोजेक्ट बहुत ही प्रचलित है।

---

1. The drill or specific learning project.
2. Individual project.
3. Group project.
4. Simple.
5. Complex.

२—औद्योगिक तथा व्यापारिक प्रोजेक्ट—वाणिज्यिक एवं भौगोलिक शिक्षण के लिए ये प्रोजेक्ट चुने जाते हैं। पुल बनाना, रेल, रोड, खान, नहर, जङ्गल संबंधी कार्य एवं समस्याएँ। नदियों की घाटी, सामुद्रिक लहरें आदि प्राकृतिक प्रोजेक्ट के उदाहरण हैं।

३—विज्ञान संबंधी प्रोजेक्ट—आविष्कार एवं अन्वेषण संबंधी समस्याएँ जैसे वाष्प इंजिन, बेतार के तार, विद्युत्, टेलिस्कोप तथा अन्य वैज्ञानिक यन्त्र जिन्हें बालक देख चुका है।

४—ऐतिहासिक तथा जीवनी सम्बन्धी प्रोजेक्ट—ऐतिहासिक गाथाएँ, महान् पुरुषों के कार्य, अन्य घटनाएँ प्रोजेक्ट के रूप में प्रस्तुत हो सकती हैं। भारतीय स्कूलों में राम का वन-गमन, गौतम बुद्ध का गृह-त्याग और ज्ञान-प्राप्ति, अशोक का धर्म-प्रचार, विदेशी यात्रियों के आगमन आदि ऐतिहासिक प्रोजेक्ट के रूप में लिए जा सकते हैं।

५—साहित्यिक प्रोजेक्ट—साहित्यिक रचनाओं जैसे—हमारे देश में रामायण, महाभारत आदि पर आधारित प्रोजेक्ट प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

किसी प्रोजेक्ट्स में पृथक्-पृथक् समस्याओं के रूप में अलग-अलग विषयों का अध्ययन नहीं होना चाहिए बल्कि किसी भी प्रोजेक्ट के विकास एवं पूर्ति में जिन-जिन विषयों की समस्या उठती जायगी, उनका ज्ञान बालकों को होता जायगा। उदाहरण के लिए हम 'दूकान' का प्रोजेक्ट लें। इसके लिए दूकान के स्थान की योजना, लम्बाई-चौड़ाई, क्षेत्रफल आदि का ज्ञान, वस्तुओं का क्रय-विक्रय, हिसाब रखना, लाभ-हानि आदि गणित का ज्ञान प्राप्त होगा। दूकान संबंधी व्यापार प्रचलन का इतिहास, आर्थिक स्थिति तथा सामाजिक रचना और प्रथा संबंधी समस्याओं से सामाजिक विषय का ज्ञान होगा। दूकान की सामग्री का निर्माण, उनके उत्पादन के स्थान तथा उनकी प्राकृतिक आवश्यकताएँ, आयात-निर्यात आदि भौगोलिक ज्ञान होगा तथा व्यापारिक आदान-प्रदान में राष्ट्रीयता तथा नागरिकता की शिक्षा मिलेगी। दूकान सजाने, पोस्टर लिखने, डिजाइनें तैयार करने की समस्या द्वारा कला और शिल्प का ज्ञान होगा। पत्र-व्यवहार की कला भी बालक इसके द्वारा सीखेगा। दूकान की स्वच्छता, वायु और प्रकाश का महत्त्व, खाद्य सामग्री आदि की सुलभता आदि समस्याओं से बालक का साधारण ज्ञान अच्छा होगा। इसी प्रकार भाषा और साहित्य की शिक्षा भी इन समस्याओं से प्रदान की जायगी।

जितनी ही अधिक समस्याएँ बच्चों के सम्मुख प्रस्तुत होंगी उतना

ही विस्तृत ज्ञान उन्हें प्राप्त होगा, पर सदा यह ध्यान रखना चाहिए कि ये समस्याएँ स्वाभाविक रूप में ही प्रस्तुत हों और स्वाभाविक रूप में ही सम्पादित भी हों।

प्रोजेक्ट प्रणाली में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ

१—प्रोजेक्ट प्रणाली में एक विशेष कठिनाई है प्रोजेक्ट के चुनाव के संबंध में। प्रोजेक्ट बालकों को स्वयं ही प्रस्तावित करना चाहिए और उसके चुनाव में भी उन्हीं का विशेष हाथ होना चाहिए परन्तु यह संभव नहीं हो पाता। बालकों द्वारा प्रोजेक्ट के प्रस्तुतीकरण के लिए उचित परिस्थितियों का निर्माण भी बहुत कठिन कार्य है।

२—प्रोजेक्ट प्रणाली के आधार पर पाठ्य विषयों का उचित संगठन भी कठिन हो जाता है क्योंकि किसी भी प्रोजेक्ट के माध्यम से वांछित सभी विषयों का क्रमिक एवं सुसम्बद्ध ज्ञान प्रदान करना संभव नहीं हो पाता। विषयों का ज्ञान छिटफुट और बिखरा हुआ रहता है। प्रोजेक्ट द्वारा विविध विषयों का समन्वित एवं एकीकृत शिक्षण संभव नहीं होता और उनका ज्ञान अधूरा तथा उलझनपूर्ण हो जाता है। निर्धारित पाठ्य विषय की पूरी शिक्षा समयानुसार समाप्त नहीं हो पाती।[1]

३—प्रोजेक्ट प्रणाली में एक बड़ी समस्या यह खड़ी हो जाती है कि स्कूल के अन्य कार्यों के साथ प्रोजेक्ट का किस प्रकार मेल बैठाया जाय। टाइमटेबुल में प्रोजेक्ट के लिए कितना समय प्रदान किया जाय और किस समय, यह सदा अनिश्चित रहता है जब कि अन्य कार्यों का समय बिल्कुल निश्चित-सा है। अतः समय की उलझन बनी रहती है। विद्यालय के संगठन एवं व्यवस्था में प्रोजेक्ट को सुचारु पूर्वक संचालन के लिए अनेक बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं।

४—प्रोजेक्ट प्रणाली में शिक्षक की स्थिति भी स्पष्ट नहीं रह पाती। उसे यह सोचना पड़ता है कि कब, किस प्रकार और किस सीमा तक वह छात्रों के क्रिया-कलाप में हस्तक्षेप कर सकता है। बालकों की पूर्ण स्वतन्त्रता भी बनी रहे और शिक्षक द्वारा उचित पथ-प्रदर्शन भी होता रहे इन दोनों बातों का निर्णय करना कठिन हो जाता है।

---

1. "The curriculum got mixed up into a state of inextricable confusion. All the subjects got mixed up in a general jumble. Every body busy corelating everything to everything else that no body found time to deal with fresh and independent matter."
Adams.

५—प्रोजेक्ट प्रणाली में परीक्षा संबंधी भी बड़ी कठिनाई उपस्थित हो जाती है। हमारे देश में जहाँ परीक्षा को इतना अधिक महत्त्व प्रदान किया जाता है, प्रोजेक्ट प्रणाली अपनाना और भी कठिन है क्योंकि उस आधार पर पाठ्यक्रम का संगठन संभव नहीं है।

६—प्रोजेक्ट प्रणाली में कक्षा-अनुशासन की भी समस्या बनी रहती है। प्रोजेक्ट प्रस्तावित करने, उस पर विचार विमर्श करने, प्रोजेक्ट चुनने, क्रियान्वित करने आदि सभी स्तरों पर कोलाहल-सा मच जाता है क्योंकि बालकों को कार्य की पूरी स्वतन्त्रता प्रदान की जाती है। उच्छृङ्खल बालकों को अपनी उद्दंडता-प्रदर्शन का अवसर मिल जाता है। बहुत कुशल और दक्ष शिक्षक ही अनुशासन बनाए रख पाता है।

७—प्रोजेक्ट प्रणाली की एक विशेष कठिनाई यह भी है कि इसे माध्यमिक स्तर की शिक्षा के लिए ही अपनाया जा सकता है जब कि बालकों का कुछ बौद्धिक विकास हो चुका रहता है। प्रारम्भिक स्तर के लिए इसे प्रयोग में नहीं लाया जा सकता।

प्रोजेक्ट चुनने में ध्यान देने योग्य बातें

१—शैक्षिक दृष्टि से उपयोगी प्रोजेक्ट ही चुने जायँ। केवल व्यावसायिक दृष्टिकोण न अपनाया जाय।

२—वास्तविक परिस्थितियों के आवश्यकतानुसार ही प्रोजेक्ट चुने जायँ।

३—प्रोजेक्ट पूरा करने के लिए आवश्यक साधनों की सुलभता का ध्यान रखकर प्रोजेक्ट चुनने चाहिए। ऐसे प्रोजेक्ट चुनने से क्या लाभ जिसको पूरा करने के लिए साधन ही उपलब्ध न हों।

४—ऐसे प्रोजेक्ट चुनने चाहिए जिनके लिए सामग्री कम पैसे में ही मिल सके। अत्यधिक व्यय साध्य सामग्री वाले प्रोजेक्ट व्यावहारिक नहीं हो पाते।

५—प्रोजेक्ट चुनते समय यह ध्यान रखा जाय कि उसे पूरा करने में समय का अपव्यय न हो। समय पर उसे पूरा हो जाना चाहिए।

६—शैक्षिक दृष्टि से जो उद्देश्य हम पूरा करना चाहते हैं उसकी अधिकाधिक पूर्ति की दृष्टि से प्रोजेक्ट का चुनाव होना चाहिए।

७—प्रोजेक्ट ऐसा हो जिसके माध्यम से पाठ्य विषयों का अधिकाधिक ज्ञान प्रदान किया जा सके। प्रोजेक्ट ऐसा होना चाहिए कि कम से कम समय और साधनों द्वारा अधिक से अधिक लाभ बालकों को मिल सके।

प्रोजेक्ट प्रणाली के गुण

१—समस्यात्मक कार्य द्वारा क्रियात्मक शिक्षा—(क) प्रोजेक्ट प्रणाली में कार्य आदेश या आज्ञा के रूप में बालक पर नहीं लादते, बल्कि इस ढंग से प्रस्तुत किया जाता है कि बच्चे उसके प्रति आकर्षित होकर रुचिपूर्वक कार्य में संलग्न हो जाते हैं। उदाहरणतः, बालक को लिफाफा तैयार करने का आदेश यदि दिया जाय तो सम्भव है बालक को उसमें रुचि न हो। अतः यह आदेश 'प्रोजेक्ट' नहीं हुआ। पर यदि अध्यापक बालक को अपने भाई के नाम पत्र लिखने के लिए प्रेरित करता है और बच्चे के सामने पत्र भेजने की समस्या प्रस्तुत हो जाती है तो उसे लिफाफे की आवश्यकता होती है। यह समस्या उसे सुलझानी है। उसे लिफाफा तैयार करना है। अतः इस प्रकार समस्यात्मक कार्य से उसकी शिक्षा प्रारम्भ हो जाती है।

(ख) जब लिफाफा तैयार करने में अनेक समस्याएँ बीच में खड़ी होती हैं और उन समस्याओं से सम्बन्धित विषयों का ज्ञान भी बालक को करा दिया जाता है तो लिफाफा तैयार करने में नाप, आकार, गिनती आदि गणित का ज्ञान, कागज का इतिहास, उसके बनाने की कला, कागज सम्बन्धी कहानियाँ आदि विविध विषय अपने आप उपस्थिति होते जाते हैं।

(ग) बच्चा स्वयं ही अपनी कठिनाइयों को सुलझाने और नूतन ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है अतः उसका ज्ञान स्थायी होता है।

(घ) नया ज्ञान प्राप्त करने से उसकी जिज्ञासा तीव्र होती है। उसे निरीक्षण एवं प्रयोग करना पड़ता है और स्वयं अनुभव के सहारे आगे बढ़ना पड़ता है।

(च) स्वाभाविक वातावरण प्रो० ड्यूवी के अनुसार स्कूल का जीवन बच्चों के गृह एवं वातावरण के अनुरूप होना चाहिए। अतः प्रोजेक्ट प्रणाली में समस्यात्मक कार्यों को स्वाभाविक परिस्थितियों में ही पूरा करते हैं। कृषि या बागवानी, दूकान या डाकखाने का काम जो भी चुना जाय, बच्चे ही स्वयं सारा कार्य स्वाभाविक रूप से पूरा करेंगे। इससे स्कूल का जीवन उनके बाह्य जीवन के समान ही बना रहेगा।

(छ) **तर्क-शक्ति का प्रयोग—**समस्यात्मक कार्य के सुलझाने में बच्चे को नाना प्रकार का संकल्प-विकल्प करना पड़ता है और फिर तर्क एवं विचार के द्वारा वे किसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। इससे निर्णय-शक्ति का विकास होता है। प्रो० ड्यूवी का कथन है कि 'समस्या' से विचार करने की शक्ति का प्रादुर्भाव

होता है। इस प्रकार तर्क, विचार एवं निर्णय-शक्ति के विकास से बालक का यथार्थ बौद्धिक विकास होता है।

(ज) व्यावहारिक ज्ञान—प्रोजेक्ट प्रणाली क्रियात्मक शिक्षा का ही एक उन्नत रूप है। इसमें बच्चे स्वयं कार्य चुनते हैं, प्रयोग करते हैं, अन्वेषण करते हैं और नूतन ज्ञान प्राप्त करते हैं। अतः सैद्धान्तिक ज्ञान के स्थान पर उन्हें वस्तु का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त होता है। शब्द के स्थान पर कार्य से परिचय होता है।

इस व्यावहारिक ज्ञान का प्रभाव उनके चरित्र-निर्माण पर पड़ता है। मनोयोग से उद्देश्यपूर्ण कार्य की पूर्ति के लिए निष्ठा, लगन, तत्परता, कर्त्तव्य-परायण और ईमानदारी की आवश्यकता पड़ती है। साथ ही एक कार्य में सामूहिक रूप से संलग्न होने और पूरा करने से सामाजिक गुणों का उत्कर्ष होता है। परस्पर सहयोग, सौहार्द, प्रेम एवं त्याग की भावना जगती है। सत्यवादिता और आत्म-विश्वास आदि गुण अपने आप आ जाते हैं।

२—मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह प्रणाली उत्तम सिद्ध होती है क्योंकि :—

(क) क्रिया द्वारा बच्चों की रचनात्मक प्रवृत्ति का विकास होता है।

(ख) बच्चों की शिक्षा स्वाभाविक रूप में होती है, आतंक या आदेश द्वारा नहीं जैसा कि सामान्य स्कूलों में पाया जाता है।

(ग) ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा और इसके द्वारा बच्चों को सविकल्पक ज्ञान की प्राप्ति।

(घ) स्वयं ज्ञान—अर्थात् रुचि, प्रयत्न, अनुसंधान एवं अनुभव के आधार पर ज्ञान की प्राप्ति।

(ङ) मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह प्रणाली इसलिए भी उत्तम मानी जाती है कि यह सीखने के मनोवैज्ञानिक नियमों पर आधारित है, उदाहरणार्थ—

तत्परता का नियम—बालक किसी क्रिया या विचार को उस समय शीघ्रता एवं सरलता से सीखता है जब वह सीखने के लिए हृदय से तत्पर हो। प्रोजेक्ट प्रणाली में बालक समस्या समाधान के लिए स्वयं ही प्रोजेक्ट प्रस्तावित करता है, योजना बनाता है और नवीन ज्ञानार्जन के लिए तत्पर रहता है।

अभ्यास का नियम—ज्ञान को स्थायी और पक्का बनाने के लिए सतत अभ्यास बहुत ही आवश्यक है। प्रोजेक्ट प्रणाली में क्रिया के अभ्यास का यथेष्ट अवसर मिलता है।

प्रभाव का नियम—हम उस कार्य को सरलता से सीखते हैं जिसे करने में हमें संतोष एवं आनन्द का अनुभव होता है। प्रोजेक्ट प्रणाली में बालक स्वयं ही कार्य में रुचि एवं मनोयोग से संलग्न होता है और कार्य पूरा करने में संतोष का अनुभव करता है। इससे प्रभाव का नियम इस प्रणाली में लागू होता है।

३—**बौद्धिक दृष्टि से** इस प्रणाली में बच्चों को स्वयं सोचने, तर्क करने और समस्याओं के समाधान के लिए प्रयत्न की आवश्यकता पड़ती है अतः मानसिक विकास होता है।

४—**पाठ्य विषयों की स्वाभाविकता**—बच्चों को विविध विषयों का ज्ञान स्वाभाविक भूमिका एवं परिस्थितियों में कराया जाता है, अनावश्यक एवं जबर्दस्ती लादा नहीं जाता।

५—**आत्मविकास**—बालक अपनी रुचि एवं प्रयत्न से सीखते हैं अतः उनमें आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता की भावना पैदा होती है। इससे वे उत्तरदायित्व का भी अनुभव करते हैं और स्वयं विकास के लिए सदा प्रयत्न-शील रहते हैं।

६—**रोचकता**—समस्याओं के प्रति बच्चे स्वतः आकर्षित, उत्सुक, जिज्ञासु एवं जागरूक बने रहते हैं और उन्हें कार्य करने में प्रसन्नता का अनुभव होता है।

७—**सामाजिक एवं नैतिक गुणों का उत्कर्ष**—यह पहले लिखा जा चुका है कि प्रोजेक्ट प्रणाली में बालकों को परस्पर सहयोग से कार्य करना पड़ता है अतः सामाजिक एकता की भावना पैदा होती है। कार्य-तत्परता, ईमानदारी, आत्मनिर्भरता, आरम्भ-शक्ति, उत्तरदायित्व निर्वाह आदि गुणों का विकास होता है। इस प्रणाली से प्रजातांत्रिक गुणों का स्वयं ही विकास होता है।

८—**गृह, वातावरण तथा पाठशाला की अनुरूपता**—प्रोजेक्ट प्रणाली की एक मुख्य विशेषता यह है कि बालक के विद्यालयीय जीवन और उसके बाह्य सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन में पूर्ण सामंजस्य स्थापित रहता है। बालक के वातावरण से सम्बन्धित समस्याएँ एवं कार्य बालक के सम्मुख प्रोजेक्ट के रूप में प्रस्तुत होते हैं।

९—**मन्द बुद्धि के बालकों के लिए उपयोगिता**—इस प्रणाली में मन्द बुद्धि का बालक भी कार्य में संलग्न रहता है और सीखता रहता है। इसमें किताबी शिक्षा की भाँति उसे निश्चेष्ट होकर बैठने का अवसर नहीं मिलता।

प्रोजेक्ट प्रणाली के अवगुण

१—प्रोजेक्ट अर्थात् समस्यात्मक कार्य को स्वाभाविक परिस्थितियों में प्रस्तुत करना बड़ा कठिन होता है और प्रायः अस्वाभाविक रूप में समस्याएँ रख दी जाती हैं।

२—अस्वाभाविक समस्याओं में बच्चों की रुचि और जिज्ञासा नहीं रहती। बहुत से प्रोजेक्ट ऐसे भी ले लिए जाते हैं जिनमें उद्देश्य और प्रयोजन का अभाव रहता है।

३—इस पद्धति में बौद्धिक कार्यों के लिए अभ्यास का अवसर नहीं मिलता। गणित जैसे विषय की शिक्षा बिना अभ्यास के संभव नहीं। इसी प्रकार लिखित कार्य का भी अवसर नहीं मिलता। भाषा और साहित्य की शिक्षा भी अधूरी रह जाती है।

४—इस प्रणाली में सभी पाठ्य विषय व्यवस्थित रूप से समस्यात्मक रूप में नहीं आ पाते। अतः ज्ञानार्जन क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित नहीं हो पाता। बीच की बहुत-सी बातें छूट जाती हैं। एक विषय का ज्ञान भी पूर्ण व्यवस्थित एवं क्रमायोजित रूप में नहीं हो पाता अतः ज्ञान अस्पष्ट और अधूरा रह जाता है।[1]

५—भिन्न-भिन्न समस्याओं के प्रस्तुत होने से बहुत-सी ऐसी बातें भी बतलानी पड़ती हैं जो विद्यार्थी की उस अवस्था के लिए आवश्यक नहीं और न उनका शिक्षा सम्बन्धी मूल्य ही अधिक रहता है।

६—इस प्रणाली में समय भी अधिक लगता है क्योंकि ज्ञानार्जन किसी क्रियात्मक समस्या द्वारा होता है। सामान्यतः शिक्षा की बहुत-सी बातें मौखिक रूप से बताई जा सकती हैं, उनके लिए क्रिया की आवश्यकता नहीं।

७—इस प्रणाली में 'कार्य' स्वतः उद्देश्य बन जाता है अतः बालकों का ध्यान उसकी पूर्ति में अधिक रहता है, ज्ञान सीखने की ओर कम।

८—इस प्रणाली में निश्चित पाठ्यक्रम की कोई सीमा नहीं निर्धारित हो पाती।

---

1. "Since all learning is incidental to the projects, there are likely to be gaps and lack of system or vagueness in knowledge. Incidental learning, though most important, is not enough. One needs the regular course in its proper place."

Godfray Thomson

९—यह प्रणाली व्ययसाध्य है। इस कारण हमारे देश के लिए उतनी उपयोगी नहीं जितनी धनी और सम्पन्न देशों में। इसके लिए आवश्यक सामग्री, यन्त्र, पुस्तकें आदि एकत्र कर पाना हमारे देश के निर्धन छात्रों के लिए कठिन है।

१०—यद्यपि इस प्रणाली में 'कार्य' करने का समान अवसर सभी बालकों को मिलता है किन्तु तेज बालक उसे शीघ्र पूरा कर लेते हैं और वे पिछड़े बालकों की कार्य भी कर देते हैं। इससे मन्द बुद्धि वाले और पिछड़े बालकों की प्रगति नहीं हो पाती।

११—इस प्रणाली में परीक्षा की भी कोई सुनिश्चित, सुव्यवस्थित एवं वैज्ञानिक विधि अपना सकना संभव नहीं हो पाता।

सारांश

प्रोजेक्ट प्रणाली प्रयोजनवादी विचार-दर्शन पर आधारित है। इस दर्शन को प्रस्तुत करने का श्रेय विलियम जेम्स को है पर शिक्षा की दृष्टि उसे व्यावहारिक बनाने का श्रेय प्रसिद्ध अमेरिकन शिक्षा विचारक प्रो० जान ड्यूवी को है और उनके विचारों के आधार पर प्रोजेक्ट प्रणाली का व्यावहारिक रूप प्रदान करने का श्रेय है प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री विलियम हर्ड किलपैट्रिक को।

प्रोजेक्ट का अर्थ है—(१) वह प्रयोजनपूर्ण क्रिया जिसे पूर्ण मनोयोग के साथ सामाजिक वातावरण में संपन्न किया जाता है—किलपैट्रिक।

(२) प्रोजेक्ट वह समस्यात्मक कार्य है जो स्वाभाविक वातावरण में पूर्ण रूप से संपन्न किया जाता है—स्टीवेन्सन।

इन परिभाषाओं के आधार पर प्रोजेक्ट में निम्नांकित तत्व निहित हैं—

क्रियात्मकता, समस्यामूलक कार्य, सामाजिक आधार, स्वाभाविक वातावरण, कार्य की पूर्णता।

प्रोजेक्ट के मूल सिद्धान्त—प्रयोजन, क्रियाशीलता, यथार्थता, उपयोगिता, स्वतन्त्रता।

प्रोजेक्ट प्रणाली की कार्य पद्धति—उद्देश्य-निर्धारण (उचित परिस्थिति उत्पन्न करना, प्रोजेक्ट का चुनाव), कार्यक्रम बनाना, प्रोजेक्ट क्रियान्वित करना, मूल्यांकन, कार्य विवरण या लेखा रखना।

प्रोजेक्ट के प्रकार—सृजनात्मक, रसास्वादन सम्बन्धी, समस्यात्मक, अभ्यासात्मक।

व्यक्तिगत, सामूहिक।

खेल, परिभ्रमण, कहानी एवं नैतिक ।

सरल एवं जटिल ।

हस्तकला सम्बन्धी, औद्योगिक, वैज्ञानिक, ऐतिहासिक एवं साहित्यिक ।

प्रोजेक्ट प्रणाली के गुण—क्रियात्मक शिक्षा, स्वयं शिक्षा, स्वाभाविक वातावरण, समस्याओं को स्वयं सुलझाना, तर्क शक्ति का प्रयोग, व्यावहारिक ज्ञान, मनोवैज्ञानिकता, बौद्धिक विकास, सामाजिक एवं नैतिक गुणों का विकास, गृह-वातावरण से अनुरूपता ।

अवगुण—स्वाभाविक परिस्थिति की जटिलता, प्रयोजन का अभाव, अभ्यास की कमी, पाठ्यक्रम की व्यवस्था का अभाव, अनावश्यक विषय-विस्तार, समय का अपव्यय, ज्ञान की अपेक्षा कार्य का अधिक महत्त्व, व्यय साध्य ।

प्रश्न

१—प्रोजेक्ट प्रणाली की सैद्धान्तिक भूमिका बताइए । ड्यूवी ने तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली की क्या आलोचना की है और शिक्षा के क्षेत्र में किन बातों पर बल दिया ?

२—प्रोजेक्ट के क्या अर्थ हैं ? उनसे शिक्षा सम्बन्धी किन तत्त्वों पर प्रकाश पड़ता है ?

३—प्रोजेक्ट प्रणाली के आधारभूत सिद्धान्तों की संक्षिप्त विवेचना कीजिए ।

४—प्रोजेक्ट की कार्य-पद्धति पर प्रकाश डालिए । किसी प्रोजेक्ट का उदाहरण लेकर दिखाइए कि शिक्षक को इस विधि के अनुसार पढ़ाने में किन-किन बातों पर ध्यान देना चाहिए ।

५—प्रोजेक्ट प्रणाली में शिक्षक का क्या स्थान है ? विस्तृत प्रकाश डालिए ।

६—प्रोजेक्ट प्रणाली के गुण-दोष विवेचन कीजिए ।

७—"प्रोजेक्ट प्रणाली में बालक को ज्ञानार्जन का प्रोत्साहन तो मिलता है पर उसका समुचित अवसर नहीं ।" इस कथन की सम्यक आलोचना कीजिए ।

अध्याय १४

डाल्टन योजना[1]

[डाल्टन योजना का प्रवर्तन, प्रयोजन, प्रमुख सिद्धांत, पाठ्यक्रम संगठन एवं कार्यक्रम, गुण एवं दोष, अन्य प्रणालियों से तुलना]

"Perhaps the most dramatic and systematic breakaway from the class teaching unit is supplied by what is widely known as the Dalton Plan."

Adams.

शिक्षा की आधुनिक मनोवैज्ञानिक विचारधाराओं के फलस्वरूप बालक को केन्द्र मानकर उसकी व्यक्तिगत शिक्षा पर बल देने के लिए जिन शिक्षण प्रणालियों अथवा योजनाओं का सूत्रपात हुआ, उनमें डाल्टन योजना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। बालकों की सामूहिक शिक्षा प्रणाली के दोषों को दूर करने के लिए इस योजना का जन्म हुआ। इस योजना की प्रवर्त्तिका मिस हेलेन पार्कहर्स्ट थीं।[2] मिस पार्कहर्स्ट को डा० मेरिया माण्टेसरी के साथ शिक्षण कार्य करने का अवसर मिला था। अतः माण्टेसरी द्वारा प्रतिपादित बालक की व्यक्तिगत शिक्षा के विचारों से प्रेरणा ग्रहण कर तथा स्वयं अपने शैक्षणिक अनुभवों के आधार पर उन्होंने इस नवीन शिक्षण योजना को जन्म दिया। उनका यह विश्वास दृढ़ हो गया था कि प्रचलित शिक्षण प्रणाली में छात्रों को स्वयं शिक्षा एवं स्वयं विकास का अवसर नहीं मिलता। शिक्षक ही कक्षा में सब कुछ बना रहता है, शिक्षार्थी तो निष्क्रिय श्रोता मात्र रहता है। शिक्षक का शिक्षार्थियों के साथ घनिष्ठ सम्पर्क नहीं स्थापित हो पाता और न प्रत्येक छात्र शिक्षक के प्रयत्नों का लाभ ही उठा पाता है। अतः इन दोषों को दूर करने के लिए नवीन शिक्षण योजना की आवश्यकता है। इस विचार एवं संकल्प के साथ उन्होंने डाल्टन योजना का प्रवर्त्तन किया। इस योजना का प्रथम प्रयोग अमेरिका के मेसाचुसेट्स प्रान्त के डाल्टन नगर के हाई स्कूल में किया गया था, इस कारण इस योजना का नाम 'डाल्टन योजना' पड़ा।

---

1. Dalton plan.
2. Miss Helen Parkhurst.

डाल्टन योजना का प्रयोजन

इस योजना के प्रमुख प्रेरणा स्रोत माण्टेसरी के शिक्षा सम्बन्धी विचार हैं, पर पार्कहर्स्ट ने अपने अनुभवों का लाभ उठाकर और मौलिक विचारों के प्रयोग से इस योजना को और उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया है। तत्कालीन शिक्षा का सबसे बड़ा दोष यह था कि बालक की वैयक्तिक विभिन्नता की उपेक्षा करके कक्षा के सभी बालकों को एक समान और एक स्तर की शिक्षा दी जाती थी, बालकों को आत्मविकास का अवसर नहीं था और विद्यालय का वातावरण बन्धन-पूर्ण रहता था। माण्टेसरी ने इन दोषों को दूर करने और व्यक्तिगत विभिन्नता को ध्यान में रखकर शिक्षा प्रदान करने के लिए अपनी शिशु शिक्षण प्रणाली (३ वर्ष से ७ वर्ष तक के शिशुओं के लिए) का प्रवर्त्तन किया। कुमारी पार्कहर्स्ट ने इन विचारों के आधार पर बड़े बच्चों अर्थात् ८ से १२ वर्ष के बालकों के लिए डाल्टन योजना का सूत्रपात किया। उन्होंने अपनी योजना को कठोर नियमों के बन्धन में नहीं बाँधा और उसे एक ऐसे व्यापक आधार पर रखा कि वह सभी विद्यालयों एवं स्थानों के लिए उपयुक्त सिद्ध हो सके तथा विद्यालय की परिस्थितियों एवं शिक्षकों के निर्णयानुसार उसमें यथावश्यक सुधार या परिवर्त्तन करके उसका प्रयोग किया जा सके।

कुमारी पार्कहर्स्ट विद्यालय का वातावरण इस प्रकार बनाना चाहती हैं कि बालक स्वयं ही अपने ढंग से शिक्षा ग्रहण करें। शिक्षक केवल पथ-प्रदर्शक मात्र हो। बालकों को शिक्षा के लिए किसी भी प्रकार विवश न किया जाय और उन्हें पाठ्य-क्रम सम्बन्धी कार्यों को रुचिपूर्वक सम्पन्न करने की स्वतन्त्रता मिले। बालकों को किसी भी प्रकार आतंकित या प्रताड़ित न किया जाय। स्वतन्त्र एवं उत्फुल्ल वातावरण में बालकों को सानन्द शिक्षा ग्रहण करने का अवसर दिया जाय। उन्होंने लिखा है कि "डाल्टन योजना का उद्देश्य बालक या बालिकाओं को साधारण कक्षाओं की परिस्थिति से बिलकुल भिन्न जीवन परिस्थितियों में रखकर एक नूतन शैक्षिक समाज का निर्माण करना और विद्यालय के सामुदायिक जीवन को मान्यता प्रदान करनी है।" इस प्रकार डाल्टन योजना द्वारा विद्यालय के सामूहिक जीवन को नए सिरे से संगठित करने का प्रयत्न किया गया है।

---

1. "I have carefully guarded against the temptation to make my plan a stereotyped cast iron thing ready to fit any school an where so long the principle that animates if and preserved it, can be modified in practice in accordance with the circumstances of the school and the judgement of the staff."

डाल्टन योजना के प्रमुख सिद्धान्त

कुमारी पार्कहर्स्ट ने अपनी पुस्तक 'डाल्टन योजना' द्वारा शिक्षा[1] में अपनी शिक्षण योजना पर प्रकाश डाला है। उस आधार पर उनकी योजना के प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

१—बालक की प्रधानता

२—व्यक्तिगत शिक्षा एवं स्वाध्याय पर बल

३—अध्ययन एवं स्वयं प्रगति की स्वतन्त्रता

४—शिक्षक द्वारा पथ-प्रदर्शन

५—सामूहिक शिक्षा अथवा विचार-विमर्श

१—बालक की प्रधानता—डाल्टन योजना बाल-केन्द्रित शिक्षण प्रणाली पर बल देती है। इसमें शिक्षक के स्थान पर बालक को प्रधानता दी जाती है। बालक की रुचि, योग्यता एवं आवश्यकता को ध्यान में रखकर उसे शिक्षा प्रदान की जाती है। प्राचीन शिक्षा प्रणाली में बालक की रुचि एवं क्षमता की अवहेलना की जाती थी और शिक्षक अपने ढंग से पाठ्य विषय को छात्रों के मन में जबर्दस्ती बैठाने का प्रयत्न करता था। इस व्यवस्था का कुमारी पार्कहर्स्ट ने विरोध किया और शिक्षण प्रक्रिया में बालक को महत्त्व देकर उसके व्यक्तित्व को स्वाभाविक रूप से विकसित होने का अवसर प्रदान किया। इस योजना में बालक को स्वयं शिक्षा के पथ पर अग्रसर करने का प्रयत्न किया जाता है और उसे स्वयं प्रयत्न द्वारा विकास के लिए उत्तरदायी बनाया जाता है।

२—व्यक्तिगत शिक्षा एवं स्वाध्याय पर बल—इस योजना में बालक को स्वाध्याय एवं स्वानुभव द्वारा शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। शिक्षक बालक की रुचि के प्रतिकूल पाठ्य विषय न पढ़ाकर उसकी इच्छा के अनुसार उसे अध्ययन एवं प्रयोग सम्बन्धी कार्य का ठीका प्रदान करता है और उसे अपने ढंग से कार्य करने तथा प्रगति करने के लिए छोड़ देता है। प्रत्येक बालक अपने-अपने अध्ययन कार्य में तल्लीन रहते हैं और अपनी क्षमता के अनुसार जल्दी या देर में अपना कार्य पूरा करते हैं। शिक्षक उनका पथ-प्रदर्शन मात्र करता है और प्रत्येक बालक की व्यक्तिगत शिक्षा का ध्यान रखता है। बालकों पर कोई बन्धन नहीं रहता। समय-सारिणी अथवा निश्चित अवधि में

---

1. "The aim of Dalton Plan was to create a new type of educational society by putting boys and girls under purely different conditions of living from those provided in the ordinary class-room and to recognise the community life of the school."

ही निश्चित पाठ पूरा करने का प्रतिबन्ध नहीं रहता। बालक अपनी बुद्धि, क्षमता एवं तत्परता के अनुसार कार्य करने का समय पा जाता है। इस प्रकार व्यक्तिगत शिक्षा एवं स्वाध्याय की स्वतन्त्रता इस योजना का प्रमुख सिद्धान्त है।

३—अध्ययन एवं प्रगति की स्वतन्त्रता—स्वाध्याय की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त में अध्ययन एवं प्रगति का सिद्धान्त भी निहित है जिस पर इस योजना में विशेष बल दिया जाता है। बालक जिस समय, जितनी देर तक जिस विषय का अध्ययन करना चाहे, कर सकता है। कोई मन्द बुद्धि का बालक अथवा पिछड़ा बालक किसी विषय का अध्ययन अपने ठीके के अनुसार यदि समाप्त नहीं कर पाता तो उसे पूरा करने के लिए स्वतन्त्रतापूर्वक और समय ले सकता है। इस प्रकार कार्य सम्पन्न करना और प्रगति करना उसकी क्षमता एवं तत्परता पर निर्भर है। कुशाग्र बुद्धि का बालक शीघ्रता से और मन्द बुद्धि का बालक मन्द गति से शिक्षा प्राप्त करने के लिए स्वतन्त्र रहते हैं। परम्परागत शिक्षण प्रणाली का एक बड़ा दोष यह है कि तीव्र बुद्धि के बालक को मन्द बुद्धि के बालकों के कारण रुकना पड़ता है और दूसरी ओर मन्द बुद्धि का बालक उत्तरोत्तर पिछड़ता जाता है क्योंकि वह कुशाग्र बुद्धि वालों के साथ आगे नहीं बढ़ पाता।

४—स्वयं शिक्षा एवं शिक्षक का पथ-प्रदर्शन उपर्युक्त सिद्धान्तों में हम देख चुके हैं कि इस योजना में बालक स्वयं ही अध्ययन करता है और प्रगति करता जाता है। उसे हर समय शिक्षक के शिक्षण की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह स्वयं ही अपना शिक्षक है। पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इस योजना में शिक्षक का कोई स्थान ही नहीं है। बालक को प्रायः शिक्षक के निर्देश की आवश्यकता नहीं पड़ती पर आवश्यकतानुसार वह शिक्षक से सहायता अथवा परामर्श ले सकता है। शिक्षक कभी भी आतंक या दण्ड का सहायता नहीं लेता, वह एक संरक्षक के रूप में काम करता है। वह मौखिक शिक्षण बहुत कम देता है और बालकों के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करता। बालक जब कठिनाई का अनुभव करते हैं अथवा कार्य सम्पन्न करने की उचित विधि नहीं ढूँढ़ पाते तो शिक्षक उन्हें उचित सुझाव एवं परामर्श देता है।

इस योजना में शिक्षक का प्रमुख कार्य बालकों को दिए जाने वाले अध्ययन सम्बन्धी कार्यों की रूपरेखा तैयार करना और उसे पूरा करने में बालकों का उचित पथ-प्रदर्शन करना है। शिक्षक का यह उत्तरदायित्व बहुत बड़ा है क्योंकि वह प्रत्येक छात्र के लिए कार्य की योजना तैयार करता है, प्रत्येक बालक की अध्ययन-क्षमता का ध्यान रखता है और देखता रहता है कि प्रत्येक

बालक कितनी प्रगति कर रहा है। इस आधार पर वह सभी बालकों की सहायता करता है।

५—सामूहिक शिक्षा—इस योजना में व्यक्तिगत शिक्षा पर बल देने, प्रत्येक बालक को अपने-अपने कार्य के लिए स्वतन्त्रता प्रदान करने और स्वतन्त्र प्रगति का अवसर देने का यह अर्थ नहीं है कि इस योजना में बालकों की सामूहिक भावना की उपेक्षा की जाती है। कार्य-योजना इस प्रकार बनाई जाती है कि बालकों को सामूहिक शिक्षण का भी अवसर मिल जाता है। विद्यालय का कार्य प्रारम्भ होने के समय बालक सामूहिक रूप से एकत्र होते हैं और शिक्षक उन्हें कार्य के सम्बन्ध में आवश्यक सुझाव, निर्देश एवं परामर्श देता है। फिर बालक अपने-अपने कार्य में अलग-अलग जुट जाते हैं। शाम को वे पुनः एकत्र होते हैं और अपने कार्यों के सम्बन्ध में सामूहिक विचार-विमर्श करते हैं। प्रयोगशाला में भी कार्य करते समय वे परस्पर विचारों का आदान-प्रदान कर सकते हैं। इस प्रकार इस योजना में सामूहिक शिक्षा का पूर्ण निषेध नहीं है और सामूहिक भावना के विकास का उचित अवसर मिल जाता है।

डाल्टन योजना में पाठ्य विषय संगठन एवं कार्यक्रम

इस योजना में पाठ्य विषयों के स्वरूप एवं विषय सामग्री पर कोई विचार नहीं किया गया है परन्तु जो पाठ्य विषय निर्धारित हैं उनका संगठन अवश्य ही एक विशेष प्रकार से किया जाता है। यह संक्षेप में निम्नलिखित हैं—

१—पाठ का ठीका—इस योजना में पाठ्य विषय सम्बन्धी जो सामग्री वर्ष भर में पढ़ानी है, उसकी रूप-रेखा तैयार कर ली जाती है। पूरे वर्ष के लिये निर्धारित पाठों का विभाजन प्रत्येक महीने के कार्य के रूप में कर लिया जाता है। इस योजना में १० महीने का वार्षिक सत्र होता है अतः पूर्ण वर्ष भर का पाठ्य विषय १० भागों में विभाजित कर लिया जाता है। जिस प्रकार किसी कार्य का निश्चित समय पर पूरा करने के लिये ठीकेदार जिम्मेदारी लेता है, उसी प्रकार बालक को प्रत्येक महीने के लिए निर्धारित कार्य पूरा करना होता है। इसीलिए इसे ठीका प्रणाली[1] कहते हैं। बालक को एक माह में जितना काम करना है, स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है और उसे स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जाती है कि वह अपनी सामर्थ्य एवं गति से उस कार्य को पूरा कर ले।

२—निर्दिष्ट पाठ[2]—महीने भर के कार्य को बालक शिक्षक की सहायता से चार भागों में अर्थात् साप्ताहिक कार्य की दृष्टि से विभाजित करता है।

1. Contract system.
2. Assignment.

प्रत्येक भाग का कार्य एक सप्ताह में पूरा करने की जिम्मेदारी बालक पर होती है। इस एक सप्ताह के लिए निर्धारित कार्य को 'निर्दिष्ट पाठ' कहते हैं। इस योजना में 'महीने' का अर्थ २० शैक्षिक दिनों से है। अतः २० दिनों के कार्यों का विभाजन चार भागों में अर्थात् ५-५ दिनों के साप्ताहिक कार्य के रूप में हो जाता है। प्रत्येक सप्ताह के कार्य की रूपरेखा बालक लिखित रूप में शिक्षक के पास प्रस्तुत करते हैं।

३—इकाई[1]—प्रत्येक सप्ताह के लिए निर्धारित 'निर्दिष्ट पाठ' को फिर पाँच भागों में विभाजित कर दैनिक कार्य की योजना बनाई जाती है। प्रतिदिन के लिए निर्धारित कार्य को 'इकाई' कहते हैं। प्रत्येक दिन की इकाई को पूरा करने का उत्तरदायित्व बालक पर है। पर यह उल्लेखनीय बात है कि बालक को इसके लिए विवश नहीं किया जाता कि वह 'इकाई' को एक दिन में अवश्य ही पूरा कर ले। बालक अपनी क्षमता के अनुसार 'इकाई' से अधिक कार्य कर लेने के लिए भी स्वतन्त्र है। इस स्वतन्त्रता के कारण बालक अधिकाधिक कार्य करने के लिए तत्पर एवं उत्साही बने रहते हैं और तीव्र बुद्धि के बालक पूरे महीने का ठीका महीने से पहले ही समाप्त कर लेते हैं। ऐसे बालकों को दूसरे महीने का कार्य (ठीका) समय से पहले ही दे दिया जाता है। साधारण विद्यार्थी अपनी गति के अनुसार कार्य समाप्त करते हैं क्योंकि वे तेज विद्यार्थी के साथ ही आगे बढ़ने के लिए बाध्य नहीं हैं। इतना निश्चित है कि बिना कार्य पूरा किए उन्हें आगे का ठीका नहीं दिया जा सकता अतः साधारण विद्यार्थी भी कार्य पूरा करने के लिए प्रयत्नशील बना रहता है।

४—कक्षा संगठन की इकाई है न कि शिक्षण की इकाई—डाल्टन योजना प्रत्येक बालक की व्यक्तिगत शिक्षा पर बल देती है अतः इस योजना में कक्षा को शिक्षण की इकाई के रूप में नहीं माना जाता, बल्कि संगठन की इकाई के रूप में माना जाता है। विद्यार्थियों का वर्गीकरण[2] कार्य संपन्न करने की प्रगति के अनुसार विभिन्न कक्षाओं में होता है। अतः इस योजना में कक्षा-व्यवस्था को सर्वथा समाप्त नहीं किया गया है पर उसका आधार दूसरा है। जब कभी किसी विषय की सामान्य रूप-रेखा बताई जाती है अथवा सामान्य निर्देश देना होता है तो पूरी कक्षा को एक जगह एक साथ बता दिया जाता है और तत्पश्चात् बालक अलग-अलग अपने कार्य में लग जाते हैं।

---

1. Unit.
2. Classificati

५—कक्षा के स्थान पर प्रयोगशाला—इस योजना की एक प्रमुख विशेषता यह है कि कक्षा के कमरों की जगह विविध विषयों की प्रयोगशालाएँ होती हैं। इसी कारण इसे 'लेबोरेटरी प्रणाली' का नाम दिया जाता है। उदाहरणतः सामान्यतः स्कूलों में कक्षा १, २, ३ आदि क्रमानुसार कक्षा के कमरे बने होते हैं पर डाल्टन योजना में विभिन्न विषयों जैसे इतिहास, भूगोल, विज्ञान आदि की प्रयोगशालाएँ होती हैं अर्थात् प्रत्येक कक्ष एक प्रयोगशाला का रूप ग्रहण कर लेता है जहाँ अध्ययन सम्बन्धी पुस्तकें, उपकरण-चार्ट, चित्र, पत्रिकाएँ रखी रहती हैं। बालक यहाँ आकर अलग-अलग अपनी रुचि के अनुसार अपने निर्दिष्ट पाठ पर जब तक चाहें, अध्ययन कार्य करते रहते हैं। प्रयोगशाला में विषय-विशेषज्ञ शिक्षक बालकों की सहायता के लिए उपस्थित रहता है पर वह अपनी ओर से उनके काम में हस्तक्षेप नहीं करता। बालक को कठिनाई प्रतीत होने पर शिक्षक उसकी सहायता करता है। बालक को प्रत्येक विषय का एक महीने का कार्य (ठीका) मिला रहता है जिसे वह प्रतिदिन की इकाई पूरा करते हुए निश्चित अवधि में पूर्ण करने का प्रयत्न करता है। वह जिस समय जिस विषय का अध्ययन कार्य करना चाहता है, वह उस समय उस विषय के लिए निर्दिष्ट प्रयोगशाला में जाकर कार्य करता है। बालक को सभी विषयों का ध्यान रखना पड़ता है क्योंकि उसे सभी विषयों का ठीका पूरा करना रहता है और वह शिथिलता नहीं कर सकता।

६—विचार सभा या सम्मेलन—इस योजना में प्रतिदिन के कार्य (इकाई) की योजना पहले से ही निर्धारित रहती है और उसके अनुसार दैनिक कार्यक्रम प्रारम्भ होता है। अपने कार्य में संलग्न होने के पहले बालक एवं शिक्षक एकत्र होते हैं और दिन में किए जाने वाले कार्यों के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करते हैं। सामान्य निर्देश, स्पष्टीकरण अथवा आवश्यक सूचनाएँ इसी समय दे दी जाती हैं। इस कार्य के लिए १५ से ३० मिनट तक का समय पर्याप्त समझा जाता है। इसके बाद बालक प्रयोगशालाओं में २-३ घण्टे स्वयं कार्य करते हैं और स्कूल बन्द होने के कुछ पहले वे फिर एकत्र होते हैं और अपने कार्यों के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करते हैं। इस समय वे अपनी कार्य प्रणाली की आलोचना में भी भाग लेते हैं और परस्पर विचारों के आदान-प्रदान से लाभ उठाते हैं।

अध्ययन कार्य के बाद उन्हें अन्य सह शैक्षिक क्रियाओं, रचनात्मक क्रियाओं एवं विविध खेलों में भी भाग लेने का अवसर प्रदान किया जाता है।

७—प्रगतिसूचक रेखाचित्र—इस योजना में बालकों को अपनी रुचि के अनुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता रहती है। प्रतिभाशाली बालक थोड़े समय

में अधिक कार्य कर लेते हैं जबकि साधारण बालक उस कार्य को पूरा करने में अधिक समय लेता है । अतः एक अवधि में सब बालकों की प्रगति एक समान नहीं होती। किसी का काम अधिक हो जाता है और किसी का कम। इस कारण इस योजना में प्रत्येक बालक के कार्य की प्रगति का लेखा रखना आवश्यक हो जाता है । इसलिये ग्राफ चार्ट की व्यवस्था होती है । ये ग्राफ चार्ट तीन प्रकार के होते हैं :—

(i) एक ग्राफ चार्ट बालक के पास रहता है जिसमें वह अपने प्रतिदिन के कार्य को लिखता जाता है । इससे उसे स्पष्टतः ज्ञात रहता है कि उसने किस दिन कितना काम किया। इस चार्ट में तिथियों के लिए ३१ खाने बने होते हैं। यदि बालक दिन का काम उसी दिन पूरा कर लेता है तो उस तिथि के खाने में पूरी लकीर खींच देता है। यदि किसी तारीख का काम बालक ने नहीं किया तो उस दिन के खाने में लकीर नहीं खींची जायगी । यदि किसी दिन काम अधूरा रह गया है तो उस दिन के खाने में लकीर भी पूरी न होकर आधी खींची जायगी। इस प्रकार के चार्ट प्रत्येक विषय के लिये अलग-अलग होते हैं।

(ii) दूसरा ग्राफ विषय-विशेषज्ञ (शिक्षक) द्वारा भरा जाता है। यह प्रयोगशाला में टँगा रहता है। इससे पता चल जाता है कि किस लड़के ने किस विषय में कितना काम किया है। इसमें प्रत्येक छात्र के सम्मुख प्रत्येक तिथि के कार्य का उल्लेख किया जाता है।

(iii) तीसरे ग्राफ में कक्षा के प्रत्येक विद्यार्थी का समस्त विषयों का कार्य उल्लिखित होता है । इससे हमें किसी भी विद्यार्थी की किसी भी विषय की प्रगति मालूम हो सकती है। साथ ही सम्पूर्ण कक्षा द्वारा किए गए कार्यों का भी अवलोकन हम कर सकते हैं। इससे मालूम हो जाता है कि कौन विद्यार्थी किस कार्य में पिछड़ा हुआ है। इससे विद्यार्थियों की सापेक्षिक योग्यता एवं प्रगति का भी पता चलता है। इस आधार पर पिछड़े विद्यार्थियों को आवश्यक निर्देश एवं सहायता प्रदान की जाती है और उसे कार्य समाप्त करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है।

८—शिक्षक का कार्य—इस योजना में शिक्षक कक्षा में व्याख्यान नहीं देता। वह प्रयोगशाला में उपस्थित रहता है और आवश्यकता पड़ने पर बालकों की कठिनाइयों को दूर करने में उनकी सहायता करता है। वह पथ-प्रदर्शक मात्र होता है, वक्ता या व्याख्याता नहीं। उसके प्रमुख कार्य ये हैं—

१—प्रयोगशाला में अध्ययन का समुचित वातावरण बनाए रखना।

२—'निर्दिष्ट पाठ' अथवा इकाई के सम्बन्ध में बालकों को आवश्यकतानुसार स्पष्ट करना।

३—प्रयोगशाला में विविध यन्त्रों, साधनों एवं उपकरणों के प्रयोग संबंधी सुझाव देना।

४—किसी विशेष समस्या के समाधान के लिए उचित विधि का सुझाव देना।

५—बालकों की अध्ययन सम्बन्धी अन्य कठिनाइयों को दूर करना, बालकों द्वारा पूछे गए प्रश्नों का उत्तर देना और उनके द्वारा प्रस्तुत समस्याओं का हल बताना।

इस योजना में शिक्षक किसी कक्षा का शिक्षक नहीं होता अपितु वह किसी विषय का विशेषज्ञ होता है और उस विषय की शिक्षा के लिए उत्तरदायी होता है। वह अपने विषय की प्रयोगशाला में रहता है और उस विषय पर काम करने के लिए उपस्थित सभी छात्रों का पथ-प्रदर्शन करता है।

डाल्टन योजना में शिक्षक का कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसे अपने विषय का पूर्ण ज्ञाता होना चाहिए। उसे अपने विषय में होने वाले नए विकासों एवं खोजों से सतत परिचित रहना चाहिए। अपने विषय से सम्बन्धित अन्य विषयों का भी ज्ञान उसे रहना चाहिए जिससे बालकों की जिज्ञासा को वह उचित प्रकार से शान्त कर सके। विषय सम्बन्धी नई पुस्तकें, साहित्य, संदर्भ ग्रंथ तथा शैक्षिक उपकरणों का भी परिचय उसे होना चाहिए।

शिक्षक को प्रत्येक बालक की प्रगति पर ध्यान रखना चाहिए। प्रगति के आधार पर वह प्रतिभाशाली बालकों के लिए जटिल कार्यों का आयोजन करता है और पिछड़े बालकों पर उसे विशेष ध्यान देना पड़ता है। वह प्रयोगशाला का वातावरण ऐसा बनाए रखता है कि बालक रुचिपूर्वक सोत्साह कार्य में लगे रहें। अध्ययन सम्बन्धी सभी आवश्यक उपकरण, पुस्तकें, चित्र, चार्ट्स आदि की व्यवस्था का उत्तरदायी भी वही रहता है।

डाल्टन योजना के गुण

१—इस योजना में बालक की व्यक्तिगत शिक्षा की व्यवस्था होती है। वह अपनी रुचि, योग्यता एवं क्षमता के अनुसार कार्य करता है और अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य के अनुसार प्रगति करता है। परम्परागत शिक्षण प्रणालियों की भाँति इस योजना में न तो प्रतिभाशाली विद्यार्थियों की प्रगति साधारण विद्यार्थियों के कारण अवरुद्ध होती है और न साधारण विद्यार्थियों को प्रतिभाशाली विद्यार्थियों के कारण जबर्दस्ती बिना जाने हुए भी आगे बढ़ना पड़ता

है। इस योजना में प्रत्येक विद्यार्थी अपनी गति से आगे बढ़ता है। कक्षा के सभी विद्यार्थियों की प्रगति एक साथ हो, ऐसी बात इस योजना में अमान्य है और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यही ठीक भी है।

२—इस योजना में बालक स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करता है। वह स्वाध्याय द्वारा ज्ञान अर्जित करता है। वे प्रयोगशालाओं में रचनात्मक क्रिया द्वारा पाठ सीखते हैं। इस प्रकार का अर्जित ज्ञान वास्तविक एवं ठोस होता है। प्रत्येक बात जानने के लिए उसे स्वयं परिश्रम करना पड़ता है, सोचना-विचारना पड़ता है और प्रायोगिक कार्य करना पड़ता है। अतः उसका ज्ञान स्थायी, सुदृढ़ और व्यावहारिक होता है।

३—इस योजना में बालक को शिक्षा स्वयं क्रिया एवं स्वयं प्रयत्न पर आधारित है। बालक अपना कार्य—'इकाई', 'निदिष्ट पाठ' एवं 'ठीका' पूरा करने के लिए सदा तत्पर रहता है और इससे उसकी आत्म-क्रिया को उत्तेजना मिलती है, ताकि समय पर वह कार्य पूरा कर सके। इससे उसकी कार्य-क्षमता बढ़ती है और उत्तरदायित्व निर्वाह का विचार प्रबुद्ध होता है।

४—बालक को इच्छानुसार अध्ययन की स्वतंत्रता रहती है इसलिए वह जब जो विषय पढ़ना चहता है, उसका अध्ययन करता है। यही नहीं, जो विषय उसे अधिक रुचिकर है, उसे अधिक देर तक पढ़ने की स्वतंत्रता है। इससे यह भी मालूम हो जाता है कि बालक की रुचि किस विषय में अधिक है। इससे आगे उच्च अध्ययन के लिए विषयों के चुनाव में सहायता मिलती है। अन्य प्रणालियों में किसी विषय में विशेष रुचि रहने पर भी बालक उसमें अधिक समय नहीं लगा पाता क्योंकि घण्टा बजने और दूसरे विषय का शिक्षण प्रारम्भ होने का प्रतिबन्ध लगा रहता है। पर इस योजना में बालक अपनी रुचि वाले विषय में अधिक गहराई तक जाता है और अधिकाधिक योग्यता बढ़ा लेता है।

५—इस योजना में बालक अपने अध्ययन एवं कार्य समाप्ति के आधार पर ही प्रगति करता है। यदि वह किसी दिन अनुपस्थित है तो उसे उस दिन के शिक्षण कार्य से वंचित होने का सवाल नहीं उठता। अन्य शिक्षण योजनाओं में सामान्यतः हम देखते हैं कि अनुपस्थित बालक उस दिन के पाठ से अनभिज्ञ रह जाते हैं और पिछड़ जाते हैं पर डाल्टन योजना में बालक को अनुपस्थित रहने वाले दिन का कार्य भी पूरा करना ही पड़ता है।

६ इस योजना में बालक को स्वयं ही सारा कार्य करना है और कार्य के ही आधार पर प्रगति करनी है। अतः बालक में प्रारम्भ से ही आत्मनिर्भरता का

गुण पैदा हो जाता है। वह कार्य पूरा करना अपना उत्तरदायित्व समझने लगता है। इसका प्रभाव भावी जीवन के लिए बहुत अच्छा पड़ता है।

७—इस योजना में अनुशासन की भी समस्या नहीं रहती। बालक स्वतः प्रेरित होकर कार्य में लगे रहते हैं। निश्चित अवधि में कार्य करने के लिए उन्हें समय परायण होना ही पड़ता है। अतः वे स्वानुशासन का महत्त्व भली भाँति समझ जाते हैं।

८—इस योजना में सैद्धांतिक या निबंधात्मक परीक्षा का प्रभाव है और शिक्षण परीक्षा के बोझ से दबा नहीं रहता जैसा कि सामान्य शिक्षण प्रणालियों में होता है। इससे बालक जो कुछ पढ़ता है, समझकर ज्ञान प्राप्त करने की दृष्टि से पढ़ता है, न कि किसी प्रकार रटकर परीक्षा पास करने की दृष्टि से। अतः बालकों को अध्ययन में नीरसता या शिथिलता का अनुभव नहीं होता। उसे ही सारा कार्य सम्पन्न करना है, इसलिए समझते हुए वह आगे पढ़ता है।

जहाँ तक बलक के उत्तीर्ण होने और अगली कक्षा में जाने का प्रश्न है, शिक्षक का उत्तरदायित्व कम रहता है। अन्य प्रणालियों में जो बालक बीमार पड़ जाते हैं या अनुपस्थित हो जाते हैं, अध्यापक के लिए समस्या बन जाते हैं क्योंकि उनका ज्ञान कक्षा के अन्य बालकों की तुलना में कम हो जाता है। डाल्टन योजना में व्यक्तिगत कार्य पद्धति होने के कारण कोई कठिनाई नहीं होती। पिछड़ा बालक अपना कार्य ज्योंही पूरा कर लेता है, अगली कक्षा में भेज दिया जाता है। कुशाग्र बुद्धि के बालकों का और भी लाभ होता है क्योंकि वे अपना कार्य शीघ्र समाप्त कर लेते हैं और आगे बढ़ जाते हैं।

९—यह योजना व्यक्तिगत शिक्षण पर आधारित होते हुए भी सामूहिक भावनाओं एव विचारों के विकास में सहायक है। बालक प्रतिदिन सामूहिक विचार-विमर्श में भाग लेते हैं और परस्पर सहयोग एवं सम्मान प्राप्त करते हैं। इससे सामाजिक भावना का विकास होता है और वे अपने को समाज का आवश्यक अंग समझने लगते हैं।

१०—इस योजना में व्यक्तिगत शिक्षण एवं सामूहिक शिक्षण का अच्छा समन्वय मिलता है। बालक अपना कार्य तो व्यक्तिगत रूप से करते हैं पर पाठ्य-विषय की सामान्य रूपरेखा—'ठीका', 'निर्दिष्टकार्य', 'इकाई' आदि पर सामूहिक रूप से विचार-विमर्श होता है। प्रतिदिन प्रातः एवं सायं सम्मेलन पर विचार सभा में वे कार्य सम्बन्धी आलोचना-प्रत्यालोचना के लिए एकत्र होते हैं और परस्पर विचारों के आदान-प्रदान से लाभ उठाते हैं। अतः व्यक्तिगत एवं सामूहिक दोनों गुणों का विकास होता है।

११—इस योजना में बालकों को लिखित कार्य करने एवं अभ्यास का पर्याप्त अवसर मिलता है। विचारों में स्पष्टता आती है, इससे विषय का ज्ञान पक्का होता है। भावाभिव्यक्ति की क्षमता बढ़ती है और भाषा पर अधिकार प्राप्त होता है।

१२—इस योजना में प्रत्येक बालक को अपनी कार्य का प्रयोजन स्पष्ट रहता है। इससे कार्यविधि निर्धारित करने में उन्हें सरलता होती है और वे यथासम्भव सुन्दर एवं उत्तम ढंग से कार्य पूरा करने का प्रयत्न करते हैं।

डाल्टन प्रणाली के दोष

१—इस योजना में प्रत्येक बालक से स्वतंत्ररूप से कार्य पूरा करने की आशा की जाती है पर जिन बालकों (८ से १२ बर्ष) के लिए यह योजना है उनसे ऐसी आशा करना उचित नहीं है। इतना छोटा बालक स्वतंत्र रूप से काम नहीं कर पाता। इससे उत्तरदायित्व निर्वाह की आशा नहीं की जा सकती।

२—यह योजना बहुत ही व्ययसाध्य है क्योंकि प्रत्येक विषय के लिए प्रयोगशालाओं की साज-सज्जा, प्रत्येक बालक के लिए अलग-अलग शिक्षोपकरण (पुस्तकों, यंत्र, चित्र आदि) की व्यवस्था के लिए बहुत अधिक धन चाहिए। हमारे देश की आर्थिक स्थिति में यह योजना व्यावहारिक नहीं है।

३—यद्यपि इस योजना में व्यक्तिगत विभिन्नता का सिद्धान्त अपनाया गया और बालक व्यक्तिगत रूप से प्रयोगशाला में कार्य भी करते हैं किन्तु पाठ्य-विषयों के आयोजन में व्यक्तिगत विभिन्नता का ध्यान नहीं रखा जाता। सभी विद्यार्थियों के लिए एक ही ठीका, निर्दिष्ट कार्य एव इकाई का आयोजन होता है और एक ही कार्यविधि अपनानी पड़ती है। अतः व्यक्तिगत विभिन्नता का पूर्ण पालन नहीं हो पाता।

४—इस योजना में सामाजिक भावना का समुचित विकास नहीं हो पाता क्योंकि बालकों के वैयक्तिक शिक्षण पर ही जोर रहता है। प्रातः एवं सायं को विचार सभा या सम्मेलन एक प्रकार की रस्म अदायगी जैसी हो जाती है। इस प्रकार सामाजिक कुशलत प्रदान करने की व्यवस्था प्रभावपूर्ण नहीं हो पाती और बालक में वैयक्तिक स्वार्थ तथा अहकार की प्रवृत्ति अधिक बढ़ जाती है।

५—इस योजना में लिखित कार्य पर विशेष जोर रहता है और बालकों को मौखिक अभिव्यक्ति का अवसर बहुत कम मिलता है। इससे भाषा की शिक्षा अच्छी नहीं हो पाती। विशेषतः बोलने एवं शुद्ध उच्चारण करने की योग्यता का विकास ठीक नहीं हो पाता।

६—मन्द बुद्धि के अथवा पिछड़े हुए बालक जब अपना कार्य पूरा नहीं कर पाते तो वे तेज विद्यार्थियों के कार्यों की नकल करके काम पूरा कर देते हैं। इससे प्रगति ग्राफ में उनका कार्य अंकित होता जाता है और उस आधार पर वे आगे बढ़ जाते हैं पर वस्तुतः उनका ज्ञान अधूरा रहता है।

इस योजना में एक दोष यह भी पाया जाता है कि ठीका, मिल जाने पर बालक प्रारम्भ में पूरे लगन, उत्साह एवं तत्परतापूर्वक कार्य नहीं करते क्योंकि समझते हैं कि अभी बहुत समय है। इस तरह समय का अपव्यय होता है।

७—इस योजना में पाठ्य-विषयों के समायोजन अर्थात् 'कार्य का ठीका', 'निर्दिष्ट पाठ' और 'इकाई' में पाठ्य-विषय को विभाजित करने के लिए विशेष योग्यता की आवश्यकता पड़ती है। सभी शिक्षक इसे ठीक प्रकार नहीं कर पाते। अतः इसके लिए शिक्षकों के विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता है।

८—इस योजना में इतने बहुत ही कम आयु के छात्रों से विषय-विशिष्टीकरण की आशा की जाती है, यह उचित नहीं है और न उनके सर्वतोमुखी विकास की दृष्टि से समीचीन ही।

९—अलग-अलग विषयों का 'ठीका', 'निर्दिष्ट कार्य' एवं 'इकाई' देने से इस योजना में विभिन्न विषयों में समन्वय एवं एकता के लिए अवसर नहीं रह जाता। प्रत्येक शिक्षक विषय विशेषज्ञ के रूप में रहता है। अतः वह अपने विषय के आगे अन्य विषयों को कोई महत्त्व ही नहीं देता।

१०—'ठीका', 'निर्दिष्ट कार्य' एवं 'इकाई' के रूप में सभी विषयों का समायोजन संभव नहीं हो पाता। विज्ञान में अनेक प्रकरण ऐसे हैं जिनके प्रयोग को प्रदर्शित करने की आवश्यकता पड़ती है, उन्हें निर्दिष्ट पाठ के रूप में नहीं दिया जा सकता।

११—इस योजना में शिक्षक का प्रभाव बालक पर बहुत कम पड़ता है क्योंकि बालक स्वतंत्र रूप से कार्य करते रहते हैं। इस अवस्था में शिक्षक का बालकों के साथ घनिष्ठ संपर्क बहुत ही आवश्यक है जिससे वह अपने व्यक्तित्व द्वारा बालकों के विकास का प्रयत्न करें। पर इस योजना में इसका अवसर नहीं है।

डाल्टन योजना और माण्टेसरी प्रणाली

(i) निस्संदेह ही डाल्टन योजना के प्रवर्तन में कुमारी पार्कहर्स्ट ने माण्टेसरी प्रणाली के वैयक्तिक शिक्षण का विचार अपनाया है किन्तु उन्होंने इस विचार को कुछ बड़े लड़कों की शिक्षा के लिए क्रियान्वित किया है जबकि माण्टेसरी प्रणाली केवल शिशुओं (३ से ७ वर्ष) के लिए है।

(ii) माण्टेसरी प्रणाली में सामूहिक शिक्षण का पूर्ण अभाव है पर डाल्टन योजना में विचार सभा या सम्मेलन या आयोजन करके कुमारी पार्कहर्स्ट ने सामूहिक शिक्षा एवं व्यक्तिगत शिक्षा का समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

(iii) पाठ्य-विषयों का क्रमायोजन—ठीका, निर्दिष्ट पाठ एवं इकाई डाल्टन योजना की मौलिक देन है। माण्टेसरी में इस प्रकार का कोई आयोजन नहीं है।

डाल्टन योजना एवं प्रोजेक्ट प्रणाली

(i) प्रोजेक्ट प्रणाली में भी आत्म क्रिया, स्वयं अनुसंधान, आत्म प्रयत्न पर बल दिया जाता है और डाल्टन योजना में भी, पर प्रोजेक्ट प्रणाली में बालक किसी समस्यात्मक कार्य के माध्यम से शिक्षा ग्रहण करता है। डाल्टन योजना में ऐसे किसी माध्यम पर बल नहीं है।

(ii) प्रोजेक्ट प्रणाली में विविध विषयों के सह सम्बन्ध एवं समन्वय पर बल दिया जाता है जब कि डाल्टन में विषयों के पृथक् एवं निर्दिष्ट ज्ञान पर बल है।

(iii) यद्यपि प्रोजेक्ट एवं डाल्टन दोनों ही ८ वर्ष के ऊपर के छात्रों के शिक्षा के लिए हैं पर व्यावहारिक दृष्टि से डाल्टन योजना का प्रयोग और भी अधिक आयु के बालकों के लिए उपयोगी होगा।

भारतीय विद्यालय में डाल्टन योजना के प्रयोग की संभावना

डाल्टन योजना के उपर्युक्त गुण-दोष विवेचन के पश्चात् हम विचार कर सकते हैं कि क्या हमारे देश में यह पद्धति अपनाई जा सकती है? इस पद्धति के अपनाने में सबसे पहली कठिनाई ऐसे विषय विशेषज्ञ, योग्य एवं अनुभवी अध्यापकों का अभाव है जो पाठ्य-विषयों का वर्गीकरण एवं क्रमायोजन ठीक से कर सकें।

दूसरी कठिनाई पुस्तकों एवं शिक्षोपकरणों के सम्बन्ध में है। इस देश के विद्यालयों के पास इतना धन और साधन नहीं है कि वे इसकी व्यवस्था कर सकें।

चौथी कठिनाई है परीक्षा सम्बन्धी। हमारे देश में प्रचलित परीक्षा प्रणाली एवं कक्षोन्नति की व्यवस्था से इस योजना का मेल स्थापित हो सकना बहुत कठिन है जब तक कि हम अपनी शिक्षा व्यवस्था में आमूल परिवर्तन न कर लें।

इतना ही कहा जा सकता है कि डाल्टन योजना के इस आधार को हम अपना सकते हैं कि बालकों की व्यक्तिगत शिक्षा पर अधिक से अधिक ध्यान दिया जाय और उन्हें स्वयं कार्य करने एवम् प्रगति करने का अवसर प्रदान किया जाय।

सारांश

बालकों की सामूहिक शिक्षा के विरुद्ध शिक्षण के क्षेत्र में जो प्रबल प्रतिक्रिया हुई, उसके फलस्वरूप वैयक्तिक शिक्षण पर बल देने वाली नवीन प्रणालियों का प्रवर्त्तन हुआ। 'डाल्टन योजना' भी इसी प्रतिक्रिया का परिणाम है। इस योजना की प्रवर्त्तिका मिस हेलेन पार्कहर्स्ट थीं। उन्हें डा० मेरिया माण्टेसरी के साथ शिक्षण कार्य का अवसर मिला था और माण्टेसरी के विचारों के आधार पर उन्होंने इस योजना का सूत्रपात किया। इसका प्रथम प्रयोग अमेरिका के मेसाचुसेट्स प्रान्त के डाल्टन नगर के हाई स्कूल में किया गया था, इस कारण इसका नाम 'डाल्टन योजना' पड़ा।

इस योजना का प्रमुख प्रयोजन था—बालकों को व्यक्तिगत शिक्षा, स्वयं विकास एवं स्वयं प्रयत्न का अवसर प्रदान करना, विद्यालय में स्वतंत्र एवं आनन्दपूर्ण वातावरण का निर्माण करना।

प्रमुख सिद्धांत—बालक की प्रधानता, व्यक्तिगत शिक्षा एवं स्वाध्याय पर बल, अध्ययन एवं स्वयं प्रगति की स्वतंत्रता, शिक्षक द्वारा पथ-प्रदर्शन सामूहिक शिक्षा अथवा विचार-विमर्श।

पाठ्यविषय संगठन एवं कार्यक्रम—(१) संपूर्ण वर्ष के लिए निर्धारित पाठ्यक्रम की रूपरेखा बना ली जाती है और उसका विभाजन मासिक कार्य की दृष्टि से कर लिया जाता है। एक महीने के कार्य को 'ठीका' (कन्ट्रैक्ट) कहते हैं। महीने के कार्य को चार भागों में साप्ताहिक दृष्टि से विभाजित करते हैं। एक सप्ताह के कार्य को 'निर्दिष्ट पाठ' कहते हैं। फिर साप्ताहिक कार्य को दैनिक कार्य की दृष्टि से बाँटते हैं। दैनिक कार्य को 'इकाई' कहते हैं।

(२) इस योजना में कक्षा संगठन की इकाई है, शिक्षण की इकाई नहीं है।

(३) कक्षा के स्थान पर विविध विषयों की प्रयोगशालाएँ होती हैं।

(४) स्कूल के प्रारम्भ में एवं अन्त में विचार सभा या सम्मेलन का आयोजन होता है।

(५) विद्यार्थियों के कार्यों की प्रगति जानने के लिए 'प्रगति ग्राफ चार्ट' की व्यवस्था होती है।

(६) शिक्षक का कार्य—अध्ययन का समुचित वातावरण बनाए रखना, कार्यों का स्पष्टीकरण, शैक्षिक उपकरणों की व्यवस्था, अन्य कठिनाइयों को दूर करना।

डाल्टन योजना के गुण—व्यक्तिगत शिक्षा, स्वाध्याय एवं स्वानुभव द्वारा शिक्षा, स्वयं क्रिया एवं स्वयं प्रयत्न का अवसर, अध्ययन की स्वतंत्रता, कार्य के आधार पर प्रगति, आत्मनिर्भरता एवं उत्तरदायित्व की भावना, निबंधात्मक परीक्षा का अभाव, सामूहिक भावना का विकास, लिखित कार्य का अवसर, व्यक्तिगत एवं सामूहिक शिक्षण का समन्वय।

दोष—छोटे बालकों से स्वतंत्र कार्य की आशा नहीं की जा सकती। शिक्षोपकरणों के लिए अधिक धन की आवश्यकता, पाठ्यविषय के स्वरूप में कोई सुधार नहीं, वैयक्तिक स्वार्थ एवं अहंकार, मौखिक शिक्षा का अभाव, मन्दबुद्धि बालकों की क्षति, योग्य अध्यापकों का अभाव, विषयों में सह सम्बन्ध का अभाव, पाठ्यविषय के वर्गीकरण की कठिनाई।

प्रश्न

१—डाल्टन योजना का सूत्रपात कैसे और क्यों हुआ? उसके आधारभूत सिद्धांत क्या हैं?

२—इस योजना में पाठ्य-विषय का संगठन किस प्रकार किया जाता है और शिक्षण का कार्यक्रम कैसे निर्धारित होता है?

३—डाल्टन योजना में शिक्षक का क्या स्थान है? बालक की स्वशिक्षा की यह आत्मनिर्भरता उसकी प्रगति में कहाँ तक सहायक होती है?

४—डाल्टन योजना में 'प्रगति ग्राफ चार्ट्स' की क्या व्यवस्था है?

५—डाल्टन योजना का भारतीय स्कूलों में क्या स्थान हो सकता है? व्यावहारिक दृष्टि से इसका विवेचना कीजिए।

६—आधुनिक शिक्षण-प्रणालियों के संदर्भ में डाल्टन योजना के गुण-दोष की विवेचना कीजिए।

अध्याय १५

खेल द्वारा शिक्षा[1]

[खेल द्वारा शिक्षा का प्रवर्त्तन, खेल के मनोवैज्ञानिक सिद्धांत, विशेषताएँ एवं आधारभूत सिद्धांत, खेल और कार्य, आधुनिक शिक्षा प्रणालियों में खेल, खेल के विविध रूप, खेल की शैक्षिक उपयोगिता ।]

"Play is the purest, most spiritual activity of man at this stage (childhood) and, at the same time, typical of human life as a whole—of the inner hidden natural life in man and all things. It gives therefore, joy, freedom, contentment, inner and outer rest, peace with the world. It holds the sources of all that is good."

Froebel.

पूर्व अध्यायों में हम पढ़ चुके हैं कि बालक का स्वाभाविक विकास क्रियात्मक पद्धति द्वारा ही संभव है । किन्तु क्रिया का स्वरूप ऐसा होना चाहिए जो बच्चों के लिए बोझिल न हो, बल्कि उनकी रुचि और अनुरंजन के अनुकूल हो । खेल एक ऐसा ही उपयुक्त साधन है जिसके माध्यम से बालक आनन्दपूर्ण स्थिति में रहते हुए शिक्षा प्राप्त कर लेते हैं । खेल बच्चों की एक सामान्य प्रवृत्ति है । इसी कारण आज की मनोवैज्ञानिक शिक्षा प्रणालियों में 'खेल द्वारा शिक्षा' का महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

'खेल द्वारा शिक्षा' की एक निश्चित रूपरेखा अथवा इसे एक शिक्षा सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय शिक्षा विशेषज्ञ काल्डवेलकुक महोदय को है जिनका कथन था कि केवल श्रवण या पठन मात्र से शिक्षा पूरी नहीं होती, बल्कि इसके लिए रुचिपूर्वक स्वाध्याय एवं स्वानुभूति की आवश्यकता होती है । कार्य से ही कुशलता एवं निपुणता प्राप्त होती है । उनका मत था कि भाषा एवं साहित्य पढ़ाने के लिए यदि किसी खेल का समावेश किया जाय और उसके माध्यम से पढ़ाया जाय तो बालक बहुत शीघ्र सीख लेते हैं । अतः हमें विद्यालयों में शिक्षा सम्बन्धी कार्यों को खेल का रूप प्रदान करना चाहिए जिससे बालक

---

1. Play-way in education.

आनन्द एवं रुचिपूर्वक पाठ समझ लें और उसे हृदयंगम कर लें। कुक महोदय ने शिक्षा के व्यावहारिक रूप पर जोर दिया। वे नीरस सैद्धान्तिक या पुस्तकीय शिक्षा के विरोधी थे। अंग्रेजी भाषा की शिक्षा प्रदान करने के लिए पर्स स्कूल में इन्होंने सबसे पहले 'खेल द्वारा शिक्षा' (प्ले वे इन एजुकेशन) का प्रयोग किया। तत्पश्चात् इसका प्रयोग अन्यत्र भी हुआ। कुक महोदय ने बताया कि खेल सीखने के लिए एक महत्त्वपूर्ण साधन है। इसके द्वारा बालक की समस्त रचनात्मक प्रवृत्तियों का प्रकाशन होता है। खेल द्वारा बालक की अन्तःप्रवृत्ति उद्भासित होती है और उसकी सहायता से हम बालक की प्रकृति का अध्ययन कर सकते हैं। इस अध्ययन के आधार पर ही आज की नवीन शिक्षण प्रणालियाँ विकसित हुई हैं।

खेल की परिभाषा एवं मनोवैज्ञानिक सिद्धांत

खेल के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों ने अनेक परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं और अपने-अपने ढंग से खेल की प्रवृत्ति का विश्लेषण किया है। कतिपय परिभाषाएँ एवं विशेषण निम्नलिखित हैं—

१—अतिरिक्त शक्ति का सिद्धांत[1]—शिलर तथा स्पेन्सर ने 'खेल को बच्चों की शक्ति प्रचुरता की अभिव्यक्ति' बताया। बालक में आवश्यकता से अधिक शक्ति भरी हुई है और उस अतिरिक्त शक्ति को निकालने के लिए वह खेलता है। यह प्रकृति की देन है जिससे बालक उस अनावश्यक शक्ति को खेल द्वारा निकाल दे ठीक उसी प्रकार जैसे सेफ्टी वाल्व द्वारा इंजिन का अतिरिक्त भाप निकाल दिया जाता है। पर इस सिद्धांत से खेल की प्रवृत्ति का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता क्योंकि बालक तो थक जाने पर अर्थात् अतिरिक्त शक्ति न रहने पर भी खेलता है। दूसरी बात यह है कि खेल केवल अतिरिक्त शक्ति निकालने का ही साधन रहता तो इससे बालक के विकास में सहायता नहीं मिलती, पर हम देखते हैं कि खेलने से बालक को स्फूर्ति और शक्ति मिलती है। खेल से बालक के शारीरिक और मानसिक विकास में यथेष्ट सहायता मिलती है।

२—शक्ति वर्द्धन का सिद्धांत[2]—मैग्डूगल के अनुसार बालक थक जाने पर भी खेलने में आनन्द का अनुभव करता है। वह यह सिद्धांत अतिरिक्त शक्ति के सिद्धांत का विरोधी है। मैग्डूगल कहते हैं कि खेलने से शरीर में शक्ति एवं स्फूर्ति का बोध होता है और इससे नई शक्ति का संचार होता है।

---

1. Surplus Energy Theory

३—जीवन क तैयारी का सिद्धांत[1]—मैलब्रांच तथा कालग्रूस ने इस सिद्धांत का प्रतिपादान किया है कि खेल जीवन की तैयारी का साधन है। पशुओं अथवा निम्न श्रेणी के जावों का खेल की आवश्यकता इसलिए नहीं होती कि उन्हें शारीरिक दृष्टि से वे शीघ्र ही परिपक्व हो जाते हैं पर उच्च जीव और विशेषतः मनुष्य जन्म के बाद बहुत दिनों तक अपरिपक्व अवस्था में रहते हैं अतः इस समय वह खेल द्वारा भावी जीवन का तैयारी करता है। खेल प्रकृति की ही एक युक्ति है जिसके द्वारा प्राणी अपने भावी जीवन की कलाएँ सीखता है जैसे बिल्ली का बच्चा गेंद का पीछा करके चूहे पकड़ने की कला। मानव-शिशु का अपरिपक्वावस्था बहुत लम्बी होती है अतः वह बहुत दिनों तक खेलता है।

४—पुनरावृत्ति का सिद्धांत[2]—इस सिद्धांत के प्रतिपादक स्टेनले हाल हैं। उनका कहना है कि खेल द्वारा प्राणी उन अवस्थाओं को दोहराते हैं जिन अवस्थाओं से होतेहुए उनके पूर्वजों ने विकास किया है। मनुष्य के खेल भी उसी क्रम को दोहराते हैं जिस क्रम से उस का विकास हुआ है जैसे दौड़ना, कूदना, पेड़ पर चढ़ना, लटकना, काटना, फेंकना, तीर मारना आदि खेल मानव जीवन के आखेट युग के परिचायक है। आधुनिक, सामूहिक एव रचनात्मक खेल विकसित सामाजिक अवस्था के परिचायक हैं। इस सिद्धांत से यह स्पष्ट नहीं होता कि खेल द्वारा पूर्वार्जित क्रम को दोहराने की क्या आवश्यकता है ? अतः स्टेनले हाल ने एक दूसरा सिद्धांत परिष्करण का सिद्धांत निकाला।

५—परिष्करण का सिद्धांत[3]—इस सिद्धांत के अनुसार खेल द्वारा बालक अपनी अवांछित प्रवृत्तियों को परिष्कृत करता है। खेल द्वारा उसकी उच्छृंखल एवं बुरी प्रवृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं। नन महोदय का कहना है कि खेल द्वारा मनुष्य अपनी दुष्ट एवं क्रूर प्रवृत्तियों से छुटकारा पा जाता है। उसकी वे आदिम एवं अवांछित प्रवृत्तियाँ सामाजिक एवं रचनात्मक प्रवृत्तियों के रूप में बदल जाती हैं।

उपर्युक्त विश्लेषणों से खेल की प्रवृत्ति के बारे में हम बहुत कुछ समझ सकते हैं। यद्यपि ये विश्लेषण आपस में विरोधी जान पड़ते हैं पर वे विरोधी न होकर परस्पर पूरक हैं। नन का यह कहना सही है कि इन सिद्धांतों से खेल के किसी न किसी पक्ष पर प्रकाश पड़ता है। 'खेल' एक व्यापक क्रिया है अतः

1. Anticipatory theory.
2. Recapitulatory theory.
3. Cathartic theory.

उसके अनेक पहलुओं पर दृष्टिपात करने से अनेक सिद्धांतों का प्रवर्तन हो जाना स्वाभाविक ही है।

विशेषताएँ एवं आधारभूत सिद्धांत

वस्तुतः खेल बालक की क्रियात्मक शक्ति का परिचायक है। यह उसकी एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। बालक स्वेच्छा से खेलता है और उसके द्वारा वह वातावरण से सामंजस्य स्थापित करता है। स्टर्न का कहना है कि खेल बालक को भावी जीवन संघर्ष के लिए समर्थ बनाने का साधन है। वे खेल को 'स्वेच्छा-पूर्वक आत्म-निर्माण की क्रिया' कहते हैं, इसके द्वारा प्राणी अपने को भावी जीवन के लिए तैयार करता है।

खेल एक आनन्दपूर्ण रचनात्मक क्रिया है जिसमें बालक स्वेच्छा से संलग्न होता है। इसके द्वारा बालक को आत्माभिव्यक्ति का अवसर मिलता है। यह वह क्रिया है जो अपनेआप बच्चों में स्फुरित होती है और बालक इसमें पूर्ण स्वतन्त्रता का अनुभव करते हैं। बच्चों की क्रियाशीलता का उद्भास ही खेल है। उनकी अन्तःस्फूर्ति ही खेल के रूप में प्रकट होती है। खेल की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि बालक उसमें एक आंतरिक उल्लास का अनुभव करता है और उसका मन उसमें लगा रहता है।

खेल एक ऐसा साधन है जिसके माध्यम से कठिन से कठिन कार्य भी बालकों के लिए सरल बन जाते हैं क्योंकि बालक उसमें रुचि एवं आनन्द का अनुभव करते हैं। कुछ लोग खेल को केवल मनोरञ्जन का साधन एवं काम से भागने का बहाना समझ लेते हैं पर यह भूल है। स्मिथ और हेरिसन के अनुसार खेल में बालक की पुरोगामिता, अन्तर्दृष्टि या सूझ, कुशलता एवं संयम का परिचय मिलता है। कार्लग्रूस का कहना है कि खेल शिक्षा का उत्तम साधन है और इससे पढ़ने-लिखने का कार्य बालक को सरल एवं रोचक लगता है। ग्रिफिथ का कथन है कि शिक्षा में खेल की व्यवस्था न करने से बालक के शारीरिक एवं मानसिक विकास में बाधा पड़ती है।

इस प्रकार खेल शिक्षा का आवश्यक साधन है। इसके मूलभूत सिद्धांत निम्नाङ्कित हैं :—

१—**स्वतंत्रता**—खेल ऐसी क्रिया है जिसमें बालक किसी बन्धन का अनुभव नहीं करता, वह पूर्ण स्वतंत्र रहता है। बन्धन आते ही खेल खेल नहीं रह जाता, वह भार बन जाता है। इसी कारण शिक्षा में कोई भी कार्य बालक के सामने इस रूप में प्रस्तुत होता है कि बालक उसमें स्वतंत्रता का अनुभव करें। इस स्वतन्त्रता के कारण कठिन से कठिन कार्य भी खेल बन जाता है।

२—रुचि एवं आनन्द—खेल में बालकों की रुचि अपनेआप बनी रहती है। अतः खेल द्वारा शिक्षा का एक मूलभूत सिद्धांत यह है कि शैक्षिक क्रिया ऐसी हो कि बालक उसमें रुचि रखें, उसे सम्पन्न करने में आनन्द का अनुभव करें, तन्मयता एवं तल्लीनतापूर्वक कार्य संलग्न रहें। इससे किसी भी ज्ञान को अर्जित करने अथवा किसी भी क्रिया, शिल्प या कौशल सीखने में बहुत सहायता मिलती है। अतः क्रिया को रुचिकर एवं आनन्दप्रद बनाना खेल द्वारा शिक्षा का मूल सिद्धांत है।

३—उत्तरदायित्व का अनुभव—स्वतन्त्रता, रुचि एवं आनन्द का यह तात्पर्य कदापि नहीं हैं कि बालक में स्वेच्छाचारिता आ जाय बल्कि इसके विपरीत यह अपेक्षित है कि बालक कार्य पूरा करने और सीखने में अपने उत्तर-दायित्व का अनुभव करने लगें। यदि बालक ने इस उत्तरदायित्व का अनुभव कर लिया तो उसकी शैक्षिक प्रगति निस्संदेह ही होती रहेगी। वह स्वयं कार्य में लगा रहेगा और उसे पूरा करके ही दम लेगा। इस उत्तरदायित्व के कारण उसमें उत्साह एवं परिश्रम दोनों का संचार हो जाता है।

इस प्रकार स्वतन्त्रता, रुचि एवं आनन्द, उत्तरदायित्व तथा उत्साह एवं परिश्रमपूर्वक कार्य संपन्न करना खेल द्वारा शिक्षा के मूलभूत सिद्धांत हैं।

खेल और कार्य

खेल की विशेषताओं को और भी स्पष्ट रूप से समझने के लिए खेल और कार्य का अन्तर समझना आवश्यक है। बाह्य रूप से देखने में खेल और कार्य एक समान मालूम होते हैं। दोनों में शारीरिक शक्ति खर्च होती है, दोनों में बुद्धि तथा चतुराई की आवश्यकता होती है फिर भी इन दोनों क्रियाओं में बहुत अन्तर है :—

१—'खेल' वह क्रिया है जो अपनी इच्छा पर निर्भर है। इसमें कोई बाहरी बन्धन नहीं रहता। बालक इच्छानुसार खेलता रहता है और जब इच्छा नहीं होती खेल बन्द कर देता है। 'कार्य' में एक बन्धन रहता है और इच्छा न रहने पर भी उसे करना पड़ता है। इसीलिए वह खेल भी जिसमें बन्धन रहता है, कार्य के समान हो जाता है। उदाहरण के लिए वेतन लेकर अथवा आमदनी के लिए जो व्यवसायी खिलाड़ी हैं उनका खेल कार्य बन जाता है, खेल नहीं रह जाता। इस खेल में स्वतन्त्रता नहीं है, जीविकोपार्जन के लिए उसे करना ही है।

२—खेल का उद्देश्य खेल ही है पर कार्य में हमारा ध्यान सदा किसी वांछित परिणाम या अभीष्ट की ओर लगा रहता है। इसी कारण कार्य में अभीष्ट सिद्ध होने पर तो हर्ष होता है पर सिद्ध न होने पर दुःख होता है। पर खेल में ऐसी बात नहीं है क्योंकि खेल में हर समय उल्लास का अनुभव होता है। कभी-कभी खेल भी उद्देश्य हो जाता है जैसे शील्ड या ट्राफी जीतना। पर ऐसे उद्देश्य भी कार्य के उद्देश्य से भिन्न होते हैं क्योंकि कार्य करते समय तो हर समय एक निश्चित उद्देश्य का दबाव बना रहता है पर खेल में यह दबाव नहीं रहता।

३—खेल में आनन्द का अनुभव होता है पर कार्य में आनन्द हो भी सकता है और नहीं भी। बन्धन वाले कार्य में दुःख होता ही है और परिणाम ठीक न होने पर भी दुख होता है। खेल का आनन्द खेल समाप्ति के साथ समाप्त भी हो जाता है पर वांछित फल न मिलने पर कार्य का दुःख कुछ समय तक बना रहता है। कार्य में आनन्द केवल सफल होने पर ही मिलता है।

४—खेल में बालक एक कल्पना जगत् में रहता है पर कार्य में उसे वास्तविक समस्याओं से जूझना पड़ता है।

५—आनन्द एवं रुचि के कारण खेल में थकावट का अनुभव देर में होता है पर कार्य में शीघ्र ही यह अनुभव होने लगता है। इसी कारण कुछ लोगों का यह मत है कि कार्य और खेल का अन्तर मन के भाव पर निर्भर है। यदि हमारा मन किसी खेल को गम्भीर, बन्धन एवं परिणामयुक्त मान लेता है तो वह कार्य हो जाता है पर यदि किसी कार्य को स्वेच्छापूर्वक स्वतन्त्र एवं उल्लासपूर्ण मान लेता है तो वह खेल बन जाता है। अतः शिक्षा में कार्य को खेल के रूप में प्रस्तुत करना चाहिये जिससे उस कार्य में बच्चों की रुचि उत्पन्न हो जाय और वे स्वतन्त्रता एवं आनन्द का अनुभव करें।

आधुनिक शिक्षा प्रणालियों में खेल का महत्त्व एवं स्थान

यद्यपि 'खेल द्वारा शिक्षा' की एक निर्दिष्ट प्रणाली का प्रवर्तन कुक महोदय ने किया पर खेल का महत्त्व शिक्षा के क्षेत्र में प्राचीन काल से ही माना जाता रहा है। प्राचीन शिक्षा-विशेषज्ञों और आचार्यों ने खेल को शिक्षा का आवश्यक आधार माना था। ग्रीक आचार्य प्लेटो ने इस पर बल दिया था पर उसने खेल को शारीरिक विकास का ही साधन माना था। प्राचीन मिस्र की शिक्षा योजना में भी खेल का महत्त्व माना जाता था। चौथी शताब्दी में प्रसिद्ध शिक्षा विचारक जेरोमी (Jerome) ने बेथलहम के मोनास्टिक स्कूल में खेल को अपनी शिक्षा का आवश्यक साधन माना था। वह एक लड़की की शिक्षा के

सम्बन्ध में परामर्श देते हुए लिखता है कि "उसे खेलने दो, खेल को उसकी शिक्षा का आवश्यक अंग बनने दो।"[1] मध्य काल में भी शिक्षा विचारकों ने खेल द्वारा शिक्षा का प्रतिपादन किया। महान् शिक्षक एवं शिक्षा विचारक कमेनियस चाहता था कि सभी विषयों की शिक्षा खेल द्वारा होनी चहिए, उसका सुझाव था कि बच्चों को विविध शिल्प, राजनीति, सैन्यकला, वनस्पति विज्ञान आदि विषयों की शिक्षा इनके उपर आधारित खेलों द्वारा प्रदान करनी चाहिए। वह मार्टिन लूथर की इस भावना का समर्थन करता है कि बच्चों की शिक्षा इस प्रकार संगठित होनी चाहिए कि वे उसमें उतना आनन्द ले सकें जितना दिन भर गेंद खेलने में लेते हैं जिससे कि विद्यालय व्यावहारिक जीवन के लिए वास्तविक आधारशिला बन सकें।[2] प्रसिद्ध एवं क्रान्तदर्शी शिक्षा विचारक रूसो ने छोटे बच्चों के लिए खेल द्वारा शिक्षा को प्रबल प्रतिपादन किया। उसका कहना था कि "बालक का कार्य और खेल दोनों एक ही है, उसके खेल उसके कार्य सदृश हैं और वह इन दोनों में कोई अन्तर नहीं मानता। अतः खेल को शिक्षा और शिक्षा को खेल बनाओ।"[3] प्रसिद्ध शिक्षक वेसडो ने स्वयं ही खेल द्वारा शिक्षा प्रदान करने के लिए अनेक प्रकार के खेलों का प्रवर्तन किया। इस क्षेत्र में वह प्रतिभाशाली शिक्षक था। उसका विचार था कि सम्पूर्ण शिक्षा सुखद और अनुरञ्जनकारी खेलों के माध्यम से होनी चाहिए।[4] पेस्टालाजी ने अपने स्कूल में खेल को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया था। उसके बाद से तो खेल द्वारा शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्थित योजनाएँ आधुनिक शिक्षा प्रणालियों में हम विशेष रूप से पाते हैं।

---

1. Let her play with them (tools and toys) and let the play be part of her instruction.
2. "......that the studies of the young could be so organised that the scholars might take as much pleasure in them as in playing at ball all day, and thus for the first time would schools be a real prelude to practical life."
3. Whether he works or plays, both are the same to him, his games are his occupations and he feels no difference between them."......"Make games an education and eduction a game."
4. "All education should be by means of pleasant and entertaining play."

किंडर गार्टन प्रणाली—में खेल द्वारा शिक्षा की एक व्यवस्थितयोजना हम पाते हैं। फ्रोबेल ने खेल को केवल शारीरिक विकास ही नहीं बल्कि बौद्धिक तथा नैतिक विकास के लिए भी आवश्यक बताया। जो बालक आत्मक्रियात्मक संकल्प के साथ अंतिम दम तक खेलता है वह निश्चित ही एक पूर्ण संकल्प शक्ति वाला व्यक्ति बनता है, उसमें आत्म विकास के लिए एवं दूसरों के लिए भी आत्मोत्सर्ग करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है।[1] बालकों की क्रियात्मक एवं रचनात्मक शक्तियों के स्वतन्त्र एवं स्वयं विकास पर फ्रोबेल कितना अधिक बल देता था, इसे हम किंडर गार्टन प्रणाली में पढ़ चुके हैं, उसकी आवृत्ति की यहाँ आवश्यकता नहीं। इस प्रणाली में सारी शिक्षा ही भिन्न-भिन्न खेलों द्वारा प्रदान की जाती है।

मांटेसरी प्रणाली का आधार भी खेल ही है। मार्एटेसरी ने शिक्षण के लिए बहुत सी सामग्रियों एवं उपकरणों की व्यवस्था की जिनके द्वारा बच्चे खेल-खेल में ही शिक्षा प्राप्त कर लेते हैं। कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों का प्रशिक्षण खेल द्वारा ही इस प्रणाली में कराया जाता है। इन उपकरणों का उल्लेख मार्एटेसरी प्रणाली के वर्णन में किया जा चुका है। उन उपकरणों की सहायता से खेल-खेल में ही बालक लिखने-पढ़ने, गिनने आदि का ज्ञान सहज ही प्राप्त कर लेते हैं।

'खेल द्वारा शिक्षा' का एक व्यवस्थित स्वरूप हम प्रोजेक्ट प्रणाली में पाते हैं। इस प्रणाली में क्रिया के द्वारा ही शिक्षा प्रदान की जाती है और बच्चों की रुचि तथा स्वतन्त्रता का पूरा ध्यान रखा जाता है। क्रिया एक ऐसी समस्या के रूप में प्रस्तुत की जाती है कि बच्चों की जिज्ञासा एवं उत्सुकता जग जाती है और वे स्वयं ही समस्या-समाधान के लिए कार्य में संलग्न हो जाते हैं। इस प्रणाली का भी विस्तृत वर्णन पहले किया जा चुका है।

खेल द्वारा शिक्षा के मूलभूत सिद्धान्तों को आधुनिक सभी प्रणालियों में अपनाया गया है। डाल्टन प्रणाली में विविध विषयों की शिक्षा इस प्रकार प्रदान की जाती है कि बालक स्वयं शिक्षा के लिए अग्रसर होते हैं, वे अपनी रुचि से कार्य करते हैं, अध्ययन की उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है और वे अपनी क्षमता एवं शक्ति के अनुसार कार्य करते हुए प्रगति करते हैं।

---

1. "A child that plays thoroughly, with self active determination, perseveringly until physical fatigue forbids, will surely be a thorough determined man, capable of self secrifice for the promotion of the welfare of himself and others."

बेसिक शिक्षा प्रणाली शिल्प एवं कला शिक्षा का केन्द्र है और बालक क्रिया के माध्यम से ही शिक्षा प्राप्त करते हैं। इससे भी खेल के सभी गुण अर्थात् स्वतन्त्रता, रुचि, आनन्द, लगन और तन्मयता का समावेश रहता है।

ह्यूरिस्टिक प्रणाली के मूल में भी खेल द्वारा शिक्षा का सिद्धान्त अपनाया जाता है, जिसमें यह प्रयत्न किया जाता है कि बच्चे स्वयं ही अनुसंधान करते हुए स्वतन्त्रता एवं रुचिपूर्वक ज्ञान प्राप्त करें।

खेल द्वारा शिक्षा का एक सुन्दर उदाहरण हम होमरलेन की 'लिटिल कामनवेल्थ' नामक पाठशाला में देख सकते हैं, जहाँ साधारण तथा मन्द बुद्धि के बालक स्वतन्त्र वातावरण में रहकर नागरिकता की शिक्षा ग्रहण करते हैं। खेल बालक की शक्तियों के उदात्तीकरण का एक सुन्दर साधन है। इसी आदर्श पर यह स्कूल सञ्चालित किया गया है। इसी भाँति नील महोदय द्वारा अनेक शिशु-विद्यालय 'समरहिल' नामक स्थान पर खोले गये हैं। बच्चे खेलों के माध्यम से पठन-पाठन में अधिक रुचि लेने लगते हैं और उनका विकास भी शीघ्र होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्त्तमान शिक्षा-प्रणालियों का आधार किसी न किसी रूप में 'खेल द्वारा शिक्षा' ही है। हमारे देश में भी गाँधी जी द्वारा प्रवर्तित बेसिक शिक्षा-प्रणाली में बच्चों की क्रियात्मक प्रवृत्ति को आधार माना गया है और 'खेल द्वारा शिक्षा' की सारी विशेषताएँ विद्यमान हैं।

खेल के विविध रूप

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि वही क्रिया खेल कहला सकती है जिसमें बच्चों की स्वतन्त्रता, रुचि एवं प्रसन्नता की भावना बनी रहे। इसलिए हमें क्रिया के इन विविध रूपों को समझ लेना चाहिये।

१—स्काउटिंग—'खेल द्वारा शिक्षा' का यह एक उत्कृष्ट रूप है। इसमें बालक ही नहीं, किशोर, युवक तथा प्रौढ़ सभी भाग लेते हैं। किन्तु स्काउटिंग में भी ध्यान रखना चाहिये कि उसे गम्भीर बनाकर कार्य-रूप में बोझिल न कर दें। स्काउटिंग के विशेषज्ञ श्री बेडन पावेल का यही मत था कि स्काउटिंग में आनन्द का तत्त्व अवश्य रहना चाहिए। कैम्पफायर, किमखेल तथा शेर बच्चों द्वारा किए गए खेलों में प्रसन्नता का भाव ही रहता है। स्काउटिंग के द्वारा बच्चों में अनुशासन की भावना, परस्पर सहायता, आत्म-निर्भरता, प्रेम एवं सहयोग आदि भावना अपने आप आ जाती है। नागरिक शास्त्र की शिक्षा के लिए तो इसका बहुत ही महत्त्व है।

२—अभिनय, नाटक, प्रहसन—आदि शिक्षा के महत्त्व पूर्ण आधार हैं। बच्चों में अनुकरण की प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है। इतिहास और साहित्य की शिक्षा में अभिनय तथा नाटक द्वारा विशेष सहायता मिलती है। महान् ऐतिहासिक पुरुषों की जीवन-गाथा वे नाटकों द्वारा आसानी से हृदयंगम कर लेते हैं। बच्चे स्वयं ही अभिनय में रुचि लेते हैं। इसके द्वारा वे तत्कालीन जीवन, सामाजिक आचार-विचार, वेशभूषा आदि से भली भाँति परिचित हो जाते हैं।

३—सामाजिक कार्यसम्बन्धी खेल—जीवन में प्रयुक्त होने वाले अनेक व्यवसाय तथा शिल्प-कला आदि के द्वारा भी खेल के रूप में बच्चों को शिक्षा दी जा सकती है, जैसे किंडरगार्टन प्रणाली में किसान, बढ़ई, दूकानदार आदि के कार्यों का अनुकरण खेलों में किया जाता है। दूकान के कार्यों से बच्चों को खेल एवं आनन्द में ही साधारण गणित का ज्ञान हो जाता है।

४—सामूहिक खेल—इन खेलों का उद्देश्य बच्चों में सहयोग, आत्म-विश्वास, त्याग आदि भाव पैदा करना है। उनमें आगे बढ़ने की भावना जागती है। अतः ऐसी क्रियाओं और खेलों को चुनते हैं जिनमें बच्चे सामूहिक रूप से भाग ले सकें। प्रोजेक्ट प्रणाली में ऐसी क्रियाओं एवं खेलों का अधिक समावेश है।

परिभ्रमण

पाठशाला की शिक्षा का बाह्य वातावरण से सामंजस्य बनाये रखने के लिए परिभ्रमण बहुत ही आवश्यक है। परिभ्रमण के द्वारा ऐतिहासिक स्थानों का यथार्थ परिचय, भौगोलिक तथ्यों की जानकारी तथा सामान्य ज्ञान-विज्ञान की बातों का ज्ञान आसानी से हो जाता है। इसलिए परिभ्रमण की गणना भी खेल में की जाती है।

खेलों का चुनाव

खेल के उपरोक्त विविध रूपों में हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि किस अवस्था में किस प्रकार का खेल उपयुक्त होगा। सर्वप्रथम बच्चे की आयु को ध्यान में रख कर खेल चुने जायँ जैसे प्रारम्भिक अवस्था में आकर्षक, रंगीन और बोलने वाले रबर और हल्के टिन के खिलौने ही अच्छे हैं। ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती जाय, खेलों का रूप बदलता जायगा। बच्चों की शारीरिक शक्ति के साथ-साथ मानसिक विकास, चरित्रगठन, सामाजिक भावना आदि की दृष्टि से भी खेलों के विविध रूप चुने जायेंगे।

खेल द्वारा शिक्षा की उपयोगिता

'खेल द्वारा शिक्षा' मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सर्वोत्तम शिक्षा-प्रणाली कही जा सकती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हम इसमें निम्नलिखित गुण पाते हैं :—

१—**नैसर्गिक प्रवृत्तियों का विकास**—बालक में प्रारम्भ से ही उत्सुकता एवं जिज्ञासा की प्रवृत्ति रहती है। वह स्वयं कुछ न कुछ करना चाहता है। अतः इन प्रवृत्तियों का यदि ठीक से प्रयोग नहीं किया जाता तो उसका बुरा प्रभाव पड़ता है। खेल द्वारा बच्चों की इन प्रवृत्तियों को रचनात्मक दिशा में विकसित होने का अवसर मिलता है। उनकी किसी प्रवृत्ति का दमन नहीं होता। बच्चों की अनुकरण-प्रवृत्ति भी पूर्णतः विकसित होती है।

२—**आत्म-विकास का अवसर**—खेल द्वारा प्राप्त होता है। खेल में बच्चे कक्षा की तरह निष्क्रिय श्रोता नहीं रहते, अपितु स्वयं सक्रिय भाग लेते हैं और इसी कारण खेलों के माध्यम से जो ज्ञान उन्हें प्राप्त होता है, वह स्थायी होता है। वे स्वयं अनुभव के द्वारा सीखते हैं।

३—खेल द्वारा बच्चों का एक ओर मनोरंजन भी होता रहता है और दूसरी ओर वे अपना विषय भी सीख जाते हैं। उनकी रुचि अपने कार्य में लगी रहती है। आधुनिक शिक्षा-प्रणालियों में बच्चों की रुचि पर बहुत ही ध्यान दिया जाता है। पर 'खेल द्वारा शिक्षा' में यह अपने आप प्राप्त हो जाता है।

४—'खेल द्वारा शिक्षा' से बच्चों का स्वाभाविक और सर्वांगीण विकास होता है। वे कार्य में संलग्न रहते हैं। उनके हाथ-पाँव पुष्ट होते हैं। शारीरिक विकास के साथ-साथ बौद्धिक विकास भी होता जाता है। खेलों के द्वारा बालक की अन्तःशक्तियों को परिस्फुटित होने तथा विकसित होने का पूर्ण अवसर मिलता है।

५—विलियम स्टर्न ने खेल द्वारा शिक्षा की उपयोगिता यह बतलायी है कि "खेल द्वारा बालक अपने शारीरिक अंगों को पूर्ण बनाता है और वह ज्ञान एवं क्षमता प्राप्त करता है जो उसके भावी जीवन के लिए आवश्यक है।" खेल में बालक सदा प्रसन्न रहता है और प्रसन्न बालक ही स्वस्थ रहता है। स्वास्थ्य से ही बुद्धि भी तीव्र होती है। अतः खेल बालक के संतुलित विकास के लिए आवश्यक है।

६—'खेल द्वारा शिक्षा' की सबसे बड़ी उपयोगिता बालक का चरित्र-विकास है। जो बालक अधिक शैतान या उच्छृंखल हो जाते हैं उसका कारण यह है कि उनकी खेल वाली प्रवृत्ति का उचित प्रयोग नहीं किया गया। इसी कारण उनका नैतिक पतन भी हो जाता है, अतः बच्चों की स्वाभाविक

रचनात्मक शक्ति के विकास के लिए खेल आवश्यक हैं। इंग्लैंड के प्रसिद्ध विद्वान् लुई स्टीवेन्सन ने इसीलिए लिखा है कि "खेल का उचित प्रयोग बालक के विकास का सर्वोत्तम साधन है।"

७ – खेल की सहायता से बालक को योजनाएँ बनाने, उन्हें पूरा करने और बुद्धि का तत्काल प्रयोग करने का अवसर मिलता है और इनके द्वारा वह भावी जीवन के लिए तैयार हो जाता है। प्रो० नन ने इस दृष्टि से शिक्षा में खेल की महत्ता प्रदर्शित की है। बच्चों की कलात्मक शक्ति का विकास भी इसके द्वारा होता है। नैतिक गुणों—धैर्य, सहिष्णुता, सहयोग, विचार एवं निर्णय-शक्ति तथा सामाजिक भावना का विकास होता है और बालक में उत्तम नागरिक के सभी गुण आ जाते हैं।

खेल द्वारा शिक्षा का विरोध

(१) कुछ शिक्षाशास्त्री शिक्षा में खेल की प्रवृत्ति का इस आधार पर विरोध करते हैं कि इससे बालकों में कोमलता की भावना घर कर जाती है और वे किसी कार्य को गंभीरता से नहीं ले पाते। इसका परिणाम यह होता है कि उनमें वास्तविक जीवन की कठिनाइयों का सामना करने की क्षमता नहीं उत्पन्न हो पाती। बालकों में प्रारम्भ से ही कठिन एवं कष्टप्रद समस्याओं का सामना करने की शक्ति उत्पन्न होनी चाहिए पर खेल द्वारा शिक्षा में वे केवल रुचिकर एवं सुखद परिस्थितियों में ही काम करना सीखते हैं।

(२) खेल द्वारा शिक्षा में उत्तरदायित्व पूर्ण एवं परिश्रमपूर्वक कार्य करने की बात जिसका उल्लेख पहले हो चुका है, कुछ लोग नहीं मानते। उनका कहना है कि खेल में रुचि, आनन्द, स्वतन्त्रता एवं तन्मयता भले ही रहती हो पर बालक उत्तरदायी नहीं बन पाता। उसमें परिश्रम की आदत नहीं पड़ती। वह आनन्द को ही सब कुछ मान लेता है। पर शिक्षा का उद्देश्य तो बालक को एक कर्त्तव्यपरायण व्यक्ति बनाना है पर खेल द्वारा यह कर्त्तव्यपरायणता नहीं उत्पन्न होती।

किन्तु उपर्युक्त दोनों दोषों का परिहार इस रूप में हो जाता है कि वस्तुतः खेल द्वारा शिक्षा का यह तात्पर्य नहीं है कि सरल क्रियाएँ ही बालकों को दी जायँ, बल्कि यह है कि कठिन से कठिन कार्य भी रुचिकर बनाकर इस रूप में प्रस्तुत किए जायँ कि उन्हें करने में बालक आनन्द, स्वतन्त्रता एवं उत्साह का अनुभव करने लगें। कठिन कार्यों, जटिल परिस्थितियों तथा कष्टप्रद समस्याओं का भी सामना बालक उसी प्रकार करें जिस प्रकार सरल कार्य एवं खेल का करते हैं, यही खेल द्वारा शिक्षा का आशय है।

(३) खेल द्वारा शिक्षा का एक यह दोष बताया जाता है कि खेल द्वारा स्कूल के सभी विषयों की शिक्षा नहीं प्रदान की जा सकती। विशेष रूप से गणित, विज्ञान आदि की शिक्षा तो संभव ही नहीं। पर इन विषयों में भी खेल का समावेश किया जा सकता है जैसे गणित के अभ्यास, विज्ञान में विविध प्रयोग एवं नई समस्याओं का समाधान कराने में खेल की भावना का समावेश किया जा सकता है।

सारांश

बच्चों की क्रियात्मक शक्ति का उद्भास ही खेल है। अन्तःशक्ति का स्फुरण, स्वतन्त्रता, रुचि, आनन्द का अनुभव खेल के अन्तर्भूत तत्त्व हैं।

क्रियात्मक प्रवृत्ति के उचित प्रयोग द्वारा शिक्षा प्रदान करना ही खेल द्वारा शिक्षा कहा जाता है। इसे एक शिक्षा सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय काल्डवेल कुक को है।

खेल की परिभाषा एवं मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त—अतिरिक्त शक्ति का सिद्धान्त, शक्तिवर्द्धन का सिद्धान्त, जीवन की तैयारी का सिद्धान्त, पुनरावृत्ति का सिद्धान्त, परिष्करण का सिद्धान्त।

खेल की विशेषताएँ एवं आधारभूत सिद्धान्त—खेल एक आनन्दपूर्ण रचनात्मक क्रिया है जिसमें बालक स्वेच्छा से संलग्न होता है और आत्माभिव्यक्ति का अवसर पाता है। इसके प्रमुख सिद्धान्त हैं—स्वतन्त्रता, रुचि एवं आनन्द, उत्तरदायित्व।

खेल और कार्य—खेल में स्वतन्त्रता, आनन्द, रुचि का समावेश है और परिणाम का भय नहीं है। कार्य में बन्धन, अरुचि और कष्ट का अनुभव हो सकता है और परिणाम का भय भी। यदि कार्य को रुचिकर, सुखद और परिणाम के भय से रहित बनाकर प्रस्तुत किया जाय और बालक स्वतन्त्रता का अनुभव करे तो ऐसा कार्य खेल हो जाता है। शिक्षा में क्रियाओं का समावेश इसी रूप में अपेक्षित है। खेल द्वारा शिक्षा के विविध रूप किण्डरगार्टन, माण्टेसरी, प्रोजेक्ट, बेसिक, डाल्टन, ह्यूरिस्टिक आदि में पाए जाते हैं। स्काउटिंग, अभिनय, प्रहसन, समस्यामूलक खेल, पर्यटन, सामाजिक कार्य आदि शैक्षिक खेलों के उदाहरण हैं।

नैसर्गिक प्रवृत्तियों का विकास, आत्मविकास, अनुरंजन, रुचि-परिष्करण, चरित्र विकास, भावी जीवन की तैयारी आदि खेल द्वारा शिक्षा की प्रमुख उपयोगिताएँ हैं।

प्रश्न

१— खेल से तुम क्या समझते हो ? खेल और कार्य में क्या अन्तर है ?

२—कुक महोदय के 'खेल द्वारा शिक्षा' सम्बन्धी विचारों का उल्लेख कीजिए।

३—सोदाहरण सिद्ध कीजिए कि आधुनिक शिक्षा-प्रणालियों में खेल को विशिष्ट स्थान प्राप्त है।

४—निम्नलिखित खेलों के शैक्षिक प्रयोग की योजनाएँ प्रस्तुत कीजिए— स्काउटिंग, अभिनय, सामाजिक कार्य, परिभ्रमण।

५—शिक्षा में खेल की उपादेयता पर संक्षिप्त निबन्ध लिखिए और बताइए कि हमारे विद्यालयों में इसके प्रयोग की क्या स्थिति है ?

६—शिशुओं की शिक्षा में खेल का क्या महत्त्व है ? उनकी पाठशाला में किस प्रकार के कार्यकलाप का आयोजन करना चाहिए।

———

अध्याय १६

बेसिक शिक्षा-प्रणाली

[बेसिक शिक्षा प्रणाली का प्रवर्त्तन, ब्रिटिशकालीन शिक्षा के दोष, गाँधी जी का शिक्षा-दर्शन, शिक्षा के उद्देश्य, बेसिक शिक्षा का उद्भव एवं विकास, बेसिक शिक्षा के आधारभूत सिद्धान्त, पाठ्यक्रम, शिक्षण विधि, समन्वय शिक्षा प्रणाली, बेसिक शिक्षा की विशेषताएँ, आलोचना, बेसिक शिक्षा तथा अन्य शैक्षिक विचारधाराएँ ।]

"The core of Gandhiji philosophy is manual labour to which he has imparted a special dignity by making it the pivot of all our activities—social, political, educational, economic and even religious."

M. S. Patel.

बेसिक या बुनियादी शिक्षा-प्रणाली के प्रवर्त्तन का श्रेय राष्ट्र पिता महात्मा गाँधी को है। गाँधी जी हमारे राष्ट्र के केवल राजनैतिक नेता नहीं थे। उनकी सर्वव्यापी पैनी दृष्टि से भारतीय जीवन का कोई क्षेत्र, कोई पक्ष, कोई कोना अछूता न रहा। उन्होंने हमारी सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक एवं अन्य समस्त समस्याओं पर अपने क्रान्तिदर्शी विचारों को व्यक्त किया और उनके अनुसार तत्कालीन विकृत भारतीय जीवन को उन्नत बनाने का प्रयत्न किया। शिक्षा के क्षेत्र में भी यही बात चरितार्थ होती है। यद्यपि ब्रिटिश शासनकाल में प्रचलित हमारे देश की शिक्षा-प्रणाली की आलोचना सभी राष्ट्र-प्रेमी शिक्षा-विशेषज्ञ करते थे, किन्तु एक निश्चित रचनात्मक शिक्षा योजना प्रस्तुत करने का श्रेय गाँधी जी को ही है।

ब्रिटिश शासनकाल में प्रचलित शिक्षा हमारे राष्ट्रीय विकास की दृष्टि से बहुत घातक थी। इसका अनुमान हम मैकाले के उस कथन से भली भाँति लगा सकते हैं जो उसने भारतीय शिक्षा की रूपरेखा बनाते समय सन् १८३५ में ही कहा था—"शिक्षा द्वारा हमें भारत में एक ऐसा वर्ग तैयार करना है जो हमारे और भारतीय जनता (जिस पर हमें अपना शासन स्थायी बनाना है) के बीच द्विभाषिए का काम कर सके। भारतवासी केवल रूप-रंग में ही

भारतीय रहें पर उनका मस्तिष्क, आधार-विचार, रीति-नीति सब कुछ अंग्रेजी रंग में रंग जाय।[1] मैकाले का वह कथन अक्षरशः सत्य सिद्ध हो रहा था और वह शिक्षा हमारे देश का विकास अवरुद्ध कर रही थी।

ब्रिटिशकालीन शिक्षा के दोष

गाँधी जी ने ब्रिटिश कालीन शिक्षा के अनिष्टकारी प्रभावों एवं दोषों की ओर सारे राष्ट्र का ध्यान आकर्षित किया जो संक्षेप में निम्नलिखित हैं—

१—यह शिक्षा बहुत ही संकीर्ण है। इसका उद्देश्य केवल क्लर्क बनाना और ऐसे शासकीय कर्मचारी तैयार करना है जो अंग्रेजी शासन को चलाने में सहायक सिद्ध हों। इससे व्यक्तित्व का कोई विकास संभव नहीं क्योंकि इसमें बालक के मानसिक, शारीरिक एवं नैतिक विकास पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता।

२—यह शिक्षा व्यावहारिक जीवन से सम्बन्धित नहीं और न बालकों को व्यावहारिक कार्यकुशलता ही प्रदान करती हैं। इससे केवल सैद्धान्तिक शिक्षा प्राप्त हो जाती है पर बालक जो ज्ञान प्राप्त करता है उसे क्रियान्वित नहीं कर सकता।

यह शिक्षा पूर्णतः पुस्तकीय शिक्षा है। बालक पुस्तकें रट लेता है और परीक्षा उत्तीर्ण कर लेता है पर उस ज्ञान को आत्मसात नहीं कर पाता और न व्यावहारिक जीवन में उसका लाभ उठा पाता है।

यह शिक्षा जीवन से पृथक् अवास्ताविक वातावरण में प्रदान की जाती है फलतः बालक उसका प्रयोग अपने वर्त्तमान या भावी जीवन में नहीं कर पाता। वह बिल्कुल पराश्रित और परोपजीवी बन जाता है तथा स्वयं अपने जीवन की दिशा या लक्ष्य निर्धारित नहीं कर पाता।

जीविकोपार्जन की क्षमता और सामर्थ्य भी उसमें नहीं आ पाती और वह नौकरी को ही एक मात्र आजीविका मानने लगता है। आत्मनिर्भरता की भावना तो उसमें अंत तक नहीं आ पाती।

३—यह शिक्षा तथ्यों एवं सूचनाओं के ज्ञान पर बल देती है, पर उससे बालक का बौद्धिक, मानसिक या वैचारिक उत्कर्ष नहीं होता। स्वतंत्र विचार शक्ति या चिन्तन की क्षमता की दृष्टि से बालक पंगु-सा हो जाता है।

---

1. We must at present do our best to form a class who may be interpreters between us and the millions whom we govern a class of persons Indian in blood and colour, but English in tastes, in opinions, in morals and in intellect."

४—इस शिक्षा से एकता एवं सहयोग की भावना की जगह अनेकता, द्वेष एवं भेद-भावपूर्ण प्रतिद्वन्द्विता की भावना पैदा होती है। इससे हमारी सामाजिक एकता नष्ट होती है और विघटनकारी शक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। यह हमारी राष्ट्रीय एकता एवं सम्पन्नता के लिए बहुत घातक है।

५—इस शिक्षा का भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह पाश्चात्य एवं विशेषतः अंग्रेजी संस्कृति पर आधारित है। फलतः इस शिक्षा से भारतीय संस्कृति एवं दर्शन के प्रति श्रद्धा, सम्मान एवं गौरव पैदा होने की जगह हेयता की भावना पैदा होती है। अंग्रेजी आचार-विचार के प्रति एक सम्मोहन की भावना ऐसी छा जाती है कि भारतीय आचार-विचार को हम बहुत निम्नकोटि का समझने लगते हैं।

६—इस शिक्षा से भारतीय भाषाओं को अपार क्षति पहुँची है क्योंकि इसमें अंग्रेजी को ही सर्वोपरि स्थान दिया जाता है। अंग्रेजी ही शिक्षा का माध्यम है जिसके कारण शिक्षा में समय का बहुत ही अपव्यय होता है और मातृभाषाओं का विकास नहीं हो पाता। अंग्रेजी पर जोर देने से बालकों में यह मिथ्या भावना घर कर जाती है कि अंग्रेजी का जानना ही ज्ञान प्राप्त करना है। इससे उनमें राष्ट्र प्रेम का भी विकास नहीं हो पाता। गाँधी जी का कहना था कि "अंग्रेजी माध्यम से भारतीय शक्ति क्षीण हो गई है, विद्यार्थियों की आयु घट गई है और वे अपने परिवार से पृथक् से हो जाते हैं। इसके कारण शिक्षा बहुत ही व्ययसाध्य बन गई है। यदि अंग्रेजी ही शिक्षा का माध्यम बनी रही तो राष्ट्र का पतन निश्चित है और इसके लिए हमारी भावी संतति हमें कोसेगी।"

७—यह शिक्षा सार्वजनिक दृष्टि से उपलब्ध नहीं है। थोड़े से सुविधा प्राप्त लोग ही इसे प्राप्त कर सकते हैं। गाँवों में विद्यालयों का अभाव है अतः ग्रामीण बालक शिक्षा से वंचित रह जाते हैं।

८—प्राइमरी शिक्षा भी अनिवार्य नहीं है। परिणामतः अधिकांश जनता निरक्षरता के अभिशाप से ग्रस्त है। इससे उनकी अपनी क्षति तो है ही, संपूर्ण देश का सांस्कृतिक ह्रास होता है। ऐसी स्थिति में देश कभी भी समृद्धिशाली और सम्पन्न नहीं हो सकता।

९—यह शिक्षा-व्यवस्था इस प्रकार की है कि बालकों का उत्तरोत्तर शैक्षिक विकास नहीं हो पाता। प्रारम्भिक कक्षाओं से ही बालक शिक्षा ग्रहण करना छोड़ने लगते हैं और यह सिलसिला इस प्रकार जारी रहता है कि कुछ ही प्रतिशत बालक ऊँची कक्षाओं तक पहुँच पाते हैं। इससे राष्ट्रीय शक्ति, श्रम एव धन का अपव्यय तो होता ही है, शैक्षिक उद्देश्यों की भी हानि होती है।

१०—इस शिक्षा व्यवस्था में बालकों की प्रगति एवं कक्षोन्नति की प्रणाली इस प्रकार की है कि लाखों विद्यार्थी परिक्षाओं में असफल हो जाते हैं और उसमें से अधिकांश कहीं के नहीं रह जाते। वे बेकार भटकते रहते हैं और उसमें निराशा तथा असामाजिक प्रवृत्तियाँ आ जाती हैं। ऐसी शिक्षा की कोई उपादेयता नहीं रह जाती।

११—यह शिक्षा बालकों की वैयक्तिक विभिन्नता पर कोई ध्यान नहीं देती और सभी बालकों को एक ही समान स्तर का मान कर शिक्षा प्रदान कर देती है। इस प्रकार की यांत्रिक शिक्षा से बालकों की वैयक्तिक विशिष्टता नष्ट हो जाती है और वे एक यांत्रिक प्राणी रह जाते हैं। इसमें व्यक्तिगत रुचि, प्रतिभा, योग्यता एवं मौलिकता का कोई ध्यान नहीं रखा जाता।

१२—यह शिक्षा एकांगी हैं अर्थात् केवल बौद्धिक ज्ञान प्रदान करती है और वह भी संकीर्ण अर्थ में अर्थात् पुस्तकीय ज्ञान बालकों को मिल जाता है। इसमें उनके सर्वतोमुखी विकास का कोई प्रयत्न नहीं किया जाता। इसमें भावात्मक उत्कर्ष का तो नाम ही नहीं। शारीरिक विकास का भी कोई प्रयत्न नहीं किया जाता। यह विचित्र बात है कि यह शिक्षा जितनी ही ऊँची प्राप्त होती है, उतना ही नैतिक ह्रास होता जाता है। शिक्षा का अर्थ सांस्कृतिक एवं नैतिक गुणों की वृद्धि है पर इस शिक्षा से तो स्वार्थ, अहंकार, प्रभुता और विलासिता की भावना बढ़ती जाती है तथा सहयोग, सौहार्द सच्चाई, ईमानदारी, त्याग और परोपकार की भावना समाप्त होती जाती है।

१३—इस शिक्षा द्वारा शारीरिक श्रम के प्रति अरुचि की भावना बढ़ती है। शिक्षित व्यक्ति अपना कार्य अपने से करने में संकोच करता है और उसे हेय समझता है। यही कारण है कि पढ़े लिखे लोगों में आलस्य, निष्कर्मण्यता और मानसिक दासता बनी रहती है।

१४—सामाजिकता एवं नागरिकता की दृष्टि से तो इस शिक्षा की जितनी भी निन्दा की जाय वह कम है। स्कूलों में सामाजिक वातावरण का सर्वथा अभाव है। वास्तविक जीवन की वहाँ छाया भी नहीं घुस पाती। बालकों में इसी कारण सामाजिक भावनाओं का विकास नहीं हो पाता। यहाँ तक देखा जाता है कि अशिक्षित माता-पिता के बालक जब इस शिक्षा को ग्रहण कर निकलते हैं तो वे अपने परिवार को ही हेय दृष्टि से देखने लगते हैं। यह कितना घोर पतन है।

नागरिक अधिकार एवं कर्त्तव्य की भावना से शून्य शिक्षित भारतीय अपने राष्ट्र का निर्माण किस प्रकार कर सकता है। इस शिक्षा से उसमें एक

ऐसा मिथ्या अभिमान पैदा हो जाता है कि सामान्य जनता से अपने को पृथक् देखने लगता है और राष्ट्रप्रेम, मानवप्रेम की भावना विलीन हो जाती है।

इस प्रकार की प्रचलित शिक्षा प्रणाली के विरुद्ध गाँधी जी ने आवाज उठाई और उन्होंने उसकी जगह एक राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का प्रवर्त्तन किया जिसकी जड़े भारतीय संस्कृति में जमी हुई हैं और जिसके द्वारा सच्चे भारत का अभ्युदय हो सकता है।

गाँधी जी प्रारम्भिक शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालयीय शिक्षा तक का स्वरूप बदलना चाहते थे किन्तु राष्ट्रीय उन्नति एवं विकास की दृष्टि से वे प्राइमरी शिक्षा के महत्त्व पर सर्वाधिक बल देते थे। उन्होंने यहाँ तक लिखा है कि "यदि कुछ समय के लिए सभी कालेजों के शिक्षित एवं विश्वविद्यालयों के स्नातक अपना ज्ञान भूल जायँ तो यह क्षति उस अपार क्षति के सामने कुछ भी नहीं है जो करोड़ों ग्रामवासियों के अशिक्षित होने से हो रही है।" इस कथन से स्पष्ट है कि गाँधी जी सर्वप्रथम प्राइमरी शिक्षा का प्रसार और उसकी प्रचलित प्रणाली में आमूल परिवर्तन करना चाहते थे। बेसिक शिक्षा प्रणाली का प्रवर्त्तन इसी विचार का परिणाम है।

गाँधी जी का शिक्षा-दर्शन

गाँधी जी की बेसिक योजना का आधार उनका शिक्षा-दर्शन था जो उनके जीवन दर्शन पर अवलम्बित था। गाँधी जी एक अध्यात्मवादी विचारक थे और आध्यात्मिक उपलब्धियों के लिए ही उन्होंने सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन में क्रान्ति लाने का प्रयत्न किया था। जीवन के समस्त साधनों को वे आध्यात्मिक शक्ति की प्राप्ति का साधन मानते थे। शिक्षा भी इसी प्रकार का एक आवश्यक साधन है जिससे आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति में सहायता मिलता है। इसी कारण गाँधी ने अपनी नवीन शिक्षा प्रणाली का प्रवर्त्तन किया।

गाँधी जी एक परमात्मा की सत्ता में विश्वास करते थे। उन्होंने लिखा है "मैं ईश्वर की परम एकता में और इस कारण मानवता में विश्वास करता हूँ। यद्यपि शारीरिक भिन्नता हममें है, पर उन सब में एक ही आत्मा का निवास है, ठीक उसी प्रकार जैसे सूर्य की किरणें विभिन्न प्रतीत होती हैं पर उनका स्रोत एक ही है।"[1]

---

1. "I believe in the absolute one ness of God and therefore also of humanity. What though we have many bodies? We have but one soul. The rays of the sun are many through referaction. But they have the same source."

Young India, 25-9-24

गाँधी जी के लिए ईश्वर एक है चाहे उसे राम कहो या रहीम, ईश्वर कहो या अल्ला, क्राइस्ट कहो या बुद्ध। मैं इस विश्वास अथवा दर्शन को मानता हूँ कि संपूर्ण जीवन तात्त्विक दृष्टि से एक है और मनुष्य चेतन या अचेतन रूप से उसी परम सत्ता की अनुभूति के लिए कार्य कर रहा है।[1] परमात्मा ही सर्वोच्च भाग्य निर्माता है। उसकी इच्छा बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता।

गाँधी जी का विश्वास था कि केवल ईश्वर ही सत्य और यथार्थ है। जगत एक माया या छलना है। इस परिवर्तनशीलता में केवल ईश्वर ही शाश्वत है। ईश्वर में मुझे शुद्ध शिवत्व का आभास होता है क्योंकि मैं अनुभव करता हूँ कि मृत्यु के बीच जीवन विद्यमान है, असत्य के बीच सत्य जीवित है, अन्धकार में प्रकाश की सता हैं। अतः मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि ईश्वर ही जीवन है, सत्य है, प्रकाश है। वहीं प्रेम है, वही परम शिव है।[2]

गाँधी जी सत्य को ही ईश्वर मानते थे[3] और इस सत्य की प्राप्ति का एक मात्र साधन अहिंसा है। सत्य की अनुभूति मानव जीवन का परम साध्य है और इस साध्य का साधन अहिंसा है। गाँधी जी का विचार था कि अहिंसा और सत्य परस्पर इस प्रकार जुड़े हुए हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता पर अहिंसा साधन है और सत्य साध्य। अहिंसा हमारा परम कर्त्तव्य है जिसके द्वारा सत्य की उपलब्धि हो सकती है।[4]

सत्य ही ईश्वर है और उसकी प्राप्ति केवल अहिंसा और प्रेम से सम्भव है पर इसके लिए हृदय की शुद्धता आवश्यक है। शुद्धता के लिए सांसारिक आसक्ति एवं घृणा से ऊपर उठना, दूषित विचारों एवं वासनाओं से मुक्त होकर मनसा, वाचा, कर्मणा से शुद्ध होना, भय एवं अभिमान से परे रहना, शारीरिक प्रलोभनों एवं मानसिक तृष्णाओं पर विजय प्राप्त करना, अनुशासित प्रयास, साधना, सरल जीवन एवं तपस्या आवश्यक है। ये सभी उपलब्धियाँ अहिंसा द्वारा ही सम्भव हैं।

---

1. "I subscribe to the belief or the philosophy that all life in its essence is one and that men are working consciously or unconsciouly towords the reali zation of that identity."
   (Selections from Gandhi—N. K. Bose).
2. "I see it as purely as benevolent, for I can see that in the midst of death life persists, in the midst of untruth truth persists, in the midst of darkness light persists. Hence I gather that God is Life, Truth, Light. He is love. He is the supreme good."
3. Truth is God
4. Mahatma Gandhi from Yarwada Mandir, P. 13

गाँधी जी की 'अहिंसा' कोई नकारात्मक या पलायनवादी मनोवृत्ति नहीं है बल्कि यह एक सृजनात्मक, क्रियात्मक एवं गतिशील विचारधारा है। डा० राधाकृष्णन् ने लिखा है कि गाँधी जी की अहिंसा बुराई के सामने समर्पण नहीं है बल्कि प्रेम द्वारा उसका सामना करना है। सत्याग्रह का अर्थ है आत्मा, सत्य और प्रेम की शक्ति में विश्वास रखना जिससे हम आत्मत्याग एवं आत्म-पीड़न द्वारा बुराइयों पर विजय प्राप्त कर सकें।[1]

अहिंसा द्वारा सत्य की सिद्धि के लिए गाँधी जी सब की समानता एवं स्वतन्त्रता में विश्वास रखते थे। वे चाहते थे कि जाति, रंग, विश्वास, धन, शक्ति आदि के कृत्रिम बन्धनों से परे स्वतन्त्र मानव का विश्व-समाज स्थापित हो। इस प्रकार के समाज का आन्दोलन मानव-बन्धुत्व की ओर ले जाने वाला होना चाहिए। तभी परम सत्य की अनुभूति सम्भव होगी। इस प्रकार का समाज अन्याय एवं शोषण से मुक्त होगा। शोषण रहित समाज का आधार नैतिक शक्ति एवं नैतिक उत्तरदायित्व ही हो सकता है। पूँजीवाद को रोकने के लिए वे विकेन्द्रित उद्योग एवं कृषि के आधार पर आर्थिक एवं सामाजिक रचना चाहते थे। थोड़े से लोगों के हाथ में संपत्ति एकत्र हो, इसे रोकने के लिए वे ग्राम एवं कुटीर उद्योग का विकास एवं प्रसार चाहते थे।

गाँधी जी के अनुसार ऐसे आदर्श अध्यात्मवादी समाज में मनुष्य की सेवा ही ईश्वर की सेवा है क्योंकि प्रत्येक मानव हृदय में ईश्वर स्थित है। उनका कहना था कि "मेरी आस्था ईश्वर की सेवा में है और इसीलिए मानवता की सेवा में है।"[2] उनका कहना था कि मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति है और उसके समस्त कार्य—सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक—इस अन्तिम लक्ष्य की ओर उसे अग्रेषित करते हैं। मानवता की सेवा इस प्रयास का अभिन्न अंग है क्योंकि ईश्वर को उसकी सृष्टि में देखना और उसके साथ तादात्म्य स्थापित करना ही ईश्वर को पाना है।" ईश्वर न तो मन्दिर में है, न मस्जिद

---

1. "It is not non-resistance or submission to evil. It is resistance to it through love. Satyagrah is belief in the power of spirit, the power of truth, the power of love by which we can overcome evil through self-suffering and self-sacrifice"

2. "My creed is service of God and, therefore, of humanity."
Young India, 23-10-24

में और न गिरिजाघर में ही । वह तो मानवता की सेवा से ही प्राप्त हो सकता है ।[1]

गाँधी जी ने अपने जीवन में इन विचारों का ही सदा पालन किया । इन विचारों के अनुसरण के लिए वे शिक्षा के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन करना चाहते थे । उन्होंने राजनैतिक और सामाजिक आन्दोलन तो इसलिए किया कि आदर्श समाज की स्थापना हो सके । वे ऐसा समाज चाहते थे जिसमें शासन रहित प्रजातन्त्र हो, सामाजिक जीवन ऐसा पूर्ण हो कि सभी अनुशासित एवं आत्मनिग्रह का जीवन व्यतीत करें । ऐसे राज्य में प्रत्येक व्यक्ति अपना शासक होगा और वह अपना शासन इस प्रकार करेगा कि वह दूसरे व्यक्ति के कल्याण मार्ग में बाधक न होगा । इस समाज में कोई राजनैतिक सत्ता न होगी ।[2]

ऐसे आदर्श समाज की रचना के लिए जिससे 'सत्य' (ईश्वर) की प्राप्ति हो सके, उपयुक्त शिक्षण व्यवस्था आवश्यक है । अतः गाँधी जी बेसिक शिक्षा योजना का सूत्रपात किया जिसके द्वारा शिक्षार्थी के व्यक्तित्व का सर्वोत्तम विकास हो सके और वह आदर्श एवं अध्यात्मवादी समाज की रचना कर सके । उन्होंने लिखा कि सच्ची शिक्षा वह है जो बच्चों के आध्यात्मिक, बौद्धिक और शारीरिक शक्तियों को परिस्फुटित एवं अनुप्राणित करे ।[3]

गाँधी जी शिक्षा द्वारा मनुष्य के शरीर, हृदय, बुद्धि, और आत्मा का सर्वतोमुखी विकास चाहते थे और इस दृष्टि से उन्होंने तत्कालीन प्रचलित शिक्षा प्रणाली की तीव्र आलोचना की कि "यह शिक्षा केवल अपव्यय ही नहीं बल्कि क्षतिप्रद भी है । अधिकांश विद्यार्थी अपने माता-पिता के लिए और गृह-व्यवसाय

---

1. Man's ultimate aim is the realisation of God, and all his activities—social, political, religious—have to be guided by the ultimate aim of the vision of the God. The immediate service of all human beings becomes a necessary part of the endeavour, simply because the only way to find God is to see Him in His creation and be one with it.
(Harijan 29-8-36)

2. "In such a state everyone is his own ruler. He rules himself in such a manner that he is never a hindrance to his neighbour. In ideal state there is no political power, because there is no state.

3. "True education is that which draws out and stimulates the spiritual, intellectual and physical faculties of our children."
Harijan 11-9-37

की दृष्टि से बेकार साबित हो जाते हैं। उनमें बुरी आदतें पड़ जाती हैं। अतः प्राइमरी शिक्षा का स्वरूप नए सिरे से संगठित होना चाहिए। इसका उपचार यह है कि "बालकों को शारीरिक एवं औद्योगिक प्रशिक्षण के माध्यम से शिक्षा प्रदान की जाय।"[1] शारीरिक श्रम एवं किसी शिल्प द्वारा शिक्षा प्रदान करना गाँधी जी के शिक्षा-दर्शन का सर्वप्रमुख सिद्धांत है। उनका कहना था—

"मैं बालक को शिक्षा उसे किसी उपयोगी शिल्प की शिक्षा द्वारा प्रारम्भ करूँगा जिससे वह अपने प्रशिक्षण के प्रारम्भ से ही उत्पादन करने में समय हो सके।...मेरा विश्वास है कि इस प्रकार की शिक्षा से ही मस्तिष्क एवं आत्मा का सर्वोच्च विकास सम्भव है। केवल एक बात का ध्यान रखना है कि शिल्प की शिक्षा यांत्रिक मात्र न हो जाय जैसा कि आज होता है, बल्कि वैज्ञानिक शिक्षण हो, अर्थात् बालक कार्य की प्रत्येक प्रक्रिया, उसके कारण एव विधि सहित अच्छी तरह जान जाय।"[2]

इस कारण गाँधी जी का मत था कि किसी उद्योग या श्रम साध्य क्रिया को केन्द्र मानकर उसके आधार पर शिक्षा प्रदान की जाय और वह उद्योग ही समस्त पाठ्य-विषयों का भी केन्द्र हो अर्थात् उससे सम्बन्धित कर सभी विषय सगठित किए जायँ। "इसका यह अर्थ नहीं है कि शिल्प प्रशिक्षण के साथ साहित्यिक शिक्षा को जोड़ दिया जाय बल्कि शिल्प प्रशिक्षण को ही साहित्यिक एवं बौद्धिक प्रशिक्षण का साधन बनाया जाय।"[3]

गाँधी जी शिल्प को एक ऐसा स्रोत मानते हैं जिससे क्रिया एवं अनुभव का प्रादुर्भाव होना चाहिए। अतः शिल्प का शैक्षिक एवं आर्थिक दोनों ही मूल्य है।

---

1. "I think the remedy lies in educating them by means of vocational or manual training."
2. "I would therefore begin the child's education by teaching it a useful handicraft and enabling it to produce from the moment it begins its training......I hold that the highest development of the mind and the soul is possible under such a system of education. Only every handicraft has to be taught not merely mechanically as is done today, but scientifically, i. e., the child should know the why and the wherefore of every process." (Harijan, 31-7-37)
3. "This does not mean supplementing literary with manual training but making manual training the means of literary and intellectual training."

इस प्रकार शिल्प को केन्द्र मानकर शिक्षा प्रदान करना गाँधी जी के शैक्षिक दर्शन का प्रथम सिद्धान्त है। इसी पर उनका दूसरा सिद्धान्त अवलम्बित है 'शिक्षा के साधन रूप में चुने गए शिल्प द्वारा आत्मनिर्भरता का सिद्धान्त'।

गाँधी जी का विश्वास था कि शिल्प द्वारा बालक के व्यक्तित्व विकास के साथ-साथ शिक्षा को भी आत्मनिर्भर बनाना चाहिए। शिल्प इस प्रकार सीखना चाहिए कि उसके उत्पादन का आर्थिक मूल्य भी हो।

शिक्षा को आत्मनिर्भर बनाने के दो भाव हैं—(१) शिक्षा द्वारा बालक भावी जीवन में आत्मनिर्भर बन सके। (२) शिक्षा स्वयं अपने में आत्मनिर्भर हो अर्थात् शिक्षा संस्था का खर्च शिल्प के उत्पादन द्वारा चल सके। जहाँ तक बालक को आत्मनिर्भर बनाने का प्रश्न है, गाँधी जी स्पष्ट रूप से कहते थे कि "शिक्षा बालकों के लिए बेकारी के विरुद्ध एक इन्श्योरेन्स के रूप में होनी चाहिए।"[1] विद्यार्थियों को किसी न किसी उद्योग में प्रशिक्षित करना है और उस विशेष उद्योग द्वारा उसके मस्तिष्क, शरीर, लिखना, कलात्मक प्रवृत्ति आदि सभी को प्रशिक्षित करना है।"[2]

गाँधी जी आत्मनिर्भरता का दूसरा अर्थ यह मानते थे कि विद्यालय भी आत्मनिर्भर हो। इसके लिए आवश्यक है कि विद्यालय द्वारा उत्पादित सामग्री राज्य द्वारा खरीद ली जाय।[3] इससे विद्यालय का खर्च (शिक्षकों का वेतन) निकल जाय।

आत्मनिर्भरता से सम्बन्धित गाँधी जी के शिक्षा दर्शन का एक मुख्य सिद्धांत है—**अहिंसा का सिद्धांत**। इस सम्बन्ध में महादेव देसाई का यह कथन उल्लेखनीय है "शिक्षा की आत्मनिर्भरता का विचार अहिंसा के सिद्धांत से पृथक् नहीं किया जा सकता और जब तक हम यह अच्छी तरह नहीं समझ लेते कि इस नवीन शिक्षा योजना से एक ऐसे युग का

1. "Education ought to be for them a kind of insurance against unemployment." Harijan, 11-9-37
2. "You have to train the boys in one occupation or another. Round this special occupation you will train up his mind, his body, his handwriting, his artistic sense and so on." Harijan 18-9-37
3. "Every school can be made self supporting, the condition being that the state takes over the manufactures of these schools."

निर्माण करना है जिसमें साम्प्रदायिक घृणा और शोषण का अंत होगा तब तक हम इसे सफल नहीं बना सकते। अतः अहिंसा में पूर्ण आस्था रखकर और इस विश्वास के साथ कि यह योजना उस मस्तिष्क की उपज है जो अहिंसा को समस्त बुराइयों के उन्मूलन की दवा मानता है, हमें इस योजना को अपनाना चाहिए।"[1] यदि भारत से हिंसा को दूर करना है तो यह शिक्षा व्यवस्था उस अनुशासन का अभिन्न अंग है जिसे हमें प्राप्त करना है।

गाँधी जी का कहना था कि प्रचलित शिक्षा का सबसे बड़ा दोष यह है कि वास्तविक जीवन-परिस्थितियों से इस शिक्षा का कोई सम्बन्ध नहीं है, विभिन्न विषयों में कोई समन्वय एवं समायोजन नहीं है और न बालक का उसके वातावरण से सक्रिय सम्बन्ध स्थापित करने की ही कोई व्यवस्था है। अतः वातावरण से चुने हुए किसी उपयोगी शिल्प द्वारा वास्तविक जीवन-परिस्थितियों के मध्य बालक की शिक्षा होनी चाहिए, तभी वह बौद्धिक, सामाजिक, व्यावहारिक एवं नैतिक दृष्टि से उन्नत व्यक्ति बन सकेगा।

गाँधी जी के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य

गाँधी जी की दृष्टि सदा जीवन के सांगोपांग स्वरूप के विकास की ओर रहती थी। इसी कारण उन्होंने शिक्षा के किसी एकांगी उद्देश्य को प्रधानता नहीं दी। जीवन के समस्त पक्षों एवं क्षेत्रों की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए उन्होंने शिक्षा के उद्देश्यों के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किए, जो संक्षेप में निम्नांकित हैं—

१—जीविकोपार्जन-जीवन की प्राथमिक आवश्यकता है—"आजीविका की दृष्टि से आत्मनिर्भर होना"। गाँधी जी ने इस उद्देश्य पर बहुत बल दिया है। उन्होंने लिखा है कि बालकों की शिक्षा बेकारी के विरुद्ध एक प्रकार के इंश्योरेंस के समान है। वे चाहते थे कि बालक को १४ वर्ष की आयु होने पर अर्थात् ७ वर्ष की प्राइमरी शिक्षा प्राप्त करने पर जीविकोपार्जन के योग्य हो जाना चाहिए।[2]

जीविकोपार्जन की योग्यता से यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि गाँधी जी इसी को सब-कुछ मानते थे। उन्होंने लिखा है कि "शिल्प की शिक्षा से बालक केवल शिल्पी ही नहीं बनेगा बल्कि वह एक प्रतिष्ठित नागरिक होगा जो परोपजीवी

1. Educational reconstruction p. 94
2. "The child at the age of 14 that is, after finishing a seven year course should be discharged as an earning unit."

न होकर आत्मनिर्भर होगा।" अतः शिल्प का शैक्षिक एवं आर्थिक दोनों मूल्य है। गाँधीवादी दर्शन के सुयोग्य व्याख्याता श्री के० जी० मश्रूवाला ने लिखा है "उद्योग या शिल्प शिक्षा का साधन या माध्यम ही नहीं है, बल्कि मानव जीवन की अनिवार्य स्थिति है। यह शिक्षा का साध्य भी है ताकि बालक में शारीरिक श्रम के प्रति सम्मान की भावना पैदा हो सके।"[1]

वस्तुतः गाँधी जी चाहते थे कि "बालक शिक्षा ग्रहण करते समय उपार्जन करता रहे और उपार्जन करते समय शिक्षा ग्रहण करता रहे।"

२—सांस्कृतिक उद्देश्य—शिक्षा के सांस्कृतिक उद्देश्य पर गाँधी जी ने बहुत बल दिया है। कस्तूरबा बालिका आश्रम, दिल्ली के एक भाषण में उन्होंने कहा था कि "शिक्षा के सांस्कृतिक पक्ष को मैं उसके शास्त्रीय या बौद्धिक पक्ष से अधिक महत्त्व देता हूँ। संस्कृति तो जीवन का आधार है। हमारे आचरण और व्यक्तिगत व्यवहार की छोटी-छोटी बातों जैसे उठने, बैठने, चलने, वेश-भूषा, परस्पर बातचीत, शिक्षकों एवं बड़ों के प्रति व्यवहार, अतिथियों का सम्मान आदि सभी से सांस्कृतिक शालीनता व्यक्त होनी चाहिए। संस्कृति बौद्धिक कार्यों का परिणाम नहीं है, यह तो आत्मा का गुण है जो मानव-व्यवहार के समस्त पक्षों में परिव्याप्त है।

३—मानव प्रकृति की पूर्णता—गाँधी जी का विचार था कि "शिक्षा के द्वारा हमारी समस्त जन्मजात एवं अर्जित प्रवृत्तियाँ, हमारे आवेग-संवेग, हमारी सामान्य प्रकृति जैसे खेल, अनुकरण आदि और हमारे शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक जीवन के सभी पक्ष इस प्रकार पूर्ण बनाए जायँ कि हमारी संपूर्ण शक्तियों का समन्वित विकास हो सके।" इसीलिए उन्होंने कहा कि शिक्षा से मेरा तात्पर्य है "बालक और मनुष्य में निहित श्रेष्ठतम—शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक—तत्त्वों की संपूर्ण अभिव्यक्ति।"[2]

इसीलिए गाँधी जी ने बालक के हाथ, हृदय एवं मस्तिष्क तीनों की प्रशिक्षा पर बल दिया। उन्होंने कहा कि ध्वनि का संयमन (आरोह-अवरोह पर नियन्त्रण) भी शिक्षार्थी के लिए उतना ही आवश्यक है जितना हाथों का प्रशिक्षण। शारीरिक व्यायाम, शिल्प, ड्राइंग, संगीत आदि सभी विषयों की शिक्षा साथ-साथ होनी चाहिए जिससे शिक्षार्थियों के श्रेष्ठतम गुणों को हम उद्भासित कर

1. Harijan, 4-12-37
2. By education I mean an all round drawing out of the best in child and man—body, mind and spirit." Harijan, 31-7-37

सकें और शिक्षा के प्रति उनमें सच्ची रुचि पैदा कर सकें।[1] मानसिक प्रशिक्षण का कोई महत्त्व नहीं है यदि उसके साथ सच्चा भावात्मक प्रशिक्षण नहीं है। बौद्धिक संस्कृति पर हृदय की संस्कृति का अनुशासन होना चाहिए तभी मानवता का विकास संभव है। इसीलिए गाँधी जी का कहना था कि संगीत के माध्यम से अनिवार्य शारीरिक प्रशिक्षण प्रदान करना चाहिए। इस प्रकार संपूर्ण मानव प्रकृति (शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक) के प्रशिक्षण एवं परिष्कार को वे शिक्षा का आवश्यक उद्देश्य मानते थे।

४—नैतिक उद्देश्य—गाँधी जी के अनुसार चरित्र-निर्माण अथवा नैतिक उत्कर्ष शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है। कार्ल्टन वाशबर्न ने अपनी पुस्तक 'रिमेकर्स आफ मैनकाइंड' में लिखा है कि यह पूछने पर कि स्वतन्त्र भारत में शिक्षा का उद्देश्य क्या होगा, गाँधी जी ने उत्तर दिया—"चरित्र-निर्माण। मैं शक्ति, साहस, गुण, महान् उद्देश्यों के लिए अपने को भूलकर कार्य करने की निष्ठा और लगन आदि भावों का विकास चाहूँगा। साक्षरता की अपेक्षा इन गुणों का अधिक महत्त्व है। शास्त्रीय शिक्षा तो इस महान् उद्देश्य का साधन मात्र है।"[2] वे बार-बार इस बात पर बल देते थे कि संपूर्ण ज्ञान की परिणति चरित्र निर्माण में होनी चाहिए।[3] वह शिक्षा बिल्कुल व्यर्थ है जो सत्यता और शुद्धता की सुदृढ़ शिला पर आधारित नहीं है।

इस चरित्र-निर्माण द्वारा व्यक्ति 'आत्म स्वातन्त्र्य'[4] की ओर अग्रसर होता है। चरित्र-निर्माण से ही 'सा विधाया विमुक्तए'[5] के उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है। किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि इस चेतना अथवा आत्मा की स्वतन्त्रता के लिए मनुष्य की लौकिक स्वतंत्रता—आर्थिक, राजनीतिक एवं बौद्धिक स्वतन्त्रता आवश्यक है। शिक्षा द्वारा प्राप्त ज्ञान से इस स्वतन्त्रता की ओर बढ़ने का मार्ग प्रशस्त होना चाहिए।

---

1. "Modulation of voice is as necessary as the training of the hand. Physical drill, handicrafts, drawing and music should go hand in hand in order to draw the best out of the boys and girls and create in them a real interest in their tuition."
   Harijan, 11-9-37
2. "Character building, I would try to develop courage, strength, virtue, the ability to forget oneself in working towards great aims. This is more important than literacy. Academic learning is only means to this greater end."
3. "The end of all knowledge must be the building up of character."
4. "Freedom of spirit."
5. "Education that liberates or knowledge which is salvation."

५—वैयक्तिक एवं सामाजिक उद्देश्य—वैयक्तिक तथा सामाजिक उद्देश्यों में किसे प्रधानता दी जाय, इसे लेकर शिक्षा में बहुत विवाद होता रहा है। अतः इस सम्बन्ध में गाँधी जी के विचार जान लेना अप्रासंगिक न होगा।

गाँधी जी 'व्यक्ति' का सर्वोपरि महत्त्व देते थे। वे व्यक्ति स्वातन्त्र्य को मानवता के उत्कर्ष के लिए आवश्यक मानते थे। वे व्यक्ति को राज्य या समाज का कोई यान्त्रिक उपकरण नहीं मानते थे। उन्होंने व्यक्ति के ऊपर राज्य के कड़े नियन्त्रण का बड़ा विरोध किया। उनका कथन "मैं राज्य की बढ़ती हुई शक्ति को बड़े भय से देखता हूँ क्योंकि यद्यपि बाहर से देखने में लगता है कि राज्य शोषण को कम करके जन-कल्याण का कार्य कर रहा है किन्तु मानवजाति के लिए इसके द्वारा सबसे बड़ी क्षति यह है कि यह उस व्यक्ति स्वातन्त्र्य का नाश कर रहा है जो सारी प्रगति का मूल है। मैं तो समझता हूँ कि यदि हम व्यक्ति के चरित्र निर्माण में सफल हो जायँ तो समाज का कल्याण अपने आप हो जायगा।"

व्यक्ति स्वातन्त्र्य के इस महत्त्व का यह अर्थ नहीं है कि गाँधी जी व्यक्तिगत स्वच्छन्दता या निरंकुशता के समर्थक थे। वे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की सीमा वहीं तक मानते थे जहाँ तक सामाजिक मर्यादा भंग न हो। उनका कहना है "मैं व्यक्ति स्वातन्त्र्य को महत्त्व देता हूँ पर यह नहीं भूलना चाहिए कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है और सामाजिक प्रगति की आवश्यकताओं के अनुसार अपनी वैयक्तिकता को अनुकूल बनाना सीखकर ही वह आज का उन्नत प्राणी बन सका है। निरंकुश वैयक्तिकता बर्बरता है। हमने सामाजिक मर्यादा और वैयक्तिक स्वतन्त्रता में समन्वय स्थापित करना सीखा है। संपूर्ण समाज के हित के लिए सामाजिक मर्यादा के सम्मुख स्वेच्छापूर्वक समर्पण करने से व्यक्ति और समाज दोनों का उत्कर्ष होता है।" व्यक्तित्व का विकास सामाजिक वातावरण में ही संभव है जहाँ व्यक्ति सार्वजनिक हितों एवं सार्वजनिक क्रियाकलापों द्वारा समृद्ध बनता है। इस प्रकार गाँधी जी व्यक्ति स्वातन्त्र्य एवं सामाजिक अनुशासन के बीच समुचित समन्वय के समर्थक थे।

६—आत्मज्ञान एवं ईश्वर का ज्ञान[1]—उपर्युक्त उद्देश्यों पर गाँधी जी ने अपने भाषणों एवं अपनी रचनाओं में अनेक बार बल दिया है किन्तु ये उद्देश्य गाँधी जी की दृष्टि से आवश्यक होते हुए भी सहायक उद्देश्य ही हैं क्योंकि शिक्षा का परम

1. Self realization and knowledge of God.

उद्देश्य तो वही है जो जीवन का परम उद्देश्य है। गाँधी जी के अनुसार यह परम उद्देश्य सच्चा आत्मज्ञान एवं ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करना है। "मनुष्य के समस्त क्रिया कलापों का उद्देश्य 'आत्म निग्रह' अथवा 'योग' प्राप्त करना है जिससे ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त हो सके।" गाँधी जी का कहना था कि "हमारी (भारतीय) भाषा में विद्यार्थी के लिए एक बहुत ही सुन्दर शब्द का प्रयोग है वह है 'ब्रह्मचारी'। इसका अर्थ है ईश्वर का अन्वेषी, वह व्यक्ति जो इस प्रकार का आचरण करता है कि कम से कम समय में ईश्वर की अधिक से अधिक निकटता प्राप्त कर सके।"[1]

अतः शिक्षा का सर्वोच्च उद्देश्य आत्मज्ञान एवं ब्रह्मज्ञान है। अन्य सभी उद्देश्य इस परम उद्देश्य के ही सहायक एवं साधक हैं।

बेसिक शिक्षा का उद्भव एवं विकास

बेसिक शिक्षा प्रणाली का सूत्रपात गाँधी जी के एक शिक्षा सम्बन्धी लेख से प्रारम्भ होता है जो ३१ जुलाई १९३७ के 'हरिजन' अंक में प्रकाशित हुआ था। किन्तु यह मान लेना भ्रम होगा कि गाँधी जी ने शिक्षा के सम्बन्ध में पहली बार इस प्रकार के विचार व्यक्त किए थे। बहुत पहले उन्होंने अपने शिक्षा सम्बन्धी विचारों का प्रयोग दक्षिण अफ्रीका में 'टालस्टाय फर्म' की स्थापना द्वारा किया था और शिक्षा के सम्बन्ध में अपने क्रान्तिकारी विचार रखे थे। भारत में आने पर उन्होंने साबरमती और सेवाग्राम में स्थापित आश्रमों में शैक्षिक प्रयोगों को जारी रखा। बेसिक शिक्षा-योजना गाँधी जी के इन सुदीर्घ सतत प्रयत्नों का ही परिणाम है। ३१ जुलाई १९३७ के लेख में गाँधी जी ने लिखा कि "शिक्षा से मेरा अभिप्राय बालक के शारीरिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक श्रेष्ठ-तम तत्वों का विकास है। साक्षरता शिक्षा नहीं है। साक्षरता न तो शिक्षा का आदि है और न अन्त। वह तो मनुष्य को शिक्षित बनाने के लिए साधन मात्र है। अतः शिक्षा का आरम्भ साक्षरता से नहीं, बल्कि उद्योग या शिल्प से करना चाहिए।" इन विचारों की ओर राष्ट्र के समस्त शिक्षाविदों का ध्यान आकर्षित हुआ। अनेक शिक्षा विशेषज्ञों ने इस सम्बन्ध में अपनी सम्मति प्रकट की। २२ और २३ अक्टूबर १९३७ को मारवाड़ी हाई स्कूल, वर्धा की रजतजयन्ती के अवसर पर शिक्षा विशेषज्ञों, नेताओं तथा कांग्रेस मन्त्रिमंडल वाले प्रान्तों के शिक्षा मन्त्रियों का सम्मेलन हुआ जिसे 'अखिल भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन' अथवा 'वर्द्धा सम्मेलन' भी कहते हैं। गाँधी जी स्वयं ही इस सम्मेलन के

---

1. "Let all your work and play have the exalted objective of a life of restraint, let them take you nearer to God."

Young India, 21.7.27

सभापति थे। इस सम्मेलन ने विचार-विमर्श के पश्चात् निम्नांकित प्रस्ताव पारित किए—

१—राष्ट्र के प्रत्येक बालक को सात वर्ष तक की प्राइमरी शिक्षा अनिवार्य एवं निःशुल्क प्रदान की जाय।

२—शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो।

३—किसी उद्योग अथवा हस्त शिल्प (हैण्डिक्राफ्ट) के द्वारा शिक्षा प्रदान की जाय। शिल्प को केन्द्रीय स्थान प्रदान किया जाय और अन्य सभी विषय उसे सम्बन्धित करके पढ़ाए जायँ। इस हस्तशिल्प का चुनाव बालकों के वातावरण से किया जाय।

४—सम्मेलन ने यह आशा व्यक्त की कि धीरे-धीरे इस शिल्प से अध्यापकों का वेतन निकलने लगेगा।

शिक्षा सम्बन्धी इस विचार-विमर्श के पश्चात् पाठ्य-क्रम आदि निर्धारित करने और शिक्षण की पूरी योजना तैयार करने के लिए डा० जाकिर हुसेन की अध्यक्षता में एक समिति बनाई गई। इस समिति ने दिसम्बर १६३७ में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जिसका अनुमोदन गाँधी जी ने भी किया। यह प्रतिवेदन मार्च १६३८ के कांग्रेस अधिवेशन में भी प्रस्तुत किया गया और भारतीय प्राइमरी शिक्षा को पुनः संगठित करने के लिए इसे राष्ट्रीय शिक्षा योजना के रूप में कांग्रेस ने स्वीकार कर लिया।

इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए अप्रैल १६३८ में 'हिन्दुस्तानी तालीमी संघ' की स्थापना हुई। उस समय उन प्रान्तों में जहाँ कांग्रेस मन्त्रिमंडलों की स्थापना हुई थी, यह योजना स्वीकार की गई। इस शिक्षा-योजना को बेसिक शिक्षा, बुनियादी शिक्षा, वर्द्धा शिक्षा योजना आदि नामों से अभिहित किया जाता है।

केन्द्रीय सरकार का ध्यान भी बेसिक शिक्षा योजना की ओर आकृष्ट हुआ और केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार समिति (सेण्ट्रल एडवाइजरी बोर्ड आफ एजूकेशन) ने १६३८ में बेसिक शिक्षा के सम्बन्ध में सम्मति प्रदान करने के लिए बम्बई के मुख्य मन्त्री श्री बी० जी० खेर की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की। इस समिति की सिफारिशें बोर्ड ने स्वीकार कर ली। पुनः १६३६ में द्वितीय खेर समिति की स्थापना हुई जिसका काम बेसिक शिक्षा और उच्च शिक्षा में समुचित सम्बन्ध स्थापित करने के लिए योजना प्रस्तुत करना था। इस समिति के सुझाव भी बोर्ड द्वारा मान लिए गए और 'सार्जेण्ट शिक्षा योजना' में इन्हें क्रियान्वित किया गया।

खेर समिति द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदनों में बेसिक शिक्षा के मूल सिद्धान्तों को स्वीकार किया गया है किन्तु शिल्प द्वारा विद्यालय के खर्च की पूर्ति की बात स्वीकार नहीं की गई है । डा० जाकिर हुसेन इस समिति के भी सदस्य थे । उनका मत है कि "यह योजना मूलतः शिक्षा की योजना है, उत्पादन की योजना नहीं है । अतः स्कूलों में जो शिल्प चुना जाय वह शैक्षणिक उपयोगिता की दृष्टि से चुना जाय और उसका सम्बन्ध मुख्यत: मानवीय कार्यों एवं रुचियों से हो ।"

इन प्रयत्नों के फलस्वरूप बेसिक शिक्षा हमारे देश के सभी प्रान्तों में कुछ साधारण हेर-फेर के साथ स्वीकार की गई । इसे हम प्राइमरी शिक्षा स्तर पर "राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली" कह सकते हैं । इसका बेसिक या बुनियादी नाम इस बात का सूचक है कि यह शिक्षा प्रणाली हमारी राष्ट्रीय सभ्यता एवं संस्कृति पर आधारित है, इसके द्वारा राष्ट्र के प्रत्येक बालक को निःशुल्क एवं अनिवार्य रूप से प्राइमरी शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था हो जाती है । मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम है । इसमें किसी भी प्रकार के सम्प्रदाय, वर्ग अथवा जाति भेद के लिए स्थान नहीं है । यह सामाजिक जीवन के मूलभूत सिद्धान्तों पर आधारित है । स्थानीय शिल्प के माध्यम से शिक्षा प्रदान कर प्रत्येक बालक को वातावरण एवं वास्तविक जीवन-परिस्थितियों से परिचित कराना और साथ ही साथ उसे आत्मनिर्भर बनाना इस योजना का प्रमुख उद्देश्य है । इन सिद्धान्तों पर आधारित शिक्षा को बेसिक या बुनियादी शिक्षा कहना सर्वथा उचित ही है ।

बेसिक शिक्षा के आधारभूत सिद्धान्त

बेसिक शिक्षा के आधारभूत सिद्धान्त वही हैं जिन्हें वर्द्धा सम्मेलन ने पारित किया था । शीर्षक रूप में उनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । गाँधी जी का विचार था कि प्राइमरी शिक्षा प्रत्येक बालक को निःशुल्क एवं अनिवार्य रूप से प्राप्त होनी चाहिए । यह शिक्षा मातृभाषा में प्रदान की जानी चाहिए । शिक्षा किताबी मात्र न हो, बल्कि किसी शिल्प-दस्तकारी अथवा कार्य द्वारा प्रदान की जाय और उसे स्वावलम्बी बनाने का प्रयत्न किया जाय । ये विचार ही इस प्रणाली के आधारभूत सिद्धान्त हैं ।

१—अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा—गाँधी जी का विचार था कि प्राइमरी शिक्षा प्रत्येक बालक के लिए सुलभ होनी चाहिए । ६ वर्ष की आयु से प्रत्येक बालक का यह जन्मसिद्ध अधिकार है । पराधीनता के कारण हमारे देश के बालक इस अधिकार से वंचित रहे । ब्रिटिश शासकों का तो स्वार्थ इसी में

था कि देश में निरक्षरता बनी रहे। गाँधी जी ने इस प्राइमरी शिक्षा को अनिवार्य बनाने पर बल दिया। साथ ही इस बात पर भी उन्होंने बल दिया कि यह शिक्षा निःशुल्क होनी चाहिए क्योंकि निर्धनता के कारण गरीब परिवारों के बालक शिक्षा प्राप्त करने से वंचित रह जाते थे। गाँधी जी का कहना था सार्वजनिक शिक्षा प्रसार की दृष्टि से प्राइमरी शिक्षा को अनिवार्य और निःशुल्क होना ही चाहिए। आज के जनतंत्रवादी युग में अनिवार्य तथा निःशुल्क शिक्षा का सिद्धान्त सर्वमान्य सा है। स्वतन्त्रता के बाद हमारी राष्ट्रीय सरकार इस दिशा में महान् प्रयत्न कर रही है।

२—मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम—प्राइमरी शिक्षा का सहज एवं स्वाभाविक माध्यम मातृभाषा ही है। बालक का प्रारम्भिक समस्त शब्द-भण्डार मातृभाषा का ही होता है और उसी के द्वारा वे अपना विचार व्यक्त कर सकते हैं या दूसरों का विचार ग्रहण कर सकते हैं। ब्रिटिश शासनकाल में दुर्भाग्य से हमारे देश में शिक्षा का माध्यम मातृभाषाओं के स्थान पर अंग्रेजी को बना दिया गया था जो सर्वथा अस्वाभाविक और बच्चों के लिए भारस्वरूप था। अतः स्वाभाविकता, सरलता, शीघ्रता तथा मानसिक शक्तियों के विकास की दृष्टि से मातृभाषा द्वारा शिक्षा ही सर्वोत्तम है। इसीलिए गाँधी जी का कहना था कि मातृभाषा के माध्यम होने पर ७ वर्ष की प्राइमरी शिक्षा द्वारा बालकों को अंग्रेजी छोड़कर बाकी सब विषयों में मैट्रिकुलेशन तक का ज्ञान प्राप्त हो जायगा। गाँधी जी का यह सही विश्वास था कि विदेशी भाषा में शिक्षा प्राप्त करना आत्महत्या के सदृश है। विदेशी माध्यम बालकों के ऊपर एक व्यर्थ का भार है, इससे उनकी मौलिकता नष्ट हो जाती है, उनका विकास रुक जाता है और वे अपने परिवार से पृथक् पड़ जाते हैं। मैं इसे सबसे बड़ी राष्ट्रीय ग्लानि मानता हूँ। इसने बालकों को रट्टू और नकलची बना दिया है, मौलिक विचार एवं कार्य के लिए उन्हें अयोग्य बना दिया है और उनके ज्ञान से परिवार तथा जनता को कोई लाभ नहीं पहुँचता। वर्तमान शिक्षा की यह सबसे बड़ी दुखद बात है।[1]

---

1. "I am certain that the children of the nation that receive instruction in a tongue other than their own commit suicide. It robs them of their birth right. A foreign medium mea s an undue strain upon the youngsters, it robs them of all originality. It shunts their growth and isolates them from their home. I regard therefore such a thing as a national tragedy of the first importance."

विदेशी भाषा के माध्यम होने से देशी भाषाओं का विकास रुक गया है। मातृभाषा के माध्यम पर गाँधी जी इतने दृढ़ थे कि उन्होंने लिखा कि यदि मुझे निरंकुश सत्ता मिल जाय तो मैं विदेशी भाषा का माध्यम फौरन ही हटा दूँगा और इसके लिए मुझे चाहे सारे शिक्षकों और प्रोफेसरों को निकालने की ही तकलीफ क्यों न झेलनी पड़े। यह ऐसा रोग है जिसके तत्काल उपचार की आवश्यकता है।[1]

बेसिक शिक्षा प्रणाली में मातृभाषाएँ ही शिक्षा का माध्यम स्वीकार की गई हैं।

३ - शिल्प द्वारा शिक्षा—बेसिक शिक्षा में स्थानीय उद्योग अथवा दस्तकारी ही शिक्षा की धुरी है। इसके द्वारा ही अन्य की शिक्षा प्रदान करनी चाहिए। यह उद्योग यंत्रवत् नहीं, बल्कि वैज्ञानिक ढंग से, 'क्यों और कैसे' का ज्ञान कराते हुए सिखाया जाय और इसी प्रसंग में अन्य विषयों का ज्ञान प्राप्त करा दिया जाय। हस्तकला द्वारा बच्चों का सर्वाङ्गीण विकास—शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक-सम्भव होगा। यह शिल्प या दस्तकारी बालकों के स्थानीय वातावरण से ही चुना जाय क्योंकि बालक प्रारम्भ से ही इससे परिचित रहते हैं। आधुनिक शिक्षा-प्रणालियों में सभी इस बात को स्वीकार करते हैं कि प्राइमरी शिक्षा बच्चों की रचनात्मक प्रवृत्ति के अनुकूल क्रियात्मक पद्धति द्वारा ही होनी चाहिए। बेसिक योजना में उद्योग द्वारा शिक्षा प्रदान करते समय निम्नांकित बातों का ध्यान रखना चाहिए—

१—उद्योग की शिक्षा यंत्रवत् नहीं, वैज्ञानिक होनी चाहिए।

२—उद्योग ही शिक्षा की धुरी है। उसके द्वारा अन्य विषयों की शिक्षा देनी चाहिए।

३—यह उद्योग स्थानीय वातावरण से चुना जाय।

४—इस उद्योग द्वारा बालक के सर्वाङ्गीण विकास का प्रयत्न किया जाय।

४—शिक्षा स्वावलम्बी हो—शिक्षा प्रसार में सबसे बड़ी बाधा हमारे देश की निर्धनता थी। अतः इस बाधा को दूर करने के लिए बेसिक योजना में यह आवश्यक समझा गया कि शिक्षा के आधार रूप जो उद्योग चुना जाय, वह

---

1. "The foreign medium has prevented the growth of our vernaculars If I had the powers of a despot, I would today stop the tuition of our boys and girls through a foreign medium, and require all the teachers and professors on pain of dismissal to introduce the change forthwith." Young India, 1.9.21

उत्पादक हो अर्थात् उस उपार्जन से पाठशाला का खर्च चलाने में सहायता मिल सके। कम से कम शिक्षकों का वेतन निकल आए। बच्चे भी उद्योग में निपुण होंगे और शिक्षा प्राप्त करने के बाद आत्मनिर्भर बन सकेंगे।

इस सिद्धान्त का अनेक विद्वानों ने विरोध किया। उनका कहना था कि इसे मान लेने पर शिक्षकों एवं शिक्षा व्यवस्थाओं का ध्यान आर्थिक उत्पादन की ओर अधिक हो जायगा और उद्योग का शिक्षात्मक महत्त्व समाप्त हो जायगा। आज के जनतांत्रिक युग में यह बात सर्वमान्य-सी है कि प्राइमरी शिक्षा का व्यय राज्य की ओर से वहन किया जाय। अतः शिक्षा का व्यय बच्चों के श्रम से निकालने का प्रश्न नहीं उठना चाहिए। पर गाँधी जी बालक को आत्मनिर्भर और शिक्षा को स्वावलम्बी बनाने की दृष्टि से इस उपार्जन पर बल देते थे।

५—शारीरिक श्रम के प्रति सम्मान—उद्योग या शिल्प पर आधारित शिक्षा पर इस दृष्टि से भी गाँधी जी ने बल दिया कि इसके द्वारा बालकों को शारीरिक श्रम से अरुचि न होगी, बल्कि श्रम के प्रति सम्मान की भावना पैदा होगी। गाँधी जी ने लिखा कि अँग्रेजी शिक्षा ने हमें दो वर्गों में बाँट दिया है, सुसंस्कृत वर्ग जो शिक्षा प्राप्त कर केवल मानसिक कार्य करता है और दूसरा असंस्कृत वर्ग जो शिक्षा नहीं प्राप्त कर पाता और शारीरिक श्रम द्वारा आजीविका चलाता है। इस वर्ग को लोग हेय दृष्टि [illegible] ातक प्रवृत्ति है। उद्योग या शिल्प द्वारा [illegible] श्रम के प्रति प्रतिष्ठा की भावना का संचा[illegible]

६—सामाजिकता क[illegible] इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि [illegible] समाज की स्थापना चाहते थे जिसका मूल [illegible] की स्थापना सम्भव नहीं होगी यदि बालकों को समुचित शिक्षा की व्यवस्था न हो। बेसिक शिक्षा द्वारा बालकों का वैयक्तिक विकास इस प्रकार का होगा कि वे अपने जीवन में निःस्वार्थ, त्याग, सहयोग एवं परहित की भावना से अनुप्राणित होंगे और उनमें ऐसी सामाजिकता की भावना उद्बुद्ध होगी कि वे समता और बंधुत्व के आधार पर नवीन समाज की रचना करने में समर्थ होंगे।

बेसिक शिक्षा का पाठ्यक्रम

बेसिक शिक्षा में शिल्प केन्द्रीय विषय है और उससे सम्बन्धित करके अन्य विषयों की शिक्षा प्रदान की जाती है। पाठ्यक्रम में सामान्यतः निम्नांकित विषयों का समावेश किया गया है—

१—हस्त-शिल्प एवं कला—इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है। स्थानीय वातावरण से किसी एक उपयोगी शिल्प को चुना जाता है। इनमें कृषि, बागबानी, फल, साग-सब्जी, कताई-बुनाई, मिट्टी का काम, लकड़ी का काम, चमड़े का काम, मछली पालना आदि विशेष प्रचलित हैं। बालिकाओं के लिए गृह-विज्ञान उपयोगी शिल्प है। किन्तु हमें इन कार्यों को सीमित दृष्टि से नहीं अपनाना चाहिए। स्थानीय वातावरण के अनुकूल अन्य शिल्पों का भी चुनाव किया जा सकता है।

कला की दृष्टि से ड्राइंग, संगीत एवं नृत्य का चुनाव किया जाता है। पाँचवीं कक्षा के बाद बालिकाएँ सिलाई, कढ़ाई तथा गृह-विज्ञान सम्बन्धी उच्च पाठ्य-विषय लेती हैं।

हस्त शिल्प ही शिक्षा की धुरी है और इन्हें केन्द्र मानकर अन्य विषयों का ज्ञान प्रदान किया जाता है।

२—मातृभाषा

३—गणित

४—सामाजिक विषय (इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र) इनके द्वारा सामाजिक वातावरण से परिचित कराया जाता है। इतिहास द्वारा मानव-विकास की कहानी, नागरिकशास्त्र द्वारा नागरिकता एवं भूगोल द्वारा प्रकृति तथा वातावरण का ज्ञान प्रदान किया जाता है।

५—सामान्य विज्ञान—इसके अन्तर्गत वनस्पति शास्त्र, प्रकृति अध्ययन, प्राणि विज्ञान, रसायन शास्त्र की बातों को सामान्य परिचय और महान् वैज्ञानिकों एवं अन्वेषकों की कहानियाँ आदि। इनकी शिक्षा बालकों के उपयुक्त सामान्य स्तर पर प्रदान की जाती है।

६—शारीरिक शिक्षा एवं स्वास्थ्य विज्ञान

७—हिन्दी—अहिन्दी भाषाभाषी प्रदेशों में। हिन्दी भाषी प्रदेशों में कोई दूसरी राष्ट्रीय भाषा जैसे बंगला, गुजराती, मराठी, तमिल, मलयालम आदि में से।

शिक्षण विधि : समन्वय शिक्षण-प्रणाली

बेसिक शिक्षा प्रणाली में शिल्प को केन्द्रीय विषय मानकर अन्य विषयों की शिक्षा प्रदान की जाती है। आधुनिक सभी शिक्षण प्रणालियाँ प्राइमरी स्तर पर समन्वय अथवा अनुबन्ध शिक्षण प्रणाली पर बल देती हैं परन्तु केन्द्रीय विषय क्या हो, इसे लेकर विवाद उठ जाता है। प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री हरबार्ट ने

'इतिहास' को केन्द्रीय विषय मानकर सभी विषयों को उससे सम्बन्धित करते हुए शिक्षा प्रदान करने का मत प्रतिपादित किया था किन्तु इतिहास से गणित एवं विज्ञान का स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता और न अन्य विषयों का ही विस्तृत ज्ञान प्रदान कराया जा सकता है। अमेरिकन शिक्षाशास्त्री कर्नल पार्कर ने 'प्रकृति विज्ञान' को आधार मानकर अन्य विषयों को उससे समन्वित करने का मत प्रतिपादित किया पर इससे भी सभी विषय स्वाभाविक रूप से सम्बन्धित नहीं हो पाते। बेसिक योजना में ये अड़चनें नहीं हैं।

शिल्प एक ऐसा विषय है जिसके आधार पर हम अन्य सभी विषयों को शिक्षा स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित करते हुए प्रदान कर सकते हैं। कार्य सम्पादित करने के सिलसिले में अनेक समस्याएँ उपस्थित होती रहती हैं और उनसे सम्बन्धित ज्ञान प्रदान करने की आवश्यकता पड़ जाती है। उदाहरणतः 'कताई' के सिलसिले में सामाजिक विषय, भाषा, गणित और सामान्य विज्ञान आदि विषय सरलतापूर्वक सम्बन्धित हो जाते हैं। कताई का इतिहास, प्राचीन भारत में वस्त्र की स्थिति एवं विकास, कला, व्यापार, विदेशों से सम्बन्ध, सामाजिक रहन-सहन, वेश-भूषा आदि समस्याएँ इतिहास एवं नागरिक शास्त्र के अन्तर्गत आ जाती हैं। कपास की पैदावार, उसके लिए उपयुक्त जलवायु, मिट्टी, रूई का व्यापार, आयात-निर्यात, यातायात के साधन आदि पाठ भूगोल के अन्तर्गत आ जाते हैं। कताई-बुनाई की कला सम्बन्धी अनेक कहानियाँ, कविताएँ एवं निबन्ध आदि द्वारा भाषा का ज्ञान कराया जाता है। कपास की खेती तथा वस्त्र के उद्योग के लिए उपयुक्त जलवायु आदि के प्रसंग में सामान्य विज्ञान की शिक्षा दी जा सकती है। तकली और चरखा बनाने की कारीगरी एवं अन्य हुनर भी इसी प्रकार सम्बधित करके पढ़ाए जा सकेंगे। गणित का ज्ञान भी स्वाभाविक रूप में दिया जा सकता है। सूत का नम्बर, तौल, परिमाण, रूई और सूत का अनुपात, क्रय-विक्रय आदि बातें गणित के अन्तर्गत सिखाई जायँगी। इस प्रकार कृषि, उद्यान आदि को भी आधार मानकर पाठ्य-विषयों का ज्ञान प्रदान किया जा सकता है।

जिन विषयों या प्रकरणों को शिक्षक स्वाभाविक रूप से चुने हुए शिल्प के आधार पर यदि नहीं पढ़ा सकता तो उसे अन्य प्रकार से रोचक बनाकर पढ़ा दिया जाता है। कृत्रिम समन्वय स्थापित करना ठीक नहीं है।

इस प्रणाली द्वारा ८ वर्ष की शिक्षा में बालक को शिल्प का इतना अच्छा ज्ञान हो जाना चाहिए कि वह उसके द्वारा जीविकोपार्जन कर सके। अतः शिल्प की शिक्षा बहुत पक्की होनी चाहिए।

बेसिक शिक्षा की विशेषताएँ

शिक्षा विशेषज्ञों की सम्मति में वही शिक्षा प्रणाली उत्तम मानी जाती है जो बच्चों के शिक्षण एवं विकास के लिए मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उचित हो, उसके वैयक्तिक एवं सामाजिक गुणों को उन्नत करे और राष्ट्र की आवश्यकताओं को पूरा करे। इस दृष्टि से बेसिक शिक्षा प्रणाली विशेष उपयोगी सिद्ध होती है।

१—मनोवैज्ञानिक आधार—इस शिक्षा प्रणाली में पाठ्य विषयों का ज्ञान किसी उपयुक्त हस्तकला या उद्योग द्वारा कराया जाता है जिससे बच्चे की क्रियात्मक शक्ति के विकास का पूरा अवसर मिलता है। उद्योग के द्वारा बच्चे की रचनात्मक प्रवृत्ति विकसित होती है। बालक का स्वाभाविक विकास 'कार्य' द्वारा होता है। 'करके सीखना' ही स्थायी ज्ञान का साधन है। कार्य पूरा करने में स्वयं प्रयत्नशील एवं संलग्नशील बने रहते हैं।

"मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह प्रणाली इसलिए उपयुक्त है कि इस प्रणाली में बालक विशुद्ध शास्त्रीय एवं सैद्धान्तिक शिक्षा के आतंक से जिसका विरोध उसकी क्रियात्मक प्रकृति सदा करती रही है, मुक्त हो जाता है। यह शिक्षा बालक को बौद्धिक एवं व्यावहारिक दोनों प्रकार के अनुभव प्रदान करती है और शरीर तथा मस्तिष्क दोनों के सन्तुलित विकास का मार्ग प्रशस्त करती है।"[1] बालक इस शिक्षा द्वारा केवल लिखी हुई बातें पढ़ना नहीं सीखता, बल्कि वह किसी रचनात्मक कार्य के लिए अपने हाथ और बुद्धि का प्रयोग करना सीखता है। इस प्रणाली द्वारा उसके संपूर्ण व्यक्तित्व का प्रशिक्षण होता है।

बालक का विविध शक्तियों का स्वाभाविक विकास और स्वयं ज्ञानार्जन की प्रवृत्ति पैदा कर देना ही शिक्षा का मनोवैज्ञानिक आधार है। हम इस प्रणाली में देखते हैं कि—

१—बेसिक शिक्षा-प्रणाली में बालक ही शिक्षा का केन्द्र है।

२—पाठ्य विषयों का ज्ञान किसी 'उद्योग' या 'हस्तकला' द्वारा प्रदान किया जाता है।

३—बालक की रचनात्मक प्रवृत्ति तथा अन्य स्वाभाविक प्रवृत्तियों को विकसित होने का अवसर मिलता है।

---

1. "Psychologically, it is desirable, because it relieves the child from the tyranny of a pure academic and theoretical instruction against which its active nature is always making a healthy protest. It balances the intellectual and practical elements of experience, and may be made an instrument of educating the body and mind in co-ordination."

—Educational Reconstruction, P. 121

४—ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति का विकास।

५—स्वतंत्रता, रुचि एवं स्वयं प्रयत्न का अवसर।

६—बालक का स्वाभाविक विकास।

इन कारणों से यह शिक्षा-प्रणाली मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ठीक सिद्ध होती है।

२—आर्थिक आधार—हमारे देश की वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह था कि बालक शिक्षा पाने के बाद केवल नौकरी के लिए ही लालायित रहता था और नौकरी न पाने पर वह बेकार हो जाता था। इस बेकारी की समस्या से राष्ट्र की आर्थिक समस्या और विकट हो गयी है। किन्तु बेसिक शिक्षा-प्रणाली से बच्चा किसी न किसी उद्योग शिल्प में प्रवीण होगा और आगे चलकर वह स्वावलम्बी बन सकेगा। अब तक प्रचलित शिक्षा-प्रणाली हमें 'उद्योग' से भगाती थी, पर बेसिक शिक्षा-प्रणाली हमें उद्योगी बनाने की क्षमता, योग्यता और निर्भीकता प्रदान करती है।

इसके द्वारा स्वतंत्र जीविकोपार्जन की प्रवृत्ति पैदा होती है। उद्योग की शिक्षा वैज्ञानिक ढंग से होने के कारण बच्चों में अन्वेषण की प्रवृत्ति जागती है। इससे वे आविष्कारक एवं विज्ञानवेत्ता बनेंगे और तभी हमारे देश की आर्थिक उन्नति होगी। उद्योग, कृषि, व्यापार के प्रति उनमें रुचि पैदा होगी। अतः बुनियादी शिक्षा बालक को स्वावलम्बी, आत्मनिर्भर बनाती है और उन्हें पूरे राष्ट्र का आर्थिक विकास करने तथा वैज्ञानिक, अन्वेषक और कला-विशेषज्ञ बनने की प्रेरणा प्रदान करती है।

३—सामाजिक आधार—बालक के सामाजिक गुणों का उत्कर्ष केवल पुस्तकीय सैद्धान्तिक प्रवचन मात्र से नहीं हो सकता, बल्कि व्यावहारिक जीवन में उन गुणों को अपनाने और उन पर आचरण करने से ही ये गुण संवृद्ध हो सकते हैं। बेसिक शिक्षा-प्रणाली में 'कार्य' द्वारा शिक्षा प्रदान करने से यह व्यावहारिकता और यह आचरण स्वभावतः अपना लिए जाते हैं। सामूहिक सहयोग और सेवा का महत्त्व बालक को भलीभाँति मालूम हो जाता है। वे स्वयं अपने जीवन में सामाजिक गुणों की उपयोगिता देखते हैं और अनुकरण करने लगते हैं। इस प्रकार वे एक योग्य नागरिक बनते हैं।

'उद्योग' द्वारा शिक्षा प्राप्त करने से बच्चों में आत्मसंयम, आज्ञापालन, उत्तरदायित्व, सहिष्णुता, सहयोग आदि गुण पैदा होते हैं और आगे चलकर सामाजिक उन्नति के लिए वे प्रयत्नशील होते हैं।

४—**विकलांग बालकों के लिए उपयोगिता**—उद्योग द्वारा शिक्षा प्रदान करने से शारीरिक विकार वाले लूले-लँगड़े, बहरे तथा गूँगे आदि व्यक्ति भी समाज का भार बनकर नहीं रहते, अपितु किसी न किसी उद्योग में लगकर स्वतंत्र आजीविका चला लेते हैं।

५—**बालक का सर्वांगीण विकास**—गाँधीजी के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बालक में निहित अन्तःशक्ति एवं सौन्दर्य का पूर्ण विकास (शारीरिक, मानसिक और नैतिक) है। यह विकास वर्तमान प्रचलित निर्जीव शिक्षा-प्रणाली से सम्भव नहीं था। बुनियादी शिक्षा-प्रणाली में 'कार्य' द्वारा शिक्षा प्राप्त करने में शारीरिक श्रम होता है, अतः शारीरिक अंग पुष्ट होते हैं। स्वयं विचार करने एवं अनुभव द्वारा ज्ञान प्राप्त करने से बौद्धिक विकास होता है, 'उद्योग' में संलग्न रहने से उनमें सहयोग आदि सामाजिक भाव पैदा होते हैं। अतः व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण, शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक और कलात्मक विकास इसी शिक्षा-प्रणाली से संभव है।[1]

क—**शारीरिक विकास**—स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क और स्वस्थ चित्त का निर्माण सम्भव है, पर हमारी वर्तमान शिक्षा में शारीरिक विकास के लिए कोई स्थान ही नहीं। गाँधीजी ने लिखा है कि "मुझे इस तरह के प्रमाण मिलते हैं कि स्कूल और कालेज से उत्तीर्ण छात्र शारीरिक श्रम कर ही नहीं सकते, थोड़े परिश्रम से उन्हें चक्कर आने लगता है। आश्चर्य तो यह है कि ऐसी स्थिति स्वाभाविक तथा गर्व की वस्तु मानी जाती है, पर यह वस्तुतः कितनी दयनीय है।···यदि हम यह अनुभव कर लें कि शरीर का निर्माण राष्ट्र का निर्माण है तो तुरन्त इस योजना की सार्थकता समझ में आ जायगी।" अतः उद्योग के द्वारा बच्चों का शारीरिक श्रम स्वतः हो जाता है और उनका शारीरिक गठन ठीक रहता है।

ख—**बौद्धिक विकास**—उद्योग या शिल्प के द्वारा बच्चों का ज्ञान व्यावहारिक होता है; वस्तुज्ञान, उनके प्रयोग एवं अनुसंधान में उनकी रुचि

"1. "Experience has taught us now that in order to develop the whole personality of the student education through manual work is essential. So far we have used the tongue and the ear for the evolution of mind and the heart. Eyes also have been used more for cramming than observation. But now we should realise that the true development of the mind and the heart can only be through manual labour."

—Education Reconstruction, P. 78

बढ़ती है और विभिन्न मानसिक शक्तियों को विकसित होने का अवसर मिलता है; जैसे—

१—वस्तुओं के निरीक्षण एवं सूक्ष्म विवेचन-शक्ति का प्रयोग।

२—कल्पना-शक्ति का प्रयोग, नवीन योजनाओं पर विचार और उनका कार्यान्वय।

३—रचनात्मक तथा निर्माणकारी शक्तियों का प्रयोग।

४—तर्क-शक्ति, विचार-शक्ति और निर्णय-शक्ति का प्रयोग तथा विकास।

५—आरम्भ-शक्ति तथा शोध-शक्ति का विकास।

६—भावाभिव्यक्ति की शक्ति का विकास।

७—शारीरिक तथा मानसिक प्रयत्नों का समन्वय एवं योग।

ग—**नैतिक विकास**—इस शिक्षा-प्रणाली में मौखिक उपदेशों का स्थान नगण्य-सा है। 'कार्य' ही शिक्षा का आधार है, अतः कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए बालक में अनेक गुण अपने आप विकसित हो जाते हैं, अन्यथा वह 'उद्योग' संलग्न हो ही नहीं सकता। ये गुण निम्नलिखित हैं—

१—कार्य-संलग्नता, तत्परता और तन्मयता की शक्ति।

२—कार्य द्वारा अपनी त्रुटियों को समझना और उसे सुधारने की शक्ति।

३—कर्तव्यपरायण और आत्मशोधन की प्रवृत्ति।

४—सामूहिक भावों की वृद्धि, सहयोग, सौहार्द, सहानुभूति का विकास।

५—आत्मसम्मान और आत्मविश्वास का भाव।

६—त्याग, प्रेम, बलिदान, धैर्य, सहिष्णुता आदि गुणों की वृद्धि।

७—मिथ्याभिमान का तिरोभाव, क्योंकि कार्य स्वतः ही प्रमाण रहता है।

घ—**कलात्मक तथा सौन्दर्यानुभव-प्रवणता**—शिल्प द्वारा शिक्षा प्रदान करने में बच्चे स्वयं ही जिस वस्तु का निर्माण करते हैं, उसे सुन्दर बनाने और सजाने का उपक्रम करते हैं और इस प्रकार सौन्दर्य भाव-प्रकाशन की शक्ति बढ़ती है और कलात्मक भावों की वृद्धि होती है। उनमें सौन्दर्यानुभूति की शक्ति जागती है और तदनुकूल वे कार्य करने का प्रयत्न करते हैं।

इस प्रकार बच्चे का शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक और कलात्मक गुणों का उत्कर्ष बेसिक शिक्षा-प्रणाली से सम्भव है।

६—**श्रम की महत्ता**—उद्योग द्वारा शिक्षा प्राप्त करने से बालक श्रम का महत्त्व भलीभाँति जान जाते हैं। आधुनिक शिक्षा ने श्रम के प्रति तिरस्कार

की भावना पैदा कर दी है और इस कारण सामाजिक विभेद भी पैदा हो गया है। अतः श्रम की प्रतिष्ठा से सामाजिक एकता भी पैदा होगी।[1]

७—स्कूल के जीवन तथा बच्चे के गृह एवं सामाजिक जीवन के साथ सामंजस्य की स्थापना—जिस शिक्षा-प्रणाली का सम्बन्ध बालक के जीवन से नहीं रहता वह शिक्षा भार के समान हो जाती है। अतः बालक के बाह्य वातावरण से उसके स्कूल के वातावरण का सामंजस्य आवश्यक है। यह सामंजस्य बेसिक शिक्षा-प्रणाली द्वारा पूर्ण सम्भव है। शिक्षा का अर्थ केवल किताबी ज्ञान नहीं है, बल्कि सच्ची शिक्षा वह है जिसका प्रयोग दैनिक जीवन में हो सके। अतः व्यावहारिकता शिक्षा का प्राण है। उद्योग द्वारा शिक्षा प्रदान करने से बालक का व्यावहारिक ज्ञान बढ़ता है और वे स्कूल के जीवन में एक आनन्द का अनुभव करते हैं।

८—समन्वय की विशेषता—बेसिक शिक्षा-प्रणाली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि किसी उपयुक्त हस्तकला के ही माध्यम से शिक्षा प्रदान की जाती है और सभी पाठ्य विषय परस्पर सम्बन्धित रहते हैं। इसे ही शिक्षा में समन्वय तथा सानुबन्ध-प्रणाली कहते हैं। 'उद्योग-पूर्ति' के प्रसंग में स्वाभाविक रीति से जो समस्या उठती है उसी से सम्बन्धित पाठ्य विषय पढ़ाया जाता है। इससे समस्याओं के प्रति बालक में एक जिज्ञासा की भावना जागती है और वे उसके समाधान में लग जाते हैं। उदाहरणतः यदि हम 'कताई' के द्वारा शिक्षा प्रदान करना चाहते हैं तो उसके आधार पर अनेक समस्यायें उठ सकती हैं—रुई, रुई पैदा होने के स्थान, वस्त्र का विकास, कपड़ा बुनने की कला, हमारे देश में रुई का उत्पादन, वस्त्र की विविध वेश-भूषा, इतिहास, रुई के लिए कैसी मिट्टी चाहिए, आदि विषय प्रस्तुत होंगे और इनके द्वारा यह समन्वय-प्रणाली बेसिक शिक्षा का आधार-भूत तत्त्व है। इसके अभाव में उद्योग एक पृथक् पाठ्य विषय मात्र रह जायगा और उसका शैक्षणिक महत्त्व समाप्त हो जायगा।

इस पद्धति में अध्यापक की योग्यता और कुशलता इस बात में है कि वह अधिक से अधिक पाठ्य विषयों को उद्योग से सम्बन्धित करके शिक्षा प्रदान करे। उदाहरणतः 'कताई' का उद्योग लें तो उसी से भाषा, सामाजिक विषय, गणित और सामान्य विज्ञान आदि की शिक्षा दी जायगी।

---

1. ',Socially considered, the introduction of such practical productive work in education, to be participated in by all the children of the nation, will tend to break down the existing barriers of prejudcial between manual and intellectual workers, harmful alike for both."

—Educational Reconstruction, P. 121

६—ग्राम्य शिक्षा-समस्यायें तथा बेसिक शिक्षा—हमारे देश की ८० प्रतिशत जनसंख्या गाँवों में बसती है जो अधिकतर अशिक्षित और निरक्षर है। स्वतन्त्र भारत के लिए यह लज्जास्पद-सी बात है। गाँवों की इस अशिक्षा को दूर करने में अनेक समस्यायें उठ खड़ी होती हैं, जिनके समाधान के बिना हम शिक्षा का प्रचार गाँवों में कर ही नहीं सकते। ये समस्यायें कई प्रकार की हैं :—

१—आर्थिक अभाव—आर्थिक अभाव के कारण ही अधिकांश ग्रामीण जनता शिक्षा से वंचित रह जाती है, पर बेसिक शिक्षा में अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था है और साथ ही 'उद्योग' द्वारा उपार्जन होने से आर्थिक कठिनाई भी थोड़ी-बहुत दूर हो सकेगी।

२—माता-पिता का सहयोग—आज गाँवों में स्कूल रहने पर भी सभी बालक पढ़ने नहीं जाते, इसका कारण यह भी है कि माँ-बाप का इस शिक्षा से असहयोग-सा रहता है। वे बच्चों से गार्हस्थिक कार्य लेने लगते हैं और स्कूल की शिक्षा को व्यर्थ समझते हैं। बेसिक शिक्षा के प्रचार से यह मनोवृत्ति दूर होगी और बच्चे जब किसी कला या शिल्प में प्रवीण होकर जीविकोपार्जन में सफल होंगे तो अपने आप ही माँ-बाप बालक की शिक्षा की सार्थकता समझ जायेंगे।

३—जीवन से स्कूल का पार्थक्य—अब तक की शिक्षा से बालक ग्रामीण जीवन से नफरत करने लगता था और व्यक्तिगत ठाठ-बाट पर ध्यान देने लगता था। ग्रामीण वातावरण में उसका मन नहीं लगता था। अतः वह ग्रामीण जीवन में रहकर उसके विकास और उन्नति का प्रयत्न ही नहीं करता था। बेसिक शिक्षा द्वारा उसमें ग्रामीण जीवन को उन्नत करने की भावना जागेगी।

४—व्यावहारिक ज्ञान का अभाव तथा शिक्षा का एकांगी होना—यह बताया जा चुका है कि बेसिक शिक्षा द्वारा व्यावहारिक ज्ञान बढ़ता है और शिक्षा की एकांगिता दूर होती है। अभी तक केवल किताबी शिक्षा ही प्रदान की जाती थी, पर अब उद्योग द्वारा बच्चों के सर्वाङ्गीण विकास का प्रयत्न होगा।

५—बालिकाओं की शिक्षा—प्रचलित शिक्षा से गाँवों में बालिकाओं की शिक्षा ठीक नहीं हो पाती थी और न वह जीवनोपयोगी सिद्ध होती थी। बेसिक शिक्षा में सहशिक्षा के लिए स्थान है और बालिकाओं के लिए उपयोगी विषय—गृह-विज्ञान, पाकशास्त्र, सीना-पिरोना आदि सिखाये जाते हैं।

बालिकाओं की शिक्षा से आगे चलकर प्राइमरी शिक्षा के लिए अच्छी अध्यापिकाएँ भी सुलभ होंगी और उनके द्वारा प्राइमरी कक्षाओं में बालकों की शिक्षा भी अधिक स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रदान की जा सकेगी।

बेसिक शिक्षा-प्रणाली की आलोचना

आलोचकों ने बेसिक शिक्षा-प्रणाली में अनेक दोष दिखलाये हैं जो निम्न-लिखित हैं :—

१—शिक्षा की अपेक्षा उपार्जन पर अधिक जोर—उद्योग द्वारा शिक्षा प्रदान करने तथा उसके उत्पादन द्वारा अध्यापकों के वेतन और स्कूल का व्यय चलाने के सिद्धान्त से स्कूल एक व्यावसायिक संस्था बन जायगा और अध्यापकों का ध्यान उपार्जन की ओर अधिक रहेगा तथा शिक्षा की ओर कम। इससे शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य ही समाप्त हो जायगा।

२—छात्रों द्वारा निर्मित वस्तुओं एवं सामग्रियों का अपव्यय—प्राइमरी कक्षा के छात्रों द्वारा बनी हुई वस्तुएँ न तो सुन्दर ही होती हैं और न उपयोगी ही, अतः उत्पादन की दृष्टि से भी उनका महत्त्व नहीं रह जाता और आर्थिक स्वावलम्बन की बात व्यावहारिक नहीं है।

३—असन्तुलित पाठ्यक्रम—बेसिक प्रणाली में बालक की अपेक्षा उद्योग को अधिक प्रधानता मिल जाती है। वर्धा में जो योजना कार्यान्वित की गई है उसमें साढ़े पाँच घन्टे में ३ घन्टा २० मिनट उद्योग के लिए रक्खा गया है। इससे बालक केवल धंधे में ही लगे रह जाते हैं और जीवन के अन्य क्षेत्रों का उन्हें ज्ञान नहीं हो पाता।

४—पाठ्य विषयों की अवहेलना—यद्यपि उद्योग को केन्द्र मानकर अन्य विषयों की शिक्षा प्रदान करने की योजना इस प्रणाली में की गई है, पर वे विषय गौण हो जाते हैं और उनकी पर्याप्त शिक्षा नहीं हो पाती।

५—समन्वय की अस्वाभाविकता—उद्योग के आधार पर अन्य विषयों को सम्बन्धित करके पढ़ाने की प्रणाली उत्तम अवश्य है, किन्तु यह सम्बन्ध स्वाभाविक होना चाहिए। बेसिक शिक्षा-प्रणाली में व्यवहारतः ऐसा नहीं हो पाता और जबर्दस्ती यह समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है।

६—औद्योगिक विकास में बाधा—इस प्रणाली में उद्योग की शिक्षा में कुछ प्रवीणता भले ही बालक को प्राप्त हो जाय, किन्तु इस प्रणाली के

प्रतिपादकों ने गृह-उद्योग-धंधों को ही दृष्टि में रखकर उद्योग को शिक्षा का केन्द्र माना है। आधुनिक वैज्ञानिक युग में उन्नत यांत्रिक उद्योगों के सामने ये गृह-उद्योग प्रतियोगिता में नहीं टिक पाते हैं। अतः आधुनिक युग में केवल कुटीर-उद्योग से कोई विशेष लाभ होने की आशा नहीं है।

इन आलोचनाओं के अतिरिक्त कुछ लोगों का यह भी कथन है कि इस प्रणाली में धार्मिक शिक्षा का कोई स्थान नहीं। किन्तु यह विरोध अब व्यर्थ है। मनुष्य का वास्तविक धर्म उसका कर्त्तव्य और नैतिक गुणों का उत्कर्ष है जो इस प्रणाली में निहित है। उपरोक्त आलोचनाओं का उत्तर भी बेसिक शिक्षा के प्रतिपादकों ने दिया है और उनमें बहुत कुछ सच्चाई भी है।

मूल बेसिक शिक्षा-प्रणाली और उत्तर प्रदेश की बेसिक शिक्षा

मूल बुनियादी शिक्षा के सम्बन्ध में कई विद्वानों ने आलोचनायें की हैं और इसी कारण उसमें कुछ परिवर्तन की भी आवश्यकता पड़ी। १९३७ में बुनियादी शिक्षा-योजना को कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने अपने-अपने प्रान्त में लागू किया। हमारा उत्तर प्रदेश इस दिशा में सबसे अग्रणी रहा। प्राइमरी तथा माध्यमिक शिक्षा-प्रसार की दृष्टि से आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त हुई। इस समिति की प्राइमरी शिक्षा सम्बन्धी योजना का आधार मूल वर्धा शिक्षा-योजना ही था, किन्तु उसमें कुछ आवश्यक परिवर्तन भी किया गया था।

इस समिति ने मूल बुनियादी शिक्षा की ३ बातें तो पूर्णतः स्वीकार कीं, यथा—१—सात वर्ष के लिए अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा, २—कार्य तथा उद्योग द्वारा शिक्षा, ३—शिक्षा का माध्यम मातृभाषा, किन्तु चौथा सिद्धान्त—कि उद्योग उत्पादक हो और उसके उपार्जन से स्कूल का व्यय या अध्यापक का वेतन व्यय अवश्य प्राप्त हो जाय—इस समिति ने नहीं माना। इससे शिक्षा का ध्येय उत्पादन की ओर अधिक और शिक्षा की ओर कम हो जाता।

आचार्य नरेन्द्रदेव समिति ने अपना विवरण ४ अगस्त १९३९ को समर्पित किया और उसके सुझावों को ध्यान में रखकर हमारे प्रान्त में बेसिक शिक्षा अपनायी गयी। मूल बुनियादी शिक्षा से जो परिवर्तन और नवीनताएँ इसमें थीं, वे इस प्रकार हैं :—

१—मूल योजना में उद्योग के उत्पादन और स्कूल के व्यय में हाथ बँटाने की बात मुख्य रूप से मानी गई थी, पर हमारे प्रान्त में 'उद्योग' के शिक्षा सम्बन्धी महत्त्व को प्रधानता दी गई, उपार्जन पर जोर नहीं दिया गया। शिक्षा का व्यय राज्य पर ही रहेगा।

२—मूल योजना में उपार्जन की प्रमुखता के कारण 'उद्योग' (क्राफ्ट) के लिए ३ घंटे २० मिनट का समय निर्धारित किया गया है, पर हमारे यहाँ स्कूल के समय का तिहाई भाग ही इसके लिए रक्खा गया।

३—मूल योजना में पाठ्यक्रम की व्यवस्था हाई स्कूलों के पाठ्यक्रम को दृष्टि में रखकर नहीं की गई, पर हमारे यहाँ बेसिक स्कूलों के अन्तिम दो वर्षों का पाठ्यक्रम हाई स्कूलों की सातवीं-आठवीं कक्षा के अनुरूप ही रक्खा गया ताकि बालक को आगे अध्ययन करने में सुविधा हो।

४—मूल योजना में 'उद्योग' में केवल 'क्राफ्ट' अर्थात् शिल्प की ही व्यवस्था की गई थी, उसमें 'आर्ट' अर्थात् कला के लिए स्थान नहीं था। हमारे यहाँ 'कला' को भी क्राफ्ट की भाँति ही शिक्षा में स्थान मिला। चित्र, नृत्य और संगीत इसी दृष्टि से पाठ्यक्रम में रक्खे गये।

५—मूल योजना में स्वीकृत 'क्राफ्ट' केवल 'कताई' तक ही सीमित था, पर हमारे यहाँ पुस्तक-कला, चमड़े का काम, मिट्टी का काम, गृहविज्ञान तथा कृषि को भी स्थान मिला।

इन परिवर्तनों के साथ हमारे प्रान्त में बेसिक शिक्षा-प्रणाली अपनायी गई और अब उसकी यथेष्ट प्रगति हो चुकी। इन परिवर्तनों से बेसिक शिक्षा की जो आलोचनायें की जाती थीं, उनका भी समाधान हो जाता है और मूल बुनियादी शिक्षा-योजना से कोई तात्त्विक भेद भी नहीं हुआ है।

बेसिक शिक्षा तथा अन्य शैक्षिक विचारधाराएँ

१—आदर्शवादी शैक्षिक विचारधारा एवं बेसिक शिक्षा—आदर्शवादी विचारकों के अनुसार चेतना अथवा आध्यात्मिकता ही सत्य है। वे मानव-प्रकृति को भौतिक नहीं, बल्कि मानसिक एवं आध्यात्मिक मानते हैं अतः शिक्षा का उद्देश्य इस अध्यात्म तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना है। गाँधी जी भी इसी विचार के प्रतिपादक थे। उन्होंने शिक्षा का उद्देश्य 'आत्मज्ञान' माना है। आदर्शवादी शिक्षा विचारकों का मत है कि संस्कृति, कला, धर्म एवं नीति की शिक्षा द्वारा हम 'परमसत्य' अथवा यथार्थ की अनुभूति प्राप्त करते हैं। इस ज्ञान अथवा अनुभूति के लिए सर्वाङ्गीण, समन्वित एवं सन्तुलित व्यक्तित्व का विकास आवश्यक है। शारीरिक शिक्षा भी आवश्यक है क्योंकि स्वस्थ शारीरिक विकास के बिना सर्वाङ्गीण विकास सम्भव नहीं। इस पृष्ठभूमि में देखा जाय तो गाँधी जी का शैक्षिक दर्शन, जिस पर बेसिक शिक्षा आधारित है, आदर्शवादी विचारधारा के अनुकूल है। उन्होंने लिखा है कि दक्षिण अफ्रीका में "टालस्टाय फार्म में बच्चों

की शिक्षा प्रारम्भ करने पर मुझे अनुभव हुआ कि 'आत्म प्रशिक्षण' स्वतः एक लक्ष्य है। आत्मविकास का अर्थ है चरित्र-निर्माण और आत्मानुभूति एवं परमात्मज्ञान के लिए प्रयत्न करना। मैं इसे बच्चों की शिक्षा का आवश्यक अंग मानता हूँ। इस आत्मसंस्कार के अभाव में संपूर्ण शिक्षा व्यर्थ है।"

२—प्रकृतिवादी शिक्षा एवं बेसिक शिक्षा—प्रकृतिवाद किसी विश्व-चेतना अथवा परमात्म शक्ति को नहीं स्वीकार करता। वह विश्व की घटनाओं को एक प्राकृतिक विधान मानता है। उसके अनुसार मनुष्य भी एक यन्त्र मात्र है। इस विचारधारा से गाँधी जी के दर्शन का कोई मेल नहीं है क्योंकि गाँधी जी एक आध्यात्मवादी विचारक थे और मनुष्य को ऐसी चेतना सम्पन्न प्राणी मानते हैं जो आत्मबोध एवं ईश्वर ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ है।

इस विरोध के रहते हुए भी प्रकृतिवाद शिक्षा के स्वरूप को जिस प्रकार संगठित करना चाहता है, उससे गाँधी जी का बहुत कुछ मेल है। प्रकृतिवादी विचारक यह मानते हैं कि बालक प्रकृत्या सात्त्विक प्रवृत्ति का होता है और उन प्रवृत्तियों का स्वाभाविक विकास ही सच्ची शिक्षा है। गाँधी जी इस विचार से सहमत थे।

प्रकृतिवाद ने शिक्षा में इस बात पर बल दिया कि बालक ही शिक्षा का केन्द्र है। बालक की शिक्षा में उसके वास्तविक जीवन एवं परिस्थितियों का ध्यान रखना चाहिए। विद्यालय का वातावरण ऐसा होना चाहिए जिससे बालक का स्वाभाविक विकास सम्भव हो सके। इस विचारधारा ने 'प्रकृति की ओर लौटो' का नारा दिया जिसके फलस्वरूप सरल एवं स्वाभाविक जीवन की शिक्षा में आवश्यक माना गया। शिक्षा बालक के प्राकृतिक विकास का साधन है। बालक की प्रकृति, शक्ति एवं मनोवृत्ति को स्वतन्त्र रूप से विकास का अवसर प्रदान करना ही सच्ची शिक्षा है। प्रकृतिवाद ने शिक्षक, पुस्तक, विद्यालय अथवा पाठ्य विषय आदि की अपेक्षा शिक्षार्थी को प्रमुख स्थान प्रदान किया। इन सभी बातों को गाँधी जी ने भी शिक्षा में महत्त्व प्रदान किया।

कुछ आलोचकों का कहना है कि गाँधी जी की शिक्षा योजना शिल्प केन्द्रित है अतः प्रकृतिवादी बाल केन्द्रित शिक्षा योजना से वह भिन्न है। पर यह सोचना निरा भ्रम है क्योंकि बेसिक शिक्षा में शिल्प को पाठ्य विषयों के संगठन में केन्द्रीय स्थान प्राप्त है। उसे बालक का स्थान कैसे दिया जा सकता है। शिल्प की शिक्षा बालक के विकास एवं उसकी ज्ञान प्राप्ति का साधन मात्र है, वह साध्य नहीं है। गाँधी जी भी बालक को ही केन्द्रीय स्थान प्रदान करते हैं और उसके सर्वाङ्गीण विकास के लिए शिल्प द्वारा शिक्षा योजना का प्रतिपादन

करते हैं। डा० जाकिर हुसेन ने सत्य ही लिखा है कि जो शिक्षा बालक की क्रिया, उद्योग एवं उसके भौतिक तथा सामाजिक वातावरण के अध्ययन पर आधारित है वह किस प्रकार बाल केन्द्रित नहीं है?

अतः बालक को शिक्षा का केन्द्र बनाने, उसकी अन्तः शक्तियों को स्वतंत्र एवं स्वाभाविक रूप से विकसित करने की दृष्टि से गाँधी जी प्रकृतिवाद के साथ हैं पर उन्हें हम उग्र प्रकृतिवादी नहीं कह सकते। वे रूसो की भाँति बालक को मनुष्य एवं समाज के प्रभाव से दूर रखकर शिक्षा देने के पक्ष में नहीं हैं और न उस सीमा तक बालक को स्वतंत्रता देने के पक्ष में हैं जिसे हम स्वच्छंदता[1] कहते हैं। गाँधी जी अनुशासन को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं। उनका कथन है कि "यदि बालक विद्यार्थी-जीवन में अनुशासन नहीं सीखते हैं तो उनकी शिक्षा व्यर्थ है।" गाँधी जी बालक को स्वतंत्रता देने के पक्ष में हैं पर इस स्वतंत्रता के साथ-साथ अनुशासन भी आवश्यक है। "बालकों को आत्मबोध के लिए पर्याप्त स्वतंत्रता प्रदान करनी चाहिए किन्तु साथ ही साथ उनकी शक्तियों के पूर्ण विकास के लिए उचित अनुशासन और प्रशिक्षण की भी आवश्यकता है।"

प्रयोजनवाद और बेसिक शिक्षा—प्रकृतिवाद की ही भाँति प्रयोजनवादी दर्शन से भी गाँधी जी का विचार-दर्शन नहीं मिलता। प्रयोजनवाद किसी शाश्वत सत्य में विश्वास नहीं करता। उसके अनुसार सत्य भी देश, काल, परिस्थिति एवं आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तनशील है। प्रयोजनवादी विचारक सत्य के प्रति भी उपयोगितावादी दृष्टिकोण रखते हैं। किसी कार्य, वस्तु अथवा विचार की सफलता एवं उपयोगिता ही उसकी उत्तमता की कसौटी है।

इस प्रयोजनवादी दृष्टिकोण से गाँधी जी का दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न है। गाँधी जी शाश्वत सत्य में विश्वास करते हैं। उनके लिए सत्य ही ईश्वर है जो शाश्वत है और उसकी प्राप्ति का एक मात्र साधन अहिंसा है। गाँधी जी साध्य के साथ-साथ साधन को भी उत्तम रखना चाहते हैं।

इस दार्शनिक मतभेद के होते हुए भी प्रयोजनवादी दर्शन पर आधारित प्रोजेक्ट प्रणाली और गाँधी जी द्वारा प्रवर्तित बेसिक शिक्षा प्रणाली में अनेक समानताएँ हैं। प्रोजेक्ट प्रणाली में यह माना जाता है कि वास्तविक जीवन परिस्थितियों में रखकर समस्यात्मक क्रिया के माध्यम से बालक को सीखने का अवसर प्रदान करना ही सच्ची शिक्षा है। 'करके सीखना' प्रोजेक्ट प्रणाली का मूल सिद्धान्त है। रचनात्मक क्रिया एवं प्रयोग शिक्षा प्राप्ति के साधन हैं।

---

1. Licence.

पुस्तकीय शिक्षा को प्रोजेक्ट प्रणाली में कोई प्रश्रय नहीं दिया जाता। ये सभी बातें बेसिक शिक्षा में भी मान्य हैं। शिल्प या उपयोगी उद्योगों को पाठ्य विषयों में केन्द्रीय स्थान प्रदान कर बालक की क्रियात्मक शक्ति को उद्भासित करने और उसे स्वयं प्रयत्न द्वारा ज्ञानार्जन का अवसर बेसिक प्रणाली में भी प्रदान किया जाता है।

क्रियात्मक शिक्षा की दृष्टि से बेसिक शिक्षा के 'शिल्प' एवं प्रोजेक्ट प्रणाली के 'समस्यात्मक कार्य' (प्रोजेक्ट) में एक स्पष्ट अन्तर है। प्रोजेक्ट प्रणाली में समस्यात्मक कार्य का क्षेत्र बहुत व्यापक है जब कि गाँधी जी केवल ऐसे ही शिल्प को विषयों का केन्द्र बनाना चाहते हैं जो उपयोगी हो और स्थानीय वातावरण के अनुकूल हो। भारत, अमेरिका सदृश विकसित औद्योगिक राष्ट्र नहीं हैं, अतः यहाँ की शिक्षा में ग्रामीण जीवन के उपयुक्त शिल्पों का चयन आवश्यक है। प्रोजेक्ट प्रणाली में यह समस्या नहीं है, कोई भी यंत्रप्रधान उद्योग लिया जा सकता है। प्रोजेक्ट प्रणाली में विभिन्न विषयों का शिक्षण विभिन्न 'समस्यात्मक कार्यों' (प्रोजेक्ट्स) के माध्यम से होता है जबकि बेसिक शिक्षा में एक मूल शिल्प के माध्यम से सभी विषयों का शिक्षण होता है।

इस मतभेद के रहते हुए भी प्रोजेक्ट प्रणाली से बेसिक शिक्षा की अनेक बातें मिलती हैं—उद्योग अथवा कार्य को पाठ्य विषयों में केन्द्रीय स्थान प्रदान करना, विविध पाठ्य विषयों में सह संबंध एवं समन्वय स्थापित करना, शिक्षा का वास्तविक जीवन-परिस्थितियों से घनिष्ठ संबंध स्थापित करना, 'करके सीखने' की शिक्षण-विधि का प्रयोग, आत्म प्रयत्न द्वारा शिक्षा, स्वयं अनुसंधान एवं प्रयोग द्वारा ज्ञानार्जन, सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना आदि।

उर्युपक्त विवरण से स्पष्ट है कि गाँधी जी की बेसिक शिक्षा-दर्शन में 'आदर्शवाद'; 'प्रकृतिवाद' एवं 'प्रयोजनवाद' के अच्छे तत्वों का मिश्रण है। जीवन-दर्शन की दृष्टि से गाँधी जी 'आदर्शवाद' के समर्थक हैं। बालक ही शिक्षा का केन्द्र है और उसकी प्रकृति के आधार पर उसकी शिक्षा होनी चाहिए, इस दृष्टि से वे प्रकृतिवाद[1] के साथ हैं। क्रिया द्वारा शिक्षा प्रदान कर बालक की सभी शक्तियों के समन्वित विकास का अवसर देना चाहिए, इस दृष्टि से वे प्रोजेक्ट प्रणाली के साथ हैं। हम कह सकते हैं कि उनका शिक्षा दर्शन, आदर्श एवं लक्ष्य की दृष्टि से आदर्शवादी स्वरूप एवं संगठन की दृष्टि से प्रकृतिवादी

1. If children are to find themselves, they must be allowed a sufficient degree of freedom, if they are to develop their powers to the fullest they must be prepared to accept the appropriate discipline and training. (Handbook of suggestions. P. 25)

और शिक्षण विधि एवं कार्यक्रम की दृष्टि से प्रयोजनवादी है। गाँधी जी को यह महान् श्रेय है कि इन तीनों प्रमुख शिक्षा दर्शनों के श्रेयस्कर तत्वों का समावेश कर उन्होंने ऐसी उपयोगी शिक्षा प्रणाली का प्रवर्तन किया।

सारांश

ब्रिटिश शासन काल में प्रचलित शिक्षा के दोषों को दूर करने और स्वस्थ राष्ट्रीय निर्माण की दृष्टि से गाँधी जी ने बेसिक शिक्षा प्रणाली का प्रवर्तन किया। प्रचलित शिक्षा के दोष ये हैं—व्यावहारिक जीवन से असंबंधित, अंग्रेजी शासन चलाने वाले कर्मचारियों का निर्माण, पुस्तकीय शिक्षा, जीविकोपार्जन की असमर्थता, भेद-भाव उत्पन्न करने वाली शिक्षा, भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का विरोधी, भारतीय भाषाओं के विकास का अवरोधक, सार्वजनिक शिक्षा का अभाव, राष्ट्रीय शक्ति, श्रम एवं धन का अपव्यय, वैयक्तिक विकास का अभाव, एकांगी एवं संकीर्ण बौद्धिकता, शारीरिक श्रम के प्रति अरुचि, सामाजिक गुणों का अभाव आदि।

गाँधी जी का शिक्षा दर्शन—अध्यात्मवाद में आस्था, परमात्मा की सत्ता में विश्वास, सत्य ही ईश्वर है, सत्य की प्राप्ति अहिंसा द्वारा ही संभव है। अध्यात्मवादी समाज की रचना के लिए उपयुक्त शिक्षा-व्यवस्था आवश्यक है। ऐसी शिक्षा व्यवस्था क्या हो सकती है? (१) बालकों को शारीरिक एवं औद्योगिक प्रशिक्षण के माध्यम से शिक्षा प्रदान करना। (२) शिल्प के माध्यम से शिक्षा द्वारा आत्मनिर्भरता।

शिक्षा के उद्देश्य—जीविकोपार्जन, सांस्कृतिक उत्कर्ष, मानव प्रकृति की पूर्णता, नैतिक उत्कर्ष, चरित्रनिर्माण, वैयक्तिक एवं सामाजिक उद्देश्य, आत्म-ज्ञान और ईश्वर का ज्ञान।

आधारभूत सिद्धांत—अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा, सार्वजनिक शिक्षा, मातृभाषा शिक्षा का माध्यम, शिल्प द्वारा शिक्षा, शिक्षा स्वावलम्बी हो, शारीरिक श्रम के प्रति सम्मान, सामाजिकता का उत्कर्ष।

पाठ्यक्रम—हस्तशिल्प एवं कला, मातृ भाषा, गणित, सामाजिक विषय, सामान्य विज्ञान, शारीरिक शिक्षा एवं स्वास्थ्य विज्ञान, हिन्दी।

शिक्षण विधि—शिल्प को केन्द्र मानकर समन्वय प्रणाली द्वारा अन्य विषयों की शिक्षा।

विशेषताएँ—मनोवैज्ञानिक आधार, आर्थिक आधार, सामाजिक आधार, विकलांग बच्चों के लिए उपयोगी, बालक का सर्वाङ्गीण विकास—शारीरिक,

बौद्धिक, नैतिक, कलात्मक, श्रम की महत्ता, स्कूल के जीवन तथा बच्चे के गृह एवं सामाजिक जीवन से सामञ्जस्य, समन्वय की विशेषता, ग्राम्य शिक्षा समस्याओं का निराकरण।

आलोचना—उपार्जन पर ज़ोर, निर्मित वस्तुओं का अपव्यय, असंतुलित पाठ्यक्रम, पाठ्य विषयों की अवहेलना, समन्वय की अस्वाभाविकता, औद्योगिक विकास में बाधा।

कतिपय शिक्षा दर्शनों से तुलना—बेसिक शिक्षा दर्शन में आदर्शवाद, प्रकृतिवाद एवं प्रयोजनवाद के अच्छे तत्त्वों का मिश्रण है। जीवन-दर्शन की दृष्टि से गाँधी जी आदर्शवाद के समर्थक हैं। बालक ही शिक्षा का केन्द्र है और उसकी प्रकृति के आधार पर उसकी शिक्षा होनी चाहिए, इस दृष्टि से प्रकृतिवाद के निकट हैं। क्रिया द्वारा शिक्षा प्रदान कर बालक की सभी शक्तियों के समन्वित विकास का अवसर प्रदान करना चाहिए, इस दृष्टि से वे प्रोजेक्ट प्रणाली के साथ हैं। गाँधी जी का शिक्षा दर्शन आदर्श और लक्ष्य की दृष्टि से आदर्शवादी, स्वरूप एवं संगठन की दृष्टि से प्रकृतिवादी, शिक्षण विधि एवं कार्यक्रम की दृष्टि से प्रयोजनवादी है।

प्रश्न

१—शिक्षा का आरम्भ साक्षरता से नहीं बल्कि 'कार्य' से करना चाहिए। इस कथन का स्पष्ट विश्लेषण कीजिए और शिक्षा में इसका कोई व्यावहारिक रूप निर्दिष्ट कीजिए।

२—गाँधी जी के शिक्षा-दर्शन का उल्लेख करते हुए अन्य शिक्षा-दर्शनों से उसकी तुलना कीजिए।

३—बेसिक शिक्षा के आधारभूत सिद्धांत क्या हैं? उन्हें आप कहाँ तक वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक समझते हैं?

४—बेसिक शिक्षा प्रणाली की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए और उन पर अपना मत भी प्रकट कीजिए।

५—बालक के सर्वाङ्गीण विकास में बेसिक शिक्षा प्रणाली कहाँ तक सफल हो सकती है।

६—बेसिक शिक्षा प्रणाली की शिक्षण-विधि पर समीक्षा लिखिए।

७—बेसिक शिक्षा के 'आत्मनिर्भरता' के सिद्धांत पर प्रकाश डालिए।

८—बेसिक शिक्षा की प्रमुख समस्याओं का उल्लेख कीजिए तथा उनके समाधान के उपायों पर प्रकाश डालिए।

अध्याय १७

कतिपय नवीन शिक्षण योजनाएँ

[विनेटका योजना, गैरी योजना, बटेविया योजना, डेक्रालो योजना]

"The teacher of today who incorporates into his teaching the best ideas of past centuries will be well equipped for his task of guiding the next generation into the hoped for era of peace and prosperity, in which education will play an increasingly important part."

Luella Cole.

विगत अध्यायों में प्रमुख शिक्षण प्रणालियों का उल्लेख किया गया है पर इनके अतिरिक्त शिक्षा के क्षेत्र में कुछ नवीन योजनाओं का भी प्रादुर्भाव हुआ है जिनसे शिक्षा सम्बन्धी नवीन प्रवृत्तियों का परिचय मिलता है। ये निम्नांकित हैं :—

विनेटका योजना[1]

विनेट का योजना के प्रवर्त्तन का श्रेय अमेरिकन शिक्षा शास्त्री डॉ० कार्ल्टन वाश्बर्न[2] का है। आप विनेटका में शिक्षा के डाइरेक्टर थे। जिस समय कुमारी पार्कहर्स्ट डाल्टन में अपनी योजना का प्रयोग कर रही थीं, उस समय डॉ० वाश्बर्न इलियानोज स्टेट के विनेटका नामक स्थान पर अपनी योजना के प्रयोग में लगे हुए थे। इस स्थान के नाम पर इस योजना का नाम विनेटका योजना पड़ा। इस योजना का विवरण वाश्बर्न ने अपनी पुस्तक "एडजस्टिंग दि स्कूल टु दि चाइल्ड" में दिया है। वे भी कुमारी पार्कहर्स्ट की भाँति सामूहिक शिक्षा एवं परम्परागत पठन विधि[3] के विरोधी थे और बालकों की व्यक्तिगत विभिन्नता को ध्यान में रखकर व्यक्तिगत शिक्षण के पक्षपाती थे। इसी दृष्टि से वाश्बर्न ने अपनी इस योजना का प्रयोग किया।

विनेटका योजना के सिद्धांत

इस योजना के मुख्य सिद्धांत बालक की वैयक्तिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं पर आधारित है। इसमें बालक को प्रमुख स्थान प्रदान किया जाता है। ये सिद्धांत हैं :—

---

1. Winnetka Plan.
2. Dr. Carlaton Wash Burn.
3. Recitation method.

१—विद्यालयों में शिक्षा व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि बालकों को अपनी प्रकृति—सिद्धान्त, योग्यता, प्रवृत्ति एवं क्षमता के अनुसार विकास करने का अवसर मिले। अर्थात् व्यक्तिगत के आधार पर शिक्षण-व्यवस्था अपनाई जाय।

२—बालक को आत्माभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्रदान करनी चाहिए।

३—बालक के वैयक्तिक विकास के साथ-साथ सामाजिक गुणों का भी विकास किया जाय जिससे बालक योग्य सामाजिक सदस्य बन सके।

४—विद्यालय में बालक के आन्तरिक एवं बाह्य विकास के लिए उचित एवं अनुकूल वातावरण का निर्माण किया जाय जिससे उसकी समस्त शक्तियों का विकास संभव हो सके।

५—सामाजिक कुशलता एवं गुणों के विकास के लिए आवश्यक विषयों का ज्ञान एवं कौशल[1] प्रदान करने की व्यवस्था होनी चाहिए और बालक को इस बात का स्पष्ट ज्ञान हो जाना चाहिए कि व्यक्ति और समाज परस्पर अभिन्न हैं और एक का विकास दूसरे के विकास पर निर्भर है। दोनों के सहयोग से ही दोनों का विकास संभव है।

पाठ्यक्रम

विनेटका योजना में वैयक्तिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं के आधार पर पाठ्य विषयों के दो भाग हो जाते हैं—वैयक्तिक[2] एवं सामूहिक अध्ययन[3]। एक भाग में ऐसे विषय होते हैं जिनका उद्देश्य बालक के व्यक्तित्व का विकास करना होता है और बालक उनका अध्ययन व्यक्तिगत रूप से करता है। ये विषय अनिवार्य हैं। जैसे लिखना-पढ़ना, गणित एवं इतिहास, भूगोल आदि। दूसरे भाग में वे विषय होते हैं जिनके द्वारा सामाजिकता की भावना पनपती है। संगीत, कला, साहित्य, भाषण, अभिनय, खेल-कूद, एवं अन्य सामूहिक कार्य। इनमें से बालक अपनी इच्छानुसार चुन लेता है।

इस योजना में पाठ्यक्रम अनुभव एवं प्रयोग की सफलता के आधार पर परिवर्तनशील रखा जाता है। अनुभव के आधार पर किसी विषय का समावेश और किसी विषय का निष्कासन कर लिया जाता है। पाठ्यक्रम का लचीलापन इस योजना की विशेषता है।

---

1. Skills.
2. Individualised studies.
3. Socialized studies.

शिक्षक का स्थान—इस योजना में भी माण्टेसरी एवं डाल्टन प्रणालियों की भाँति शिक्षक एक सहायक एवं पथ-प्रदर्शक के रूप में कार्य करता है। बालकों के स्वाध्याय के लिए समस्याएँ प्रस्तुत करना, सहायक सामग्रियों की व्यवस्था करना, बालकों के कार्यों का निरीक्षण करना, उनकी कठिनाइयों को दूर करना और यथावश्यक पथप्रदर्शन करना शिक्षक के प्रमुख कार्य हैं। वह बालकों को स्वाध्याय के लिए प्रोत्साहित करता रहता है।

विनेटका योजना की रूप-रेखा एवं कार्यक्रम

इस योजना में इस प्रकार कार्यक्रम रखा जाता है कि बालक को व्यक्तिगत एवं सामूहिक दोनों प्रकार की क्रियाओं में भाग लेने का अवसर मिले। यह कार्यक्रम निम्नांकित प्रकार से सम्पन्न किया जाता है :—

१—कार्य की इकाई[1]—इस योजना में सामान्य स्कूलों की भाँति समय की इकाई[2] या घंटा के अनुसार शिक्षण कार्य नहीं होता बल्कि 'कार्य की इकाई' के अनुसार उसे आयोजित किया जाता है। प्रत्येक बालक को कुछ निर्दिष्ट कार्य पूरा करना होता है। शिक्षक प्रत्येक बालक को एक 'शुभपत्र'[3] देता है जिस पर निर्दिष्ट कार्य लिखा रहता है। बालक को अपनी गति से उस कार्य-इकाई को पूरा करने की स्वतन्त्रता होती है। जब वह उस 'इकाई' को पूरा कर लेता है तो उसे दूसरी 'कार्य-इकाई' दे दी जाती है। कुशाग्र बुद्धि का बालक अपनी 'इकाई' शीघ्र पूरा कर लेता है, अतः उसे दूसरी कार्य-इकाई दे दी जाती है। तेज बालक को मन्द बुद्धि वाले बालक के लिए रुकना नहीं पड़ता। मन्द बुद्धि के बालकों को यह लाभ है कि उन्हें तेज बुद्धि वाले बालक के साथ तीव्र गति से कार्य करने के लिए बाध्य नहीं होना पड़ता। प्रत्येक छात्र अपनी व्यक्तिगत विभिन्नता, योग्यता एवं क्षमता के आधार पर कार्य करते हैं अतः सभी अपनी गति से आगे बढ़ते हैं।

विद्यालय में प्रतिदिन आधे समय में ऐसे विषय पढ़ाए जाते हैं जिनमें बालकों को व्यक्तिगत रूप से अध्ययन करने एवं कार्य पूरा करने का अवसर मिलता है। इनसे बालकों के वैयक्तिक गुणों का विकास होता है। विद्यालय के शेष आधे समय में ऐसे विषयों के शिक्षण का आयोजन होता है जिनसे बालकों को सामूहिक रूप से कार्य करने का अवसर मिलता है और उनकी सामाजिक भावना का विकास होता है, जैसे कला, संगीत, साहित्य, अभिनय, वाद-विवाद,

1. Work unit.
2. Time unit or period.
3. 'Good card'.

गोष्ठियाँ, समितियाँ आदि के कार्य। इन विषयों का सृजनात्मक महत्त्व होता है। इन सामाजिक विषयों एवं कार्यों की परीक्षा नहीं होती अतः कक्षोन्नति की दृष्टि से इनका महत्त्व नहीं है। प्रत्येक बालक अपनी रुचि एवं योग्यतानुसार इनमें भाग लेता है। इनमें परीक्षा न होने से इस योजना में वैयक्तिक कार्यों को अपने आप प्रमुखता एवं महत्ता प्राप्त हो जाती है।

२—स्वाध्याय एवं स्वयं संशोधन द्वारा शिक्षा—इस योजना में शिक्षक का यह कार्य होता है कि वह बालकों को ऐसी सामग्री उपलब्ध करा दे कि वे स्वाध्याय में संलग्न हो सकें और वे अपनी त्रुटियों का संशोधन भी स्वयं ही कर सकें। इस दृष्टि से कार्य-पुस्तकें[1], प्रश्न-पत्र बालकों को प्रदान की जाती हैं। पाठ्य पुस्तकों के आधार पर 'निर्दिष्ट कार्य'[2] निर्धारित किए जाते हैं जिन्हें बालक पूरा करते हैं। शिक्षक पूरक प्रश्नावली[3], अभ्यास के जाँच पत्र भी तैयार करके बालकों को देता है जिससे बालक स्वाध्याय एवं स्वयं-संशोधन में सफल हो सके।

३—निदानात्मक जाँच—इस योजना में निदानात्मक जाँच का विशेष महत्त्व है। इसका उद्देश्य है बालकों की त्रुटियों एवं कमजोरियों का पता लगाना जिससे उनका संशोधन किया जा सके। निदानात्मक जाँच के लिए शिक्षक विशेष प्रकार के जाँच-पत्र तैयार करते हैं। बालकों द्वारा पढ़ी हुई एक ही कार्य-इकाई पर विभिन्न दृष्टिकोणों से अनेक प्रश्न-पत्र तैयार किए जाते हैं, जैसे कोई प्रश्न-पत्र बोध की जाँच के लिए तो कोई स्मृति की जाँच और कोई प्रयोगात्मक कार्य की जाँच के लिए बना लिए जाते हैं।

पहले दो या तीन जाँच-पत्र तो अभ्यास के लिए होते हैं। बालक अपने उत्तरों को शिक्षक के आदर्श उत्तरों से मिलाते हैं और अपनी अशुद्धियों को ठीक करते हैं। फिर वे अपनी पठित इकाई का और ध्यानपूर्वक अध्ययन करते हैं जिससे आगे त्रुटियाँ न होने पाये। तत्पश्चात् दो या तीन प्रश्न-पत्र परीक्षण के लिए दिए जाते हैं। विभिन्न बालकों के लिए विभिन्न जाँच पत्र भी तैयार किए जा सकते हैं।

४—कक्षोन्नति का नियम—यह योजना प्राथमिक शिक्षा अर्थात् पहली कक्षा से आठवीं कक्षा तक के लिये कार्यान्वित की गई है। इसमें बालक की कक्षोन्नति उसके बौद्धिक एवं सामाजिक विकास पर निर्भर है। इसका तात्पर्य

1. Work book.
2. Assignment.
3. Supplementary questions.

यह है कि बालक को उसकी आयु के बालकों के साथ ही अगली कक्षा में स्थान दे दिया जाता है चाहे वह पूर्व कक्षा के सभी विषयों में उत्तीर्ण हुआ हो या नहीं। उदाहरणतः कोई बालक यदि छठीं कक्षा में है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि वह पाँचवीं कक्षा के सभी विषयों में कार्य पूरा कर चुका है और उत्तीर्ण हो चुका है। बहुत सम्भव है कि वह कुछ विषयों में अपना कार्य नहीं पूरा कर सका है। इससे अनुत्तीर्ण होने का दुख या क्षोभ बालकों को नहीं हो पाता और वे अपने सहपाठी बालकों के साथ आगे बढ़ जाते हैं पर वे अगली कक्षा में जाकर भी अपने पिछड़े हुए पाठों एवं कार्यों को पूरा करने में लगे रहते हैं और अपनी गति से सीखते रहते हैं। इससे तेज बुद्धि वाले बालकों को और भी लाभ होता है क्योंकि वे अपना कार्य बहुत शीघ्र पूरा कर लेते हैं और छः वर्ष में ही प्राथमिक शिक्षा समाप्त कर लेते हैं।

५—समय सारिणी—विद्यालय का समय दो भागों में विभक्त होता है—पूर्वाह्न एवं अपराह्न। बीच में थोड़े समय का अवकाश भी रहता है। विभिन्न विषयों का शिक्षण एवं व्यक्तिगत कार्य पूर्वाह्न में एवं अपराह्न के भी थोड़े समय तक चलता है। अपराह्न का शेष समय सामूहिक शिक्षण एवं कार्य के लिए निर्धारित रहता है।

विटेनक योजना में गुण

१—यह योजना व्यक्तिगत विभिन्नता के आधार पर शिक्षा प्रदान करने पर बल देती है। प्रत्येक बालक अपनी योग्यता, रुचि एवं क्षमता के अनुसार कार्य करते हैं।

२—बालक निर्दिष्ट कार्यों को अपनी गति से पूरा करते हैं, इससे कुशाग्र एवं मन्द बुद्धि के बालकों को एक ही साथ प्रगति करने के लिए बाध्य नहीं होना पड़ता।

३—सामाजिक विकास के लिए सामूहिक क्रियाओं का आयोजन होता है।

४—निदानात्मक जाँच द्वारा बालकों की व्यक्तिगत कठिनाइयों, त्रुटियों एवं कमजोरियों का पता चल जाता है और इससे उनके सुधार के प्रयत्न सरल हो जाते हैं।

५—स्वाध्याय एवं स्वयं संशोधन का अवसर मिलता है।

६—शिक्षक एक पथप्रदर्शक के रूप में कार्य करता है। शिक्षण कार्य से अवकाश मिलने के कारण उसे जाँच पत्रों एवं अभ्यास कार्य-पत्रों के तैयार करने का समय मिल जाता है।

७—बालकों की वास्तविक योग्यता एवं प्रगति का पता जाँचपत्रों द्वारा चलाया जाता है। इससे बालकों के विकास के सम्बन्ध में भ्रम की गुंजाइश नहीं रहती।

८—कक्षोन्नति की व्यवस्था ऐसी है कि बालकों को निराशा, कुण्ठा एवं असफलता का क्षोभ नहीं उत्पन्न हो सकता है।

दोष

१—इस योजना में लिखित परीक्षा-पद्धति पर विशेष बल है। मौखिक परीक्षा-पद्धति की उपेक्षा होती है। परिणामस्वरूप बालकों की मौखिक भावाभिव्यक्ति की क्षमता नहीं बढ़ने पाती।

२—इस योजना में पर्याप्त अभ्यास एवं परीक्षण सामग्री की आवश्यकता पड़ती है जिनकी व्यवस्था करना कठिन हो जाता है।

३—अनेक दृष्टिकोणों को ध्यान में रखकर जाँचपत्रों का तैयार करना बहुत कठिन होता है। ऐसे सुयोग्य अध्यापकों का अभाव रहता है।

४—शिक्षकों एवं शिक्षार्थियों के मध्य घनिष्ठ सम्पर्क नहीं स्थापित हो पाता।

५—व्यावहारिक दृष्टि से यह योजना बहुत जटिल है। कक्षोन्नति का नियम ऐसा है कि एक कक्षा का बालक किसी विषय में तो अपनी पूर्व कक्षा का कार्य करता रहता है और किसी विषय में अगली कक्षा का। इस प्रकार के असमान योग्यता वाले विद्यार्थियों को एक कक्षा में रखना और उनका पथ प्रदर्शन करना व्यावहारिक नहीं है। फिर विभिन्न विषयों में विभिन्न योग्यताओं वाले छात्र के लिए जाँचपत्र एवं अभ्यासपत्र तैयार करना कितना कठिन है। प्रत्येक बालक के लिए अलग-अलग ये पत्र संभव नहीं हो पाते।

यह योजना थोड़ी संख्या के छात्रों वाली कक्षा में तो कुछ संभव भी हो सकती है पर हमारे देश के विद्यालय में जहाँ कक्षा में इतने अधिक बालक होते हैं, यह योजना और भी अव्यावहारिक सिद्ध होगी।

गैरी योजना[1]

'गैरी शिक्षा योजना' के प्रवर्त्तन का श्रेय श्री विलियम ए० वर्ट को है। उन्होंने संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के इंडियाना प्रदेश के गैरी नामक स्थान पर यह प्रयोग १९०८ में किया था। गैरी स्थान के नाम पर इस योजना का नाम गैरी योजना पड़ा। इस योजना का नाम 'प्लाटून पद्धति' भी है। गैरी में शिक्षाधीक्षक

1. Gary system.

पद पर नियुक्त होने के पहले वर्ट महोदय ने बल्पटन नामक स्थान पर एक स्कूल खोला था जिसमें विद्यार्थियों की संख्या स्थान की दृष्टि से बहुत अधिक थी। स्थानाभाव की कठिनाई दूर करने के लिए वर्ट ने स्कूल के कार्यक्रम का संगठन इस प्रकार किया कि समस्त छात्रों को दो भागों में विभाजित कर शिक्षण प्रदान किया जा सके। समय-चक्र इस प्रकार बनाया गया कि जिस समय एक समूह कक्षा में अध्ययन कार्य करे उस समय दूसरा समूह कक्षा के बाहर के कार्यों जैसे खेल-कूद, व्यायाम आदि में भाग लें। मध्याह्न के अवकाश के पश्चात् बाहर वाले लड़के शिक्षण कार्य में संलग्न हो जाते थे और कक्षा के लड़के बाहर के कार्यों में लग जाते थे। छात्रों को समूह में विभाजित करने की व्यवस्था के कारण इसे प्लाटून पद्धति कहते हैं। इस प्लाटून योजना का प्रयोग वर्ट महोदय ने पुनः गैरी स्थान पर किया और यह योजना गैरी शिक्षा योजना के नाम से प्रसिद्ध हुई।

गैरी योजना के प्रमुख सिद्धान्त

१—इस योजना में विद्यालय के भवन, फर्नीचर तथा अन्य सामग्री के अधिकाधिक उपयोग पर ध्यान दिया जाता है। सामान्यतः विद्यालयों में कक्षा के कमरे एवं सामग्री का प्रयोग कक्षा की परिमित संख्या के छात्रों के लिए ही हो पाता है पर इस योजना में कक्षा में जितने छात्रों के बैठने की व्यवस्था है, उससे दुगुने छात्रों को शिक्षा दी जा सकती है क्योंकि उन्हें दो भागों में बाँट कर शिक्षा दी जा सकती है। जब आधी संख्या बाहर खेल या पुस्तकालय में रहेगी तो शेष आधी संख्या का शिक्षण चलता रहेगा।

२—इस योजना में विद्यालय का कार्य केवल कक्षा-शिक्षण नहीं माना जाता अपितु बालकों के सर्वतोमुखी विकास के लिए शिक्षण, खेल एवं अन्य सह-शैक्षिक क्रियाओं का आयोजन किया जाता है। इससे बालकों के ज्ञान-क्षेत्र में अधिकाधिक विस्तार होता है।

३—बालकों को अनुशासित रखने एवं बाह्य अनैतिक प्रभावों से बचाए रखने के लिए इस योजना में उन्हें विद्यालय में अधिक से अधिक समय तक रखा जाता है। प्रातः आठ या सवा आठ बजे से शाम चार या सवा चार बजे तक विद्यालय खुला रहता है। वार्षिक सत्र पूरे बारह महीने का होता है और सप्ताह भी ६ दिन का। रविवार को भी कुछ विशेष कार्यों में बालकों को लगा लिया जाता है। इस प्रकार बालकों को विद्यालय में ही अधिकाधिक समय रहना पड़ता है।

४—बालकों में सामाजिक गुणों के विकास के लिए अनेक ऐसे कार्यों का आयोजन किया जाता है जिससे उन्हें सामाजिक समस्याओं एवं विषयों का ज्ञान प्राप्त हो। इन आयोजनों से बालकों को भावी जीवन की तैयारी करने में सहायता मिलती है।

गैरी योजना की प्रमुख विशेषताएँ

१—गैरी योजना में निम्नलिखित कार्यों एवं अनुभवों पर विशेष बल दिया जाता है—

(क) विशेष पाठ्य विषयों की शिक्षा।

(ख) प्रयोगशालाओं में अथवा सहकारी वस्तु-भाण्डार एवं दूकान में विशेष कार्य।

(ग) खेल तथा व्यायाम

(घ) सामाजिक एवं रचनात्मक क्रियाएँ चाहे वे विद्यालय में हो अथवा समाज में।

इनसे बालकों की बहुमुखी प्रतिभा का विकास होता है।

२—विद्यालय का संगठन—इस योजना में विद्यालय भवन एवं विद्यालय के कार्यों का संगठन इस प्रकार किया जाता है कि अधिकाधिक छात्रों को शिक्षा प्रदान की जा सके। बालक आधे समय कक्षा में और आधे समय कक्षा के बाहर कार्य करते हैं। अतः विद्यालय भाव, पाठ्यक्रम, समय-चक्र आदि की व्यवस्था ऐसे रूप में की जाती है कि दो भागों में उसका प्रयोग हो सके।

(क) अध्ययन कक्ष—विद्यालय-भवन का विभाजन दो भागों में किया जाता है। एक ऐसे अध्ययन कक्ष जिनमें विभिन्न पाठ्य विषयों का अध्ययन कराया जाता है और दूसरे ऐसे कक्ष जिनमें विभिन्न क्रियाओं के लिए सामग्री उपलब्ध रहती है। ये कक्ष प्रयोगशाला, चित्रालय, श्रोतागृह या व्यायामशाला के रूप में होते हैं। इन कक्षों के अतिरिक्त खेल के मैदान एवं उद्यानों में भी विभिन्न क्रिया-कलाप चलते रहते हैं जिनमें बालक संलग्न रहते हैं। शिक्षार्थियों का एक भाग अध्ययन कक्ष में, दूसरा भाग एक प्रयोगशाला या खेल-व्यायाम में लगा रहता है।

(ख) समय चक्र—विद्यालय का समय दो भागों में बाँट दिया जाता है। पहले भाग में कक्षा का एक समूह अध्ययन कक्ष में पढ़ता है और दूसरा समूह

बाहर के कार्य में लगा रहता है। फिर दूसरे समय में बाहर वाला समूह अध्ययन कक्ष में चला आता है और अध्ययन कक्ष वाला समूह बाहर के कार्य में लग जाता है।

(ग) पाठ्यक्रम—पाठ्यक्रम भी दो भागों में विभक्त होता है। एक भाग में वे विषय एवं कौशल होते हैं जिनमें बालकों के बौद्धिक विकास में सहायता मिलती है। दूसरे प्रकार के वे विषय एवं क्रियाएँ होती हैं जिनसे बालक के शारीरिक, सामाजिक एवं भावात्मक विकास की आशा की जाती है। इस प्रकार बालक के सर्वाङ्गीण विकास की दृष्टि से पाठ्यक्रम नियोजित किया जाता है।

(घ) विद्यालय-व्यवस्था—इस योजना में शिशु कक्षाओं से लेकर माध्यमिक कक्षाओं तक के विद्यार्थी एक ही विद्यालय में शिक्षा ग्रहण करते हैं। इस विद्यालय का प्रधान भी एक ही प्रधानाध्यापक होता है। शिशु, प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा के लिए अलग-अलग व्यवस्था नहीं करनी पड़ती।

३—शिक्षक—इस योजना में विषय-विशेषज्ञ अध्यापक होते हैं जो अपने विषयों में बालकों का पथ-प्रदर्शन करते हैं। कुछ विशिष्ट शिक्षक औद्योगिक, व्यापारिक एवं समाजशास्त्रीय जैसे विषयों के लिए तथा पिछड़े छात्रों की देख-रेख के लिए भी नियुक्त रहते हैं।

४—सहशिक्षा—इस योजना में छात्र एवं छात्राएँ साथ-साथ शिक्षा प्राप्त करते हैं और दोनों को कार्य करने की समान सुविधाएँ दी जाती हैं।

५—स्वानुशासन—इस योजना में परम्परागत आंतकपूर्ण अनुशासन की जगह प्रजातांत्रिक अनुशासन पर जोर दिया जाता है। छात्रों की परिषदें एवं समितियाँ स्वयं ही अनुशासन के साथ कार्य करने की व्यवस्था करती हैं।

६—कार्य का समय—इस योजना में विद्यालयों का दैनिक कार्य की अवधि प्रातः ८॥ बजे से सायं ५ बजे तक रखी जाती है। इससे विद्यालय में ही छात्रों का अधिक से अधिक समय व्यतीत होता है। बालकों को सायंकाल भी कार्य करने को दिया जाता है यद्यपि यह कार्य अनिवार्य न होकर बालकों की इच्छा पर निर्भर है। शनिवार को भी बालक स्वेच्छापूर्वक कार्य करते हैं।

इस योजना में छुट्टियाँ बहुत कम होती हैं। बड़ी आयु वाले छात्र यदि चाहें तो वर्ष के किसी भी भाग में उपार्जन की दृष्टि से १२ सप्ताह की छुट्टी ले सकते हैं।

७—व्यावसायिक शिक्षा—इस योजना में जीविकोपार्जन की शिक्षा पर विशेष बल दिया जाता है। इसके लिए ऐसे कुशल अध्यापकों की नियुक्ति भी की जाती है जिनके साथ कार्य करके बालक व्यवसाय सीख लेते हैं।

८—विद्यालय-भवन का सामाजिक प्रयोग—शिक्षण कार्य का समय बीत जाने पर विद्यालय-भवन, सामग्री एवं मैदान आदि का प्रयोग स्थानीय निवासियों द्वारा भी आवश्यकतानुसार किया जाता है। इससे विद्यालय और समाज का संपर्क बना रहता है और विद्यालय-भवन एवं सामग्री का अधिकाधिक उपयोग भी हो जाता है।

गैरी योजना में गुण

१—विद्यालय भवन, साज-सज्जा, सामग्री का अधिकाधिक उपयोग।

२—वैयक्तिक एवं सामूहिक शिक्षा का समन्वय।

३—बालक के सर्वाङ्गीण विकास—बौद्धिक, शारीरिक, सामाजिक एवं भावात्मक को प्रयत्न।

४—प्रजातान्त्रिक अनुशासन-व्यवस्था।

५—विद्यालय एवं समाज का घनिष्ठ सम्पक।

६—जीविकोपार्जन तथा व्यवसाय की शिक्षा।

७—बड़े बालकों को जीविकोपार्जन के लिए छुट्टी की व्यवस्था।

योजना में दोष

१—विद्यालय के कार्य की अवधि बहुत अधिक है। बालक को अपने परिवार में रहने का समय कम मिलता है। शिक्षक एवं विद्यार्थी दोनों ऊब जाते हैं और अध्ययन के प्रति उत्साह नहीं रह जाता। शिक्षकों को स्वाध्याय के लिए समय नहीं मिल पाता है।

२—शिशु कक्षा से लेकर माध्यमिक स्तर तक की शिक्षा की व्यवस्था एक ही विद्यालय में होने से सबके प्रति उचित ध्यान नहीं रह पाता और न समुचित व्यवस्था ही हो पाती है। समय-चक्र भी बालकों की आयु, रुचि एवं योग्यता के अनुसार नहीं हो पाता।

३—ऐसे योग्य एवं विषय-विशेषज्ञ शिक्षकों का अभाव रहता है जो बालकों को कक्षा शिक्षण के साथ-साथ अन्य सहशैक्षिक क्रियाओं में भी पथ-प्रदर्शन कर सकें।

४—वैयक्तिक शिक्षण पर बल रहने से व्ययसाध्य है। साज-सज्जा एवं सामग्री में बहुत पैसा लगता है। इनदोषों के कारण इस प्रणाली में अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ उठ खड़ी होती हैं।

बटेविया योजना[1]

बटेविया योजना का प्रवर्त्तन अमेरिका में न्यूयार्क स्टेट के बटेविया नामक स्थान पर जॉन केनेडी महोदय ने किया। स्थान के नाम पर इस योजना का नाम 'बटेविया योजना' पड़ा। केनेडी बटेविया में शिक्षा सुपरिन्टेंडेन्ट थे। वहाँ एक कक्षा में पचास छात्रों के बैठने की व्यवस्था थी। पर छात्रों की संख्या बढ़ने पर शिक्षकों एवं कमरों की संख्या बढ़ाने की आवश्यकता पड़ी। कमरों का निर्माण तो कठिन था पर शिक्षकों की नियुक्ति हो सकती थी। अतः कक्षा में छात्रों की संख्या पचास से अधिक होने पर एक अतिरिक्त शिक्षक को नियुक्त करने की योजना बनाई गई जिससे विद्यार्थियों को समूहों में बाँट कर पढ़ाया जा सके अर्थात् जब एक शिक्षक एक समूह का कक्षा-शिक्षण करता रहे तो दूसरा शिक्षक दूसरे समूह को व्यक्तिगत शिक्षण प्रदान करता रहे।

कार्यक्रम—इस योजना में कक्षा को दो भागों में बाँट दिया जाता है। एक भाग का जब कक्षा में सामूहिक शिक्षण कार्य चलता रहता है तो दूसरा भाग स्वाध्याय एवं व्यक्तिगत कार्य में लगा रहता है। इस प्रकार कक्षा के दो शिक्षकों में एक कक्षा में पढ़ाता रहता है और दूसरा स्वाध्याय एवं व्यक्तिगत कार्य में संलग्न विद्यार्थियों की कठिनाइयाँ दूर करने एवं सहायता प्रदान करने में लगा रहता है। इस व्यक्तिगत सहायता से कमजोर एवं पिछड़े हुए छात्रों को विशेष लाभ होता है। छात्रों को कक्षा-शिक्षण एवं स्वाध्याय दोनों के लिए समय मिल जाता है।

यदि कक्षा में एक ही शिक्षक है तो वह पहले सामूहिक शिक्षण देता है और फिर बालकों को स्वाध्याय के लिए अवकाश देता है। स्वाध्याय के समय वह पिछड़े छात्रों पर विशेष ध्यान देता है और उनकी कठिनाइयों को दूर करता है।

शिक्षक का स्थान—इस योजना में शिक्षक का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह छात्रों की कमजोरियों का पता लगाता है एवं तदनुसार पथ-प्रदर्शन एवं सहायता करता है। इस योजना को सफल बनाने के लिए केनेडी महाशय ने शिक्षकों को निम्नलिखित बातों पर ध्यान देने का सुझाव दिया है—

१—व्यक्तिगत अध्ययन एवं कार्य बालकों द्वारा ही होना चाहिये। शिक्षक केवल पथ-प्रदर्शन एवं प्रोत्साहन प्रदान करता रहे।

---

1. Batavia system

२—व्यक्तिगत शिक्षण एवं स्वाध्याय पठित पाठ से ही सम्बन्धित हो।

३—शिक्षक बालकों के स्वाध्याय का निरीक्षण, जाँच करता रहे और कठिनाइयों का निवारण करता रहे।

४—शिक्षक इस बात का ध्यान रखें कि स्वाध्याय के समय का पूरा उपयोग हो रहा है।

योजना की विशेषताएँ एवं गुण

१—इस योजना में बालकों को सामूहिक शिक्षण एवं व्यक्तिगत शिक्षण दोनों का अवसर मिलता है अतः इसमें सामूहिक एवं व्यक्तिगत शिक्षण का समन्वय हो जाता है।

२—मन्दबुद्धि के बालकों को व्यक्तिगत अध्ययन द्वारा और शिक्षण के विशेष पथ-प्रदर्शन एवं सहायता से आगे बढ़ने का अवसर मिल जाता है। अतः उसकी प्रगति सन्तोषप्रद ढंग से होती जाती है।

३—इस योजना में स्वाध्याय एवं स्वयं प्रयत्न द्वारा ज्ञानार्जन का अवसर प्रदान करने में बालकों में आत्मनिर्भरता की भावना उत्पन्न होती है।

४—इस योजना में अनुत्तीर्ण छात्रों की संख्या नहीं के बराबर होती है क्योंकि दो शिक्षक रहने से स्थानाभाव की समस्या का समाधान हो जाता है।

५—विषय-विशेषज्ञ तथा कुशल अध्यापक कमजोर छात्रों को भी विशेष निर्देशन एवं प्रोत्साहन देकर आगे बढ़ने का अवसर देते हैं। अतः इस योजना में बालकों के गत्यवरोध[1] की स्थिति नहीं आती।

योजना के दोष

१—पिछड़े हुए बालकों पर विशेष ध्यान रहने से प्रतिभाशाली बालकों की उपेक्षा हो जाती है और उन्हें अपनी कुशाग्र बुद्धि के अनुसार शीघ्र प्रगति करने के लिये स्वतन्त्रता नहीं रहती। ये बालक भी सामान्य बालकों के साथ प्रगति करने के लिये विवश रहते हैं।

२—अतिरिक्त शिक्षकों के कारण यह योजना भी व्ययसाध्य है। सामग्री एवं उपकरणों पर भी बहुत खर्च होता है।

३—योग्य तथा अनुभवी शिक्षकों का मिलना कठिन हो जाता है।

४—कक्षा-शिक्षण सामान्य सा ही हो पाता है क्योंकि व्यक्तिगत अध्ययन एवं कार्य पर विशेष बल रहता है। अतः सामूहिक शिक्षण प्रभावपूर्ण नहीं हो पाता।

---

1. Stagnation

५—यह योजना अमेरिका में प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा स्तर पर क्रियान्वित की गई पर उसे वांछित सफलता न मिल सकी।

डेक्राली योजना

डेक्राली योजना के प्रवर्त्तन का श्रेय डॉ० ओविड डेक्राली[2] को है और उन्हीं के नाम पर इस योजना का नाम रखा गया है। डेक्राली महोदय एक चिकित्सक थे और उन्होंने भी डॉ० माण्टेसरी की भाँति विकृत बालकों के लिये एक स्कूल खोलकर मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर शिक्षण प्रयोग किया। इसमें सफलता मिलने पर उन्होंने उन शिक्षण सिद्धान्तों का प्रयोग सामान्य बालकों पर भी सफलतापूर्वक किया।

डेक्राली योजना के शिक्षा सिद्धान्त

(१) इस योजना का सर्वप्रमुख सिद्धान्त है 'जीवन द्वारा जीवन के लिये'[3] शिक्षा प्रदान करना।

(२) बालक एक जीवित प्राणी है जिसे शिक्षा द्वारा सामाजिक जीवन के लिए तैयार करना है। यह तैयारी इस प्रकार होनी चाहिये कि बालक उसमें आनन्द का अनुभव करे अर्थात् उसकी रुचि एवं मनोवृत्ति का ध्यान रखा जाय और विद्यालय का वातावरण आनन्दप्रद हो।

(३) बालक एक जीवित, सतत् विकासशील प्राणी है और उसकी वृद्धि निरन्तर होती रहती है। इसी कारण आयु बढ़ने के साथ उसकी रुचि, प्रवृत्ति आदि में भिन्नता आती जाती है। शिक्षा में इस परिवर्तनशीलता का ध्यान रखना आवश्यक है।

(४) एक आयु का रहने पर भी विभिन्न बालकों में योग्यता, क्षमता, शक्ति एवं रुचि-भेद पाया जाता है अतः व्यक्तिगत शिक्षण की भी आवश्यकता है।

(५) एक आयुस्तर की कुछ विशेष रुचियाँ प्रमुख होती हैं अतः उस आयुस्तर के बालकों का शिक्षण उन रुचियों का ध्यान रखकर होना चाहिए।

(६) गतिशीलता बालक की सबसे प्रमुख क्रिया है। अतः गतिशील क्रियाओं का उचित विकास की दिशा प्रदान करने और उन पर विवेक का नियंत्रण रखने से यह गतिशीलता बालक के सभी कार्यों में परिलक्षित होती है।

1. Decroli system.
2. Dr. Ovid Decroli
3. "Education for life by living."

डेक्राल योजना में विद्यालय का स्वरूप एवं संगठन

(१) इस योजना में जीवन के लिए जीवन द्वारा, शिक्षा का सिद्धान्त अपनाया जाता है अतः विद्यालय किसी रमणीक प्राकृतिक वातावरण में स्थित होता है ताकि बालक प्रकृति एवं जीवन के निकट सम्पर्क में रहें और उन्हें स्वतन्त्र विकास का अवसर मिले। यह जीवन आनन्दपूर्ण होता है।

विद्यालय का वातावरण स्वाभाविक होता है, उसमें किसी प्रकार की कृत्रिमता या औपचारिकता नहीं रहती। बालक सरलता से ऐसे वातावरण के साथ सामंजस्य स्थापित कर लेता है। ऐसे वातावरण में स्वानुशासन की भावना एवं कर्त्तव्य परायणता भी उत्पन्न हो जाती है।

(२) इस योजना में चार से पन्द्रह वर्ष तक के बालकों की शिक्षा की व्यवस्था है। इन बालकों को 'उदार शिक्षा'[1] प्रदान की जाती है। बारह वर्ष की आयु तक सहशिक्षा अर्थात् बालक-बालिकाओं के एक साथ पढ़ने की व्यवस्था रहती है। विद्यार्थियों की संख्या कम (लगभग २०-२५) होती है और बालक-बालिकाओं को समान सुविधाएँ प्राप्त रहती हैं।

(३) विद्यालय में सामान्य कक्षाओं की जगह प्रयोगशालाएँ होती हैं जिनमें शिक्षण सामग्री, उपकरण, फर्नीचर की पर्याप्त व्यवस्था रहती है।

(४) बालकों का विभाजन इस प्रकार के समूहों में किया जाता है कि एक समूह में लगभग समान आयु एवं योग्यता के बालक होते हैं।

(५) यह ध्यान रखा जाता है कि योग्य, कार्य-तत्पर एवं बालकों में रुचि रखने वाले शिक्षक नियुक्त किये जायँ जिससे बालकों का उचित शिक्षण एवं पथ-प्रदर्शन हो सके।

(६) समय-चक्र की व्यवस्था इस प्रकार की जाती है कि प्रातःकाल का समय गणित, लिखना, पढ़ना, भाषा आदि विषयों में लगाया जाता है। फिर अभ्यास कार्य, ड्राइङ्ग, संगीत आदि के लिये समय दिया जाता है। शारीरिक कार्यों के लिए अपराह्न में समय दिया जाता है। विदेशी भाषा सीखने के लिये भी समय-चक्र में व्यवस्था रहती है।

(७) विद्यालय में व्यक्तिगत एवं सामूहिक दोनों प्रकार के कार्यों पर बल दिया जाता है जिससे बालकों के वैयक्तिक विकास के साथ-साथ सामूहिक गुणों का भी विकास हो।

(८) विद्यालय के कार्यों में बालकों के अभिभावकों का भी सहयोग लिया जाता है।

---

1. Liberal Education.

(६) बालकों में आत्मविश्वास उत्पन्न करने एवं उनकी मौलिक प्रतिभा को विकसित करने के लिये उन्हें कक्षा या बाल सभा के सम्मुख व्याख्यान देने का अवसर प्रदान किया जाता है। व्याख्यान के लिये प्रकरणों या शीर्षकों का चुनाव बालक स्वतः करते हैं पर शिक्षक भी परामर्श दे सकता है। ये विषय प्रायः बालकों से पठित पाठों से सम्बन्धित होते हैं। इससे उनको अपने पाठ्य विषयों का सम्यक् एवं समीक्षात्मक ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

शिक्षण विधि

डेक्राली महोदय ने बालक की आवश्यकताओं को रुचिकेन्द्र[1] बनाकर शिक्षण प्रदान करने पर बल दिया। उनके अनुसार बालक की आवश्यकताएँ चार प्रकार की हैं—(१) भोजन सम्बन्धी (२) प्राकृतिक शीत वातावरण, उष्णता आदि पर विजय प्राप्त करने एवं जीवन पर उनके प्रभाव को समझने की आवश्यकता (३) शत्रुओं से रक्षा की आवश्यकता (४) क्रियाशील बने रहने की आवश्यकता। इनमें से प्रत्येक आवश्यकता बालक के एक वर्ष के शिक्षण कार्य की रुचि-केन्द्र बन जाती है। चारों आवश्यकताओं को रुचि-केन्द्र बनने में चार साल लग जाते हैं अतः शिक्षण का एक चक्र चार वर्ष में पूरा होता है। इस योजना में रुचि-केन्द्र किसी 'समस्या' से सम्बन्धित कर दिया जाता है और उस समस्या का हल ढूँढ़ने में बालक को विविध विषयों—भाषा, गणित, इतिहास, भूगोल आदि का ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है। अपनी आवश्यकता से सम्बन्धित होने के कारण शिक्षा में बालक की रुचि उत्पन्न हो जाती है और वह उत्साहपूर्वक सीखता है। आवश्यकताओं एवं उससे सम्बन्धित रुचि पर आधारित होने के कारण डेक्राली की शिक्षण विधि को 'रुचियों का केन्द्रीकरण' कह सकते हैं।

योजना में गुण

१—इस योजना का सिद्धान्त है जीवन द्वारा जीवन के लिये शिक्षा। अतः शिक्षा कृत्रिम एवं अवास्तविक नहीं हो पाती। वास्तविक जीवन-परिस्थितियों के मध्य बालक शिक्षा ग्रहण करता है। उसकी शिक्षा कल्पना जगत की न होकर यथार्थ होती है।

२—विद्यालय का वातावरण आनन्दप्रद होता है अतः बालक प्रसन्नतापूर्वक विद्यालय में आता है। गृह एवं विद्यालय के वातावरण में पर्याप्त समानता पायी जाती है। अतः बालक को कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता। घर की ही तरह यहाँ भी उसे स्वतन्त्रता का अनुभव होता है।

---

1. Centre of interest.

३—यह शिक्षा बालक की रुचि पर आधारित है। किसी भी विषय की शिक्षा बालक के जीवन की आवश्यकता एवं तत्सम्बन्धी रुचि पर निर्भर करती है। रुचि के कारण बालक सरलता से सीख लेता है।

४—बालक निरीक्षण एवं अनुभव के आधार पर सीखते हैं अतः यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है। इस योजना में पुस्तकीय एवं कोरे सैद्धान्तिक ज्ञान को महत्त्व नहीं दिया जाता।

५—बालकों के साथ मनोवैज्ञानिक ढंग से सहानुभूतिपूर्वक व्यवहार किया जाता है।

योजना में दोष

(१) इस योजना की शिक्षण विधि का मूल सिद्धान्त है बालक की रुचि को केन्द्र बनाकर विविध विषयों की शिक्षा प्रदान करना। सैद्धान्तिक दृष्टि से तो यह उचित लगता है पर इससे सभी विषयों की शिक्षा पूर्ण नहीं हो पाती और सम्पूर्ण पाठ्य विषय नहीं पढ़ाए जा सकते।

(२) अधिक स्वतन्त्रता मिलने से बालक खेल-कूद में अधिक समय देते हैं और कक्षा-शिक्षण कम हो पाता है। इससे भी पाठ्य-विषयों का अध्ययन अपूर्ण रह जाता है।

(३) अनुभवी एवं योग्य शिक्षकों का भी अभाव है।

सारांश

विनेटका योजना—इसके जन्मदाता डा० कार्ल्टन वारबर्न हैं। विनेटका स्थान पर इसका प्रथम प्रयोग हुआ था अतः विनेटका योजना नाम पड़ा। वारबर्न की पुस्तक "एडजस्टिंग टु दि स्कूल चाइल्ड" में योजना का विस्तृत वर्णन है।

इसके प्रमुख सिद्धान्त हैं—बालक की वैयक्तिक एवं सामाजिक आवश्यकताएँ, व्यक्तिगत विभिन्नता का ध्यान, आत्माभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, उचित वातावरण का निर्माण, सामाजिक कुशलता का विकास।

पाठ्य विषयों के दो भाग—वैयक्तिक एवं सामूहिक अध्ययन। वैयक्तिक अध्ययन में अनिवार्य विषय—पढ़ना, लिखना, गणित, इतिहास, भूगोल आदि हैं। सामूहिक में—संगीत, कला, साहित्य, भाषण, अभिनय, खेल-कूद आदि हैं। पाठ्यक्रम लचीला रखा जाता है।

शिक्षक एक सहायक, निरीक्षण एवं पथ प्रदर्शक के रूप में रहता है।

कार्यक्रम—(१) शिक्षण 'कार्य की इकाई' के अनुसार आयोजित होता है। एक इकाई पूरा कर लेने पर दूसरी इकाई बालक को दी जाती है। प्रत्येक बालक अपनी योग्यता, क्षमता एवं शक्ति के अनुसार प्रगति करता है। (२) वह स्वाध्याय एवं स्वयं संशोधन द्वारा शिक्षा प्राप्त करता है। (३) निदानात्मक जाँच से शिक्षक बालक की कमजोरी जान लेता है और तदनुसार सहायता एवं निर्देशन देता है। (४) यह योजना कक्षा १ से कक्षा ८ तक के लिए है। बालकों की प्रगति समान आयु के आधार पर होती रहती है और उन्हें पिछड़ा हुआ कार्य पूरा करने का अवसर भी मिलता है। (५) समय चक्र दो भागो में—पूर्वाह्न में व्यक्तिगत अध्ययन और अपराह्न में सामूहिक शिक्षण।

इस योजना के प्रमुख गुण हैं—व्यक्तिगत विभिन्नता का आधार, बालकों को अपनी गति से आगे बढ़ने की स्वतन्त्रता, सामाजिक गुणों की अभिवृद्धि, निदानात्मक जाँच और बालकों को व्यक्तिगत सहायता एवं निर्देशन, स्वाध्याय एवं स्वयं संशोधन, जाँच पत्रों द्वारा बालकों की वास्तविक परीक्षा।

दोष—मौखिक शिक्षण एवं कार्य का अभाव, शिक्षण सामग्री की व्यवस्था कठिन, सुयोग्य शिक्षकों की कमी, कक्षोन्नति का नियम त्रुटिपूर्ण।

गैरी योजना—इस योजना के जन्मदाता हैं श्री विलियम ए० वर्ट। गैरी नामक स्थान में प्रयोग होने के कारण 'गैरी योजना' नाम पड़ा। इस योजना की विशेषता यह है कि कक्षा के विद्यार्थियों को दो समूह में बाँट देते हैं। एक समूह जिस समय कक्षा में पढ़ता है, दूसरा समूह बाहर कार्य करता रहता है। फिर ये दोनों दल अपना स्थान बदल लेते हैं। वस्तुतः कक्षा में बालकों की संख्या अधिक हो जाने की समस्या के कारण इस योजना का प्रवर्त्तन हुआ। इससे विद्यालय के भवन, फर्नीचर, शिक्षोपकरण आदि का अधिकाधिक प्रयोग हो जाता है। शिक्षण के साथ-साथ खेल-कूद, व्यायाम, पुस्तकालय में अध्ययन, सह शैक्षिक क्रियायें चलती रहती हैं। बालकों को दिन का अधिक से अधिक भाग विद्यालय में ही व्यतीत करना होता है। व्यक्तिगत अध्ययन के साथ-साथ सामाजिक गुणों के लिए सामूहिक कार्यों का आयोजन किया जाता है।

बटेविया योजना—बटेविया नामक स्थान पर जॉन केनेडी महोदय ने इसका प्रवर्त्तन किया, इस कारण बटेविया योजना नाम पड़ा। इस योजना का प्रारम्भ भी इसलिए हुआ कि कक्षा में बालकों की संख्या बहुत बढ़ गई और उन्हें एक साथ पढ़ाना कठिन था। अतः कक्षा-बालकों को दो भागों में बाँट दिया जाता

है। एक भाग जब कक्षा में शिक्षण प्राप्त करता है तो दूसरा भाग स्वाध्याय एवं व्यक्तिगत कार्य करता है। इस योजना में शिक्षक छात्रों का प्रदर्शक है। वह बालकों की कमजोरियों की जाँच करता है और उन विषयों में विशेष सहायता करता है। सामूहिक एवं व्यक्तिगत शिक्षण दोनों को महत्त्व देना इस योजना की विशेषता है।

डेक्राली योजना--इस योजना का प्रवर्त्तन डॉ० ओविड डेक्राली ने किया और उन्हीं के नाम पर इस का नाम डेक्राली योजना पड़ा। जीवन के लिए जीवन द्वारा शिक्षा प्रदान करना इस योजना का प्रमुख सिद्धान्त है। बालक एक जीवित विकासशील प्राणी है अतः आनन्दपूर्ण वातावरण में उसकी निरन्तर वृद्धि का अवसर मिलना चाहिये। बालक की प्रमुख आवश्यकताओं के अनुसार उसकी रुचियों को जागरित करना चाहिए और रुचियों पर केन्द्रित करके शिक्षा प्रदान करनी चाहिये। इस योजना का गुण है--विद्यालय के वातावरण को स्वाभाविक, आनन्दपूर्ण एवं अनौपचारिक बनाए रखना जहाँ बालक प्रसन्नता से शिक्षा ग्रहण करते हैं। विविध विषयों की शिक्षा बालकों की रुचि को आधार बनाकर प्रदान की जाती है। बालक निरीक्षण एवं अनुभव के आधार पर सीखते हैं।

प्रश्न

१—विनेटका योजना के शिक्षण सिद्धान्त क्या हैं ?

२—विनेटका योजना में वैयक्तिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं के आधार पर संगठन, पाठ्यक्रम एवं शिक्षण कार्य-क्रम का क्या रूप अपनाया जाता है ?

३—गैरी योजना का प्रवर्त्तन किस समस्या के कारण हुआ और इस योजना से उसके समाधान में कहाँ तक सफलता मिली।

४—गैरी योजना की प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

५—बटेविया योजना के शिक्षण सम्बन्धी कार्यक्रम का उल्लेख कीजिए।

६—डेक्राली योजना के शिक्षा सिद्धान्त क्या हैं ? उन सिद्धान्तों को क्रियान्वित करने के लिए इस योजना में क्या शिक्षण विधि अपनायी जाती है।

७—'रुचि केन्द्रित शिक्षण' का क्या तात्पर्य है ? स्पष्ट कीजिए

———

अध्याय १८

कतिपय नवीन शिक्षण विद्यालय

[क्रियाशील एवं प्रगतिशील विद्यालय, गुरुकुल, शान्तिनिकेतन]

"In educational organizations our reasoning faculties have to be nourished in order to allow our minds its freedom in the world of truth, our imagination for the world which belongs to art, and our sympathy for the world of human relationship."

—Rabindra Nath Tagore

पूर्व अध्यायों में वर्णित शिक्षण सिद्धान्तों एवं विधियों को क्रियान्वित करने के लिये शिक्षा शास्त्रियों ने नवीन प्रकार के विद्यालयों की स्थापना पर बल दिया है। इन नये विद्यालयों की स्थापना का सर्वप्रमुख कारण यह है कि प्रचलित विद्यालयों में नवीन शिक्षण सिद्धान्तों एवं विधियों का अनुसरण और प्रयोग संभव नहीं है। ये विद्यालय परम्परावादी एवं रूढ़िवादी शिक्षण-विधियों से अपने को मुक्त करने में असमर्थ से हैं। अतः क्रियाशील एवं प्रगतिशील विद्यालयों की स्थापना का प्रयत्न आवश्यक हो गया है जहाँ हम नई शिक्षण विधियों एवं युक्तियों को काम में ला सकें और बालकों की क्रियाशीलता, रचनात्मक प्रवृत्तियाँ, वैयक्तिक विभिन्नताएँ, वैयक्तिक स्वतन्त्रता एवं अनुशासन, आत्म प्रकाशन, समाजीकरण आदि का ध्यान रखकर शिक्षा प्रदान की जा सके। पर इनके सम्बन्ध में उल्लेख करने के पूर्व हमें परम्परावादी विद्यालयों के उन दोषों को संक्षेप में जान लेना चाहिये जिन्हें दूर करने के लिए इन नये विद्यालयों की स्थापना की गई है।

परम्परावादी विद्यालयों के दोष

(१) परम्परावादी विद्यालयों में कोरे पुस्तकीय ज्ञानार्जन पर बल दिया जाता है और बालकों की स्मरण शक्ति को ही उनकी योग्यता की कसौटी मान लिया जाता है। ऐसे बालक परीक्षा में तो सफल हो जाते हैं पर व्यावहारिक जगत में असफल सिद्ध होते हैं।

(२) इन विद्यालयों में संकीर्ण बौद्धिक विकास के अतिरिक्त बालक के अन्य पक्षों—शारीरिक, भावात्मक एवं चारित्रिक पक्षों की उपेक्षा कर दी जाती है अतः बालक का विकास एकांगी, अधूरा और अपूर्ण रूप में होता है।

(३) कक्षा में बालकों को स्वतन्त्र भाव एवं विचार प्रकाशन की स्वतन्त्रता नहीं रहती। वे निष्क्रिय श्रोता मात्र रहते हैं और शिक्षक के भाषण एवं कथन को ही ब्रह्म वाक्य मानकर कण्ठाग्र करने के लिये विवश से हो जाते हैं। इससे उनके स्वतन्त्र व्यक्तित्व का विकास नहीं होता और न उनमें स्वतन्त्र विचार शक्ति ही पल्लवित हो पाती है।

(४) इन विद्यालयों में ऐसी शिक्षण परम्परा बनी हुई है कि शिक्षक ही सब कुछ बना रहता है। वही सक्रिय रहता है और ऐसा मालूम होता है कि वही पढ़ने-लिखने और सीखने वाला है। सीखने वाला विद्यार्थी तो शान्त बैठे रहते हैं। उनकी उत्सुकता, जिज्ञासा एवं उत्कण्ठा दबी रह जाती है। वे अपनी समस्याएँ भी प्रस्तुत नहीं कर पाते। यदि कोई बालक ऐसा साहस करता भी है तो शिक्षक द्वारा उपेक्षित होने पर फिर आगे साहस नहीं कर पाता।

(५) शिक्षक एवं शिक्षार्थियों का सम्बन्ध बहुत ही औपचारिक बना रहता है। उनमें आत्मीयता नहीं स्थापित होती। शिक्षक जान-बूझकर यह आत्मीयता अथवा व्यक्तिगत सम्पर्क नहीं स्थापित करते क्योंकि एक यह भ्रामक धारणा बनी रहती है कि शिक्षार्थियों से दूरी रखकर ही उनका सम्मान प्राप्त किया जा सकता है।

(६) शिक्षक बालकों को अपने नियन्त्रण में रखने के लिए उनके साथ कठोर व्यवहार करते हैं और आतंक, दण्ड तथा अन्य यन्त्रणाओं का सहारा लेते हैं जो आज के मनोवैज्ञानिक शिक्षण की दृष्टि से सर्वथा त्याज्य है।

(७) बालकों का कक्षा में शांत और मौन बैठे रहना ही इन विद्यालयों में सच्चा अनुशासन मान लिया जाता है। बालकों की क्रियाशीलता, नई बातें जानने की उत्कण्ठा, प्रश्न पूछना आदि उच्छृंखलता मानी जाती है। उनके आत्मसम्मान की भावना को अहंकार मान लिया जाता है और उसे दबा दिया जाता है। ऐसा अनुशासन बालकों को निष्क्रिय एवं निर्जीव बना देता है, उनकी अग्रगामिता नष्ट हो जाती है और उनका स्वस्थ, सजीव एवं उत्फुल्ल विकास सदा के लिये अवरुद्ध हो जाता है।

(८) परम्परावादी विद्यालयों में वैयक्तिक विभिन्नता-विभिन्न रुचि, क्षमता, मानसिक शक्ति का कोई ध्यान नहीं रखा जाता और कुशाग्र एवं मन्द बुद्धि वाले सभी छात्रों को एक समान शिक्षा दी जाती है। दोनों की प्रगति भी एक साथ कराई जाती है। फलतः प्रतिभाशाली बालक के समय, शक्ति प्रतिभा एवं श्रम का अपव्यय होता है और मन्द बुद्धि वाला बालक पिछड़ता जाता है।

(६) इन विद्यालयों में शिक्षण पद्धति ऐसी होती है कि बालकों के श्रवण एवं दृष्टि सम्बन्धी ज्ञानेन्द्रियों का तो प्रयोग होता है पर अन्य ज्ञानेन्द्रियों के प्रयोग का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः हाथ और मस्तिष्क का समन्वित विकास नहीं होता। बिना किसी उपयोगी एवं शैक्षिक रचनात्मक क्रिया या कला को स्थान दिये हुए बालक का सन्तुलित एवं समन्वित विकास सम्भव नहीं। इन विद्यालयों में ऐसी क्रियाओं के लिये कोई स्थान नहीं है।

(१०) परम्परावादी विद्यालयों में शिक्षण का सबसे बड़ा दोष है कि बालकों को बालक मानकर शिक्षा नहीं प्रदान की जाती, बल्कि उन्हें प्रौढ़ मान लिया जाता है। फलतः बालक के वास्तविक जीवन एवं अनुभवों से शिक्षा का सम्बन्ध नहीं रहता।

(११) इन विद्यालयों में शिक्षण का एक विचित्र विरोधाभास है कि सामूहिक शिक्षण होते हुए भी बालकों में सामाजिक गुणों का विकास नहीं हो पाता क्योंकि समाजीकरण का कोई प्रयत्न नहीं किया जाता। उन्हें परस्पर सहयोग एवं सौहार्दपूर्वक कार्य करने का कोई अवसर ही नहीं मिलता।

उपर्युक्त दोषों के निवारण के लिये ही नये विद्यालयों की स्थापना के प्रयत्न प्रारम्भ हुए जिससे बालकों का समुचित विकास हो सके। इन विद्यालयों में क्रियाशील विद्यालय एवं प्रगतिशील विद्यालय मुख्य हैं।

क्रियाशील विद्यालय

'क्रियाशील विद्यालय'[1] के प्रमुख प्रवर्त्तक स्विस शिक्षाविद् एडॉल्फ फरेरे[2] माने जाते हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक 'दि एक्टिविटी स्कूल' में क्रियाशील विद्यालय के सम्बन्ध में अपने विचार लिखे हैं। उनके अनुसार "शिक्षा जीवन है और जीवन सतत विकासशील है। यह विकास तीव्रता और उद्देश्य की दृष्टि से अनियमित हो सकता है पर उसकी गति कभी भी अवरुद्ध नहीं होती।[3] क्रियाशील विद्यालय कुछ क्रियाओं एवं विधियों का संकलन मात्र नहीं है, बल्कि बालकों को अच्छे जीवन की ओर अग्रसर करने के लिये उत्तम साधन हैं। क्रियाशील विद्यालयों के विकास में फरेरे महोदय के अतिरिक्त एडाउर्ड क्लापारेड,[4] रेरे बोवेल[5] एवं जार्ज करशेन स्टीनर[6] ने भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

---

1. Activity school.
2. Adolph Ferriere.
3. "Education is life and that life is a continuous growth... irregular no doubt in intensity and direction but never at rest"
4. Edouard Clarpareda
5. Rerre Bovel.
6. George Kerschensteiner.

क्रियाशील विद्यालय की विशेषताएँ

जार्ज करशेन स्टीनर के अनुसार क्रियाशील विद्यालय वे विद्यालय हैं जहाँ बालक की अन्तर्निहित सृजनात्मक शक्ति को उन्मुक्त कर दिया जाता है जिससे उन्हें स्वतन्त्र अभिव्यक्ति एवं विकास का अवसर मिल सके। यहाँ उपयुक्त कार्यों के माध्यम से शिक्षा प्रदान की जाती है। 'कार्य' पर बल देने के कारण ही इन विद्यालयों को क्रियात्मक अथवा क्रियाशील विद्यालय कहा जाता है। करशेन स्टीनर का कहना था कि शिक्षा का उद्देश्य यदि चरित्र-निर्माण करना है और चरित्र का निर्माण 'कार्य' द्वारा ही संभव है तो क्रियाशील विद्यालयों की सार्थकता स्वय सिद्ध है क्योंकि कार्य द्वारा शिक्षा प्रदान की जाती है और उससे बालक का चरित्र-निर्माण अपने आप होता है। स्टीनर के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य नागरिकता का विकास करना भी है अतः क्रियाशील विद्यालयों में शिक्षा का स्वरूप ऐसा रखना चाहिये कि बालक अच्छे नागरिक बन सकें। उनके अनुसार क्रियाशील विद्यालयों के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं—

(१) बालक का इस प्रकार पथ-प्रदर्शन करना जिससे वह अपने जीवन के उचित कार्यों का ठीक निर्वाह कर सके।

(२) बालक के मन में यह भावना उद्बुद्ध करना कि सामाजिक सेवा की दृष्टि से प्रत्येक व्यवसाय का महत्त्व है। अतः किसी भी व्यवसाय को हेय नहीं समझना चाहिये।

(३) बालक में यह भावना भी जागरित करना कि उसका व्यवसाय सामाजिक सेवा का एक अभिन्न अंग और साधन है। अतः अपने व्यवसाय द्वारा सामाजिक प्रगति में योगदान प्रदान करना उसका कर्त्तव्य है।

स्टीनर महोदय ने उपर्युक्त दृष्टियों से क्रियात्मक स्कूलों के लिये एक आदर्श कायक्रम प्रस्तुत किया जिसे कन्टिन्यूशन[1] कार्यक्रम कह सकते हैं। इसमें व्यवसाय को केन्द्र मानकर अन्य विषयों को उससे सम्बन्धित करके शिक्षा प्रदान करने की योजना बनाई गई। व्यवसाय को प्रमुख स्थान मिला जिसके माध्यम से बालकों को अपनी सृजनात्मक शक्ति के प्रकाशन का अवसर मिलता था।

इस योजना की आलोचना की जाती है कि यद्यपि कार्य अथवा व्यवसाय को सामाजिक सेवा का अंग माना जाता है पर शिक्षण का रूप कुछ ऐसा है कि बालकों में वांछित सामाजिक सेवा की भावना जागरित नहीं हो पाती और उनकी वैयक्तिक प्रवृत्तियों की ही प्रधानता बनी रहती है। डा० फिलिप कोक्स एवं रूस

1. Continuation.

शिक्षा विशेषज्ञ पिंकेविच का मत है कि इस योजना द्वारा सामाजिक व्यवहार एवं कुशलता की शिक्षा नहीं मिलती और बालक व्यक्तिवादी बन जाता है।

प्रगतिशील विद्यालय

क्रियात्मक स्कूलों की भाँति ही प्रगतिशील विद्यालयों[1] की स्थापना भी परम्परावादी स्कूलों के दोषों को दूर करने के लिए एक शैक्षिक क्रान्ति के रूप में हुई। युग की आवश्यकताओं को देखते हुए बालक के सर्वोत्तम विकास का मार्ग प्रशस्त करने के लिए प्रगतिशील विद्यालयों की स्थापना आवश्यक थी। प्रोजेक्ट प्रणाली का उल्लेख करते समय बताया जा चुका है कि बीसवीं शताब्दी में हमारी सामाजिक रचना कितनी बदल चुकी है और नवीन यंत्र प्रधान औद्योगिक समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए शिक्षा के क्षेत्र में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। इस नवीन विचारधारा को लेकर ही अमेरिका में प्रगतिशील विद्यालयों की स्थापना प्रारम्भ हुई। ये विद्यालय प्रगतिशील विचार दर्शन[2] पर आधारित हैं जिसके जन्मदाता महान् शिक्षाविद् डब्ल्यू पार्कर है। जॉन ड्यूवी और डा० किलपैट्रिक ने इस विचार दर्शन को और आगे बढ़ाया तथा ऐसे विद्यालयों की स्थापना में योग प्रदान किया।

पार्कर महोदय अमेरिका के विभिन्न राज्यों के परस्पर संघर्ष एवं कलह से चिंतित थे। उनके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि यदि शिक्षा द्वारा हम बच्चों का उचित विकास करें और सद्भावनाएँ उत्पन्न कर दें तो ये संघर्ष न हों और परस्पर विचार विनिमय एवं शान्ति वार्ता द्वारा आपस की समस्याएँ सुलझा ली जायँ। जब वे विद्यालयों के अधीक्षक नियुक्त हुए तो उपर्युक्त विचारों से प्रेरित होकर उन्होंने एक प्रगतिशील सार्वजनिक विद्यालय व्यवस्था को जन्म दिया। इस व्यवस्था की लोगों ने बहुत प्रशंसा की। सन् १८८० में 'कुक कण्ट्री नार्मल स्कूल' का प्रमुख बनने पर उन्हें अपने विचारों को और विशद रूप में व्यवहृत करने का अवसर मिला। १९०० ई० में उन्होंने 'शिकागो इंस्टीट्यूट' की स्थापना की तथा प्रगतिशील विद्यालयों की स्थापना का विचार और आगे बढ़ाया। जॉन ड्यूवी एवं किलपैट्रिक ने इस विचार को और समुन्नत किया जिसके फलस्वरूप अमेरिका में इसका बहुत प्रचार हुआ और उसके अनुकरण पर अन्य देशों में भी प्रगतिशील विद्यालयों की स्थापना हुई।

प्रगतिशील शिक्षा का तात्पर्य

प्रसिद्ध अमेरिकन शिक्षा शास्त्री हार्न[3] ने लिखा है कि "प्रगतिशील विद्यालय एक शिक्षा सिद्धान्त, एक अभ्यास और एक भावना है।" इसमें

1. Progressive schools. 2. Progresivism 3. Horne

आधुनिक सिद्धान्तों का समन्वय है और उन सिद्धान्तों को प्रयोग में लाने का यह साधन है।

इस शिक्षा को प्रगतिशील कहने का प्रमुख कारण यह है कि यह शिक्षा जीवन से सम्बन्धित है अर्थात् मानव-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में निरन्तर होने वाले विकासों एवं परिवर्तनों के अनुसार इस शिक्षा के संगठन, स्वरूप, पाठ्य विषय, पद्धति आदि में भी प्रगति एवं परिवर्तन लाने का प्रयत्न बना रहता है। यह शिक्षा जीवन विकास के अनुरूप बनी रहती है।

परम्परावादी शिक्षा में शिक्षक ही सर्वेसर्वा होता है पर इस शिक्षा में शिक्षक एवं शिक्षार्थी दोनों का महत्त्व है, दोनों के परस्पर सहयोग से शिक्षण प्रक्रिया सम्पादित होती है। लिखने में शिक्षार्थी का सक्रिय योगदान रहता है। इस शिक्षण में कक्षा-भाषण या व्याख्यान का स्थान नगण्य-सा है।

प्रगतिशील शिक्षा बौद्धिक विकास के साथ-साथ संवेगिक एवं भावात्मक विकास पर बल देती है। इस शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य सामाजिक कुशलता प्राप्त करना माना जाता है। अतः यह शिक्षा समाजीकृत वातावरण में प्रदान की जाती है जिससे बालकों में सामाजिक गुणों—परस्पर सहयोग, सम्मान, स्वाधीनता आदि—का विकास हो सके। इसके लिए सामाजिक वातावरण में बालकों की प्रवृत्तियों एवं भावनाओं को विकसित करने का प्रयत्न किया जाता है।

समाजीकृत वातावरण में ही बालकों के व्यक्तित्व का वास्तविक विकास होता है। बालक समाज से पृथक् नहीं है। समाज से पृथक् रहकर उसके व्यक्तित्व का विकास सम्भव भी नहीं है। समाज में रहकर ही उसकी मनोवृत्तियों एवं रुचियों का परिष्कार एवं निर्माण होता है और समाज में रहकर ही वह उपयोगी ज्ञान एवं कौशल अर्जित करता है। अतः शिक्षा की ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये कि सामाजिक वातावरण से उसका पूर्ण सामंजस्य स्थापित हो जाय और आत्म प्रगति के साथ-साथ वह सामाजिक प्रगति के लिए अपना योगदान देने के लिए उद्यत बना रहे। अतः विद्यालय एक सामाजिक संस्था के रूप में होना चाहिए जहाँ सामाजिक वातावरण उपलब्ध हो सके। ऐसे सामाजिक वातावरण के निर्माण के लिए ये बातें आवश्यक हैं—

१—विद्यालय की समस्त क्रियाओं का उद्देश्य सामाजिक कुशलता का विकास है।

२—सामाजिक वातावरण के अनुरूप ही विद्यालय में क्रियाओं का चयन होता है।

३—शिक्षण प्रक्रिया शिक्षार्थी एवं शिक्षक दोनों के सक्रिय सहयोग से सम्पन्न होती है।

प्रगतिशील विद्यालयों की विशेषताएँ

१—स्वतन्त्र वातावरण—प्रगतिशील विद्यालयों में शिक्षा के लिए स्वतन्त्र वातावरण आवश्यक माना जाता है। विद्यार्थियों पर कोई बन्धन नहीं रहता और उपयुक्त सामाजिक वातावरण में बालक को आत्म-विकास के लिए स्वतन्त्रता प्रदान की जाती है। शिक्षक उसके मार्ग में हस्तक्षेप नहीं करता किन्तु आवश्यकतानुसार सहानुभूतिपूर्वक उचित पथ-प्रदर्शन करता है और बालकों की कठिनाइयों एवं त्रुटियों का निवारण करता रहता है। इस शिक्षा में बालक के व्यक्तित्व के प्रति तथा उनकी आत्मशिक्षा एवं आत्मप्रयत्न के प्रति सम्मान की भावना रखी जाती है।

२—क्रियाशीलता—इन विद्यालयों में बालक कार्य द्वारा शिक्षा प्राप्त करता है अतः वह सक्रिय बना रहता है और उसके हाथ, मस्तिष्क एवं हृदय का समन्वित रूप से विकास होता है।

३—सृजनात्मक अभिव्यक्ति—इन विद्यालयों में बालकों को सृजनात्मक अभिव्यक्ति का अवसर मिलता है क्योंकि वे रचनात्मक कार्यों में स्वतन्त्रतापूर्वक स्वेच्छा से संलग्न रहते हैं। इस आत्मक्रिया द्वारा शिक्षा के कारण बालकों की सृजनात्मक प्रवृत्ति का स्वाभाविक विकास होता है। बालकों में निर्माण की दिशा में सोचने की आदत पड़ती है और उनकी मौलिकता एवं रचनात्मक प्रतिभा का विकास होता है।

४—वैयक्तिक विभिन्नता—प्रगतिशील विद्यालयों में वैयक्तिक विभिन्नता के आधार पर प्रत्येक बालक को समुचित विकास का अवसर प्रदान किया जाता है। बालक की मानसिक शक्ति, रुचि और क्षमता ही उसके विकास के आधार हैं। अतः क्रियात्मक शिक्षा द्वारा बालकों को अपनी प्रकृति अनुसार विकास करने का अवसर मिलता है।

५—सर्वांगीण व्यक्तित्व का विकास—प्रगतिशील विद्यालयों में सामान्य विद्यालयों की भाँति बालक की शिक्षा केवल बौद्धिक नहीं होती, बल्कि उसके शारीरिक, सामाजिक एवं सांवेगिक विकास पर भी बल दिया जाता है। इन विद्यालयों में शिक्षा 'कार्य' द्वारा प्रदान की जाती है, अतः बालक का मस्तिष्क ही सक्रिय नहीं रहता बल्कि उसके हाथों, मनोभावों, रुचियों एवं कलात्मक प्रवृत्तियों का भी योग बना रहता है। इससे बालक के व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास होता है।

६—सामाजिकता—यह लिखा जा चुका है कि प्रगतिशील विद्यालयों में समाजीकृत शिक्षा पर विशेष बल दिया जाता है। सामाजिक भावना के विकास द्वारा ही बालक एक उत्तम नागरिक बन सकता है और उसमें प्रजातांत्रिक गुणों का विकास हो सकता है। सामान्य विद्यालयों में बालकों को इस प्रकार शिक्षा प्रदान की जाती है कि उसमें सामाजिक कुशलता नहीं आ पाती, परिणामतः भावी जीवन में भी उसके कार्य सामाजिक दृष्टि से श्रेष्ठ नहीं हो पाते। प्रगतिशील विद्यालयों में शिक्षा का स्वरूप एवं उसकी व्यवस्था इस प्रकार रखी जाती है कि बालक में सामाजिक भावना का उचित विकास सम्भव हो। क्रियात्मक शिक्षा सामाजिकता के विकास के लिए एक उत्तम साधन है। कार्य के माध्यम से बालक अपने अधिकार एवं कर्त्तव्य के साथ-साथ दूसरे के अधिकार एवं कर्त्तव्य के प्रति भी जागरूक बनते हैं और उनमें उत्तरदायित्व निर्वाह की भावना विकसित हो जाती है। उसमें आत्मविश्वास एवं आत्मनिर्भरता की भावना प्रबुद्ध हो उठती है और वह स्वयं अपनी समस्याओं को सुलझाने के लिए उद्यत रहता है। ये सभी गुण आज के प्रजातांत्रिक समाज के लिए आवश्यक हैं।

७—शिक्षक का स्थान—इन विद्यालयों में शिक्षक एक पथ-प्रदर्शक एवं सहयोगी के रूप में कार्य करता है। वह अपने विषय का विशेषज्ञ होता है और बालक की शिक्षा एवं कार्य सम्बन्धी सभी कठिनाइयों को दूर करने तथा उचित मार्ग बताने की योग्यता रखता है। वह कक्षा में व्याख्यान नहीं देता और न कड़े अनुशासन और नियंत्रण रखने की चेष्टा करता है। वह बालकों के सामने ऐसी परिस्थितियाँ और समस्याएँ उत्पन्न करता है कि बालक स्वयं शिक्षा के पथ पर आरूढ़ हो जायँ, समस्याओं के समाधान में संलग्न हो जायँ और स्वयं ही योजनाएँ बनाएँ। बालक जब योजना पूरा करने में लगें, अथवा कार्य एवं स्वाध्याय में संलग्न हों तब शिक्षक आवश्यकतानुसार बालकों की सहायता करता है और उन्हें कार्य करने की उचित विधि अपनाने का परामर्श देता है। प्रश्नों द्वारा वह बालकों को सही दिशा में सोचने और उत्तर निकालने के लिए उत्तेजित करता है। इससे बालकों में स्वयं विचार करने और तर्क करने की शक्ति प्रबुद्ध होती है। शिक्षक कहीं भी अपने अधिकार या प्रभुता का प्रयोग नहीं करता और बालकों के साथ हिल-मिलकर उनकी समस्याओं के समाधान में अथवा कठिनाइयों के निवारण में सहायता प्रदान करता है।

८—अध्यापन कक्ष—सामान्य विद्यालयों की भाँति प्रगतिशील विद्यालयों की कक्षा में शिक्षक शिक्षार्थियों से दूरी का और औपचारिकता का सम्बन्ध नहीं

रखता और न अलग किसी ऊँचे आसन से भाषण ही देता है। वह तो बालकों के साथ ही वृत्ताकार या अर्द्धवृत्ताकार घेरा बना कर उनसे विचार-विमर्श करता है, बातें करता है और उन्हीं में से एक बनकर उन्हें शिक्षा प्राप्त करने के लिए अग्रसर करता है। आवश्यकतानुसार सारे विद्यार्थी टोलियों में विभक्त हो जाते हैं और अलग-अलग टोलियाँ अपनी सुविधानुसार बैठने की व्यवस्था करती हैं। शिक्षक सभी टोलियों के कार्यों का निरीक्षण करता है और यथावश्यक पथ-प्रदर्शन करता रहता है।

६—शिक्षण-विधि—प्रगतिशील विद्यालयों में कक्षा-शिक्षण की विधि न तो परम्परावादी विद्यालयों की तरह व्याख्यान देना है और न सामान्य प्रशिक्षण विद्यालयों की भाँति प्रश्नों की झड़ी लगाना। प्रश्न पूछे जाते हैं पर जहाँ आवश्यकता है वहीं। इन विद्यालयों में विचार-विमर्श अथवा 'परिचर्या'[1] की विधि अपनाई जाती है। परिचर्या का तात्पर्य है शिक्षक के पथ-प्रदर्शन में परस्पर मिल-जुलकर किसी समस्या के सम्बन्ध में विचार करना और हल निकालना। मैलबर्न तथा हॉस के अनुसार परिचर्या की परिभाषा है—"शिक्षक के पथ-प्रदर्शन में छात्रों द्वारा आमने-सामने बैठकर अथवा साथ-साथ काम करते हुए समूहों में किसी समस्या पर सहयोगपूर्वक बात-चीत या विचार-विमर्श करना।" परिचर्या द्वारा जो भी शैक्षिक कार्य अथवा समस्या सामने रहती है उसका हल ढूँढ़ने का प्रयत्न किया जाता है। इस परिचर्या में प्रत्येक बालक को भाग लेने का समान अधिकार प्राप्त होता है।

इन विद्यालयों में 'परिचर्या' का आयोजन निम्न प्रकार से होता है—

१—अनौपचारिक समूह योजना[2]

२—औपचारिक समूह योजना[3]

३—स्वयं निर्देशक समूह योजना[4]

४—संविचार समूह योजना[5]

अनौपचारिक समूह योजना में शिक्षक एवं शिक्षार्थी एक साथ बैठकर परिचर्या करते हैं। परिचर्या के विषय बालकों की अध्ययन सम्बन्धी समस्याएँ, समान रुचि के विषय अथवा कोई समस्यात्मक कार्य हो सकते हैं। सभी बालक

---

1. Discussion method.
2. Informed group plan,
3. Formal or institi tional group plan.
4. Selfdirecting group plan.
5. Seminar group plan.

अपने-अपने विचार निःसंकोच स्वतंत्र रूप से व्यक्त करते हैं। विद्यार्थियों में से कोई भी, जिसे प्रस्तुत विषय या समस्या में विशेष रुचि या ज्ञान होता है, परिचर्या का श्रीगणेश कर सकता है और फिर सभी सम्मिलित होकर किसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।

औपचारिक समूह योजना में शिक्षार्थी सामाजिक जीवन सम्बन्धी किसी संगठन जैसे परिषद्, समिति, संघ, संसद, गोष्ठी, क्लब आदि के रूप में संगठित होकर परिचर्या में भाग लेते हैं। इससे उन्हें सामाजिक जीवन एवं कार्यों का परिचय एवं ज्ञान प्राप्त होता है। यह संगठन सामाजिक संगठनों के अनुकरण पर आयोजित होता है जैसे पार्लयामेण्ट के अनुकरण पर छात्र-परिषद् का गठन होता है। कोई बालक अध्यक्ष बनता है और कोई उपाध्यक्ष, कोई मंत्री, कोई उपमंत्री आदि। इन पदों एवं स्थितियों में कार्य करके वे सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वाह कर सकने की वास्तविक शिक्षा ग्रहण करते हैं। वे उपसमितियाँ बनाते हैं, विधान बनाते हैं, वाद-विवाद करते हैं, निर्णय लेते हैं और तदनुसार कार्य करते हैं।

इस योजना द्वारा बालक सरलतापूर्वक पाठ्य विषयों का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करते हैं और सामाजिक जीवन की वास्तविक समस्याओं, परिस्थितियों एवं कठिनाइयों से परिचित हो उनके निवारण का उपाय सोचते हैं।

स्वयं निर्देशक समूह योजना में बालक स्वयं ही समस्याओं पर विचार करते और निर्णय लेते हैं। संविचार समूह योजना भी एक प्रकार की गोष्ठी परिचर्या ही है। इसमें भी बालक विचार-विमर्श द्वारा विषयों का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

प्रगतिशील विद्यालयों के गुण

१—विद्यार्थियों को अनेक प्रकार की समस्यात्मक क्रियाओं के माध्यम से कार्य सम्पादन की योजना एवं उनकी विधि का ज्ञान हो जाता है जो भावी जीवन के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होता है।

२—क्रियात्मक शिक्षा द्वारा उन्हें विकास की स्वतन्त्रता प्राप्त होती है अतः उनका स्वस्थ मानसिक विकास होता है, किसी प्रकार की कुण्ठा, ग्रन्थि या परिरोध की भावना नहीं रहती।

३—परिचर्या, शास्त्रार्थ, परिसंवाद एवं विचार-विमर्श द्वारा बालक अपनी समस्याओं पर विचार करते हैं और नूतन ज्ञान अर्जित करते हैं। इस ज्ञानार्जन में उनका अपना प्रयत्न होता है अतः उन्हें वास्तविक ज्ञान होता है और आनन्द भी आता है।

४—क्रियात्मक शिक्षा के कारण बालक सदा सीखने के लिए एकाग्रचित्त, तत्पर एवं जिज्ञासु बने रहते हैं अतः वे शीघ्रता एवं सरलता से सीखते हैं।

५—बालकों को आत्माभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता रहती है अतः उन्हें भाषा पर अधिकार प्राप्त होता है और विचारों में स्पष्टता आती है।

६—वैयक्तिक विकास का समुचित अवसर मिलता है क्योंकि छात्रों को स्वतन्त्र रूप से विचार करने का अवसर मिलता है, बालकों में पुरोगामिता की शक्ति बढ़ती है, नेतृत्व का अवसर मिलता है, आत्मनिर्भरता एवं आत्मविश्वास की भावना का विकास होता है, सामाजिक शिष्टाचार का ज्ञान प्राप्त होता है, तदनुकूल आचरण करने की आदत बनती है तथा स्वानुशासन की क्षमता उत्पन्न होती है। इन सब गुणों से बालक का व्यक्तित्व परिस्फुटित एवं उद्भासित होता है।

७—शिक्षण कार्य में पाठ्य पुस्तकों का अनावश्यक महत्त्व हो जाता है क्योंकि बालक की शिक्षा कार्य एवं परिचर्या द्वारा सम्पन्न होती है।

८—बालकों में सामाजिक भावना का उदय तथा विकास होता है। वे परस्पर सहयोग एवं मिल-जुलकर कार्य करने की आदत पैदा कर लेते हैं, वे एक-दूसरे के व्यक्तित्व का सम्मान करते हैं एक-दूसरे के दृष्टिकोणों को समझने का प्रयत्न करते हैं, और इसके द्वारा अपनी त्रुटियों को समझकर वांछित सुधार करने का प्रयत्न करते हैं। इससे बालक के जीवन में सुव्यवस्थित सामाजिक जीवन की नींव पड़ जाती है और आगे चलकर वह समाज का एक योग्य नागरिक बनता है। बालकों में सहयोग एवं सद्भावना से कार्य करने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है, इससे उन्हें आन्तरिक परितुष्टि प्राप्त होती है, वे सामाजिकता का मूल्य समझने लगते हैं, वे एक-दूसरे की रुचि एवं हितों का अध्ययन करते हैं और परस्पर समायोजन स्थापित करते हैं। इस प्रकार बालक में निजी व्यक्तिगत आकांक्षा और सामाजिक हित में समयोजन स्थापित करने की शक्ति एवं सदाशयता की भावना उत्पन्न होती है।

९—शिक्षक एवं शिक्षार्थी भी परस्पर गुण-दोष से परिचित हो जाते हैं और उनका आपसी व्यवहार अधिक आत्मीय, शिष्टतापूर्ण और शिक्षण कार्य की दृष्टि से सहायक हो जाता है। किसी प्रकार की कृत्रिमता, औपचारिकता और प्रदर्शन की भावना नहीं रह जाती और उनमें सीखने एवं सिखाने की प्रवृत्ति प्रमुख हो उठती है।

प्रगतिशील विद्यालयों में दोष

१—ये विद्यालय बहुत ही व्ययसाध्य हैं। साज-सज्जा, विविध कार्यों का

समावेश, प्रयोगशालाएँ, विशिष्ट अध्यापकों की नियुक्ति आदि के लिए बहुत धन चाहिए जो हमारे देश में इस समय सुलभ नहीं।

२—इन विद्यालयों के शिक्षण में सामाजिक विषयों—इतिहास, भूगोल, नागरिक शास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि की शिक्षा उपयोगी होती है पर भाषा, गणित एवं विज्ञान की शिक्षा समुचित रीति से नहीं हो पाती। इन विषयों की शिक्षा परम्परावादी विद्यालयों में अधिक अच्छी होती है क्योंकि वहाँ इनके सैद्धांतिक ज्ञान एवं अभ्यास दोनों का विशेष अवसर मिलता है।

३—'परिचर्या' द्वारा विषयों का सम्यक् ज्ञान नहीं हो पाता क्योंकि बालक विषय की उतनी गहराई और विशदता में नहीं जा पाते जहाँ तक एक शिक्षक कक्षा-शिक्षण द्वारा बालकों को ले जाता है। परिचर्या विधि सदा रोचक एवं सजीव नहीं हो पाती क्योंकि कुछ दिनों बाद बालक उससे ऊब जाते हैं। शिक्षक के लिए भी यह कठिन हो जाता है कि वह किस प्रकार बालकों की रुचि परिचर्या में बनाए रखे।

४—विविध पाठ्य विषयों का एवं एक विषय के अंतर्गत विविध शाखाओं और पक्षों का सम्यक् ज्ञान नहीं हो पाता क्योंकि इन विद्यालयों में बालक समस्यात्मक क्रिया के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करते हैं और उस क्रिया से विषय के सम्पूर्ण पक्षों का सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता। अतः अनेक बातें छूट जाती हैं।

इन दोषों के बावजूद प्रगतिशील विद्यालयों की उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। परम्परावादी विद्यालयों द्वारा प्राप्त शिक्षा बालकों को आज की वैयक्तिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के योग्य बना सकने में असमर्थ है अतः प्रगतिशील विद्यालयों की स्थापना आवश्यक है।

गुरुकुल विद्यालय शांतिनिकेतन

परम्परागत शिक्षण प्रणाली एवं विद्यालयों के स्वरूप तथा संगठन के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप जिस प्रकार पाश्चात्य देशों में क्रियाशील एवं प्रगतिशील विद्यालयों का आविर्भाव हुआ उसी प्रकार हमारे देश में भी प्रचलित शिक्षण प्रणाली एवं विद्यालयों के प्रति विरोध उत्पन्न हुआ और नवीन प्रकार के विद्यालयों की स्थापना के प्रयत्न प्रारम्भ हुए। किन्तु हमारे देश में शिक्षा सम्बन्धी समस्या और भी गम्भीर थी क्योंकि यहाँ अँग्रेजों का प्रभुत्व था और वे शिक्षा का प्रयोग अपने साम्राज्य को सुदृढ़ बनाने के लिए कर रहे थे, साथ ही अँग्रेजी भाषा, सभ्यता और सांस्कृतिक के प्रसार द्वारा भारतीय संस्कृति के ह्रास में लगे

हुए थे। ऐसी विदेशी शिक्षा के विरुद्ध प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक ही था। इस सम्बन्ध में गाँधी जी के विचार लिखे जा चुके हैं। गाँधी जी से पूर्व भी अनेक भारतीय विचारकों ने अँग्रेजी शिक्षा पद्धति का विरोध किया था। इनमें स्वामी दयानन्द और रवीन्द्रनाथ टैगोर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है क्योंकि इन्होंने केवल सैद्धांतिक आलोचना ही नहीं की थी बल्कि अपने शिक्षा सिद्धांतों के अनुसार शिक्षण संस्थाएँ भी खोलीं और अपने विचारों को क्रियान्वित किया। इनका संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है।

गुरुकुल

१९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आर्य समाज के संस्थापक तथा महान् सुधारक स्वामी दयानन्द ने अंग्रेजी शिक्षा पद्धति का कड़ा विरोध किया और प्राचीन भारतीय गुरुकुल प्रणाली के आधार पर गुरुकुल शिक्षा प्रणाली का प्रतिपादन किया। उनका यह कहना पूर्ण सत्य था कि वर्तमान अंग्रेजी शिक्षा भारतीय भाषा, साहित्य, धर्म, सभ्यता एवं संस्कृति की उपेक्षा करती है और प्राचीन पण्डित मण्डली के शिक्षा पद्धति में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के लिए स्थान नहीं है। ये दोनों ही शिक्षा-प्रणालियाँ हमारे राष्ट्रीय विकास की दृष्टि से अनुपयुक्त हैं। अतः हमें अपनी गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली का विकास इस रूप में करना चाहिए कि वह भारतीय धर्म, भाषा एवं संस्कृति की रक्षा करते हुए युग की आवश्यकताओं को भी पूरा कर सके और नए सिरे से भारतीय राष्ट्र का निर्माण संभव हो सके। अतः उन्होंने गुरुकुल प्रणाली के आदर्श पर ऐसी नवीन शिक्षा संस्थाओं की स्थापना पर बल दिया जहाँ आधुनिक विषयों—विज्ञान, वाणिज्य, शिल्प, कला आदि की शिक्षा भी प्रदान की जा सके। शिक्षा के सम्बन्ध में उनका विचार था कि ७ वर्ष से सभी बालक एवं बालिकाओं की शिक्षा अनिवार्यतः प्रारम्भ होनी चाहिए। जो माता-पिता ७ वर्ष के बालक को विद्यालय नहीं भेजता है वह दण्ड का भागी है। बालक एवं बालिकाओं की शिक्षा पृथक्-पृथक् होनी चाहिए। गुरुकुलों में विद्यार्थी ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत करें। २५ वर्ष के पहले बालक का विवाह न हो। उस समय तक वह विद्याध्ययन करे। बालिका का विवाह भी १६ वर्ष से पहले नहीं होना चाहिए। गुरुकुल में धनी-निर्धन सभी विद्यार्थियों को समान खान-पान, वस्त्र, आसन आदि सुलभ होना चाहिए और सबके साथ समान व्यवहार होना चाहिए। शिक्षक एवं शिक्षार्थी में पिता-पुत्र जैसा संबंध रहे। शिक्षा संस्था (गुरुकुल) नगर एवं ग्राम से बाहर एकान्त, प्राकृतिक वातावरण में स्थित होनी चाहिए। शिक्षा के विषयों में संस्कृत भाषा

एवं साहित्य, प्राचीन भारतीय दर्शन—वेद, वेदांग आदि तथा हिन्दी को प्रमुख स्थान मिलना चाहिए। हिन्दी ही शिक्षा का माध्यम होनी चाहिए। इसके साथ-साथ स्वामी दयानन्द ने आधुनिक विषयों—विज्ञान, गणित, वाणिज्य, चिकित्सा-शास्त्र, राजनीति विज्ञान, भूगोल, ज्योतिष, खगोल आदि के अध्ययन पर भी बल दिया।

स्वामी दयानन्द के इन आदर्शों को लेकर उनके प्रमुख शिष्य स्वामी श्रद्धानन्द ने १९०२ में हरिद्वार में गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की। इस नवीन विद्यालय की स्थापना के निम्नांकित कारण बताए गए थे—

१—वैदिक अध्ययन के लिए गुरुकुल की आवश्यकता है। वेद विशाल संस्कृत साहित्य का मूल स्रोत हैं, वे आर्य समाज के प्राण हैं। उनका अध्ययन आवश्यक है।

२—संस्कृत के अध्ययन के लिए सम्पूर्ण अङ्गों-उपांगों के साथ वेदों का अध्ययन होना चाहिए।

३—राष्ट्रीय शिक्षा की आवश्यकता है। अंग्रेजी शिक्षा हमें अंग्रेज बना रही है और देशभक्ति का नाश कर रही है। अतः राष्ट्रीयता के विकास के लिए गुरुकुल की आवश्यकता है। साथ ही अंग्रेजी, आधुनिक विज्ञान, पाश्चात्य दर्शन, अर्थ शास्त्र, राजशास्त्र आदि की भी शिक्षा गुरुकुल में होनी चाहिए।

४—ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन आवश्यक है।

५—सरकारी विद्यालयों की परीक्षा पद्धति दूषित एवं सच्ची विद्वत्ता के मार्ग में बाधक है अतः उसकी जगह दूसरी परीक्षा प्रणाली अपनाई जाय।

६—शिक्षक को बालक के माता-पिता के तुल्य होना चाहिए। गुरुकुल में यही व्यवस्था होगी।

७—शिक्षा निःशुल्क होगी।

८—भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व का विवेचनात्मक अध्ययन किया जाय और सही इतिहास लिखा जाय क्योंकि यूरोपीय इतिहासों ने भारतीय इतिहास का अशुद्ध एवं मिथ्या विवरण लिखा है।

इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना हुई और वह संस्था अपने ढंग की अकेली भारतीय शिक्षा संस्था है और उसने अपने उद्देश्यों में यथेष्ट सफलता भी प्राप्त की है। अब यह गुरुकुल विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हो गया है जिसमें अन्य विश्वविद्यालयों की तरह सभी विषयों की शिक्षा प्रदान की जा रही है।

शान्तिनिकेतन

रवीन्द्रनाथ टैगोर के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर ने सन् १९६२ में कलकत्ता से लगभग १०० मील दूर रमणीक प्राकृतिक वातावरण में, बोलपुर के निकट 'शांतिनिकेतन आश्रम' की स्थापना की थी। महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर ब्रह्म समाज के महान् प्रतिपादक थे। उनका विचार था कि सत्य के पुजारी एवं अन्वेषक साधक और धार्मिक व्यक्ति इस आश्रम के शांत एवं एकान्त वातावरण में आकर अपनी साधना कर सकते हैं। आगे चलकर इसी आश्रम में सन् १९०१ में रवीन्द्र नाथ टैगोर ने एक प्रायोगिक विद्यालय खोला। तबसे 'शान्तिनिकेतन' एक शिक्षा संस्था के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

रवीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविख्यात कवि, साहित्यकार एवं दार्शनिक होने के साथ-साथ महान् शिक्षा विचारक भी थे। वे ब्रिटिशकालीन भारतीय शिक्षा-प्रणाली से बहुत असन्तुष्ट थे और शिक्षा के सम्पूर्ण स्वरूप को बदलना चाहते थे। ब्रिटिशकालीन शिक्षा के दोष पहले लिखे जा चुके हैं[1] अतः उनकी आवृत्ति आवश्यक नहीं। टैगोर इस शिक्षा के प्रति बड़े क्षुब्ध थे। उन्होंने लिखा है कि "यह स्मरण रहना चाहिए कि यह हम अपनी शिक्षा सरकार के हाथ में रखते हैं तो वह शिक्षा द्वारा हमारे हितों को नहीं, बल्कि अपने हितों की पूर्ति करेगी। शासक तो किसान को किसान बनाए रखना चाहेंगे, उसे भारत का सच्चा नागरिक नहीं बनाएँगे। हम तो शिक्षा को अपने हाथ में लेकर ही उसे अपने अनुकूल बना सकते हैं। भीख माँगना और आज्ञा देना दोनों वाहियात है।"[2] उन्होंने लिखा है कि "किसी भी स्थायी सुधार के लिए एक मात्र तरीका है राष्ट्र निवासियों के हाथ में शिक्षा की बागडोर लेना। इसमें असफल होने पर निश्चित ही अपनी आजीविका, अपना स्वास्थ्य, अपनी बुद्धि और अपना चरित्र खो देंगे।"[3] इन विचारों से अनुस्यूत होकर टैगोर ने शान्तिनिकेतन की स्थापना की।

शैक्षिक वातावरण

टैगोर सर्वप्रथम वर्तमान विद्यालयों के वातावरण को बदलना चाहते थे। उन्होंने अपनी बाल्यावस्था के कटु अनुभवों का उल्लेख इस रूप में किया

1. देखिये बेसिक शिक्षा प्रणाली, अध्याय १६
2. "We can impart education according to our desire only if we take edu:ation in our own hands. It is absurd both to beg and to order."
3. "...If we fail in this, we shall loose our bread, our health, our intellect, our character-this is certain."

है—"मैं समझता हूँ कि छोटे बच्चे शिक्षक द्वारा प्रदत्त ज्ञान की अपेक्षा शिक्षक की मनोवृत्ति को अधिक जल्दी सीख लेते हैं। मैंने किसी पाठ को सीखने की जगह अधिक आसानी से शिक्षण प्रक्रिया में निहित पक्षपात, क्रोध, अन्याय, अधैर्य आदि के बारे में सीख लिया।" वे लिखते हैं कि इन विद्यालयों में कक्षाएँ एक निर्मम स्थान है और दीवालें क्रूर प्रहरी की भाँति। कहीं भी घर जैसी आत्मीयता का नाम नहीं। विद्यालय तो एक ऐसे सन्दूक के समान है जिसमें अनेक खाने बने हुए हैं। अतः टैगोर विद्यालय को नगर या ग्राम से दूर प्रकृति के सुरम्य वातावरण में रखना चाहते थे जहाँ प्रकृति के सम्पर्क में एवं विशुद्ध सरल जीवन व्यतीत करते हुए शिक्षा प्राप्त की जा सके।[1] शान्तिनिकेतन का वातावरण इस दृष्टि से आदर्श वातावरण था। प्रकृति के सुरम्य वातावरण में, वृक्षों की सघन छाया में बालक शिक्षा ग्रहण करते थे।

टैगोर ने इस बात पर बल दिया कि बालक यहाँ—पारिवारिक वातावरण का अनुभव करें और शिक्षा-संस्था के साथ उनकी इतनी आत्मीयता स्थापित हो जाय कि वे शिक्षा ग्रहण करने में स्वतन्त्रता तथा आन्तरिक उल्लास का अनुभव करने लगें। शान्तिनिकेतन में टैगोर ने शिक्षकों एवं शिक्षार्थियों के परस्पर सहयोग, सौहार्द एवं स्नेहपूरित भावना के विकास पर बल दिया जिससे बालक शिक्षा को भार न समझकर आत्मप्रेरित क्रिया के रूप में ग्रहण करने के लिए स्वत: प्रस्तुत रहें। वे प्राकृतिक वातावरण में शिक्षा देने के बड़े समर्थक थे क्योंकि उनका विश्वास था कि प्रकृति में सफलता, अनुशासन एवं प्रतिष्ठा के तत्त्व विद्यमान रहते हैं और प्रकृति एवं प्राकृतिक जीवन के सम्पर्क में हमारी आदिम प्रवृत्तियाँ निर्मल एवं सात्विक बन जाती हैं।

शिक्षा के उद्देश्य

रवीन्द्र एक अध्यात्मवादी विचारक थे। अतः वे शिक्षा का उद्देश्य आत्म-ज्ञान मानते थे। वे एक विश्वचेतना या परमात्माशक्ति में विश्वास करते थे। इस सत्य की प्राप्ति ही जीवन का परम लक्ष्य है। यह सत्य पार्थिव सत्य से परे एक शाश्वत एवं सार्वभौम तत्त्व है, उसे हम वाणिज्यवाद, साम्राज्यवाद या राष्ट्र-वाद के संकीर्ण घेरे में आबद्ध नहीं कर सकते।[2] शिक्षा हमें इस सत्य की प्राप्ति में सहायता प्रदान करती है।

---

1. "Our true education is possible only in the forest, through intimate contact with nature and purifying austere persuits."
2. That truth is not mainly commercialism, Imperialism or nationalism : that truth is universalism.

"अखिल सृष्टि—जड़, चेतन, स्थावर, जंगम सभी के साथ तादात्म्य स्थापन की भावना भारतीय दृष्टिकोण का मूल तत्त्व है। अग्नि, वायु, जल, क्षिति तथा सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त उस विश्व चेतना का आभास पाना सच्ची शिक्षा है। यह शिक्षा नगर के स्कूलों में सम्भव नहीं है।" ऐसा आदर्श शिक्षालय तो नगर से दूर एकान्त में, खुले नभ के नीचे, प्राकृतिक वनों एवं वनस्पतियों के मध्य ही सम्भव है। वहाँ शिक्षक शान्तिपूर्वक अध्ययन-अध्यापन में तल्लीन रहेंगे और शिक्षार्थी पवित्र वातावरण में शिक्षा प्राप्त करेंगे।"

शिक्षा द्वारा रवीन्द्र व्यक्ति के सौन्दर्य बोध की शक्ति को जगाना चाहते थे। वे एक भावुक कलाकार थे और प्रकृति के दिव्य सौन्दर्य के प्रति उनके मन में अगाध अनुराग था। उनका कहना था कि सौन्दर्यानुभव की शक्ति को विकसित करना शिक्षा का एक आवश्यक उद्देश्य है। इस शक्ति के विकास द्वारा ही बालक एक साहित्यकार, कवि, कलाकार या शिल्पी बन सकता है।

रवीन्द्र का सांस्कृतिक दृष्टिकोण बहुत ही उदार था। वे विश्व बन्धुत्व की भावना एवं एक मानव-संस्कृति में विश्वास रखते थे। अतः विभिन्न संस्कृतियों के श्रेयस्कर तत्त्वों के समन्वय द्वारा वे एक विश्व-संस्कृति का विकास करना चाहते थे। उन्होंने शान्तिनिकेतन में प्राच्य एवं पाश्चात्य संस्कृति के समन्वय पर विशेष बल दिया था। किन्तु इस समन्वय का अर्थ भारतीय संस्कृति को भुलाकर पाश्चात्य जीवनशैली का अनुकरण करना नहीं है। सच्ची राष्ट्रीयता एवं भारतीय आदर्शों की रक्षा करते हुए ही हम विश्व संस्कृति की ओर अग्रसर हो सकते हैं।[1]

इस प्रकार रवीन्द्रनाथ टैगोर ने शिक्षा का उद्देश्य आध्यात्मिक, सांस्कृतिक एवं सौन्दर्य-बोधात्मक विकास माना। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि उन्होंने शिक्षा के अन्य उद्देश्यों—आर्थिक, सामाजिक एवं पार्थिव उत्कर्ष की उपेक्षा की। पर वे इन पार्थिव उद्देश्यों को परिणति इन आध्यात्मिक उद्देश्यों की पूर्ति में ही चाहते थे। उन्होंने बार-बार राष्ट्र भक्ति, स्वावलम्बन, स्वतन्त्रता और भावात्मक उत्कर्ष पर बल दिया जिससे हमारा आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक उत्कर्ष हो सके

1. "We must for ever give up the habit of swearing by Europe, for the European history and the European society are not ours. We shall have to understand cleanly what ideal has long been admired and cherished by our countrymen and what means should be adopted to inspire the heart of our people."

और विश्व-बन्धुत्व की भावना का प्रसार सम्भव हो सके। उनके अनुसार शिक्षा बालक की चेतना एवं वातावरण की समन्वित एकता द्वारा उसके निजी व्यक्तित्व का उद्देश्य है।[1]

शान्तिनिकेतन की स्थापना के निम्नांकित उद्देश्य उल्लेखनीय हैं—

१—बालकों को ऐसी शिक्षा प्रदान करना जो प्रकृति से पृथक् न हो।

२—बालक शिक्षालय में अपने को परिवार एवं एक बृहत् समुदाय का सदस्य समझ सकें।

३—वे स्वतन्त्रता, परस्पर विश्वास एवं आनन्द के वातावरण में शिक्षा ग्रहण कर सकें और अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकें।

विश्वभारती

१९२३ में 'शान्तिनिकेतन' का स्वरूप परिवर्द्धित कर एक अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय 'विश्वभारती' की स्थापना हुई जिसका उद्देश्य एक ऐसा आधार तैयार करना था जिससे प्राच्य एवं पाश्चात्य संस्कृतियों के समन्वय द्वारा एक विश्व-संस्कृति का निर्माण किया जा सके। इस 'विश्वभारती' का १९५१ में भारतीय विधान की धारा २९ के अनुसार एक विश्वविद्यालय की मान्यता प्रदान की गई। किन्तु टैगोर के अनुसार इसकी स्थापना के मूल उद्देश्य निम्नांकित थे—

१—विविध दृष्टिकोणों द्वारा सत्य के विभिन्न पक्षों की अनुभूति के प्रकाश में मानव मन का अध्ययन करना।

२—विभिन्न प्राच्य संस्कृतियों को उनकी अन्तर्भूत एकता के आधार पर गम्भीर अध्ययन और अनुसन्धान द्वारा परस्पर निकट लाने का प्रयत्न करना।

३—प्राच्य जीवन एवं विचार दर्शन की इस एकता के आधार पर पाश्चात्य जीवन को समझना।

४—पूर्व और पश्चिम के इस समन्वय के आधार पर मानवमात्र की मैत्री एवं विश्व बन्धुत्व की भावना अनुभव करना और इन दोनों (प्राच्य एवं पाश्चात्य) विचार-दर्शनों के स्वतन्त्र आदान-प्रदान द्वारा विश्व शान्ति की आधारभूत स्थितियों को सुदृढ़ करना।

इन उद्देश्यों को लेकर विश्वभारती की स्थापना एवं उसका विकास किया गया।

---

1. "Our aim is to bring about an oll-round development of individual personality through harmonious union of the spirit with the environment."

शिक्षण एवं दैनिक कार्यक्रम

विश्वभारती में विविध विभागों के शिक्षण के लिए पृथक्-पृथक् भवनों की व्यवस्था है। पाठ-भवन, शिक्षा-भवन, विद्या-भवन, चीना-भवन, कलाभवन, संगीत-भवन, हिन्द-भवन श्री निकेतन (शिल्प, हस्तकौशल तथा ग्रामोद्योग, विभाग), बड़ा पुस्तकालय एवं विभागीय पुस्तकालय हैं। सबसे बड़ी सुविधा यह है कि बालक स्वतन्त्रतापूर्वक जिस विभाग में चाहें, अध्ययन कर सकते हैं। विद्यार्थियों की आयु के अनुसार जैसे छोटे-बच्चों के लिए, बड़े बालकों के लिए, युवकों के लिए तथा अनुसन्धान विभाग के छात्रों के लिए अलग-अलग छात्रावास है। महिलाओं के लिए भी अलग छात्रावास है।

यहाँ बालक-बालिकाओं की साथ-साथ शिक्षा (सहशिक्षा) की व्यवस्था है। टैगोर सहशिक्षा के प्रबल समर्थक थे। ज्ञान की दृष्टि से वे पुरुष और नारी की शिक्षा में कोई भेद नहीं करना चाहते थे। उनका कहना था कि ज्ञान प्राप्ति मुख्य बात है। पुरुष और स्त्री दोनों को ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। केवल उपयोगिता की दृष्टि से नहीं बल्कि जानने की दृष्टि से। ज्ञान की इच्छा मानव-प्रकृति का नियम है।[1] शुद्ध ज्ञान के क्षेत्र में पुरुष और नारी में कोई भेद नहीं।

टैगोर के शिक्षा दर्शन में शिक्षक और शिक्षार्थी का सम्बन्ध पिता और पुत्र का सम्बन्ध है। शिक्षक शिक्षार्थियों के साथ प्रेम एवं सहानुभूति का व्यवहार रखता है। शांतिनिकेतन का सम्पूर्ण वातावरण स्वतंत्रता, सुरुचि एवं स्नेह से परिपूरित है। वृक्षों की छाया में शिक्षण कार्य सम्पन्न होता है। टैगोर शिक्षक को बहुत ऊँचा स्थान प्रदान करते थे। उनका कहना था कि शिक्षण विधि का महत्व शिक्षक के बाद आता है। "शिक्षार्थी को शिक्षक द्वारा शिक्षा मिलती है किसी विधि या पद्धति द्वारा नहीं। मनुष्य मनुष्य से सीखता है। जिस प्रकार जलाशय जल से भरता है, अग्नि अग्नि से जलती है उसी प्रकार जीवन को जीवन से ही प्रेरणा मिलती है। हम अपने समाज के ऐसे गुरु की खोज करते हैं जो हमारे जीवन को प्रगतिशील बना सके। हम अपनी शिक्षा-व्यवस्था में ऐसे गुरु की खोज करते हैं जो हमारी चेतना को बन्धन से मुक्त कर सके। जो भी

---

1. Whatever is worth knowing, is knowledge It should be known equally by men and women—not for the sake of practical utility but for the sake of knoving.··· The disire to know is the law of human natinre."

हो, हम जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य की खोज करते हैं। किसी पद्धति या प्रणाली की गोली से हम मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकते।" इस कथन से टैगोर के शिक्षा-दर्शन में शिक्षक का स्थान और महत्त्व अपने आप विदित हो जाता है।

शान्तिनिकेतन में एक नियमित दिनचर्या का पालन होता है जिससे बालकों में आत्मसंयम, नियम पालन, अनुशासन एवं समयपरायणता की भावना उद्बुद्ध हो सके। यहाँ का दैनिक कार्यक्रम इस प्रकार है—

जागरण—प्रातःकाल—४-३० बजे, आवास की सफाई—४-५०, व्यायाम—४-५५, स्नान—५-३०, कलेवा—५-५५, समवेत उपासना—६-१५।

अध्ययन-अध्यापन—६-३० से १०-३० तक।

प्रक्षालन—१०-३०, माध्य भोजन—१०-५०, विश्राम-दोपहर—१२-१५, व्यक्तिगत अध्ययन—१-५ से २ तक, अध्ययन-अध्यापन—२ से ४ तक, आवास शुद्धि—४-१५, जलपान—४-२५, उपस्थिति लेखन—४-४०, खेल—४-५५ से ५-५५, प्रक्षालन-संध्या—६ बजे, समवेत उपासना—६-२०, अध्ययन और व्याख्यान—६-२० से ७-४५ तक, संध्या-भोजन—८ बजे, विश्राम—९ बजे।

सारांश

क्रियाशील विद्यालय—परम्परावादी विद्यालयों के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप क्रियाशील विद्यालयों की स्थापना हुई। इसके प्रमुख प्रवर्त्तक स्विस शिक्षाविद् एडॉल्फ फरेरे माने जाते हैं। उनका मुख्य सिद्धान्त है "शिक्षा जीवन है और जीवन सतत विकासशील है अतः शिक्षा भी विकासशील प्रक्रिया है।" फरेरे महोदय के अतिरिक्त एडाउर्ड क्लापोरड, रेरे बोवेल, जार्ज करशेन स्टीनर आदि ने इस योजना को आगे बढ़ाया।

इन विद्यालयों में 'कार्य' के माध्यम से बालकों को अपनी सृजनात्मक प्रतिभा की अभिव्यक्ति का अवसर मिलता है और उनमें यह भावना उद्बुद्ध होती है कि सामाजिक सेवा की दृष्टि से कोई व्यवसाय हेय नहीं है। प्रत्येक कार्य की कसौटी सामाजिक सेवा सम्बन्धी उपयोगिता है। अतः कार्य या व्यवसाय को केन्द्र मानकर शिक्षा प्रदान करना उपयोगी है।

प्रगतिशील विद्यालय—इसके जन्मदाता डब्ल्यू पार्कर महोदय हैं। १९०० ई० में उन्होंने 'शिकागो इंस्टीटयूट' की स्थापना की और उसके द्वारा प्रगतिशील विद्यालयों की स्थापना का विचार आगे बढ़ाया। 'प्रगतिशील' नाम का कारण यह है कि यह शिक्षा जीवन से सम्बन्धित है और सामाजिक विकास

की दृष्टि से शिक्षा के संगठन, पाठ्यक्रम एवं पद्धति में परिवर्तन होना आवश्यक माना जाता है। सामाजिक कुशलता की प्राप्ति इस शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है, अतः सामाजिक वातावरण में बालकों की प्रवृत्तियों एवं भावनाओं को विकसित करने का प्रयत्न किया जाता है। सामाजिक वातावरण के अनुरूप ही विद्यालय में क्रिया अथवा प्रोजेक्ट का चुनाव होता है। शिक्षण प्रक्रिया शिक्षक एवं शिक्षार्थी दोनों के सक्रिय सहयोग से सम्पन्न होती है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं—

स्वतंत्र वातावरण, क्रियाशीलता, सृजनात्मक अभिव्यक्ति, वैयक्तिक विभिन्नता का ध्यान, सर्वाङ्गीण व्यक्तित्व का विकास, सामाजिकता, शिक्षक का पथप्रदर्शक के रूप में कार्य और 'परिचर्या' द्वारा बालकों की शिक्षा।

गुरुकुल—हमारे देश में आर्य समाज के संस्थापक महान् सुधारक स्वामी दयानन्द ने अँग्रेजी शिक्षा के विरुद्ध गुरुकुल आश्रमों के आदर्श पर नये शिक्षालयों की स्थापना पर बल दिया। उनका कहना था कि अँग्रेजी शिक्षा भारतीय भाषा, साहित्य, धर्म, दर्शन एवं संस्कृति की उपेक्षा करती है और दूसरी ओर प्राचीन शिक्षा में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के लिए स्थान नहीं है। अतः ऐसे शिक्षालय होने चाहिए जो भारतीय धर्म, दर्शन भाषा एवं संस्कृति की रक्षा करते हुए युग की आवश्यकताओं को भी पूरा कर सके इसलिए उन्होंने आधुनिक विषयों-विज्ञान, गणित, वाणिज्य, शिल्प, कला आदि की शिक्षा प्रदान करने पर बल दिया। इन विचारों को लेकर स्वामी श्रद्धानन्द ने १९०२ में गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना की। इस विद्यालय में संस्कृत साहित्य एवं भारतीय धर्म तथा दर्शन की शिक्षा अनिवार्य है पर साथ ही आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा भी दी जाती है।

शांतिनिकेतन—रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा स्थापित शांतिनिकेतन का शिक्षालय भारत में अपने ढंग की अद्वितीय संस्था है। टैगोर भी अपने देश में अँग्रेजी शिक्षा पद्धति के प्रबल विरोधी थे। वे शिक्षा को सरकार की जगह देश-निवासियों के हाथ में सौंपना चाहते थे। उनका कहना था कि नगर से दूर प्रकृति के रम्य एकान्त वातावरण में ही उपयुक्त शिक्षा सम्भव है। वे निर्मल, प्राकृतिक एवं सात्विक वातावरण में ही सच्ची शिक्षा सम्भव मानते थे। उनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य अखिल सृष्टि में व्याप्त परमात्म शक्ति को पहचानना और आत्मज्ञान प्राप्त करना है। वे विविध संस्कृतियों के समन्वय में विश्वास करते थे जिससे एक विश्व संस्कृति का विकास किया जा सके। अतः प्रकृति की क्रोड़ में शिक्षा प्रदान करने के लिए उन्होंने शांतिनिकेतन में एक विद्यालय खोला। आगे चलकर १९२२ में यह विश्वभारती के रूप में एक अन्तर्राष्ट्रीय

विश्वविद्यालय बन गया। इसके द्वारा वे प्राच्य एवं पाश्चात्य संस्कृतियों में समन्वय लाकर एक मानव संस्कृति का प्रसार करना चाहते थे। विश्वभारती को केन्द्रीय सरकार ने १९५२ में एक विश्वविद्यालय की मान्यता प्रदान की है। इस विद्यालय में शिक्षक एवं शिक्षार्थी बड़े ही स्नेह तथा सौहार्दपूर्ण वातावरण में अध्ययन और अध्यापन कार्य में संलग्न रहते हैं।

प्रश्न

१—क्रियाशील विद्यालय की स्थापना क्यों हुई? प्राचीन परम्परावादी विद्यालय के स्थान पर इन विद्यालयों द्वारा शिक्षा के किन उद्देश्यों की पूर्ति हुई है?

२—प्रगतिशील विद्यालयों की प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं?

३—प्रगतिशील विद्यालयों में 'सामाजिक कुशलता' की प्राप्ति के क्या आयोजन किए जाते हैं?

४—गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना के क्या उद्देश्य थे और उनको कहाँ तक सफलता मिली है?

५—रवीन्द्रनाथ टैगोर के शिक्षा-दर्शन पर विचार करते हुए बताइए कि शांतिनिकेतन में किस प्रकार की शिक्षा-व्यवस्था अपनाई गई है।

———

अध्याय १६

विद्यालयों में पथ-प्रदर्शन एववं परामर्श[1]

[पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता, पथ-प्रदर्शन सेवा और उसके प्रकार, पथ-प्रदर्शन के सिद्धान्त, प्रमुख कार्य, पथ-प्रदर्शन अधिकारी; उसके गुण एवं कर्त्तव्य, पथ-प्रदर्शन सेवा में प्रधानाध्यापक का सहयोग, शिक्षकों का कर्त्तव्य, शैक्षिक पथ-प्रदर्शन, व्यावसायिक पथ-प्रदर्शन, व्यक्तिगत पथ-प्रदर्शन]

"If one views the life of the individual as a whole, guidance may be said to have as its purpose helping the individual to discover his needs, to assess his potentialities, gradually to develope life goals that are individually satisfying and socially desirable, to formulate plans of actions in the service of these goals, and to proceed to their realization."

—Arthur J. Jones.

वर्तमान माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था में सबसे बड़ा दोष यह है कि इनमें विद्यार्थियों की विविध योग्यता, शक्ति और रुचि के अनुकूल और उनकी वैयक्तिक विभिन्नताओं को ध्यान में रखकर उन्हें विकास करने का अवसर नहीं प्राप्त होता। पाठ्यक्रम में इस विविधता का ध्यान नहीं रखा जाता। सभी बालकों को एक ही प्रकार की शिक्षा ग्रहण करने के लिये विवश होना पड़ता है इसीलिए मध्यामिक शिक्षा आयोग ने बहु-उद्देशीय विद्यालयों की स्थापना पर जोर दिया है जहाँ बालकों को अपनी योग्यता, अभिरुचि और प्रवणता के अनुकूल शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिल सके। किन्तु इस प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था के लिए विद्यालयों पर एक नया उत्तरदायित्व बढ़ गया है—अर्थात् पाठ्यविषयों के उचित चुनाव में छात्रों का उचित पथ-प्रदर्शन और भावी जीवन में वे किस प्रकार का व्यवसाय चुने इसमें परामर्श प्रदान करना। इसी पर बालक की शिक्षा की सफलता निर्भर है।

1—Guidance and Counselling in schools.

पथ-प्रदर्शन शिक्षा के क्षेत्र में एक नया आन्दोलन है। अभी कुछ दिनों पूर्व तक विद्यालयों में इसकी कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। इस आन्दोलन के प्रमुख प्रवर्त्तक जे० एम० ब्रीवर[2] महोदय हैं। पर दूसरे विचारक ए० जे० जोंस का कहना है कि पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता उस समय पड़ती है जब व्यक्ति के सामने कोई जटिल समस्या उपस्थित हो, अन्यथा इसका प्रयोग आवश्यक नहीं है। किन्तु इधर सभी लोग इस बात से सहमत हैं कि पथ-प्रदर्शक शिक्षा का आवश्यक अंग है। माध्यमिक स्तर पर तो इसकी आवश्यकता और भी बढ़ जाती है, क्योंकि उसी समय बालक को भावी जीवन की दृष्टि से उपयुक्त शिक्षा के विषयों का चुनाव करना पड़ता है। पाठ्य-सहगामी क्रियाओं में भी चुनाव करने की आवश्यकता पड़ती है। भावी जीवन में व्यवसाय-चयन की समस्या भी रहती है।

इधर मनोवैज्ञानिक खोजों, व्यक्तिगत परीक्षणों, बुद्धि, अभिरुचि, चरित्र आदि की परीक्षाओं से पथ-प्रदर्शन को और बल मिला है। बालक के मानसिक और भावात्मक अध्ययन की मनोवैज्ञानिक विधियों के अनुसंधान से अब यह आवश्यक माना जाने लगा है कि बालक को बुद्धिमत्ता पूर्ण चुनाव करने, उचित कार्य में नियोजित करने और अनुकूल दिशा में विकसित करने के लिए पथ-प्रदर्शन की व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए।[2] नरेन्द्रदेव समिति ने अपनी आख्या में इसकी संस्तुति की थी और इस दृष्टि से १९४७ में उत्तर प्रदेश में मनोविज्ञान केन्द्र (ब्यूरो आफ साइकोलॉजी) की स्थापना इलाहाबाद में की गई। इस केन्द्र में पथ-प्रदर्शन सम्बन्धी शोधपूर्ण साहित्य प्रकाशित होता है और पथ-प्रदर्शन में प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है। प्रशिक्षित व्यक्ति जिला-मनोविज्ञान-केन्द्रों में नियुक्त होते हैं और वे अपने क्षेत्र के विद्यालयों में जाकर छात्रों के शैक्षिक पथ-प्रदर्शन का कार्य करते हैं।

माध्यमिक शिक्षा-आयोग ने बालकों के शैक्षिक और व्यावसायिक प्रथ-प्रदर्शन को बहुत आवश्यक बताया है और इसके लिए अध्यापकों, मनोवैज्ञानिकों तथा रोजगार दिलानेवाले कार्यालयों की सेवाएँ भी आवश्यक बतायी हैं। केन्द्रीय सरकार अब इस योजना पर यथेष्ट बल देने लगी है।

पथ-प्रदर्शन सेवा और उसके प्रकार—पथ-प्रदर्शन कोई शैक्षिक या व्यावसायिक पेशा नहीं है और न वे अलग-अलग कार्यों जैसे कृषि, कला,

---

1. Guidance is the assistance given to individuals in making intelligence choices and adjustments.
2. John M. Brewer.

इंजीनियरिंग, डाक्टरी और अध्यापन आदि पेशों के लिए मनमाने ढंग से विद्यार्थियों का चुनाव ही करते हैं क्योंकि यदि किसी विद्यार्थी के ऊपर कोई विशेष कार्य लाद दिया गया तो पथ-प्रदर्शन का महत्त्व कुछ भी नहीं रह जायगा। पथ-प्रदर्शन का वास्तविक उद्देश्य यह है कि व्यक्ति को स्वयं अपने से अपनी प्रतिभा और शक्ति से अवगत होने और उस आधार पर भावी जीवन की योजना बनाने के लिए उचित सहायता प्रदान की जाय। इस प्रकार यह केवल किसी विशेषज्ञ का ही कार्य नहीं है, बल्कि यह एक ऐसी सेवा है, जिसमें पथ-प्रदर्शन और परामर्श की कला में प्रशिक्षित विशेषज्ञ की देखरेख में संपूर्ण विद्यालय के अध्यापक, छात्रों के अभिभावक और अधिकारी सहयोग प्रदान करते हैं। इसी कारण पथ-प्रदर्शन को अब पथ-प्रदर्शन सेवा की संज्ञा प्रदान की जाती है। पथ-प्रदर्शन सेवाओं के विभिन्न रूप निम्नलिखित हैं :—

(१) शैक्षिक पथ-प्रदर्शन, (२) व्यावसायिक पथ-प्रदर्शन, (३) सामाजिक तथा नागरिक कार्यों का पथ-प्रदर्शन, (४) स्वास्थ्य तथा शारीरिक क्रियाओं में पथ-प्रदर्शन, (५) अवकाश के सदुपयोग में पथ-प्रदर्शन (६) चरित्र-निर्माण पथ-प्रदर्शन। अनेक विद्वानों ने इन्हीं से मिलती-जुलती कुछ और प्रकार से पथ-प्रदर्शन सेवाओं का उल्लेख किया है। विद्यालयों में इनमें से तीन का विशेष महत्त्व है—(१) शैक्षिक, (२) व्यावसायिक (३) व्यक्तिगत पथ-प्रदर्शन।

पथ-प्रदर्शन के सिद्धान्त

१—प्राकृतिक शक्तियों, योग्यताओं और प्रवणताओं की व्यक्तिगत विभिन्नता के आधार पर व्यक्ति को उचित दिशा में प्रवृत्त करना।

२—आज के जीवन की जटिलता को ध्यान में रखते हुए व्यक्ति को किसी विशिष्ट योग्यता और प्राविधिक ज्ञान के आधार पर उचित दिशा का प्रदर्शन करना।

३—बल-प्रयोग का आश्रय न लेकर केवल मार्ग दिखाना ही इसका उद्देश्य है। व्यक्ति को किसी एक विशेष दिशा की ओर बढ़ने के लिए विवश करना पथ-प्रदर्शन सेवा का सिद्धान्त नहीं है।

पथ-प्रदर्शन सेवा के मुख्य कार्य—इसके अंतर्गत अनेक प्रकार की क्रियाएँ शामिल हैं जिनमें से कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं[1]—

१—जिस क्षेत्र में पथ-प्रदर्शन लेना हो, उससे संबंधित अधिक से अधिक सूचनाएँ प्रदान की जायँ। कक्षा में, खेल में, प्रदर्शनी और पुस्तकालय में

१—रामखेलावन चौधरी-आधुनिक विद्यालय संगठन। ० २५६

पुस्तकों, विज्ञापनों, पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तिकाओं द्वारा यह सूचना प्रचारित की जा सकती है।

२—विद्यालय को व्यावसायिक, औद्योगिक तथा प्राविधिक संस्थाओं, कल-कारखानों, मजदूर-संगठनों, अभिभावक-अध्यापक-संघ, कल्याण-सेवा संगठन आदि विविध संस्थाओं से संपर्क बनाने आवश्यक हैं।

३—बालकों के मानसिक परीक्षण का साधन एकत्र करना, इन परीक्षणों के परिणाम सुरक्षित रखना, आवश्यक मनोवैज्ञानिक विशेषताओं का विश्लेषण करना और उनके चित्र (Profiles) तैयार करके रखना।

४—पथ-प्रदर्शन अधिकारी द्वारा बालकों से साक्षात्कार और उनकी मनोवैज्ञानिक विशेषताओं के अनुसार उन्हें उपयुक्त दिशा का संकेत करना।

५—विद्यालय द्वारा बालक को उचित कार्य क्षेत्र में भेजने की व्यवस्था।

६—उचित क्षेत्र में भेजने के बाद बालक से पूछ-ताछ करते रहना, जिससे यह ज्ञात हो सके कि उसे कार्य में सफलता मिल रही है या नहीं। पथ-प्रदर्शन की सफलता इसी में है कि बालक उस क्षेत्र में किसी कठिनाई का अनुभव न करे और अपनी प्रगति से संतुष्ट हो।

पथ-प्रदर्शन अधिकारी; उसके गुण तथा कर्त्तव्य—पथ-प्रदर्शन सेवा के विस्तृत कार्यों को देखते हुए यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि पथ-प्रदर्शन सेवा का भार विद्यालय के किसी अध्यापक पर नहीं डाला जा सकता। उसके पास इतना समय नहीं रहता। साथ ही पथ-प्रदर्शन अब एक विशेष ज्ञान और कला है और उसमें प्रशिक्षित व्यक्ति ही इसका ठीक निर्वाह कर सकता है। अतः विद्यालय को एक पथ-प्रदर्शन अधिकारी की नियुक्ति करनी चाहिए जो पथ-प्रदर्शन सेवा की ठीक व्यवस्था और संचालन कर सके। एक योग्य पथ-प्रदर्शन अधिकारी में निम्नांकित गुण होने चाहिए—

१—उसमें बालकों तथा उनकी समस्याओं को ठीक से समझने की क्षमता और निष्ठा होनी चाहिए।

२—उसमें इन समस्याओं को समझने के लिए पर्याप्त धैर्य, सहानुभूति और कुशलता होनी चाहिए।

३—उसे पथ-प्रदर्शन एवं परामर्श देने की कला एवं विधि का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। साथ ही विभिन्न विषयों जैसे समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, जीव विज्ञान का पंडित होना चाहिए, जिससे अध्यापकों को प्रभावित कर सके।

४—पथ-प्रदर्शन अधिकारी के लिए इस कला में केवल प्रशिक्षित होना ही पर्याप्त नहीं बल्कि उसे इस कार्य में अनुभवी भी होना चाहिए। उसमें दूरदर्शिता का गुण होना चाहिए और व्यक्तिगत संपर्क के द्वारा व्यक्ति की रुचि और आवश्यकता का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए जिससे ठीक परामर्श दे सके।

५—पथ-प्रदर्शन अधिकारी में बच्चों के विविध अध्ययनों एवं परीक्षाओं से प्राप्त निष्कर्षों और आलेखों को ठीक से रखने की रुचि रहनी चाहिए। जिससे वह इनका उपयोग यथासमय ठीक प्रकार से कर सके।

कर्त्तव्य—पथ-प्रदर्शन अधिकारी के निम्नलिखित कर्त्तव्य हैं :—

१—पथ-प्रदर्शन सेवा सम्बन्धी सभी कार्यों का उचित समायोजन करना चाहिए।

२—विद्यालय के प्रधानाध्यापक, अध्यापक और अन्य कर्मचारियों का सहयोग प्राप्त करने लिए उसे सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए।

३—छात्रों के साथ घनिष्ठ संपर्क स्थापित करना चाहिए जिससे वे निस्संकोच रूप से अपनी समस्याएँ उपस्थित कर सकें।

४—व्यावसायिक पथ-प्रदर्शन के लिए आवश्यक है कि पथ-प्रदर्शन अधिकारी देश के अन्य व्यावसायिक कार्यों और तत्सम्बन्धी उपलब्ध अवसरों से पूर्णतः अनभिज्ञ हो। उसमें फैक्ट्री व्यवस्थापकों तथा कार्य प्रदान करने वाली संस्थाओं से सहयोग प्राप्त करने की क्षमता होनी चाहिए। उसे इम्प्लायमेंट एक्सचेन्ज से अपना सम्पर्क बनाये रखना चाहिए।

५—जिला मनोविज्ञान केन्द्र से सदा सम्पर्क बनाये रखना चाहिए और पथ-प्रदर्शन सम्बन्धी नवीनतम विधियों से परिचित होते रहना चाहिए। उसे स्वयं भी शोधकार्य में रुचि रखनी चाहिए।

६—अन्य संस्थाओं जैसे स्वास्थ्य-सुधार, युवक-कल्याण, समाज-कल्याण आदि से सहायता लेनी चाहिए।

पथ-प्रदर्शन सेवा में प्रधानाध्यापक का सहयोग—पथ-प्रदर्शन सेवा की सफलता बहुत कुछ प्रधानाध्यापक के सहयोग पर निर्भर है। बहुत से पुराने विचार के प्रधानाध्यापक इसे व्यर्थ का जंजाल समझ कर सहयोग नहीं देते। ऐसी स्थिति में यह आयोजन व्यर्थ सिद्ध होता है। किन्तु आज का कोई भी शिक्षा प्रेमी प्रधानाध्यापक इस योजना से पराङ्मुख नहीं हो सकता। वह अपने विद्यालय के उत्कर्ष के लिए इसका स्वागत करता है और इसकी सफलता के लिए प्रयत्न करता है। वह अध्यापक मंडल को इस कार्य में सहयोग देने के लिए उत्प्रेरित कर सकता है। प्रधानाध्यापक इस स्थिति में रहता है कि वह इस

सेवा का नेतृत्व कर सकता है। वह पथ-प्रदर्शन अधिकारी तथा जिला-मनोविज्ञान केन्द्र कर्मचारियों को सुविधा प्रदान करके अधिक से अधिक पथ-प्रदर्शन सेवा एवं परामर्श प्राप्त कर सकता है। वह विद्यालय के योग्य और इस कला में रुचि रखने वाले अध्यापकों को प्रशिक्षण के लिए भेज सकता है। उसे चाहिए कि पथ-प्रदर्शन का कार्यक्रम बड़ी निष्ठा और ईमानदारी से सम्पन्न कराये और उसके अनुसार छात्रों को शिक्षण सम्बन्धी सुविधायें प्रदान करें। समस्या प्रधान बालकों के लिए उचित परामर्श प्राप्त करके उनके उचित उपचार की व्यवस्था करायें। वह अपने विद्यालय में दृश्य-श्रव्य-उपकरणों तथा फिल्मस के प्रयोग द्वारा छात्रों को प्राविधिक एवं औद्योगिक क्रियाओं का परिचय प्रदान कर सकता है।

पथ-प्रदर्शन सेवा में अध्यापकों का कर्त्तव्य—इसमें सन्देह नहीं कि पथ-प्रदर्शन अधिकारी अध्यापकों के सहयोग के बिना पथ-प्रदर्शन का कार्यक्रम सम्पादित नहीं कर सकता। अध्यापकों का छात्रों से घनिष्ठ सम्पर्क रहता है और वे छात्रों का ठीक अध्ययन कर सकने की स्थिति में रहते हैं। अतः पथ-प्रदर्शन सेवा में उनका सहयोग सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान होता है। इस दृष्टि से अध्यापकों के निम्नलिखित कर्त्तव्य हैं :—

(१) अध्यापक को नियमित रूप से छात्रों के शैक्षिक, पारिवारिक और स्वास्थ्य सम्बन्धी स्थिति तथा उनकी शैक्षिक और चारित्रिक प्रगति का विवरण रखना चाहिए और आवश्यकतानुसार पथ-प्रदर्शन अधिकारी को इसे देना चाहिए। विद्यार्थियों के सम्बन्ध में वास्तविक सूचना वही प्रदान कर सकता है।

(२) छात्रों में स्वस्थ रुचि और दृष्टिकोण का निर्माण।

(३) छात्रों की विशिष्ट योग्यताओं को प्रोत्साहित करना और विकास का अवसर प्रदान करना।

(४) पाठ्य विषयों से सम्बन्धित व्यवसायों के बारे में छात्रों को बताते रहना। छात्रों को व्यावसायिक केन्द्रों के निरीक्षण का अवसर देना, परिभ्रमण एवं यात्राओं की व्यवस्था करना जिससे छात्रों को स्वयं अपनी रुचि एवं मनोवृत्ति का पता चल सके।

(५) अध्ययन सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करना, छात्रों के मानसिक परीक्षण, निदानात्मक परीक्षण आदि की सूचनाएँ एकत्र रखना और उसके आधार पर उचित परामर्श प्रदान करना।

पथ-प्रदर्शन सेवा की व्यवस्था—पथ-प्रदर्शन सेवा की व्यवस्था में ये बातें ध्यान देने योग्य हैं :—

(१) इसकी व्यवस्था ऐसी हो कि विद्यालय का अधिक व्यय न करना पड़े।

(२) पथ-प्रदर्शन द्वारा अधिकाधिक छात्रों को लाभ पहुँचना चाहिए। अतः इस सेवा के लिए उपयुक्त अवसर चुनना चाहिए जैसे कक्षा ८ पास करने पर विद्यार्थियों के सामने ९वीं कक्षा में वैकल्पिक विषयों के चुनाव की समस्या रहती है। इस समय शैक्षिक पथ-प्रदर्शन सेवा बहुत ही उपयोगी सिद्ध होती है। इसी प्रकार व्यावसायिक पथ-प्रदर्शन सेवा की उपयोगिता उस समय बढ़ जाती है जब बालक इंटर पास करने पर किसी व्यवसाय की खोज में रहता है।

(३) पथ-प्रदर्शन-सेवा का कार्यक्रम इस प्रकार आयोजित होना चाहिए कि शैक्षिक कार्यों में बाधा न पड़े। कक्षाकार्य अथवा खेल के साथ-साथ इसे सम्पन्न कर लेना चाहिये। शैक्षिक कार्य के साथ इसका ठीक समायोजन रहना चाहिए।

(४) प्रधानाध्यापक और अध्यापक मंडल का पूरा सहयोग प्राप्त करना चाहिये।

विद्यालयों में पथ-प्रदर्शन के विविध रूप—यह लिखा जा चुका है कि मुख्य रूप से पथ-प्रदर्शन सेवा के ३ रूप हैं—शैक्षिक, व्यावसायिक और व्यक्तिगत। इनकी कार्य प्रणाली का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है :—

शैक्षिक पथ-प्रदर्शन—इसका मुख्य उद्देश्य बालकों को उनकी व्यक्तिगत रुचि और प्रवणता के अनुकूल उपयुक्त विषयों के निर्वाचन में सहायता प्रदान करना है। हम देख रहे हैं कि आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के प्रसार तथा व्यक्ति एवं समाज की बढ़ती हुई आवश्यकताओं के कारण विद्यालयों में अनेक प्रकार के पाठ्य-विषयों का समावेश होता जा रहा है। ऐसी स्थिति में यदि विद्यार्थी ठीक विषय नहीं चुनता है तो उसकी प्रगति नहीं होगी। इसीलिए शैक्षिक पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता पड़ती है।

इस पथ-प्रदर्शन के लिए पहले छात्रों को विविध विषयों की अध्ययन सम्बन्धी आवश्यकता, योग्यता, कठिनाई तथा उससे सम्बन्धित व्यवसाय आदि भली प्रकार बता दिया जाता है। छात्रों की मानसिक परीक्षा ली जाती है और यह देखने का प्रयत्न किया जाता है कि कौन छात्र किस विषय को ठीक प्रकार से पढ़ सकता है। छात्रों से साक्षात्कार के आधार पर भी निष्कर्ष निकाला जाता

है। इस प्रकार विद्यार्थियों को उपयुक्त विषय निर्वाचन में सहायता प्रदान की जाती है। इसमें यह भी कठिनाई उपस्थित हो जाती है कि पथ-प्रदर्शन के अनुसार चुने गये विषय को बालक के माता-पिता नहीं चाहते और दूसरे विषय के लिए हठ करते हैं। ऐसी स्थिति में पथ-प्रदर्शन अधिकारी उन्हें समझाते हैं और विषय-निर्वाचन की उपयुक्तता पर बल देते हैं।

व्यावसायिक पथ-प्रदर्शन—इस पथ-प्रदर्शन का मुख्य उद्देश्य बालक का उचित व्यवसाय के निर्वाचन, प्रशिक्षण तथा उसमें सफलता प्राप्त करने में सहायता प्रदान करना है। इससे व्यक्ति आर्थिक हानि से बच जाता है और विभिन्न व्यवसायों के लिए उचित कर्मचारी प्राप्त हो जाते हैं। इस पथ-प्रदर्शन से व्यक्ति का ही नहीं पूरे समाज का लाभ होता है। आजकल व्यवसायों की इतनी अधिकता है कि अपने लिए उनमें से ठीक चुनाव करना कठिन काम है और ठीक चुनाव न होने से व्यक्ति तो आजीवन दुखी बना ही रहता है, समाज और व्यवसाय का भी घाटा होता है।

इस पथ-प्रदर्शन में व्यवसाय सम्बन्धी अधिकाधिक सूचनाएँ एकत्र करना, उन्हें कक्षा में विषय-शिक्षण के समय छात्रों को बताना, विद्यार्थियों को विभिन्न व्यवसायों के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आने का अवसर देना, मानसिक परीक्षाओं द्वारा छात्र की क्षमताओं और रुचियों का पता लगाना, साक्षात्कार द्वारा उनकी प्रवृत्ति जानना आदि आवश्यक है। इनके आधार पर छात्रों को उचित व्यवसाय के निर्वाचन में सहायता प्रदान की जाती है। बालक को उचित औद्योगिक प्रशिक्षण संस्था में भेजा जाता है और फिर उचित व्यवसाय में लगाया जाता है। यह भी पता लगाते रहना पड़ता है कि वह उस व्यवसाय में सफल हो रहा है या नहीं।

व्यक्तिगत पथ-प्रदशन—इसका मुख्य उद्देश्य छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा करना है। इस पथ-प्रदर्शन की विशेष आवश्यकता समस्या प्रधान बालकों के लिये होती है जैसे अपराधी मनोवृत्ति का बालक, मन्द बुद्धि का बालक, कुशाग्र बुद्धि का बालक, विकलांग बालक आदि। इन बालकों को यदि उचित पथ-प्रदर्शन नहीं दिया गया तो उनकी क्षति तो होती ही है, वे विद्यालय और आगे चलकर पूरे समाज के लिये समस्या उत्पन्न कर देते हैं। इस पथ-प्रदर्शन से बालक की मानसिक और भावात्मक समस्याओं का निराकरण करने का प्रयत्न किया जाता है।

इस पथ-प्रदर्शन के लिए छात्र से व्यक्तिगत घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करना और उनकी पारिवारिक तथा वातावरण सम्बन्धी परिस्थितियों का ज्ञान करना आवश्यक है। मानसिक ग्रंथि से पीड़ित बालकों के साथ मनोविश्लेषण का सहारा लेना पड़ता है। ऐसे बालक के साथ अनेक बार साक्षात्कार करना होता है ऐसे बालकों को विविध शैक्षिक एवं पाठ्येतर क्रियाओं में भाग लेने की स्वतंत्रता दी जाती है जिससे विविध परिस्थितियों में उनका अध्ययन किया जा सके इसके आधार पर उनकी रुचि और मानसिक शक्ति के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करते हैं और उन्हें उचित रीति से अवकाश बिताने तथा जीवन में सफल होने के उपाय बताये जाते हैं।

सारांश

पथ-प्रदर्शन शिक्षा के क्षेत्र में एक नया आन्दोलन है। इसके प्रमुख प्रवर्तक जे० एम० बीवर महोदय हैं। अब सभी सहमत हैं कि पथ-प्रदर्शन शिक्षा का आवश्यक अंग है। माध्यमिक स्तर पर इसकी अधिक आवश्यकता है क्योंकि इस समय बालक को भावी जीवन की दृष्टि से उपयुक्त शैक्षिक विषयों का चुनाव करना पड़ता है और भावी व्यवसाय चयन की समस्या भी रहती है।

पथ-प्रदर्शन सेवा के कई क्षेत्र हैं पर विद्यालयों की दृष्टि से तीन का विशेष महत्त्व है—शैक्षिक, व्यावसायिक, व्यक्तिगत। इसका मुख्य सिद्धान्त है—प्राकृतिक शक्तियों, योग्यताओं और प्रवणताओं की व्यक्तिगत विभिन्नता के आधार पर बालक को उचित दिशा में प्रवृत्त करना। इसके मुख्य कार्य हैं—जिस क्षेत्र से पथ-प्रदर्शन देना हो, उससे सम्बन्धित अधिक से अधिक सूचनाएँ प्रदान की जायँ; विद्यालय का सम्पर्क व्यावसायिक, औद्योगिक, प्राविधिक संस्थाओं, अभिभावक अध्यापक संघ तथा कल्याण सेवा संगठन आदि से बनाये रखना; बालकों के मानसिक परीक्षण का साधन एकत्र करना, परीक्षणों का परिणाम सुरक्षित रखना बालकों से साक्षात्कार और मनोवैज्ञानिक विशेषताओं के अनुसार उपयुक्त निर्देशन करना, बालक को उचित कार्य-क्षेत्र में भेजना और बाद में भी पूछ-ताछ करते रहना जिससे उसकी सफलता असफलता ज्ञात होती रहे।

विद्यालयों में पथ-प्रदर्शन के तीन रूप हैं—शैक्षिक, व्यावसायिक और व्यक्तिगत। शैक्षिक—व्यक्तिगत रुचि एवं क्षमता के आधार पर उपयुक्त विषयों के निर्वाचन में सहायता। व्यावसायिक-उचित व्यवसाय के निर्वाचन ...

में सहायता । व्यक्तिगत---छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य की सुरक्षा जैसे अपराधी मनोवृत्ति के बालक या समस्या बालक के सम्बन्ध में सहायता ।

प्रश्न

१—विद्यालयों में पथ-प्रदर्शन की क्या आवश्यकता है ?

२---पथ-प्रदर्शन सेवा के प्रमुख प्रकारों एवं कार्यों का उल्लेख कीजिए ।

३—पथ-प्रदर्शन सेवा की दृष्टि से प्रधानाध्यापक एवं शिक्षक के क्या कर्त्तव्य हैं ?

४—विद्यालयों में पथ-प्रदर्शन सेवा के प्रमुख कार्य क्षेत्रों का वर्णन कीजिए ।

५—व्यक्तिगत पथ-प्रदर्शन से आप क्या समझते हैं ?